आमुख

संसार के प्रत्येक देश और प्रत्येक जाति के विकास-क्रम का इतिहास रहा है। इस विकास-क्रम में वह किसी न किसी जीवन सिद्धान्त के अनुगामी रहते हैं, उनके जीवन के कुछ निश्चित सिद्धान्त होते हैं और धीरे-धीरे वे कुछ-कुछ ऐसे जीवनमूल्यों और अनुभवों का संचय कर लेते हैं जो समय और रीति-रिवाजों के ताने-बाने में गूँथकर उनके जीवन का आधार बन जाते हैं और इसी को फिर संस्कृति की संज्ञा दी जाती है। व्यापक अर्थों में संस्कृति मानव के अनुभवों से प्रणीत मानवीय मूल्यों की समष्टि है। मानव समाज में बौद्धिक, सामाजिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक चिन्तन से जो जीवन ज्योति प्रस्फुटित होती है वही संस्कृति है। प्रत्येक देश, राष्ट्र और जाति की परिस्थितियाँ, परम्पराएँ, मान्यताएँ, जनरूचियाँ तथा आदर्श भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः उनकी संस्कृति में भी अन्तर होता है। भारत भूमि पर जो एक ओर हिमालय की पर्वतमालाओं और तीन ओर से समुद्र से घिरी हुई है, निवास करने वाले समाज ने सहस्त्रों वर्षों में आचार-विचार की जो विशिष्ट प्रणाली और जीवन की ओर देखने की जो दृष्टि विकसित की है वही भारतीय संस्कृति है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति इस वसुन्धरा की अनुपम धरोहर है। इस संस्कृति की पावनधारा का उद्भव वहाँ से हुआ है जहाँ हमारी चिन्तन की धारा की पहुँच भी असम्भव है। विशालता, उदारता, सहिष्णुता, अमरता और सर्वांगीणता की दृष्टि से विश्व की अन्य कोई संस्कृति भारतीय संस्कृति के समकक्ष नहीं है। इस संस्कृति के स्वरूप, विकास और महत्व का ज्ञान प्रत्येक भारतवासी का पुनीत कर्त्तव्य है।

प्रसन्नता का विषय है कि भारतीय संस्कृति के प्रति बढ़ते अनुराग और उसके महत्व को दृष्टिगत रखते हुये विश्वविद्यालय स्तर पर इसके अध्ययन को पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया है। यद्यपि प्रस्तुत पुस्तक का प्रणयन विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर किया गया है; किन्तु आशा है कि भारतीय संस्कृति में रूचि रखने वाले छात्र, जिज्ञासु जन तथा शिक्षक भी पुस्तक से समान रूप से लाभान्वित हो सकेंगे। पुस्तक में भारतीय संस्कृति के विकास को सम्यक् रूप से सरल, सुबोध और सुसंगत भाषा में प्रस्तुत किया गया है ताकि विद्यार्थियों के लिये विषय का अध्ययन सुगम और सुरूचिकर बना रहे।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन में हम किस सीमा तक सफल हुये हैं। इसका निर्णय तो प्रबुद्ध शिक्षक, जिज्ञासु छात्र और सुधी पाठक ही कर पायेंगे। प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन में जिन लेखकों और विद्वानों के ग्रन्थों की सहायता ली गई उन लेखकों और विद्वानों के प्रति हम आभार प्रकट करते हैं।

अनुज राकेश वर्मा, एम.ए. ने इस पुस्तक के प्रणयन में अपने सुझावों तथा अनेक रूपों में सहयोग दिया है। अतः हम उसके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। श्री हर्षवर्धन जैन, कॉलेज बुक हाउस, जयपुर विशेष रूप से धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इस पुस्तक का शुद्ध, सुन्दर और सुरूचिपूर्ण प्रकाशन किया है। अन्त में, प्रबुद्ध शिक्षकों, छात्रों और सुधी पाठकों से आग्रह है कि पुस्तक में सुधार, संशोधन और परिमार्जन के लिये अपने सुझावों से हमें अवगत करावें। उनके सुझावों का हम स्वागत करेंगे।

आर.के. वर्मा
रीता रावत

अनुक्रमणिका

1

भारतीय संस्कृति अभिप्राय, स्वरूप एवं रचना

(Indian Culture-Its Meaning, Pattern and Formation)

संस्कृति मानव समाज की अमूल्य निधि है । संस्कृति तत्व ही मानव को अन्य जीव जगत् से पृथक् करता है । संस्कृति मानव को ऐसा वातावरण प्रदान करती है जिससे वह समाज का सक्रिय सदस्य वनकर स्वयं को एक सामाजिक प्राणी के रूप में स्थापित करता है । वस्तुतः संस्कृति और मानव के सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है । एक ओर मानव स्वयं संस्कृति की देन है तो दूसरी ओर संस्कृति का रचनाकार स्वयं मानव है । दूसरे शब्दों में, जहाँ मानव संस्कृति का जनक है वहीं संस्कृति ही मानव के मानवीय स्वरूप की जननी है । इस वसुन्धरा में एकमात्र मानव ही संस्कृति का धारक है । जीव जगत् में मनुष्य के पास ही सर्वकार्यशील हाथ, तीक्ष्ण दृष्टि तथा चैतन्य और क्रियाशील मस्तिष्क है जिसके कारण वह अपनी उपलब्धियों और अनुभवों को अपने उत्तराधिकारियों को हस्तान्तरित करता रहता है । इन गुणों के कारण ही मनुष्य संस्कृति का निर्माण करने के योग्य सिद्ध हुआ है । संस्कृति मानव की सहज कृति है । इसी कारण **डॉ. आर. सी. शास्त्री** ने संस्कृति को **'अजन्म मानव प्रघटना'** कहा है । **हॉबेल (Hoeble)**भी संस्कृति को **'एक अनोखी मानव प्रघटना'** मानते हैं । वस्तुतः संस्कृति ही मनुष्य में मानवीय भावना जागृत करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। सांस्कृतिक चेतना के परिपेक्ष्य में ही मनुष्य परस्पर भावनाओं का आदर करना सीखता है । संस्कृति ही मानव के मन एवं बुद्धि को शुद्ध और परिष्कृत करने का प्रेरक तत्व है । इन्हीं प्रेरणाओं से मानव अपनी निश्चित जीवन पद्धति का निर्माण करता है ।

'संस्कृति' का अर्थ या अभिप्राय

'संस्कृति' शब्द मूलतः संस्कृत भाषा का है । संस्कृत भाषा के इस संस्कृति शब्द की व्युत्पत्ति **'सम्'** उपसर्ग पूर्वक **'कृ'** धातु में **'क्तिन्'** प्रत्यय लगाकर हुई है अर्थात् **सम + कृ + क्तिन् = संस्कृति** । इसका शाब्दिक अर्थ है **'उत्तम प्रकार के किये गये कार्य'** अथवा **'उत्तम आचरण करने वाले व्यक्तियों द्वारा किये गये शिष्ट कार्य ।'** परन्तु आधुनिक युग में संस्कृति शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाता है । मानव एक सामाजिक प्राणी है । वह स्वभावतः व्यक्तिगत और सामाजिक उन्नति के लिये

प्रयासरत रहता है। वह अपने विचार और कृतित्व के माध्यम से स्वयं को, अपने परिवार को, समाज को, अपनी जाति को, अपने देश को और समस्त विश्व को कल्याण के मार्ग पर ले जाने के प्रयास करता है। उसके समस्त विचार और कार्य भौतिक और आध्यात्मिक सुखों की वृद्धि की ओर प्रवृत्त होते हैं। अतः मानव आदिम युग से ही अपने विचार और कृतित्व के द्वारा स्वस्थ परम्पराओं तथा संस्थाओं को जन्म देता रहा है, ये परम्पराएँ और संस्थाएँ ही उसकी संस्कृति का निर्माण करती हैं। दूसरे शब्दों में किसी देश, समाज या जाति के मनुष्यों के विचार, वचन, कृतित्व, आचार–व्यवहार तथा उसके द्वारा स्थापित परम्पराएँ और संस्थाएँ ही उसकी संस्कृति है। इस प्रकार संस्कृति का सम्बन्ध मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तियों और शक्तियों तथा उनकी श्रेष्ठता से है।

आंगलभाषा में संस्कृति के लिये **'कल्चर'** (Culture) शब्द का प्रयोग किया जाता है। **'कल्चर'** शब्द लैटिन भाषा के **'कल्चुरा (Cultura)** तथा **'कोलियर'** शब्द से निकला है। **'कल्चुरा'** का अर्थ है **पौधा लगाना या पशुओं का पालन करना** अर्थात् उत्पादन करना और **'कोलियर'** का अर्थ है **'परिष्कार'** या **'परिष्कृत**। इस प्रकार **'कल्चर'** का अर्थ हुआ **'परिष्कृत उत्पादन**। किन्तु यहाँ इसके मुख्य अर्थ के अलावा इसका लाक्षणिक अर्थ भी है। मस्तिष्क की प्रवृत्तियों और शक्तियों को विकसित करना। इस प्रकार हिन्दी और आंगल भाषा में संस्कृति शब्द के व्युत्पत्तिलब्ध अर्थों के भिन्नता होने पर भी दोनों के प्रतिपाद्य लाक्षणिक अर्थ समान है। इस प्रकार संस्कृति शब्द का अर्थ मन, हृदय तथा उनकी प्रवृत्तियों को संस्कारों के द्वारा सुधारना तथा उदात्त बनाना है।

संस्कृति का क्षेत्र अति व्यापक है इसलिए विद्वानों ने संस्कृति की परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। अमेरिकी दार्शनिक **डॉ. व्हाइटहेड** के अनुसार **"संस्कृति मानसिक प्रक्रिया और सौन्दर्य तथा मानवीय अनुभूतियों को हृदयंगम करने की दक्षता है।" मैलिनाउस्की** के अनुसार **"संस्कृति सामाजिक विरासत है जिसमें परम्परा से पाया हुआ कला कौशल, वस्तु सामग्री, यान्त्रिक क्रियाएँ, विचार, आदतें और मूल्य समावेशित है"**। प्रसिद्ध मानवशास्त्री **ई. टाइलर** के मतानुसार **'संस्कृति' "वह जटिल तत्व है जिसमें ज्ञान, नीति, कानून, रीति–रिवाज तथा दूसरी उन योग्यताओं और आदतों को समावेश है जिन्हें मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते अर्जित करता है।" हर्सकोविट्स** के अनुसार **"संस्कृति मनुष्यों का सब सीखा हुआ व्यवहार है अर्थात वे चीजें जो मनुष्यों के पास है, वे चीजें जो वे करते हैं और वह सब जो सोचते हैं, संस्कृति है।"ग्रीन** के अनुसार **"संस्कृति ज्ञान, व्यवहार, विश्वास की उन आदर्श पद्धतियों को तथा ज्ञान व व्यवहार से उत्पन्न हुए साधनों की व्यवस्था को, जो कि समय के साथ परिवर्तित होती है कहते हैं, जो सामाजिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दी जाती है।" डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार** के अनुसार **"मनुष्य अपनी बुद्धि को प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र में जो सृजन करता है उसको संस्कृति कहते हैं।" टी. एस. इलियट** ने संस्कृति की परिभाषा बड़ी व्यापक की है उनके अनुसार **"शिष्ट व्यवहार, ज्ञानार्जन, कलाओं का सेवन आदि के अतिरिक्त किसी जाति अथवा राष्ट्र की वे समस्त क्रियायें और**

कार्य जो उसे विशिष्ट बनाते हैं उसकी संस्कृति के अंग है।" श्री के. एम. मुंशी के अनुसार **"हमारे रहन—सहन के पीछे जो हमारी मानसिक प्रवृत्ति है जिसका उद्देश्य जीवन को परिष्कृत, शुद्ध और पवित्र बनाना है, वही संस्कृति है।"** इससे से स्पष्ट है कि संस्कृति की विभिन्न परिभाषाएँ हैं। इन परिभाषाओं में भिन्नता का मूल कारण दृष्टिकोण की भिन्नता है क्योंकि इतिहासकार, समाजशास्त्री, साहित्यकार और कलाशास्त्री संस्कृति को भिन्न—भिन्न दृष्टिकोणों से देखते हैं। अतः उनकी परिभाषाएँ निरक्षेप न होकर सापेक्षिक हैं।

वस्तुतः प्रत्येक सभ्यता अपने विकास के क्रम में कुछ मानसिक, आध्यात्मिक और नैतिक आदर्शों को निर्माण कर लेती है जो उसके सामाजिक जीवन में इस तरह व्याप्त हो जाते हैं जैसे फूलों में सुगन्ध और दूध में मक्खन। वह समाज इन आदर्शों की विशिष्टताओं से सराबोर रहता है। यह आत्मिक गुण ही उस समाज की संस्कृति होती है। दूसरे शब्दों में, जीवन के सूक्ष्म, शुद्ध और उदात्त आदर्शों का विकास और उनका पालन ही संस्कृति है। संस्कृति किसी एक व्यक्ति का कृतित्व नहीं वरन् अनगिनत व्यक्तियों के सामूहिक प्रयत्नों का परिणाम है तथा संस्कृति का निर्माण एक या दो दिन से न होकर युग—युगान्तर में होता है। वस्तुतः संस्कृति विभिन्न युगों में विभिन्न जनसमूहों द्वारा किये गये सामूहिक अनवरत प्रयासों का परिणाम होती है। साधारण शब्दों में संस्कृति का अर्थ मानव समाज की उन उपलब्धियों से है जो उसने अपने जीवन को सरल, सुन्दर और कल्याणकारी बनाने के लिये अर्जित की हैं। इस प्रकार संस्कृति मानव जीवन की अन्य जीव जगत् और प्रकृति पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने की विजययात्रा की रोचक कहानी है। इसके अन्तर्गत मनुष्य द्वारा धर्म, दर्शन, कला और साहित्य के क्षेत्र में किया गया सृजन और सार्वजनिक जीवन को कल्याणकारी बनाने के लिये निर्मित प्रथाओं और संस्थाओं को सम्मिलित किया जा सकता है।

सभ्यता— संस्कृति के साथ प्रायः **'सभ्यता'** शब्द का प्रयोग किया जाता है। कतिपय विद्वान् संस्कृति और सभ्यता शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में करते हैं। प्रसिद्ध डी. ई. टाइलर, हर्सकोविट्स आदि पाश्चात्य विद्वान् सभ्यता और संस्कृति को पर्यायवाची मानते हैं। किन्तु मैलिनाउस्की, स्पेंगलर आदि विद्वान् सभ्यता और संस्कृति में विभेद मानते हैं। इस सम्बन्ध में विभेद मानने वाले विद्वानों के मत में सत्यता है क्योंकि 'संस्कृति' और 'सभ्यता' दोनों शब्दों के वाच्य अर्थ में भेद है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार **'सभा'** शब्द में **'यत्'** प्रत्यय लगाने से **'सभ्य'** शब्द बनता है। **'सभ्य'** का अर्थ है **वह व्यक्ति जो सभाओं और समाज में उचित आचरण करता है तथा जो सामाजिक व्यवहारों का ज्ञाता, पालनकर्ता और उसके नियमों से आबद्ध है। 'सभ्य'** शब्द में **'तल्'** प्रत्यय लगाकर **'सभ्यता'** शब्द बना है। इस प्रकार **सभ्यता** शब्द का अर्थ हुआ- **सामाजिक नियमों और व्यवहारों का ज्ञान तथा अनुशासनबद्ध होकर उनके अनुरूप आचरण**। परन्तु आधुनिक युग में सभ्यता शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जाता है। आज उस व्यक्ति या समाज को सभ्य कहा जाता है जो अपने जीवन और

व्यवहार में शिष्ट नियमों और परम्पराओं का पालन करता हो और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये शिष्ट और श्रेष्ठ साधनों का उपयोग करता हो। जब हम किसी देश या जाति की सभ्यता को श्रेष्ठ कहते हैं तो हमारा भाव प्रशंसामूलक होता है और उसकी सभ्यता से हमारा अभिप्राय होता है कि उस देश या जाति का जनसमुदाय आचार-विचार और व्यवहार की दृष्टि से शिष्ट है। वहाँ सामाजिक अनुशासन व्यवस्थित है और वहाँ जीवनयापन तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अधिक उच्च, उन्नत और वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग होता है।

सभ्यता और संस्कृति– सभ्यता और संस्कृति शब्दों के वाच्य अर्थ और इनमें अन्तर्निहित भावों में अन्तर होते हुये भी यह परस्पर पृथक् नहीं वरन् एक दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध है। संस्कृति का सम्बन्ध मनुष्य के व्यक्तिगत कार्यों और आचरण से है जबकि सभ्यता का सम्बन्ध मनुष्य के सामाजिक आचरण और उसकी भौतिक उन्नति से है। जिस प्रकार व्यक्ति और समाज परस्पर एक दूसरे पर आधारित हैं उसी प्रकार सभ्यता और संस्कृति अन्योन्याश्रित है। संस्कृति मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन और आत्मिक उन्नति की परिचायक है तो सभ्यता उसकी सामाजिक श्रेष्ठता और भौतिक विकास का परिचायक है। **ओसवाल्ड स्पेंगलर** ने सभ्यता और संस्कृति के परस्पर सम्बन्ध के बारे में कहा है कि **"सभ्यता किसी संस्कृति की चरम अवस्था होती है, सभ्यता संस्कृति की अनिवार्य परिणति है। सभ्यता से किसी संस्कृति की बाह्य चरम अवस्था का बोध होता है।"** दूसरे शब्दों में सभ्यता शरीर है और संस्कृति उस शरीर की आत्मा है। जिस प्रकार आत्मा विहीन शरीर निर्जीव और निष्प्राण है तथा बिना शरीर आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। उसी प्रकार संस्कृति विहीन सभ्यता निष्प्राण और निर्मूल्य तथा सभ्यता विहीन संस्कृति अस्तित्वहीन है।

भारतीय संस्कृति का नामकरण **'भारतीय संस्कृति'**, **'आर्य संस्कृति'** और **'हिन्दू संस्कृति'** इन तीनों शब्दों को प्रायः पर्यायवोची के रूप में प्रयोग किया जाता है। भारत की जिस संस्कृति का हम अध्ययन करने जा रहे हैं उसका विकास मुख्य रूप से आर्यों ने किया था। अतः इस संस्कृति को **'आर्य संस्कृति'** कहा जाता है। महाभारत युद्ध से कुछ पीढ़ियों पूर्व कुरू वंश में भरत नामक एक पराक्रमी राजा हुआ था जिसने सम्पूर्ण आर्यावत को जीतकर एक चक्रवर्ती राज्य की स्थापना की थी। उसके नाम से इस देश का नाम **'भारतवर्ष'** हुआ और इसके निवासी भारतीय कहलाये। इस कारण इस देश की संस्कृति को **'भारतीय संस्कृति'** कहा जाने लगा। प्राचीन भारत में अधिकांश विदेशी आक्रमण पश्चिमोत्तर दिशा से हुये। भारतवर्ष में प्रवेश करने के लिये इन आक्रमणकारियों को सिन्धु नदी पार करनी पड़ती थी। यूनानी इस नदी को **'इण्डस'** कहते थे। उन्होंने इस नदी के नाम पर इस देश का नाम **'इण्डिया'** रखा और यहाँ के निवासी **'इण्डियन'** कहलाये। ईरानी भाषा में 'स' का उच्चारण 'ह' होता है। उच्चारण की इस भिन्नता के कारण ईरानियों ने सिन्धु नदी को **'हिन्दू'** कहा। इस कारण इस देश के निवासियों को **'हिन्दू'** और इस देश का नाम **'हिन्दुस्तान'** हुआ। ईरानियों द्वारा प्रदत्त **'हिन्दू'** और **'हिन्दुस्तान'** नाम इस देश में

सामान्य रूप से प्रचलित हो गया। इस देश की बहुसंख्यक जनता अपने को 'हिन्दू' कहती है। इस प्रकार इस देश के निवासियों के लिये प्रयुक्त **'हिन्दू' 'इण्डियन'** और **'भारतीय'** शब्द और उनकी संस्कृति के लिये **'भारतीय संस्कृति'**, **'आर्य संस्कृति'**, **'हिन्दू संस्कृति'** अथवा **'इण्डियन कल्चर'** नाम पर्यायवाची है।

भारतीय संस्कृति का निर्माण– भारतीय संस्कृति के नाम से जिस संस्कृति की ओर संकेत किया जाता है वह संस्कृति मूल रूप से आर्य संस्कृति है जिसका आरम्भ ऋग्वेद से होता है। वस्तुतः इसकी परम्पराओं और मान्यताओं की स्थापना आर्य ऋषियों और मनीषियों ने की थी। इस संस्कृति की प्रबलता के कारण इसकी परम्पराओं और मान्यताओं को आर्यों के अलावा आर्येत्तर जातियों ने भी स्वीकार किया है।

संस्कृति किसी एक व्यक्ति के प्रयत्नों या पुरूषार्थ का परिणाम न होकर अनेक ज्ञात-अज्ञात व्यक्तियों के प्रयत्नों का परिणाम होती है। साथ ही संस्कृति का निर्माण एक या दो दिन में नहीं होकर युग-युगान्तर में होता है। दूसरे शब्दों में, संस्कृति विभिन्न युगों में विभिन्न जनसमूहों द्वारा किये गये सामूहिक और अनवरत प्रयासों का परिणाम होती है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता और सामर्थ्य के अनुरूप संस्कृति के निर्माण में योगदान देता है। वस्तुतः संस्कृति के निर्माण की प्रक्रिया मूंगे की चट्टानों के निर्माण की प्रक्रिया के अनुरूप है। जिस प्रकार मूंगे के असंख्य छोटे-छोटे कीड़े अपना घर बनाते बनाते समाप्त हो जाते हैं और हजारों वर्षों तक इन कीड़ों की पीढ़ियाँ इस क्रम को निरन्तर जारी रखती है और मूंगे के यह छोटे-छोटे घर संयुक्त होकर चट्टानों का रूप धारण कर लेते हैं। भारतीय संस्कृति का निर्माण भी इसी प्रकार हुआ है।

भारतीय संस्कृति का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। यह विश्व की प्राचीनतम संस्कृति है। भारतीय संस्कृति का आरम्भ सिन्धु सभ्यता से माना जाता है। किन्तु इस सभ्यता के मात्र पुरातात्विक साक्ष्य मिलते हैं। अतः इस सभ्यता का अधिकांश ज्ञान अनुमानों पर आधारित है। भारतीय संस्कृति का वास्तविक आरम्भ ऋग्वेद से माना जाता है। मध्यकाल में मुस्लिम राज्य की स्थापना के साथ इसका ह्रास आरम्भ हो गया था। भारतीय संस्कृति की निर्माण प्रक्रिया को चार चरणों बाँटा जा सकता है– **प्रथम चरण**, को संस्कृति के निर्माण का युग कहा जा सकता है। यह युग ऋग्वेद के काल से लेकर रामायण और महाभारत की रचनाकाल और बौद्ध तथा जैन-धर्म के उदय से पहले तक था। इस काल में आर्यों ने आर्येत्तर जातियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। साथ ही वैदिक ऋषियों और मनीषियों ने संस्कृति के आदर्शों और परम्पराओं का निर्माण किया। संस्कृति के निर्माण के **द्वितीय चरण** को भारतीय संस्कृति के स्वर्ण युग का आरम्भ कहा जा सकता है। यह युग बौद्ध धर्म के उदय अर्थात् 600 ई. पू. से प्रथम शताब्दी ई. पू. तक का है। इस युग में रामायण और महाभारत के वर्तमान रूप में रचना हो चुकी थी और वैदिक धर्म अनेक कर्मकाण्डों से ग्रस्त हो चुका था। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप बौद्ध और जैन धर्म का उदय हुआ।

किन्तु शीघ्र ही इन धर्मों में भी दोष व्याप्त हो गये। फलतः प्रथम शताब्दी ई. पू. में वैदिक धर्म का पुनरूत्थान हुआ। भारतीय संस्कृति का **तृतीय चरण** स्वर्ण युग था। यह काल प्रथम शताब्दी ई. पू. से सातवीं शताब्दी ईस्वी के पूर्वार्द्ध तक रहा। इस काल में शुंग वंश ने वैदिक धर्म की पुनर्स्थापना की। उसके पश्चात् गुप्तकाल में भारतीय संस्कृति प्रत्येक दृष्टिकोण से विकास के उच्चतम शिखर पर पहुँच गई। गुप्त शासकों ने भारत को एक राजनीतिक सूत्र में बाँधकर विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। गुप्त शासकों की उदारता ने सामाजिक जीवन को उन्नत करके कलाओं को प्रोत्साहित किया। इसी युग में भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रसार हुआ। पूर्व में जावा तक, उत्तर में चीन और जापान तक तथा पश्चिम में गान्धार तक भारतीय संस्कृति व्याप्त हो गई। इस युग में संस्कृति का निर्माण इतने सुदृढ़ आधार पर हुआ कि विदेशी आक्रमणकारी भी उसकी नींवे नहीं हिला सकें। भारतीय संस्कृति का **चतुर्थ चरण** अन्धकार युग है। यह युग सातवीं शताब्दी के बाद का है। हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद भारत की राजनीतिक एकता समाप्त हो गई। इसी के समय से भारतीय संस्कृति कें जगत् गुरू और गौरवमयी स्वरूप का ह्रास भी आरम्भ हो गया। मध्ययुग में मुस्लिम आक्रमण और मुस्लिम राज्य की स्थापना से भारतीय संस्कृति को गहरा आघात लगा और भारतीय संस्कृति का सूर्य अस्ताचल की ओर चल पड़ा। कतिपय विद्वान् भारतीय संस्कृति पर व्याप्त मुस्लिम और पाश्चात्य प्रभाव के कारण उसें समन्वित संस्कृति मानते हैं। किन्तु यह भ्रमपूर्ण है क्योंकि भारतीयों ने मुसलमानों और अंग्रेजों की राजनीतिक प्रभुता स्वीकार ली थी, किन्तु वे विजेताओं की संस्कृति को सहज रूप में स्वीकार नहीं कर सकें। भारतीय संस्कृति में व्याप्त मुस्लिम और पाश्चात्य तत्व उनके बाह्य प्रभाव के प्रतीक है अन्यथा हमारी परम्परा, आदर्श और विचार इस प्रभाव से अक्षुण्ण ही रहे हैं। दूसरे शब्दों में, मुस्लिम और पाश्चात्य संसर्ग ने हमारी संस्कृति के बाह्य रूप अर्थात् सभ्यता को ही प्रभावित किया हैं उसकी आत्मा को नहीं।

भारतीय संस्कृति– भारतीय संस्कृति इस वसुन्धरा की अनुपम धरोहर है। इस संस्कृति की पावन धारा का उद्‌भव वहाँ से होता है जहाँ हमारे चिन्तन की धारा की पहुँच असम्भव है। भारतीय संस्कृति अपनी अमरता के लिये विश्व प्रसिद्ध है। विश्व की संस्कृतियों में भारत की संस्कृति अपनी विशिष्टताओं के लिये विख्यात है। जहाँ यूनान, रोम, मिस्र, मेसोपोटामिया, बेबीलोन आदि देशों की संस्कृतियाँ विकराल काल के विशाल गाल में सर्वदा के लिये विलीन हो गई, वहाँ हमारी संस्कृति हजारों वर्षों से कालचक्र के अनेकों थपड़े सहती हुई अपनी विजय वैजयन्ती लहराती विश्व के मानवों पर अपनी श्रेष्ठता जमाती, अपनी जीवन्तसत्ता के लिये सबको चुनौती देती हुई मैदान में डटी खड़ी है। विपत्तियों की ज्वाला ने हमारी संस्कृति को तपाये हुये स्वर्ण की भाँति और परिष्कृत कर दिया जिससे हमारी संस्कृति अधिक कान्तिमय और गौरवमयी हो गई। भारतीय संस्कृति जगतगुरू रही है। उसने अपने गुणों से भारत को ही समृद्ध नहीं किया वरन् भारत के बाहर भी अनेक असभ्य जातियों को

सभ्यता का पाठ पढ़ाकर उन्हें सुसंस्कृत बनाया है। साइबेरिया से सिंहलद्वीप (श्रीलंका) तक और मेडागास्कर, ईरान तथा अफगानिस्तान से प्रशान्त महासागर के बार्नियो तथा बाली द्वीपों तक के विशाल भूखण्डों पर इसने अपना अमिट प्रभाव छोड़ा है। विशालता, उदारता, सहिष्णुता और सर्वांगीणता के क्षेत्र में विश्व की अन्य कोई भी संस्कृति भारतीय संस्कृति के समकक्ष नहीं है। विश्व की जनसंख्या का एक विशाल भाग आज भी भारतीय संस्कृति की संजीवनी शक्ति से अनुप्रेरित, गुन्जित और सराबोर है। इस संस्कृति के स्वरूप और महत्व का ज्ञान प्रत्येक भारतवासी का पुनीत कर्त्तव्य है। यह संस्कृति समष्टिवादिनी है। इसमें व्यक्ति को समाज में लीन होने का उपदेश दिया गया है। भारतीय संस्कृति मनुष्य के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास के आदर्शों से पूर्ण है।

भारतीय संस्कृति के मूल तत्व एवं विशेषताएँ

भारत का इतिहास शताब्दियों पुराना है और इससे भी पुरानी है हमारी सांस्कृतिक चेतना। भारतीय संस्कृति का उद्भव कब हुआ ? इस बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु फिर भी यह मानना पड़ेगा कि सभ्यता के आरम्भ से ही भारत में सांस्कृतिक चेतना उद्भूत हो चुकी थी। आज से हजारों वर्ष पूर्व सैन्धव और वैदिक युग में, हम भारतीय संस्कृति के उज्जवल रूप का दर्शन पाते हैं। यद्यपि मानव के मन, मस्तिष्क और प्रवृत्तियों को परिष्कृत कर उन्हें उदात्त बनाना प्रत्येक संस्कृति का लक्ष्य होता है। परन्तु प्रत्येक संस्कृति की कुछ अन्तर्निहित विशेषताएँ होती हैं जिनके कारण वह अन्य संस्कृतियों से अपनी अलग पहचान रखती है। यही अन्तर्निहित विशेषताएँ उस संस्कृति की आत्मा होती है जो उस संस्कृति की प्रेरक शक्ति और आधार होती हैं। ऐसा ही विशेषताओं के आधार पर भारतीय संस्कृति का ढांचा खड़ा किया जा सकता है अर्थात भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ ही दूसरे अर्थों में भारतीय संस्कृति का ढांचा है। भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ अधोलिखित हैं —

(1) **प्राचीनता एवं निरन्तरता**— भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति है। यह कितनी प्राचीन है इसका यथार्थ निरूपण इतिहास की सम्यक् गवेषणा के बाद भी आज तक नहीं हो पाया है। परन्तु प्राचीन स्थलों के उत्खनन से जो साक्ष्य उपलब्ध हुये वे इसकी प्राचीनता की पुष्टि करते हैं। पूर्व पाषाण काल के अनेक अवशेष भारत के विभिन्न क्षेत्रों साबरमती (गुजरात), कुलीयाना, (उड़ीसा), हुसंगी (कर्नाटक) आदि स्थानों से मिले हैं। सिन्धु सभ्यता के मोहनजोदड़ों और हड़प्पा के क्षेत्रों से प्राप्त अद्भुत वस्तुएँ भारतीय संस्कृति की प्राचीनता और सर्वोत्कृष्टता को प्रमाणित करती हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि जब विश्व के अन्य भागों में संस्कृति के अंकुर ही फूट रहे थे। उस समय भारत एक विकसित और समृद्ध संस्कृति का स्वामी था। **एच. आर. हॉल** जैसे विद्वान् तो ईरान की संस्कृति (3500 ई. पू.) का निर्माता ही दक्षिण भारत के निवासियों को मानते हैं। यही नहीं

भारतीय संस्कृति का आधार भी प्राचीन है । देश की वर्तमान सामाजिक संस्थाएँ प्राचीन युग में ही पल्लवित और पुष्पित हुई हैं । वर्ण, आश्रम, परिवार और विवाह आदि अनेक सामाजिक संस्थाओं का उदय ही नहीं अपितु विकास भी वैदिक युग में हो चुका था जबकि अन्य देश अनेक दृष्टियों से अनुन्नत और असभ्य थे । वहाँ भारत जैसी सुगठित और विकसित सामाजिक संस्थाएँ नहीं थीं । **डॉ. जयशंकर मिश्र** के अनुसार **"सामाजिक संस्थाओं की प्राचीनता भारतीय संस्कृति की विशेषता है ।"**

प्राचीनता के साथ दीर्घकालीन स्थायित्व भी भारतीय संस्कृति की विशेषता है । विश्व की अनेक प्राचीन संस्कृतियाँ काल के विकराल गाल में समाकर लुप्त हो चुकी हैं । यूनान, रोम, मिस्र, बेबीलोन, मेसापोटामिया आदि संस्कृतियाँ अपने विकास के चरम क्षितिज पर पहुँचकर अस्त हो चुकी हैं । आज यूनान और रोम की संस्कृतियों के खण्डहर शेष हैं और उनका इतिहास पुस्तकों के पृष्ठों में सीमित है । परन्तु भारतीय संस्कृति हजारों वर्ष बीत जाने के उपरान्त भी अपनी विजय ध्वजा लहराती आज तक जीवन्त है । आज भी भारतीय सामाजिक जीवन—वर्ण, परिवार, विवाह आदि वैदिक आदर्शों पर चल रहा है । समाज में धार्मिक क्रियाओं का निष्पादन ब्राह्मणों और पुरोहितों द्वारा ही होता है । भारतीयों का धर्म अब भी वैदिक धर्म ही है । उपनिषदों और गीता में प्रवाहित ज्ञान की धारा आज भी हमारे दर्शन और आध्यात्म का केन्द्र है । महात्मा बुद्ध और महावीर स्वामी द्वारा दिया गया अहिंसा और शान्ति का उपदेश आज भी पूर्व समान ही मान्य है । भारतीय स्त्रियाँ आज भी सीता, सावित्री और पार्वती को अपना आदर्श मानती हैं । भारतीय संस्कृति की धारा 5000 वर्षों से निर्बाध बहती चली आ रही है । भारत में अनेक जातियाँ आईं और कई बार उनके हाथों हमें राजनीतिक पराजय भी झेलनी पड़ी । फिर भी भारतीय संस्कृति का प्रवाह अवरूद्ध नहीं हुआ । अनेक विदेशी तत्वों का समावेश होने पर भी भारतीय संस्कृति का मूल स्वरूप नहीं बदला । भारतीय संस्कृति के मूल आधार वही हैं जो प्राचीन काल में थे । इसीलिये **डॉ. गिरधर शर्मा** ने भारतीय संस्कृति को वेदमूलक माना है ।

(2) आध्यात्मिकता– डॉ. बलदेव उपाध्याय का कथन है कि **"किसी भी संस्कृति की श्रेष्ठता का मापक उसका आध्यात्मिक चिन्तन होता है जिस संस्कृति के आध्यात्मिक विचार जितने अधिक और गहन होते हैं वह संस्कृति इतिहास में उतना ही महत्वपूर्ण स्थान रखती है।"** प्रायः किसी भी देश की सँस्कृति की अभिव्यक्ति उस देश के धर्म, दर्शन, आध्यात्म, साहित्य और कला आदि के द्वारा होती है । भारतीय संस्कृति की अभिव्यक्ति का मूल स्रोत भी उसकी आध्यात्मिक भावना है जिसका विकास आश्रमों और तपोवनों में हुआ । भारतीय संस्कृति में भौतिक तत्व की अपेक्षा आध्यात्मिक तत्व अधिक सबल रहा है । भारतीय चिन्तन पर आध्यात्मिक तत्व की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है । वैदिक युग से ही भारत में इस चिन्तन का आरम्भ हो गया था कि स्थूल संसार से परे कोई परमसत्ता है जिससे प्रेरणा और शक्ति प्राप्त कर यह प्रकृति संचालित होती है । भारतीय संस्कृति ने सांसारिक सुखों को जीवन का परम लक्ष्य नहीं माना।

इसीलिये नाशवान शरीर व भौतिक ऐश्वर्य की अपेक्षा ईश्वर, आत्मा की अमरता और सर्वव्यापकता तथा ब्रह्म और मोक्ष भारतीय चिन्तन के प्रधान विषय रहे हैं। **'आत्मा को पहचानो'** (आत्मानां विजानीहि) भारतीय संस्कृति की सार्वभौम उद्घोषणा है। **'जो सबको अपने में और अपने को सब में देखता है वही ज्ञानी है'** और **'समस्त पृथ्वी ही अपना कुटुम्ब है।'** (वसुधैव कुटुम्बकम्), इस संस्कृति के आदर्श रहे हैं। 'सब प्राणियों के हित की कामना करना', (सर्वे भवन्तु सुखिन)। इस संस्कृति का मूलमन्त्र रहा है। इन उच्च आध्यात्मिक विचारों के कारण ही भारत में हिन्दुओं के अनेक मत और सम्प्रदायों के होते हुए भी कभी धार्मिक विद्वेष उत्पन्न नहीं हुआ क्योंकि सबके कल्याण में अपना कल्याण देखने की आध्यात्मिक भावना सभी मतों और सम्प्रदायों की मूल प्रेरक शक्ति थी। इस प्रकार भारतीय संस्कृति में मानव की भौतिक उन्नति के साथ आध्यात्मिक विकास के तत्वों को पूर्णतया निमज्जित कर दिया गया है। यही इसकी अमरता का कारण है। इस सम्बन्ध में **स्वामी विवेकानन्द ने** कहा है कि, **"भारतीय राष्ट्र मर नहीं सकता, वह अमर है और उस वक्त तक अमर रहेगा जब तक उसके लोग आध्यात्मिकता नहीं छोड़ेंगे।"**

(3) **धर्मपरायणता–** भारतीय संस्कृति में धर्म का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्राचीन भारतीय मनीषियों ने व्यक्ति के प्रत्येक सामाजिक और व्यक्तिगत अनुष्ठान को धर्म से सम्बद्ध कर दिया है। मनुष्य किस प्रकार का आचरण करें, उसके प्रतिदिन के क्रिया-कलाप क्या और कैसे हो ? एक व्यक्ति, एक समाज या जाति का दूसरे व्यक्ति समाज या जाति के प्रति किस प्रकार का व्यवहार हो ? इन बातों का निर्धारण धर्म के द्वारा ही किया गया है। मनुष्य के विभिन्न संस्कार यथा–शिक्षा, विवाह, सन्तानोत्पत्ति, माता–पिता और गुरूजनों की सेवा, उसकी शारीरिक और मानसिक उन्नति आदि सब कर्मों का निर्देशन धर्मसम्मत है। यहाँ तक की सर्वशक्तिमान राजा भी राजधर्म से आबद्ध है। प्रजापालन, प्रजारंजन, न्याय, युद्धों में वीरता प्रदर्शन, राज्य की बाह्य आक्रमणों से रक्षा आदि, राजा के यह सब कर्त्तव्य धर्म से निर्देशित हैं। परन्तु भारतीय संस्कृति में धर्म का अर्थ आंग्लभाषा के **'रिलिजन'** शब्द का पयार्य और उसकी भाँति संकुचित न होकर अत्यन्त उदात्त और व्यापक है। **'धर्म** शब्द **'धृ'** से बना है जिसका अर्थ है **'धारण शक्ति'**। प्राचीन भारतीय साहित्य में धर्म के सम्बन्ध में कहा गया है – **'धारणाद्धर्म इत्युच्यते'** अर्थात् **'समाज और व्यक्ति को धारण करने वाला तत्व धर्म कहलाता है'**। यहाँ धारण शक्ति का तात्पर्य उस गुण से है जो किसी वस्तु को अपने स्वरूप में स्थिर रखती है और जिसके अभाव में वह वस्तु अपने स्वरूप से च्युत हो जाती हैं अर्थात जो वस्तु को धारण करता है और उसे नष्ट नहीं होने देता **'धर्म'** कहलाता है। अन्यत्र कहा गया है– **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'** अर्थात् **जिससे उन्नति और कल्याण की सिद्धि होती है, धर्म है**। धर्म की यह व्याख्याएँ भारतीय धर्म की व्यापक और उदात्त भावना का परिचायक है। भारतीय संस्कृति में निहित **'धर्म'** अनुदार न होकर जनकल्याण की भावनाओं से ओतप्रोत है। मनु ने धर्म की व्याख्या करते हुये कहा है कि वेदों में जो कहा गया है

वह धर्म है, तदन्तर धर्म वह है जिनका प्रतिप्राद स्मृतियाँ करती हैं। उसके बाद श्रेष्ठ पुरूषों के आचरण को धर्म समझना चाहिये। उन कार्यों को भी धर्म समझना चाहिये जिनके करने का अनुमोदन मनुष्य का अन्तःकरण करता है। समग्र रूप से सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य को उसके दायित्वों का बोध कराना और उनके सम्यक् पालन का मार्ग निर्धारित करना ही धर्म है। धर्म की इस व्यापक व्याख्या ने भारतीय संस्कृति को सदैव संकीर्णता से दूर रखा है।

(4) **देववाद**– देववाद भारतीय संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। **'देव'** शब्द का अर्थ है **'दिव्य गुणों से सम्पन्न।'** प्राचीन भारतीय ऋषियों प्रकृति की जिस किसी भी शक्ति में दिव्य गुणों की अनुभूति हुई। उसी प्राकृतिक शक्ति का उन्होंने द्रैवीकरण कर दिया जैसे–इन्द्र, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, वरूण आदि। कालान्तर में मानवीय गुणों और भावनाओं का भी दैवीकरण कर दिया गया। प्रारम्भिक युग में देवता अमूर्त थे और इन्हें विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों और मानवीय गुणों का अधिष्ठाता समझा जाता था। किन्तु उत्तर वैदिक काल में देवताओं के विशिष्ट रूपों की कल्पना की गई। पौराणिक युग में देवताओं का महत्त्व और अधिक बढ़ गया और मनुष्य की सभी प्रवृत्तियाँ देवताओं से प्रभावित होने लगीं। साथ ही यह मान्यता स्थापित हुई कि देवता बुरे कर्मों से नाराज होकर दण्ड देते हैं और अच्छे कर्म तथा उपासना से प्रसन्न होकर प्रसाद रूप में समृद्धि प्रदान करते हैं। इस युग में यज्ञ, आराधनाओं तथा श्रेष्ठ कर्मों द्वारा देवताओं को प्रसन्न करना मनुष्य का ध्येय बन गया था यही मान्यता आज भी प्रचलित है। देववाद की इस भावना ने भारतीयों को सदैव सद्‌कर्मों की प्रेरणा दी है।

(5) **अवतारवाद**– भारतीय संस्कृति के विकास में अवतारवाद की कल्पना ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। भारतीयों की मान्यता है कि जगत् में अधर्म का नाश करने और धर्म की पुर्नस्थापना के लिए समय-समय पर देश में अनेक महापुरूषों ने जन्म लिया और पतनोन्मुख भारतीय धर्म और संस्कृति की रक्षा की। सगुण ईश्वर में विश्वास करने वाले विचारक इन महापुरूषों को ईश्वर के अवतार की संज्ञा देते हैं। उनका मत है कि जब दुष्ट जन प्रबल होकर सज्जनों पर अत्याचार करते हैं, तब ईश्वर मानव रूप धारण कर इस पृथ्वी पर अवतरित होते हैं और वे दुष्टों का विनाश कर धर्म और सज्जनों की रक्षा करते हैं। प्राचीन धार्मिक साहित्य में ईश्वर के दस अवतारों–मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि की कल्पना की गई हैं। इन अवतारों में राम और कृष्ण के अवतारों ने भारतीय जनमानस को सर्वाधिक प्रभावित किया है। आज भी ये भारतवासियों के सर्वाधिक पूज्य देवता हैं और हिन्दू अपने को राम और कृष्ण की सन्तान कहने में गौरव का अनुभव करते हैं।

(6) **कर्म और पुनर्जन्म**– कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त भारतीय संस्कृति का आदर्श है। भारतीय दर्शन के अनुसार मनुष्य को अपने किये गये अच्छे और बुरे कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। अच्छे कर्म सुखदायक और बुरे कर्म

दुखःदायक होते हैं। मनुष्य अपने कर्मों का अच्छा या बुरा फल भोगने के लिये ही जन्म-मरण के चक्र में पड़ता है। भारतीय मनीषियों का पुनर्जन्म में विश्वास था। उनकी मान्यता थी कि अच्छे और बुरे कर्मों के अनुसार ही प्राणी उत्तम और नीच योनियों में अथवा कुल में जन्म लेता है। कर्मफलों को भोगने के लिये जीव असंख्य योनियों में जन्म ग्रहण करके तब तक भटकता रहता है जब तक वह मोक्ष प्राप्त न करलें। मोक्ष प्राप्ति या जन्म–मरण के चक्र से मुक्ति भारतीय संस्कृति में मानव जीवन का परम लक्ष्य है। अतः मोक्ष के लिये अच्छे-बुरे कर्मों का त्याग अनिवार्य है। परन्तु मनुष्य के लिये कर्मों का सर्वथा त्याग असम्भव और अव्यावहारिक है। अतः भारतीय संस्कृति में कर्मों के त्याग की अपेक्षा कर्मो से प्राप्त होने वाले फल की अभिलाषा के परित्याग को मोक्ष प्राप्ति का मार्ग बताया गया है। कर्मफल और पुनर्जन्म के इस सिद्धान्त ने भारतीय संस्कृति और समाज में सदाचार को प्रोत्साहित किया है। इन धारणाओं के कारण ही जनसामान्य उत्तम और श्रेष्ठ कर्मों की ओर प्रवृत हुये हैं।

(7) **सर्वांगीणता**– भारतीय संस्कृति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। वह किसी सीमा में आबद्ध नहीं है। व्यक्ति का सर्वांगीण विकास इसका मूल लक्ष्य रहा है। सर्वांगीण विकास का तात्पर्य लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की उन्नति से है। भारतीय संस्कृति में जीवन की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों ही शक्तियों को सबल बनाने की प्रेरणा दी गई है। भारतीय संस्कृति में आदिकाल से ही शरीर, मन और आत्मा का सामंजस्यपूर्ण विकास जीवन का परमलक्ष्य माना गया है, अतः इसमें प्रतिपादित मानव जीवन के चार पुरूषार्थ भारतीय संस्कृति के आधारस्तम्भ है। प्राचीन भारतीय मनीषियों ने व्यक्ति की सम्यक् उन्नति और सुख-समृद्धि के लिये चार पुरूषार्थों–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की आयोजना की है। इन चार पुरूषार्थों की प्राप्ति ही मनुष्य के जीवन की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों ओर कार्य–कलापों का लक्ष्य माना गया है। इसके अनुसार मनुष्य को धर्म का पालन करते हुये अर्थोपार्जन करना चाहिये और धर्म से उपार्जित अर्थ से सांसारिक भोग्य पदार्थों का उपयोग करना चाहिये। धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति के तदन्तर मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न ही मानव जीवन का परम लक्ष्य है। वस्तुतः भारतीय समाज में प्रणीत चार आश्रमों की व्यवस्था इन पुरूषार्थों की प्राप्ति का ही मार्ग है। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम में व्यक्ति प्रथम तीन पुरूषार्थों–धर्म, अर्थ और काम को प्राप्त करता है। तदन्तर वानप्रस्थ आश्रम में वह मोक्ष की ओर प्रवृत होकर संन्यास आश्रम में वह मोक्ष को प्राप्त करता है। इसी पुरूषार्थ व्यवस्था के कारण भारतीय संस्कृति अन्य संस्कृतियों से अपनी विशिष्टता रखती है।

(8) **सहिष्णुता**– भारतीय संस्कृति सहिष्णुता के आदर्श का अनुपम उदाहरण है। भारतीय संस्कृति में वैचारिक स्वतन्त्रता को पूर्ण मान्यता दी गई है। इसीलिये यहाँ अनेक आस्तिक और नास्तिक विचारधाराओं का विकास हुआ है। यहाँ षड्दर्शन, जैन, बौद्ध, चार्वाक, भागवत, शैव आदि अनेक मत-मतान्तरों को

प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु इन विविध धर्मों और विचारों के प्रति सहिष्णुता और सम्मान की भावना से भारतीय संस्कृति ओतप्रोत रही है। भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता की इस भावना के सर्वप्रथम दर्शन **ऋग्वेद** में कहा गया है –**'एकं सद विप्राः बहुधा वदन्ति'** अर्थात् 'सत्य एक है परन्तु ज्ञानी पुरूष उसका अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं' गीता में इसी भावना को पराकाष्ठा पर पहुँचाते हुए श्री कृष्ण ने कहा है–**"हे अर्जुन। अन्य देवताओं की उपासना करने वाले मनुष्य भी मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं।"** भारतीय संस्कृति की धार्मिक सहिष्णुता की भावना की सुन्दरतम अभिव्यक्ति सम्राट् अशोक के बारहवें शिलालेख में हुई है। यहाँ अशोक सब धर्मों के सार में वृद्धि की कामना करते हुए कहता है कि **"लोग अपने ही सम्प्रदाय का आदर और बिना कारण दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा न करें, जो व्यक्ति ऐसा करता है, वह अपने सम्प्रदाय को भी क्षति पहुँचाता है और दूसरे सम्प्रदाय का भी अपकार करता है। लोग एक दूसरे के धर्म को ध्यान से सुनें और उसकी सेवा करें क्योंकि सभी सम्प्रदाय वाले बहुत विद्वान् और कल्याण का कार्य करते हैं।"** सम्राट् अशोक की धर्म सहिष्णुता का यह आदर्श सदैव भारतीय संस्कृति का प्राण रहा है। भारतीय संस्कृति में धर्मान्धता और संकुचित दृष्टिकोण का कोई स्थान नहीं है। यही कारण है कि भारत में कभी साम्प्रदायिक संघर्ष नहीं हुये और ना ही प्राचीन भारतीय शासकों ने कभी धर्म के नाम पर जनता पर अत्याचार किये जबकि इसकी समकालीन यूरोप की संस्कृतियों में धर्म की दृष्टि से न सिर्फ एक धर्म ने दूसरे धर्म पर वरन् एक ही धर्म में विभिन्न मत रखनेवालों पर भीषण अत्याचारों के अनेकों उदाहरण उनके इतिहास में मिल जायेंगे। इसके विपरीत भारत में विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों तथा विचाराधाराओं के अनुयायी यहाँ सदैव परस्पर मित्रता और प्रेम से रहे। इसी भावना के कारण भारतीय संस्कृति ने धार्मिक क्षेत्र में अपने से भिन्न संस्कृति वालों की उपासना विधियाँ व मान्यताएँ अपनालीं। इसी भानना के कारण भारतीय संस्कृति विविध आचार–विचार और धार्मिक विश्वासों वाली जातियों एवं वर्गों को एकता के सूत्र में पिरो सकीं।

(9) **समयानुकूल परिवर्तनशीलता**– भारतीय संस्कृति की समयानुकूल परिवर्तनशीलता की भावना इसके अमरत्व का मूलतत्व है। जीवशास्त्र का यह सिद्धांत है कि वही प्राणी दीर्घजीवी होता है जो अपने को समय और परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तित कर लेता है। संस्कृतियों के दीर्घजीवी होने के पीछे भी यही सिद्धान्त लागू होता है। विश्व की अन्य संस्कृतियाँ आनुकूल्य परिवर्तनशीलता की इस भावना के अभाव में लुप्त होकर इतिहास के पन्नों में सिमट गई। परन्तु भारतीय संस्कृति अपने समयानुकूल परिवर्तनशीलता के स्वभाव के कारण चिरजीवी है। संस्कृति के प्रारम्भिक युग से परिस्थितयाँ निरन्तर परिवर्तित होती रहीं और उसके अनुरूप भारतीय धर्म, समाज, आचार-विचार, विधि-नियम आदि निरन्तर परिवर्तित होते रहें। परन्तु यह परिवर्तन इतना सहज और धीरे–धीरें हुआ कि बाह्य रूप से इसका आभास ही नहीं हुआ। संस्कृति के प्रारम्भिक युग में धर्म यज्ञ-प्रधान और वर्ण व्यवस्था कर्म पर आधारित थी। किन्तु कालान्तर में धर्म भक्ति-प्रधान और

वर्ण व्यवस्था जन्म प्रधान हो गयी। नवीन धर्मों के उदय और विदेशी आक्रमणों की चुनौतिपूर्ण परिस्थितियों में भी हमारी संस्कृति ने समाज और धर्म में आवश्कतानुसार परिवर्तन करके अपने मूल को अक्षुण्ण बनाये रखा। यही कारण है कि मुसलमानों और अंग्रेजों के दीर्घकालीन शासन के बाद हमने उनकी भाषा, रहन-सहन और वेष-भूषा तो अवश्य अपनाली। किन्तु हमारे समाज और धर्म के आदर्श वही हैं जो वैदिककाल में थे।

(10) **समन्वय की भावना**—भारतीय संस्कृति में समन्वयशीलता की उदात्त भावना का परिचय सब क्षेत्रों में मिलता है। भारतीय संस्कृति की सजीवता और सक्रियता का मूल उसकी समन्वय शक्ति में निहित है। भारतीय संस्कृति में किसी एक पद्धति, योजना या विचार को एकमात्र सर्वश्रेष्ठ नहीं माना गया वरन् भारतीय मनीषियों ने प्रत्येक तथ्य पर स्वतन्त्रतापूर्वक चिन्तन किया और जो भी पद्धति, योजना या विचार देश, समाज या जाति के लिए लाभप्रद मानी गई उसे मान्यता प्रदान कर दी। परस्पर विरोधी सिद्धान्तों में भी समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। भारतीय धर्म, दर्शन और समाज में अनेक परस्पर विरोधी मान्यताएँ और पद्धतियाँ यथा—आस्तिक और नास्तिक, आत्मवादी और अनात्मवादी आध्यात्मवादी और भौतिकवादी दृष्टिगत होती हैं। किन्तु वे सब भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग के रूप में मान्य है।

भारतीय संस्कृति ने न केवल अपने यहाँ के परस्पर विरोधी विचारों में ही समन्वय किया वरन् उसने अपने सम्पर्क में आने वाली आर्येत्तर विदेशी जातियों की अच्छाइयों और विशेषताओं को भी अपने अनुकूल बनाकर ग्रहण कर लिया। आर्यों में प्रचलित लिंग पूजा, वृक्ष पूजा और बलि प्रथा आर्येत्तर संस्कृति के सम्पर्क का ही परिणाम है। कतिपय विद्वान् शिव को मूल रूप में अनार्य देवता ही मानते हैं। भारतीय कला और ज्योतिष भी यूनानी, रोम और इस्लाम के प्रभाव से ही समृद्ध हुई है। भारतीय संस्कृति की समन्वयशीलता की भावना प्रसिद्ध **ज्योतिषी वराहमिहिर** की इस उक्ति से स्पष्ट है **"यद्यपि यवन म्लेच्छ है, परन्तु उनके ज्योतिष शास्त्र के ज्ञान के कारण वे ऋषियों की तरह पूजनीय है।"** आर्य संस्कृति की इस विशेषता के कारण ही इस देश में आक्रमणकारी के रूप में आई भिन्न संस्कृति वाली यूनानी, शक, कुषाण, हूण आदि जातियाँ शीघ्र ही भारतीय संस्कृति में घुलमिल गई। इन विदेशी जातियों ने शीघ्र ही आर्यो के धर्म, रीति—रिवाज और सांस्कृतिक विशेषताओं को अपना लिया और वे आर्य जाति में मिल गये। यूनानी, शक तथा कुषाण जातियाँ इसका प्रमुख उदाहरण हैं। आज भारत में इन जातियों का पृथक् रूप से कोई अस्तित्व नहीं है। ये आर्य जाति का अभिन्न अंग बन चुकी है। हूणों तक इस देश में आने वाली सभी विदेशी जातियाँ भारतीय संस्कृति की प्रबल समन्वय शक्ति के कारण पूर्णतया इसमें समा गई। भारत में आने के बाद इस्लाम का स्वरूप भी बदल गया। भारतीय संस्कृति की समन्वय शक्ति के बारे में **डॉडवेल** (Dodwell) का कथन सत्य है कि **"भारतीय संस्कृति एक महासमुद्र के समान है जिसमें अनेक नदियाँ आ आकर विलीन**

होती रही हैं ।" समन्वय की इस भावना के कारण ही भारतीय संस्कृति ने अपने में शामिल होने वाले नये तत्वों को सहजभाव से अपनाकर उन्हें अपना अंग बना लिया। यदि भारतीय संस्कृति में समन्वय की यह भावना नहीं होती तो सम्भव है विश्व की अन्य संस्कृतियों की भाँति यह भी काफी समय पूर्व विलुप्त हो गई होती। समन्वय और आत्मसात् की प्रवृत्ति ने भारतीय संस्कृति को अमरता प्रदान की है।

(11) **विश्व कल्याण की भावना**– भारतीय संस्कृति का हृदय बड़ा व्यापक है। उसमें व्यक्ति, समाज या जातीय हित का ही ध्यान नहीं रखा गया अपितु उसका लक्ष्य सम्पूर्ण विश्व का कल्याण था। भारतीय मनीषियों ने व्यक्तिगत सुख को वास्तविक सुख नहीं माना अपितु उन्होंने विश्व के सब प्राणियों के सुख में ही अपना सुख माना है। 'विश्व के सभी प्राणी सुखी और निरोगी रहें' हमारा साहित्य इसी भावना से सराबोर है। हमारे साहित्य में श्रेष्ठ पुरूष उसी व्यक्ति को माना गया है जो अपने स्वार्थ का परित्याग कर दूसरों का उपकार करता है। ऋग्वेद में भी सभी प्राणियों को मित्र समझने और शत्रु को भी दण्ड न देने की भावना व्यक्त की गई है। भारतीय गृहस्थ के कर्त्तव्यों में भूतयज्ञ और अतिथि यज्ञ भी इसी भावना के परिचायक हैं। मनुस्मृति में प्रत्येक गृहस्थ के लिये विश्व के सभी प्राणियों का पालन अनिवार्य बताया गया है। वैदिक धर्म के अलावा बौद्ध और जैन आदि मतों में भी लोककल्याण की भावना की प्रधानता थी। भारतीय संस्कृति **'सर्वे सुखिनः सन्तु'** की भावना से अनुप्राणित है।

(12) **महापुरूषों और पूर्वजों के प्रति श्रद्धा और भक्ति**–भारतीय संस्कृति में महापुरूषों और पूर्वजों के प्रति श्रद्धा और भक्ति की भावना सदैव विद्यमान रही है। जिन महापुरूषों ने अपने कार्यों के बल पर देश और जाति का विकास किया या भारतीय संस्कृति की रक्षा की है वे भारतीयों की श्रद्धा और भक्ति के पात्र बन गये। भीम और अर्जुन जैसे वीर; वशिष्ठ, गौतम, व्यास आदि ऋषि; विदुर और चाणक्य जैसे राजनीतिज्ञ; अशोक, विक्रमादित्य, चन्द्रगुप्त और हर्ष जैसे शासक; शंकराचार्य, तुलसीदास, सूरदास, मीरांबाई जैसे सन्त और महाराणा प्रताप, शिवाजी और गुरूगोविन्द सिंह जैसे स्वतन्त्रता प्रेमी सदैव भारतीयों के लिये पूज्य और सम्माननीय रहे हैं। राम और कृष्ण के प्रति तो भारतीयों की श्रद्धा और आदर इतना अधिक है कि उन्हें विष्णु का अवतार कहा जाने लगा।

महापुरूषों के साथ अपने पूर्वजों और बुजुर्गों का आदर भारतीय संस्कृति का स्वभाव रहा है। माता, पिता और गुरूजनों के प्रति आदर की भावना सदैव भारतीयों में रही है। साहित्य में **'मातृ देवो भव', 'पितृ देवो भव'**, और **'आचार्य देवो भव'** कहकर उनके प्रति सम्मान प्रकट किया गया है।

भारत की मौलिक एकता

भारत एक विशाल देश है। इसमें अनेक आश्चर्यजनक विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। एक ओर राजस्थान के कुछ भाग बूंद–बूंद जल को तरसते हैं तो दूसरी

ओर चेरापूँजी (मेघालय) में 400 इंच बारिश होती है। एक ओर हिमालय पर्वत की अनन्त हिमराशि के कारण कुछ प्रदेश भंयकर शीत से पीड़ित रहते हैं तो दूसरी ओर राजस्थान, उत्तर प्रदेश तथा कोंकण और कोरोमण्डल क्षेत्रों में असाध्य गर्मी पड़ती है। उत्तरी भारत में छः ऋतुएँ होती हैं तो दक्षिणी भारत में सर्दी को मौसम नहीं होता है। जलवायु की इस भिन्नता के कारण भारत की वनस्पतियों और पशु-पक्षियों में भी अत्यधिक विभिन्नता दृष्टिगोचर होती हैं। इस भिन्नता ने लोगों के खान-पान, रहन-सहन और रीति-रिवाजों पर भी प्रभाव डाला है। भारत में ब्राह्मण, राजपूत, मुस्लिम, जैन, पारसी, संथाल, भील आदि अनेक जातियाँ निवास करती हैं। यहाँ के निवासी हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई, पारसी, इस्लाम आदि विभिन्न धर्मों को मानने वाले हैं और उनकी भाषा और बोलियाँ भिन्न—भिन्न हैं। विभिन्न जातियों और धर्मावलम्बियों की सामाजिक परम्पराओं, रीति-रिवाजों तथा विधि-नियमों में पर्याप्त भिन्नता है। भारत में निहित इन विभिन्नताओं के कारण कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भारत को एक देश न मानकर उसे उप-महाद्वीप **(Sub-Contient)** मान लिया क्योंकि उनके विचार में भारत में अनेक जातियाँ, भाषाएँ, धर्म और रीति-रिवाज होने के कारण यह राष्ट्र की परिभाषा के अनुरूप एक राष्ट्र नहीं अपितु अनेक राष्ट्रों का समूह है। उनकी मान्यता है कि भारत न पहले कभी एक राष्ट्र था और न आज एक राष्ट्र है वरन् यह अनेकों जातियों, धर्मों, समुदायों, भाषाओं, संस्कृतियों और रीति-रिवाजों का संग्रहालय या अजायबघर है। बाह्य दृष्टि से तो यह विचार तथ्यात्मक प्रतीत होता है। किन्तु भारतीय इतिहास और संस्कृति का गहन विश्लेषण करने से यह विचार मिथ्या सिद्ध होता है क्योंकि इन भिन्नताओं के होते हुए भी इसमें अद्भुत मूलभूत एकता विद्यमान है। भारत में एकता के निम्नलिखित तत्व विद्यमान हैं—

(1) **भौगोलिक एकता**– भारत की भौगोलिक स्थिति में विभिन्न प्रकार के भू-भाग, जलवायु, वनस्पतियाँ और जीव-जन्तु विद्यमान है। परन्तु फिर भी भौगोलिक दृष्टि से भारत एक देश है। इसके उत्तर में स्थित दुर्गम हिमालय और दक्षिण के समुद्र ने इसे अन्य देशों से पृथक् एक भिन्न भौगोलिक इकाई बना दिया है जो इसकी आन्तरिक भिन्नता को एकता के तत्व से आच्छन्न कर देती है। इस भौगोलिक एकता ने कश्मीर से कन्याकुमारी तक के क्षेत्र को एक विशिष्ट प्रकार की एकता के सूत्र में पिरो दिया है। हमारे प्राचीन मनीषियों को प्राचीनकाल से ही इस भौगोलिक एकता का पूर्ण ज्ञान था। प्राचीन भारत के किसी भी विचारक या मनीषी ने भारत के किसी भी भू-भाग को देश से बाहर या राजनीतिक रूप से अलग नहीं माना है। भारत की भौगोलिक एकता का परिचय हमारे प्राचीन धार्मिक और लौकिक साहित्य में मिलता है। **विष्णु पुराण** में भारतीय सीमाओं को वर्णन करते हुए कहा गया है कि **"जो समुद्र के उत्तर में फैला हुआ है और हिमालय के दक्षिण में है, उस देश को भारत कहते हैं। इसकी पश्चिम सीमा में यवन रहते हैं और पूर्वी सीमा के अन्त में किरात रहते हैं।** भौगोलिक एकता का यह ज्ञान विचारकों तक ही सीमित नहीं था

अपितु जनसामान्य भी इस एकता से पूर्ण परिचित था । हिन्दुओं के स्नान करने का मन्त्र है **"मैं गंगा, यमुना, गोदावरी, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी नदी के जल से स्नान करूँ ।"** यह नदियाँ भारत के विशाल भू-भाग में फैली है । स्पष्ट है कि भारत की भौगोलिक एकता मानव जीवन का अंग थी । इसी भौगोलिक एकता के कारण इस सम्पूर्ण भौगोलिक इकाई का नामकरण ही भारतवर्ष किया गया है । इस सम्बन्ध में **डॉ. आर. के. मुकर्जी** ने लिखा है **"भारतीय सभ्यता और संस्कृति के संस्थापक स्वयं भारत की मौलिक एकता से परिचित थे । उन्होंने इस सम्पूर्ण देश का नाम भारतवर्ष रखा जिन्होंने इसको यह नाम दिया वे निश्चित रूप से ही भारत की एकता से परिचित थे ।" श्री विंसेन्ट स्मिथ** ने भी इस सम्बन्ध में कहा है कि, **"भारत निर्विवाद रूप से एक भौगोलिक इकाई है और इसलिये वह ठीक ही एक नाम से पुकारा जाता है ।"** इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारत में अनेक विभिन्नताएँ व्याप्त होते हुये भी यह सदैव से एक देश और राष्ट्र के रूप में रहा है ।

(2) राजनीतिक एकता– कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत आने के पूर्व भारत में कभी भी राजनीतिक एकता नहीं रही । किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह मत पूर्णतया भ्रान्तिपूर्ण है क्योंकि प्राचीनकाल से ही हमारे चिन्तक देश की राजनीतिक एकता और केन्द्रीकृत व्यवस्था के आदर्शों और संस्थाओं से पूर्ण परिचित थे । प्राचीन लेखकों ने प्रत्येक शासक के समक्ष चक्रवर्ती बनने का आदर्श प्रस्तुत किया था । प्राचीनकाल से लेकर मध्यकाल तक अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, हर्षवर्धन, अलाउद्दीन खिलजी, अकबर और औरंगजेब आदि शासकों ने **'चक्रवर्ती साम्राज्य'** और **'एक सम्राट्'** के आदर्श से प्रेरित होकर भारत के विशाल भू-भाग को एक राजनीतिक सूत्र में बांधा । इनके शासनकाल में समस्त साम्राज्य के शासन का संचालन केन्द्र से होता था, समस्त देश में समान कानून और भाषा थी । परन्तु देश की विशालता और प्राचीनकाल में आवागमन और संचार के द्रुतगामी साधनों के अभाव में यह राजनीतिक एकता सदैव विद्यमान नहीं रह सकी जैसा कि **डॉ. आर. सी. मजूमदार** ने कहा है कि **"भारत की राजनीतिक एकता के बारे में लोग सामान्यतः इसकी विशालता और प्राकृतिक बाधाओं की उपेक्षा कर देते हैं । हम भारत की राजनीतिक एकता की कमी पर प्राचीन मिस्र, बेबीलोनिया, और ईरान आदि छोटे राज्यों अथवा आधुनिक यूरोप के किसी राज्य की दृष्टि से सोचते हैं । परन्तु यह भूल जाते हैं कि प्राचीन संसार में उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व कोई ऐसा राज्य नहीं था जिसकी तुलना भारत से की जा सके ।"** भारत की राजनीतिक एकता के सम्बन्ध में **डॉ. मजूमदार** लिखा है कि **"प्राचीन भारत में मगध, कौशल, मालव, चालुक्य, चोल आदि जो राज्य रहे हैं उनकी तुलना यूरोप या एशिया के किसी भी प्राचीन या आधुनिक राज्य से की जा सकती है"।** भारत की राजनीतिक एकता इस तथ्य से भी प्रकट होती है कि किसी भी विजेता ने भारत पर अधिकार करने के पश्चात् सामान्यतः किसी अन्य देश पर आक्रमण नहीं किया । इससे स्पष्ट है कि यद्यपि हमारी वर्तमान राजनीतिक एकता ब्रिटिश शासन की देन है फिर भी प्राचीनकाल से ही हमारा देश राजनीतिक दृष्टि से

एक रहा है।

(3) **धार्मिक एकता**– भौगोलिक विभिन्नता की भाँति धार्मिक क्षेत्र में भी पर्याप्त भिन्नता व्याप्त है। परन्तु भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों और जातियों के होते हुए भी भारत में धार्मिक एकता प्राचीनकाल से विद्यमान रही है। प्राचीनकाल में वैदिक धर्म के अतिरिक्त जैन, बौद्ध तथा अन्य मत प्रतिपादित हुये। किन्तु कुछ भेद होते हुये भी उनके मुख्य दार्शनिक और नैतिक सिद्धान्तों में मौलिक एकता विद्यमान है। आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष, निर्वाण, तीर्थंकर, बौधिसत्व, अवतार आदि सब धर्मों की समान सम्पत्ति है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, योग, सदाचार आदि पर सभी धर्म बल देते हैं। जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को पुराणों में विष्णु का अवतार माना गया है। जैन साहित्य में भी हिन्दू देवताओं–राम, हनुमान, श्रीकृष्ण आदि की स्तुति की गई है। भारत की चारों दिशाओं में रहने वाले हिन्दुओं के लिये वेद, उपनिषद्, गीता, रामायण आदि धार्मिक ग्रंथ और हिन्दू देवता– ब्रह्मा, विष्णु, शिव, राम और कृष्ण आदि समान रूप से पूजनीय और श्रद्धेय हैं। भारत में हिन्दुओं के चार धाम (पुण्य तीर्थस्थल) धार्मिक एकता के प्रतीक हैं। इन चार धामों में एक भारत के उत्तर में ऋषिकेश (उ. प्र.) के आगे केदारनाथ में स्थित है, दूसरा दक्षिण में रामेश्वरम् (तमिलनाडु) में है और तीसरा धाम पूर्व में जगन्नाथपुरी (उड़ीसा) और चौथा पश्चिम में द्वारिका (गुजरात) में स्थित है। भारत की इस मौलिक धार्मिक एकता का पुनः स्मरण कराने के लिये ही स्वामी शंकराचार्य ने भारत की चार दिशाओं में चार मठ स्थापित किये–उत्तर में ज्योतिर्मठ, दक्षिण में श्रृंगेरी मठ, पश्चिम में शारदा मठ तथा पूर्व में वर्धन मठ। हिन्दुओं, जैनों, बौद्धों और सिक्खों आदि के पवित्र तीर्थस्थल भी भारत के इस छोर से उस छोर तक फैले हुये हैं। इसीलिये **हैवल (Havell)** ने कहा है कि **"भारत में धार्मिक विभिन्नताओं के होते हुये भी मौलिक एकता है।" श्री विंसेन्ट स्मिथ** ने भी इसी मत को स्वीकार किया है।

(4) **कला और साहित्य की एकता**– प्राचीनकाल से ही भारत में कला और साहित्य की दृष्टि से मौलिक एकता विद्यमान रही है। सम्पूर्ण भारत में कला का उद्गम धार्मिक भावनाओं, नैतिक आदर्शों, रहस्यपूर्ण अनुभूतियों और प्रतीकात्मक रूप में हुआ था। प्राचीनकाल के मन्दिरों में यह एकरूपता अधिक दृष्टिगत होती है। उत्तरी भारत के मथुरा, वृन्दावन तथा दक्षिण भारत के हिन्दू मन्दिरों में एक जैसी कला शैली दृष्टिगत होती है। भारत में पूर्व से पश्चिम तक और उत्तर से दक्षिण तक कला के विषय, चित्रण तथा अलंकरण आदि में अद्भुत समानता दृष्टिगोचर होती है। इस सम्बन्ध में **डॉ. ए. एल. बाशम** ने लिखा है कि **"भूमि की विशालता को ध्यान में रखते हुये भारतीय मन्दिरों की भवन-निर्माण कला विशेष रूप से एक समान है"।** मन्दिर निर्माण की समानता के साथ प्राचीनकाल में चित्रकला, मूर्तिकला, नृत्यकला और संगीतकला में भी भारत में एक छोर से दूसरे छोर तक मौलिक एकता विद्यमान थी।

कला की भाँति साहित्यिक दृष्टि से भी भारत में मौलिक एकता विद्यमान रही है। भारत के किसी भी क्षेत्र में रहने वाले हिन्दू के लिये वेद, उपनिषद्, गीता, रामायण, महाभारत, पुराण, स्मृतियाँ आदि ग्रन्थ समान रूप से पूजनीय और प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण भारतीय साहित्य की कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण, अलंकार, विभिन्न रसों आदि में एकरूपता देखने को मिलती है। इस प्रकार कला और साहित्य की दृष्टि से भारत एकसूत्र में आबद्ध था।

(5) **भाषायी एकता–** भाषा की समानता की दृष्टि से भी भारत में मौलिक एकता विद्यमान रही है। प्राचीनकाल में संस्कृत सैकड़ों वर्षों तक जनसामान्य की भाषा रही थी। अतः भारत के लगभग सभी धार्मिक सम्प्रदायों के साहित्य का सृजन संस्कृत भाषा में ही हुआ। यद्यपि जैन और बौद्ध मत ने अपने प्रारम्भिक काल में प्राकृत और पाली भाषा को अपने प्रचार और साहित्य सृजन का माध्यम बनाया लेकिन कालान्तर में उन्होंने भी संस्कृत भाषा को ही अपना लिया। प्राचीनकाल का लगभग सम्पूर्ण धार्मिक और लौकिक साहित्य संस्कृत भाषा में ही रचा गया है प्राचीनकाल में राजकीय और न्यायिक प्रक्रिया की भाषा भी संस्कृत ही थी। संस्कृत ही भारत की विविध भाषाओं यथा– मराठी, गुजराती, हिन्दी, बंगला, पंजाबी आदि का मूल उद्‌गम स्रोत है। दक्षिण भारत की तेलगू, कन्नड़, मलयालम आदि भाषाओं पर भी संस्कृत का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है। इन सभी भाषाओं के साहित्य में भी समानता है। इस संस्कृत भाषा ने क्षेत्र, जाति, सम्प्रदाय धर्म आदि सभी की सीमाओं को लांघकर भारत को एकसूत्र में पिरोने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

(6) **सामाजिक एकता–** प्राचीनकाल में भारत में सामाजिक एकता भी दृष्टिगोचर होती है। सम्पूर्ण भारत का सामाजिक जीवन वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित था। प्राचीनकाल में वर्णाश्रम व्यवस्था का अत्यधिक महत्त्व था। **मनु स्मृति** में कहा है कि **"जिस देश में यह व्यवस्था नहीं है उसे म्लेच्छ देश समझना चाहिये। आर्यावर्त की यह विशेषता है कि इसमें चार वर्ण और चार आश्रम की व्यवस्था पाई जाती है।"** प्राचीन काल में सम्पूर्ण भारत में हिन्दुओं में लगभग एक समान उपनयन और विवाह संस्कार प्रचलित थे। सारे भारत में एक ही प्रकार का मृतक संस्कार प्रचलित था। मृतक के शरीर को अग्नि के सुपुर्द कर दिया जाता था। इस प्रकार सामाजिक दृष्टि से भी भारत में एकता विद्यमान थी।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में विभिन्न प्रकार के भू-भागों, जातियों, धर्मों और सम्प्रदायों के होने के उपरान्त भी इसमें भौगोलिक, धार्मिक, राजनीतिक, भाषायी और सामाजिक एकता विद्यमान थी। वस्तुतः बाह्य रूप से दृष्टिगत होने वाली भिन्नता इसके विशाल क्षेत्रफल और स्थानीय परिस्थितियों का परिणाम थी। वास्तव में यह विविधता हमारी संस्कृति के सर्वांगीण विकास और समन्वयवादिता की परिचायक थी। भारत की विभिन्नता में निहित मौलिक एकता के सम्बन्ध में भारत के सर्वोच्च न्यायालय के **भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश मेहरचन्द महाजन**

ने कहा है कि "सांस्कृतिक दृष्टि से भारत सदैव एक संगठित देश रहा है, हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक और कश्मीर से बंगाल तथा आसाम तक एक सामान्य संस्कृति की तलाश की जा सकती है .... सब प्रकार के लोगों की आदत, रीतिरिवाज, भोजन और पोशाक में एक प्रकार की समानता दृष्टिगोचर होती थी। अतः भारत वास्तव में सांस्कृतिक दृष्टि से संगठित देश था।" इस सम्बन्ध में सर हर्बर्ट रिजले ने लिखा है कि "भारत में धर्म, रीति रिवाज और भाषा तथा सामजिक और शारीरिक विभिन्नताओं के होते हुए भी जीवन की एक विशेष एकरूपता कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक देखी जा सकती है।" भारत की मौलिक एकता के बारे में श्री जवाहर लाल नेहरू ने अपनी पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' में कहा है कि "मानव सभ्यता के आदिकाल से ही भारत में एकता का स्वप्न देखा जाता रहा है। यह एकता बाहर से लादी हुई कोई वस्तु नहीं थी और न ही विश्वासों तथा बाहरी बातों को एक जैसे स्तर तक देखने के लिये ही थी। यह एकता कुछ गहरी थी और इसमें विश्वासों और रीतिरिवाजों की अधिक से अधिक स्वतन्त्रता सहन की जाती थी। इतना ही नहीं बल्कि ज्ञान सम्बन्धी विविधताओं को उत्साहित किया जाता था। अतः विभिन्नता होते हुये भी भारत में एकता दिखाई देती है।"

2.

सैन्धव और वैदिक धर्म

(Indus and Vedic Religion)

इस वसुन्धरा पर धर्म का उदय कब और कहाँ हुआ ? यह निर्धारित करना अत्यन्त दुष्कर है। किन्तु यह तथ्य सर्वमान्य है कि मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास में धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। भारत भी इसका अपवाद नहीं है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विकास में भी धर्म ने महती भूमिका निभाई हैं। वस्तुतः भारतीय सभ्यता और संस्कृति अपने उद्‌भव काल से आज तक धर्म से प्रेरित, निर्देशित और अनुप्राणित रही है। धर्म और आध्यात्मिकता भारतीय संस्कृति की आत्मा और प्राण है। भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिकता, सहिष्णुता, विचार स्वतंत्रता तथा समन्वयशीलता आदि विशेषताओं ने भारत की शस्य-श्यामल वसुन्धरा को अनेक धर्मों और विचारधाराओं की जननी होने का गौरव प्रदान किया है। भारत में धर्म की सुदीर्घ परम्परा विद्यमान रही है। सिन्धु सभ्यता के अवशेष इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं कि प्रागैतिहासिक युग में ही भारत में एक सुविकसित और व्यवस्थित धार्मिक पद्धति स्थापित हो चुकी थी तथा हमारे आदि पूर्वज उच्च कोटि के धार्मिक व्यक्ति थे। किन्तु सिन्धु लिपि के सर्वमान्य रूप से पढ़े जाने तक हम इस युग के धार्मिक चिन्तन के ज्ञान से वंचित रहेंगे। सिन्धु सभ्यता के अनन्तर भारत में आर्य सभ्यता और संस्कृति उदित हुई। आर्य भी अपने पूर्वाधिकारियों की भाँति धर्मप्रणव ही नहीं वरन् अनेक अर्थों में तो वे उनसे श्रेष्ठ थे। प्रत्येक आर्य का जीवन जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त धर्म से निर्देशित, प्रेरित और प्रतिष्ठित था। आर्यों का जीवन आस्तिक विचारों और धार्मिक चेतना से अनुप्राणित था।

सैन्धव धर्म

सिन्धु सभ्यता-एक परिचय– आज से कुछ शताब्दियों पूर्व भारतीय इतिहास का आरम्भ वैदिक युग से माना जाता था और यह मान्यता प्रचलित थी कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति का अतीत अधिक प्राचीन नहीं है। किन्तु 1922 ई. में उद्‌घाटित सिन्धु सभ्यता ने इन समस्त धारणाओं को खण्डित कर दिया। 1922 ई. में पुरातत्ववेत्ता श्री राखालदास बनर्जी ने हड़प्पा क्षेत्र में एक बौद्ध स्तूप की खुदाई के अनन्तर इस सभ्यता के कुछ अवशेष खोज निकाले और इस क्षेत्र में किसी सभ्यता के भूमिस्थ होने की

सम्भावना व्यक्त की। तदन्तर डॉ. बनर्जी के निष्कर्षों के आधार पर सर जान मार्शल, अर्नेस्ट मैके, दयाराम साहनी, माधोस्वरूप वत्स प्रभृति पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा किये गये अनवरत् उत्खननों से इस सभ्यता के अनेक स्थल और अवशेष प्रकाश में आये। यह उत्खनन सिन्धु और उसकी सहायक नदियों के क्षेत्र में हुये थे। अतः पुरातात्विक नामकरण परम्परा के अनुरूप इस सभ्यता को **'सिन्धु सभ्यता'** की संज्ञा प्रदान की गई। इन उत्खननों से यह स्पष्ट हो गया कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति का आदि अतीत अन्य सभ्यता और संस्कृतियों की भाँति अति प्राचीन ही नहीं वरन् अनेक अर्थों में उनसे अधिक समृद्ध और गौरवपूर्ण था।

सिन्धु सभ्यता भारतीय सभ्यता और संस्कृति के आदि अतीत का गौरवपूर्ण अध्याय है। एक विद्वान् ने कहा है कि "यदि पुरातत्वविदों ने सिन्धु सभ्यता के अवशेष न खोज निकाले होते तो भारतीय सभ्यता का समृद्ध अतीत केवल कवि-वाणी विलास (वेदों में वर्णित सभ्यता) ही मान लिया जाता।" सिन्धु सभ्यता भारत की ही नहीं वरन् विश्व इतिहास की वृहद् श्रृंखला की भी एक महत्वपूर्ण कड़ी है। उत्खननों में मिले साक्ष्यों से यह स्पष्ट है कि सभ्यता के उषाःकाल में सिन्धु और उसकी सहायक नदियों द्वारा सिंचित क्षेत्र में एक उन्नत और समृद्ध सभ्यता का उदय हुआ, जो उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँचने तक जीवित रही और फिर किसी समय दैवी प्रकोपों, जलवायु परिवर्तन, वाह्य आक्रमणों तथा अन्यान्य अज्ञात कारणों से विनष्ट हो गई। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि सिन्धु सभ्यता के जो अवशेष अभी तक प्रकाश में आये हैं वे एक विकसित सभ्यता के अवशेष हैं। इस सभ्यता का प्रारम्भिक स्वरूप अभी अस्पष्ट सा ही है। इसीलिए **पं. जवाहर लाल नेहरू** ने लिखा है कि "हिन्दुस्तान की कहानी के इस उषाकाल में हम उसे एक नन्हें शिशु के रूप में नहीं देखते हैं बल्कि इस समय भी वह अनेक प्रकार से सयाना हो चुका था।" सिन्धु सभ्यता के अवशेषों से यह स्पष्ट है कि यहाँ के निवासियों ने सभ्यता और संस्कृति के सभी क्षेत्रों में पर्याप्त उन्नति कर ली थी। वस्तुतः सर्वांगीण समायोजन की प्रतिनिधि सिन्धु सभ्यता भारतीय सभ्यता और संस्कृति का आधार है।

सैन्धव धर्म के स्रोत– सिन्धु लिपि के सर्वमान्य रूप से नहीं पढ़े जाने के कारण सिन्धु सभ्यता के विविध पक्षों की जानकारी के लिये कोई साहित्यिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। अतः इस सभ्यता के ज्ञान के अधिकांश स्रोत पुरातत्त्व सम्बन्धी है। सभ्यता के अन्य पक्षों की भाँति यहाँ के धार्मिक जीवन का ज्ञान प्राप्त करने के लिये भी हमें ध्वंसावशेषों, मूर्तियों, मुद्राओं, तावीजों आदि के रूप में प्राप्त पुरातात्विक स्रोतों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। ये स्रोत सैन्धववासियों के धर्म की स्थूल ज्ञान देते हैं गहन या विस्तृत नहीं। वस्तुतः भौतिक प्रतीकों से धार्मिक धारणाओं और विश्वासों की अभिव्यक्ति की अपनी सीमाएँ हैं। ये साक्ष्य सिन्धु धर्म की जीवन्त रूपरेखा प्रस्तुत करना तो दूर उसका ढाँचा भी स्पष्ट नहीं कर पाते। किन्तु सिन्धु सभ्यता के निवासियों द्वारा सभ्यता

और संस्कृति के अन्यान्य क्षेत्रों में की गई उन्नति के आधार पर यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि धार्मिक कर्मकाण्डों के साथ यहाँ के लोगों की कुछ धार्मिक और दार्शनिक मान्यताएँ भी रही होंगी। किन्तु सांहित्यिक स्रोतों के अभाव में हम इस ज्ञान से वंचित है। पुरातात्विक सामग्री केवल तात्कालीक धार्मिक विश्वासों और मान्यताओं पर ही प्रकाश डालती है धार्मिक दर्शन या विचारधारा को उद्घाटित नहीं करती। फिर भी विद्वानों ने प्राप्त पुरातात्विक स्रोतों के आधार पर अन्य समकालीन सभ्यताओं के ज्ञात धर्मों और भारत के ऐतिहासिक धर्म के परिपेक्ष्य में सिन्धु सभ्यता के धार्मिक जीवन की रूपरेखा निश्चित है। किन्तु अनुमानों पर आधृत यह रूपरेखा भी सन्देहपूर्ण है। अतः सिन्धुवासियों के धार्मिक जीवन के अनेक पक्षों के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतान्तर है। फिर भी इस सन्दिग्धता और मतभेदों को दृष्टिगत रखते हुये भी साक्ष्यों की उपस्थिति में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सिन्धुवासियों का धर्म अत्यन्त विकसित और व्यवस्थित था। सिन्धु सभ्यता में हमें जिस विकसित धर्म की झाँकी दृष्टिगत होती है उससे स्पष्ट है कि निश्चय ही उसके इस रूप के पृष्ठ में एक दीर्घ परम्परा विद्यमान थी और अनेकानेक क्रमिक स्थितियों को पार करके ही दीर्घकाल में यह धर्म अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ होगा। यहाँ हम सिन्धु सभ्यता के धर्म के विभिन्न पक्षों का विवेचन करेंगे। यद्यपि यह विवेचन अनुमानों पर आधृत होने से सन्देहपूर्ण है और सर्वमान्य नहीं है फिर भी बहुमान्य अवश्य है।

सैन्धव धर्म

(i) **परम पुरूष या शिव की उपासना**– सिन्धु-प्रदेश की खुदाई में एक मुद्रा मिली है जिस पर एक देवता की मूर्ति उत्कीर्ण है। यह देव पुरूष योगासन में बैठा है। इस देवता के तीन मुख और दो सींग हैं। इसके शीश पर त्रिशूल के समान कोई वस्तु है। इसके बांई और एक गैंडा और एक भैंसा है तथा दांई ओर एक हाथी तथा एक व्याघ्र है। आसन के नीचे एक दो सींग वाला हिरन है। **सर जान मार्शल** इसे पशुपति शिव के प्राग् रूप की मूर्ति मानते हैं। इस योगी को शिव बताना कुछ ठीक ही प्रतीत होता है क्योंकि शिव को ही त्रिशूलधारी, योगीश्वर, त्रिनेत्र, त्रिमुखी और पशुपति आदि नामों से पुकारा जाता है जो इस चित्र से स्पष्ट दिखाई देता है। चीनी मिट्टी की एक अन्य मुद्रा भी मिली है जिसमें योगासीन एक व्यक्ति का चित्र है। उसके दोनों ओर एक-एक नाग तथा सामने दो नाग बैठे हैं। शिव का सम्बन्ध नागों से भी है। अतः विद्वानों का मत है कि नागों से घिरा हुआ यह योगी का चित्र भी शिव का ही है।एक अन्य मुद्रा में एक धर्नुधारी आखेटक (शिकारी) अंकित है। अनेक विद्वान् इसे किरात वेशधारी शिव मानते हैं जिसमें उन्हें शिकारी के रूप में दिखाया गया है। इसी प्रकार मोहनजोदड़ों से प्राप्त कतिपय मुद्राओं पर अंकित श्रृंगयुक्त (सींगवाली) पुरूष आकृतियों को भी वे शिव के अन्य रूपों का प्रतीक मानते हैं।

सिन्धु सभ्यता से प्राप्त अनेक मुद्राओं में ऐतिहासिकयुगीन शिव की कतिपय

विशेषताओं के अंकन के आधार पर अनेक विद्वानों की मान्यता है कि हिन्दू धर्म में शिव की उपासना सिन्धु सभ्यता की ही देन है। किन्तु वास्तव में यह कौन से देवता थे और यदि शिव थे तो उस काल में किस नाम से पूजे जाते थे ? यह तथ्य सिन्धु लिपि को पढ़े जाने तक अज्ञात ही रहेगा। इस प्रकार सिन्धु-प्रदेश में शिव के रूप में परम पुरूष की उपासना प्रचलित थी।

(ii) मातृ देवी की उपासना– सिन्धु-घाटी की खुदाई में मातृ देवी की अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। अधिकतर इस देवी की कमर में पटका और मेखला, गले में हार तथा शीश पर कुल्हाड़ी की आकृति की कोई वस्तु दिखाई गई है। इन मूर्तियों के आधार पर विद्वानों की मान्यता है कि यहाँ के निवासी मातृ देवी के उपासक थे। सिन्धु प्रदेश में मातृ देवी कई रूपों में प्रदर्शित की गई है। एक मूर्ति में एक नारी के गर्भ से एक वृक्ष निकलते हुए दिखाया गया है जिससे प्रतीत होता है कि मातृ देवी सम्पूर्ण वानस्पतिक जगत् की सृष्टिकारिणी देवी थी। एक अन्य मुद्रा में वृक्ष के नीचे खड़ी नारी का अंकन है जो सम्भवतः उसके वनस्पति जगत् की अधीश्वरी का रूप है। नारी की कुछ ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं जो शिशु को स्तनपान करा रही हैं। यह इस बात का प्रतीक है कि मातृ देवी सम्पूर्ण मानव-लोक की जननी और पालिका-पोषिका थी। कुछ मूर्तियों पर मातृदेवी को पशु-पक्षी जगत् की स्वामिनी के रूप में प्रदर्शित किया गया है। मोहन जोदड़ों से प्राप्त एक मूर्ति पर मातृदेवी के शीश पर एक पक्षी पंख फैलाये बैठा है। कतिपय मूर्तियों और मुद्राओं में मातृदेवी को पशुओं के साथ दिखाया गया है।

(iii) प्रजनन शक्ति की पूजा– हड़प्पा और मोहनजोदड़ों में काफी संख्या में लिंग मिले हैं। ये लिंग साधारण पत्थर, लाल पत्थर अथवा नीले सैण्डस्टोन, चीनी मिट्टी तथा सीपी के बने हुए हैं। कुछ लिंगों का शीर्ष भाग गोल है जबकि अन्य लिंगों का शीर्ष भाग नुकीला है। इनमें से कई तो इतने छोटे है कि जेब में रखे जा सकते हैं और कई 4 फुट तक ऊँचे हैं। इनमें से कुछ लिंग यथार्थ लिंग के प्रतिरूप है और कुछ परम्परागत ढंग से बने हैं जो वास्तविक लिंग की आकृति से काफी भिन्न है। कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि सिन्धु प्रदेश में मिली बड़ी लिंग रूपी आकृतियाँ कूटने-पीसने के मूसल, लोढ़े और बट्टे तथा छोटी आकृतियाँ तावीज या पांसे भी हो सकते हैं। कुछ लिंगों के घिसे हुये भागों से इस मत की पुष्टि भी होती है। किन्तु यथार्थ रूपी लिंग आकृतियों से यह स्पष्ट है कि सिन्धुसभ्यता में लिंग पूजा प्रचलित थी। किन्तु यह पूजा स्वतन्त्र रूप में होती थी या किसी के प्रतीक के रूप में, यह स्पष्ट नहीं है। किन्तु यदि शिव प्रागैतिहासिक देवता है तो ये लिंग निश्चित रूप से शिव के प्रतीक शिवलिंग ही हैं। इनमें से छोटे लिंग शिव के प्रतीक होने के कारण पवित्र समझे जाते थे तथा धर्म में दृढ़ आस्था रखने वाले लोग इनको अपने साथ रखना मंगलकारी समझते थे। बड़े लिंग विशेष स्थानों पर स्थापित करके पूजे जाते थे। हड़प्पा और मोहनजोदड़ों में बहुत से छल्ले भी मिले हैं जो पत्थर, चीनी, मिट्टी अथवा सीप के बने हुए हैं। ये आधा इंच

से लेकर चार इंच तक बड़े हैं।कुछ विद्वान् इन्हें स्तम्भों के शीर्षो का अलंकरण या पाषाग-मुद्रा मानते हैं। किन्तु यह मत ग्राह्य नहीं है क्योंकि केवल बड़े चक्रों का ही स्तम्भ शीर्ष होना सम्भव है छोटों का नहीं। साथ ही धातुयुगीन सभ्यता में पाषाण-मुद्रा का प्रचलन भी सम्भव नहीं है। अतः अधिकांश विद्वान् इन छल्लों को योनियाँ मानते हैं और प्रजनन शक्ति के प्रतीक के रूप में उनका धार्मिक महत्व स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि सिन्धु-निवासी लिंग-पूजा के साथ-साथ योनि-पूजा भी करते थे। लिंग-योनि की उपासना करके सम्भवतः सिन्धु-निवासी ईश्वर की सृजनात्मक शक्ति की उपासना करते होंगे। यह उल्लेखनीय है कि आज भी भारतवर्ष में लिंग-योनि की सम्मिलित रूप से पूजा होती है।

(iv) वृक्ष पूजा– सिन्धु-घाटी की मुहरों और मिट्टी के वर्तनों पर पीपल, बबूल आदि वृक्षों की आकृतियाँ अंकित हैं। इनसे प्रतीत होता है कि सिन्धु-निवासी वृक्ष-पूजा भी करते थे। लोग वृक्षों को पवित्र मानकर उनकी पूजा करते थे। मुद्राओं पर पीपल के वृक्ष के चित्र पर्याप्त संख्या में अंकित हुए मिले हैं, इसलिए ऐसा अनुमान है कि सिन्धु-प्रदेश में पीपल का वृक्ष सबसे अधिक पवित्र समझा जाता था। लोगों का विश्वास था कि पीपल के पेड़ में सिन्धु-घाटी का मुख्य देवता निवास करता था। मोहनजोदड़ों से प्राप्त एक मुहर पर एक देवता को पीपल के वृक्ष की दो शाखाओं के बीच खड़ा हुआ दिखाया गया है। एक मुद्रा पर दो जुड़वाँ पशुओं के शीश पर 9 पीपल की पत्तियाँ दिखाई गई हैं। एक मुद्रा पर एक नारी के दोनों ओर दो टहनियाँ अंकित है और उसके सम्मुख पत्तियों को मुकुट धारण किये एक आकृति झुकी है। सर जान मार्शल इस मुद्रा पर अंकित स्त्री को वृक्षों की आत्मा की देवी मानते है। कुछ अन्य चित्रों में वृक्षों के नीचे बलि दिये जाने के दृश्य भी अंकित है। कुछ विद्वानों का मत है कि सिन्धु-प्रदेश में वृक्ष-पूजा दो रूपों में होती थी– (1) वृक्षों को उसके प्राकृतिक रूप में पूजना तथा (2) वृक्षों को किसी देवता के प्रतीक के रूप में पूजना। एक मुद्रा पर एक व्यक्ति झुकी हुई मुद्रा में पेड़ की पूजा कर रहा है। कुछ मुद्राओं में पेड़ को वेदिका में वेष्टित दिखाया गया है।सिन्धुवासी पीपल के अतिरिक्त बबूल, तुलसी, नीम, खजूर आदि वृक्षों की भी पूजा करते थे। भारतवर्ष में वृक्ष-पूजा की एक दीर्घ परम्परा है। आज भी हिन्दू धर्म में वृक्ष-पूजा प्रचलित है।

(v) पशु-पूजा– खुदाई से प्राप्त मुहरों के आधार पर विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि सिन्धु घाटी के लोगों में पशु-पूजा भी प्रचलित थी। सिन्धु घाटी से प्राप्त मुद्राओं पर बैल और भैंस के चित्र मिले हैं। इससे प्रतीत होता है कि सिन्धु-निवासी इन पशुओं की पूजा करते थे। बैल शक्ति का प्रतीक माना जाता था। सिन्धु-प्रदेश में नाग की पूजा भी प्रचलित थी। एक मुद्रा पर नाग की पूजा करते हुए व्यक्ति का चित्र मिला है। एक तावीज पर एक नाग चबूतरे पर लेटा हुआ दिखाया गया है। सिन्धुवासी पशुओं को दो रूपों में पूजते थे– वास्तविक और काल्पनिक। वास्तविक रूप की चर्चा की जा चुकी

है। काल्पनिक रूप में विभिन्न पशुओं के विभिन्न अंगों को सम्मिलित करते हुये पशु आकृतियाँ बनाई गई हैं। सम्भवतः इनमें दो या अधिक शक्तियों का समन्वित रूप दिखाने का प्रयास किया गया है। कुछ पशुओं की मुखाकृति मानवीय भी हैं। विद्वानों का अनुमान है कि मिश्र पशु आकृतियाँ इस तथ्य का प्रमाण है कि प्रारम्भ में यह पशु पृथक् -पृथक् रूप में पूजे जाते थे और कालान्तर में धार्मिक सहिष्णुता के रूप में इन्हें मिश्रित कर दिया गया। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि मानव-पशु मिश्रित आकृतियाँ इस तथ्य को इंगित करती है कि सिन्धु सभ्यता के देवताओं का पशु रूप से मानव रूप में रूपान्तरण हुआ था। मुद्राओं पर हाथी, बाघ, भेड़, बकरी, गैंडा, हिरन, घड़ियाल, गिलहरी, तोता, मुर्गा, मोर आदि पशु-पक्षियों के चित्र मिले हैं। कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि सिन्धु सभ्यता के अवशेषों में मिले सभी पशुओं का धार्मिक महत्त्व नहीं था। कदाचित् ये साक्ष्य खिलौने, कला अभिव्यक्ति का माध्यम या जीवनोपयोगी होने के कारण महत्वपूर्ण रहे हो। हो सकता है यह ठीक भी हो। किन्तु अनेक साक्ष्य ऐसे भी जो इस तथ्य का प्रमाण है कि इनमें से अनेक पशुओं का धार्मिक महत्व था। किन्तु यह निश्चित नहीं है कि इन पशुओं का स्वतन्त्र रूप में धार्मिक महत्व था या ये विभिन्न देवताओं के प्रतीक या वाहन रूप में पूज्य थे। ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में यह बहुत सम्भव है कि ये पशु-पक्षी सिन्धु निवासियों के देवी-देवताओं के वाहन रहे हों। आधुनिक हिन्दू धर्म में भी हाथी इन्द्र का, बाघ दुर्गा का, भैंसा यम का और बैल शंकर का वाहन समझा जाता है।

(vi) **जल-पूजा–** सिन्धु-निवासी जल की पवित्रता में विश्वास करते थे और विशेष पर्वों पर नदी और कुण्डों में स्नान कर पुण्य कमाते थे। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि मोहनजोदड़ों का स्नानकुण्ड धार्मिक स्नानों के काम में आता था। उनके अनुसार स्नान कुण्ड के समीप बने हुए बरामदों के ऊपर कमरों में पुजारी रहते थे। नीचे के कमरे कदाचित् स्नानगृह थे। शुभ पर्वो एव मुहूर्तों पर पुजारी ऊपर से उतर कर इन्हीं स्नानगृहों में स्नान करते थे तथा साधारण जनता विशाल जलकुण्ड में ही स्नान करती थी। इस प्रकार सिन्धु-घाटी के लोगों को पवित्र स्नान और जल-पूजा में गहरा विश्वास था।

(vii) **प्रतीक पूजा–** सिन्धु प्रदेश में अनेक स्थलों पर सींग, स्तम्भ और स्वस्तिका के चित्र मिले हैं। विद्वानों का अनुमान है कि ये किसी देवी-देवता के प्रतीक होंगे और इनकी पूजा होती होगी। मुद्राओं पर अंकित कुछ स्तम्भों पर दीप-धूप जलते दिखाये गये हैं। खुदाई में अनेक मुद्राओं पर स्वस्तिक के चिन्ह अंकित मिलते हैं। हिन्दू-धर्म में आज भी स्वस्तिक का चिन्ह पवित्र और शुभ माना जाता है। अतः सिन्धु-सम्यता के अन्तर्गत भी यह पवित्र चिन्ह समझा जाता था।

(viii) **मूर्तिपूजा–** सिन्धु-प्रदेश से मिली अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियां, पशु-पक्षियों,प्रतीक चिन्हों आदि से यह स्पष्ट है कि सिन्धु-निवासी साकार उपासना करते

थे और उनके समाज में मूर्तिपूजा प्रचलित थी। ये मूर्तियाँ दीवार के सहारे या आलों में रखकर पूजी जाती थीं। प्राप्त मूर्तियों का पृष्ठभाग सफाई से न बना होना इसका प्रमाण है। यद्यपि खुदाई में किसी मन्दिर के साक्ष्य नहीं मिले हैं परन्तु कुछ विद्वानों का मत है उस काल में लकड़ी के मन्दिर बनाये जाते थे जो अब नष्ट हो गये हैं। किन्तु यह मत ग्राह्य नहीं है क्योंकि सिन्धु सभ्यता के अधिकांश निर्माण कार्य पाषाण या ईंटों से हुये हैं तो यह कैसे सम्भव है कि उन्होंने मन्दिर ही लकड़ी के बनाये हों। कतिपय विद्वानों की यह भी मान्यता है कि मोहनजोदड़ों में जहाँ आज कुषाणकालीन स्तूप स्थित है, उसी के नीचे सिन्धु निवासियों का मन्दिर दबा पड़ा है। किन्तु जब तक इस स्थल की नीचे की परतों का उत्खनन नहीं हो जाता इस विषय में निश्चिततापूर्वक कुछ भी कहना असम्भव है।

(ix) जादू-टोने में विश्वास– खुदाई में प्राप्त बहुत से तावीजों के आधार पर ऐसा अनुमान लगाया गया है कि सिन्धु-निवासी भूत-प्रेत आदि में विश्वास रखते थे और उनके प्रकोप से बचने के लिए तावीजों आदि का प्रयोग करते थे।

(x) अन्य धार्मिक प्रथाएँ– सिन्धु-प्रदेश में पशुबलि भी प्रचलित थी। हड़प्पा में एक मनुष्य के शव के साथ एक बकरी का अस्थिपंजर मिला है। विद्वानों का विचार है कि मृतक के अन्तिम संस्कार के सम्बन्ध में ही शायद बकरी की बलि दी गई होगी। मोहनजोदड़ों से प्राप्त एक मुद्रा पर एक बकरा बना है तथा उसके पीछे एक व्यक्ति छुरा लिए हुये खड़ा है। यद्यपि हड़प्पा और मोहनजोदड़ों से यज्ञ के साक्ष्य प्राप्त नहीं हुये हैं किन्तु कालीबंगा और लोथल में घरों और सार्वजनिक स्थलों पर मिले गर्तों (गढ्ढों) और अग्नि वेदियों तथा अन्य प्रमाणों के आधार पर विद्वानों की मान्यता है कि सिन्धुवासी इन गर्तों और वेदियों का प्रयोग बलि या अन्य धार्मिक अनुष्ठानों के लिये करते थे। इससे भी इस बात की पुष्टि होती है कि सिन्धु प्रदेश में पशुबलि प्रचलित थी।

सिन्धुनिवासी पूजा में धूप-दीप, अग्नि आदि का भी प्रयोग करते थे। अनेक मूर्तियों के ऊपर की ओर दीपक बने हुये हैं और उनके जलाये जाने के कारण अनेक मूर्तियों के उर्ध्व भाग आज भी काले हैं। कतिपय मुद्राओं में अंकित स्तम्भों पर दीपक और नीचे प्रज्ज्वलित अग्नि दिखाई गई है। अनेक मुहरों पर नर्तक, नर्तकी, ढोल, वीणा आदि के चित्र मिले हैं। हड़प्पा से प्राप्त एक मुद्रा में एक समारोह का दृश्य अंकित है। इसी प्रकार के दृश्य कुछ अन्य मुद्राओं पर भी मिले हैं। विद्वानों का अनुमान है कि सिन्धु-निवासी अपने देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिये संगीत और नृत्य का प्रयोग करते थे। किन्तु कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि ये समस्त अंकन सामूहिक मनोरंजन के भी हो सकते हैं। सिन्धु सभ्यता से मिले शवों के साथ मिट्टी के बर्तन और अन्य सामग्री भी रखी मिली है। इस आधार पर विद्वानों का मत है कि सिन्धुवासियों में मृत्यु के पश्चात् जीवन की धारणा प्रचलित थी। शवों को उतर-दक्षिण दिशा में लिटाया जाने के पीछे भी कोई धार्मिक विश्वास ही रहा होगा। योगासन में बैठे हुए शिव की मूर्तियों

को देखकर विद्वानों ने अनुमान लगाया कि सिन्धु-निवासी योगाभ्यास में भी विश्वास करते थे।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सैन्धव धर्म की उपर्युक्त रूपरेखा प्रधानतः मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से मिले पुरातात्विक साक्ष्यों पर आधृत है। किन्तु सिन्धु सभ्यता के अन्य स्थलों से मिलें साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि भौगोलिक, पारिस्थितिक और अन्य भिन्नताओं के कारण सैन्धववासियों के धर्म में भी पर्याप्त भिन्नता थी। लोथल, आमरी, कालीबंगा, रंगपुर, रोपड़ आलमगीरपुर आदि स्थानों से नारी मूर्तियाँ अत्यल्प अथवा विल्कुल ही नहीं मिली हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इन क्षेत्रों में मातृदेवी की उपासना अधिक लोकप्रिय नहीं थी या प्रचलित ही नहीं थी। अन्य क्षेत्रों से प्राप्त किसी भी मुद्रा पर मोहनजोदड़ो की मुद्रा पर प्राप्त शिव पशुपति जैसे देवता का अंकन नहीं मिला है। कोटदीजी व कालीबंगा में लिंग व योनि भी अप्राप्त है। कालीबंगा में ऐसी कोई पाषाण मूर्ति नहीं मिली जिसे देवमूर्ति कहा जा सके। यहाँ से प्राप्त मुद्राओं पर भी किसी देवता का अंकन नहीं है। इसके विपरीत लोथल और कालीबंगा के उत्खनन में प्राप्त गर्त और अग्निवेदियाँ सैन्धव धर्म का एक अलग रूप प्रस्तुत करती हैं।

वैदिक धर्म

वैदिक धर्म– सिन्धु सभ्यता के धार्मिक जीवन के ज्ञान के सम्बन्ध में साहित्यिक स्रोतों के अभाव की तुलना में आर्यो के धार्मिक जीवन के सम्वन्ध में प्रचुर मात्रा में साहित्यिक सामग्री प्राप्त है। वेद आर्यो के जीवन के विविध पक्षों की जानकारी के महत्वपूर्ण स्रोत है। इसीलिये आर्य सभ्यता और संस्कृति के प्रारम्भिक युग को वैदिक युग कहा जाता है। आर्य ऋषियों ने प्रकृति और सृष्टि में व्याप्त जिस दिव्य और अलौकिक सत्ता की व्यंजना की और इसके अनन्तर उन्हें जिन आध्यात्मिक तत्त्वों की अनुभूति हुई वे सब वेदों में संकलित है। आर्य ऋषियों का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक और व्यावहारिक था। उनके धर्म में कर्त्तव्यपालन के अनन्तर मानव का आध्यात्मिक उत्कर्ष निहित है इन वेद ग्रंथों में वर्णित, आचारित और अनुसरित आध्यात्मिक और धार्मिक जीवन ही वैदिक धर्म है।

वैदिक धर्म के स्रोत– साहित्यिक दृष्टि से भारतीय संस्कृति के जानकारी के आदि स्रोत वेद है। प्राचीनकाल में भारत ज्ञान-विज्ञान के सर्वोच्च शिखर पर था। इस युग में आर्य ऋषियों ने अपनी असीम ज्ञान-साधना के वल पर ऐसे महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की जिनकी प्रभा से सम्पूर्ण भू-मण्डल को आलोक मिला। जिस समय विश्व के अन्य देशों के मानव कन्दराओं में घूम रहे थे, हमारे भारतीय मनीषियों ने विशाल साहित्य का सृजन कर लिया था और आचार संहिताओं का सृजन कर, विश्व का आध्यात्मिक नेतृत्व कर विश्व गुरू की उपाधि अर्जित कर ली थी। उन्होंने वेदों की रचना कर संसार के विशाल साहित्याकाश में भारतीय गौरव सूर्य की अप्रतिभ प्रभा प्रभाषित कर दी थी।

वैदिक साहित्य– वैदिक साहित्य चार भागों में विभाजित हैं– (A) संहिताएँ, (B) ब्राह्मण, (C) आरण्यक एवं (D) उपनिषद्

(A) वेद– 'वेद' शब्द संस्कृत की 'विद्' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'ज्ञान' अथवा 'जानना'। वेद भारत के ही नहीं अपितु समस्त मानव जाति के लिखित रूप में उपलब्ध प्राचीनतम धार्मिक ग्रंथ हैं। हमारा समस्त धर्म और दर्शन वेदों में विद्यमान विचारधारा से ओत-प्रोत है। वेदों को संहिता एवं श्रुति भी कहा जाता है क्योंकि वेद किसी एक व्यक्ति की रचना न होकर विभिन्न कालों में अनेक ऋषियों द्वारा रचित मन्त्रों का संग्रह है। अतः इन्हें संहिता (संग्रह) कहा गया है। प्राचीनकाल में वेदों का अध्ययन गुरू-शिष्य परम्परा के द्वारा होता था और वेद कंठस्थ होकर जीवित रहते थे अर्थात् गुरू शिष्यों के सम्मुख वेदों का उच्चारण करता थे और शिष्य उसे श्रुतिपथ अर्थात् कानों में सुनकर याद रखते थे। इसी माध्यम से वेद अक्षुण्ण बने रहें और उन्हें श्रुति नाम दिया गया। विश्व के विद्वान् इस बात से आश्चर्यचकित है कि शताब्दियों तक भारतीयों ने वेदों की परम्परा को अपने मस्तिष्क में जीवित ही नहीं रखा है अपितु उसमें एक भी अन्य अक्षर का मिश्रण नहीं होने दिया है। वेद का अर्थ है ज्ञान अर्थात् **जानना** भी है। चूँकि भारतीय सभ्यता और संस्कृति की सम्पूर्ण झांकी को, उसकी आध्यात्मिक मान्यताओं और आदर्शों को वेदों के द्वारा ही जाना जा सकता है। इसी कारण इन्हें वेद कहा गया है। वेद चार हैं– (1) ऋग्वेद, (2) यजुर्वेद, (3) सामवेद और (4) अथर्ववेद।

(1) ऋग्वेद– ऋग्वेद भारतीय आर्यों का ही नहीं वरन् विश्व का प्राचीनतम धार्मिक ग्रंथ है। इसमें 10 मण्डल, 1028 सूक्त (11 बालखिल्य सूक्तों सहित) और 10,580 ऋचायें हैं। इसके विभिन्न सूक्तों में ऋग्वैदिक आर्यो ने विभिन्न देवताओं यथा– अग्नि, जल, सूर्य तथा विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों की उपासना की है। ऋग्वेद प्रधानतः स्तुति ग्रंथ है। वेद की प्रत्येक ऋचा तथा सूक्त के साथ उसके रचयिता ऋषि तथा देवता का नाम दिया गया है। इन ऋषियों में गृत्समद्, विश्वामित्र, वासदेव, अत्रि, भारद्वाज आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

(2) यजुर्वेद– आर्यों का धर्म यज्ञ प्रधान था। अतएव यजुर्वेद उनके ऐसे मंत्रों का संग्रह है जो विभिन्न याज्ञिक अनुष्ठानों में प्रयुक्त होते थे। यजुर्वेद में यज्ञों से सम्बन्धित विधि-विधानों का उल्लेख हुआ है। यजुर्वेद के दो प्रमुख भाग हैं– कृष्ण यजुर्वेद एवं शुक्ल यजुर्वेद। कुछ विद्वान् शुक्ल यजुर्वेद को ही वास्तविक यजुर्वेद मानते हैं।

(3) सामवेद– सामवेद प्रधानतः एक गीतिकाव्य है। इसमें अन्य वेदों के उन मंत्रों का संकलन किया गया है जो गेय थे। इसमें कुल 1810 मंत्र हैं। ऐसे मंत्र इसमें 261 हैं जिनका संकलन इसमें दो बार हो गया है। कुछ ऐसे मंत्र भी हैं जो ऋग्वेद में पाये जाते हैं। वस्तुतः सामवेद की विशेषता उसका संगीतमय स्वरूप है।

(4) अथर्ववेद– अथर्ववेद परवर्ती युग की रचना है। इसमें 732 सूक्त और 20

अध्याय हैं। सूक्तों के मंत्रों की संख्या 6000 मानी जाती हैं। इसमें अनेक अंधविश्वासों, जादू-टोनों एवं तंत्र-मंत्रों का प्राबल्य है। अनार्यों के सम्पर्क आकर आर्यों ने अनेक अंधविश्वासों को अपना लिया था। उन्हीं अंधविश्वासों एवं विभिन्न जादू-टोनों का अथर्ववेद में उल्लेख हुआ है।

वस्तुतः वेद विश्व साहित्य की अमूल्य निधि है। वेद हिन्दू धर्म का प्राण और हिन्दुओं के आदर्शों के भी आदर्श हैं। वे आध्यात्मिक विवेचन के कोष कहलाने के एकमात्र अधिकारी है और आज अनेक युग वीत जाने पर भी हिन्दू धर्म और दर्शन के मूल स्तम्भ वने हुए हैं।

(B) ब्राह्मण ग्रंथ– धीरे-धीरे वैदिक साहित्य का विस्तार होता गया और याज्ञिक अनुष्ठान जटिल वनते गये। अतएव आने वाली सन्तति को वेदों का अर्थ स्पष्ट करने तथा विविध याज्ञिक अनुष्ठानों के विधि-विधानों को भली-भाँति समझाने के लिये ब्राह्मण ग्रंथों की रचना हुई। प्रत्येक ब्राह्मण ग्रंथ किसी न किसी वेद से सम्बन्धित है। ऐतरेय तथा कौषीतिकी ब्राह्मण ऋग्वेद के ब्राह्मण ग्रंथ हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण क्रमशः कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण ग्रंथ हैं। सामवेद के तीन ब्राह्मण ग्रंथ माने जाते हैं– (i) षड्विंश ब्राह्मण, (ii) ताण्यय महाब्राह्मण तथा (iii) जैमिनीय ब्राह्मण। गोपथ ब्राह्मण अथर्ववेद का ब्राह्मण ग्रंथ है।

(C) आरण्यक– वैदिककालीन आर्य विभिन्न देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिये याज्ञिक अनुष्ठान करते थे और यह कल्पना करते थे कि देवताओं को प्रसन्न करने से इहलौकिक सुख की प्राप्ति होती है। धीरे-धीरे आर्यों का आत्मचिन्तन नवीन दिशा में उन्मुख हुआ और कुछ ऋषियों ने प्रकृति के गूढ़ विषयों की जानकारी प्राप्त करने के लिये वनों (अरण्यों) में जाकर गहन आत्मचिन्तन किया। इस आत्मचिन्तन के फलस्वरूप अरण्यों में जिस साहित्य का सृजन हुआ उसे आरण्यक कहा गया।

(D) उपनिषद्– भारतीय धर्म और दर्शन का जितना सुन्दर निरूपण उपनिषदों में हुआ है उतना अन्यत्र कहीं नहीं। उपनिषद् ज्ञान के अथाह सागर और वैदिक ऋषियों की आश्चर्यजनक कृति है। वैदिक ऋषियों के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चिन्तन के फलस्वरूप वैदिक साहित्य की प्रौढ़तम कृतियों के रूप में उपनिषदों की रचना हुई।

वैदिक साहित्य मूलतः धार्मिक ग्रंथ ही है। इन ग्रंथों से आर्यों की उच्च धार्मिक मान्यताओं और चिन्तन की जानकारी मिलती है। किन्तु वैदिक साहित्य किसी एक व्यक्ति या एक युग की रचना न होकर अनेक व्यक्तियों द्वारा दीर्घकाल में सृजित रचनाएँ हैं। वस्तुतः इन ग्रंथों में आर्य संस्कृति का क्रमिक विकास अन्तर्निहित है। अतः हम इन ग्रंथों में आर्यों की अविकसित विचारधारा से लेकर सम्यक् रूप से विकसित धार्मिक विचारधारा का उल्लेख पाते हैं।

वैदिक धर्म

प्राकृतिक शक्तियों का दैवीकरण– प्राकृतिक सौन्दर्य की अलौकिकता और अभिरामता के प्रति आकर्षण मानव की स्वाभाविक प्रवृति है। विश्व की सभी प्राचीन सभ्यताएँ प्राकृतिक शक्तियों की उपासक और बहुदेववादी थीं। आर्य भी इसके अपवाद नहीं थे। सरल हृदय आर्य जब सर्वप्रथम प्राकृतिक जगत् के सम्पर्क में आया तो वह प्रकृति के नियमित व्यापार और आकस्मिक परिवर्तनों को देखकर एक विचित्र आकर्षण, कोतुहल, श्रद्धा और अनुराग से भर गया। प्राकृतिक शक्तियों का सहजभाव उसके जीवन का सम्बल और क्रोध व्यवधान था। अतः वह उन समस्त शक्तियों के प्रति नतमस्तक हो गया और उसने उन सभी से दया, दान और अनुग्रह की याचना की। यहीं से वैदिक धर्म आरम्भ हो गया। तदनन्तर उसने इन शक्तियों को प्रकट करने वाली शक्तियों को अपना 'देव' मान लिया। चारों वेद इन्हीं देवताओं की स्तुतियों और उपासना विधियों से भरे पड़े हैं। विश्व की अन्य सभ्यताओं की भाँति आर्यों ने भी सर्वप्रथम प्राकृतिक शक्तियों की ही उपासना आरम्भ की। आर्य प्रकृति के विभिन्न तत्वों को सगुण और चेतना युक्त मानते थे। उनकी मान्यता थी कि प्रकृति का प्रत्येक तत्व किसी देवता के अधीन कार्य करता है।

प्रमुख देवता- द्यौस और पृथ्वी– प्राकृतिक शक्तियों के दैवीयकरण के अन्तर्गत सर्वप्रथम उनकी दृष्टि अनन्त आकाश पर पड़ी जो अपने अन्दर सूर्य, चन्द्रमा और असंख्य तारागणों को धारण किये था तथा जिसका अनुग्रह विशाल और क्रोध अभिशाप था। आर्यों ने उसे द्यौस के रूप में अपना देवता मान लिया। द्यौस प्रकृति की सृजन शक्ति को अभिव्यक्त करने वाला देवता माना गया है। ऋग्वेद में उसे सबका पिता (नः पिता) और इन्द्र देव का भी कर्ता बताया गया है। पृथ्वी भी अपनी उर्वरा शक्ति और अपार वसु से आर्यों की श्रद्धा का केन्द्र बनी। वस्तुतः आकाश और पृथ्वी आर्यों के जीवनयापन का प्रमुख साधन थे। अतः आकाश और पृथ्वी आर्यों के प्रथम उपास्य देव बने। ऋग्वेद में इन्हीं दोनों को सभी देवताओं के जन्म देने वाला कहा गया है। ये दोनों समस्त मानवों और देव समूह के माता-पिता वन गये। इस प्रकार आर्यों ने माता-पिता के रूप में आकाश और पृथ्वी के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति की कल्पना की। ऋग्वेद में 'द्याजापृथिनी' के नाम से आकाश और पृथ्वी की सँयुक्त रूप से कल्पना की गई है।

वरूण– वरूण भी आकाश देवता था। ऋग्वेद में कहा गया है कि वह अपने आवरण से सब जीवों और उनके आवासों को ढँके हुए हैं। वह द्यौस का ही एक रूप है। किन्तु द्यौस जहाँ ईश्वर के पितृरूप का परिचायक है तो वरूण उसके नियामक रूप का परिचायक है। ऋग्वेद में कहा गया है कि पृथ्वी और आकाश के बीच में जितनी भी वस्तुएँ विद्यमान हैं उन सव में वरूण का निवास है। वह आकाश, पृथ्वी और सूर्य का निर्माता है। नदियाँ उसी के आदेश से वहती हैं। सूर्य उसके नेत्र और आकाश उसका वस्त्र है। वरूण अपनी माया से ही सृष्टि की रचना, संचालन और विनाश करता है। ऋग्वेद में वरूण को समस्त संसार, सत्ताओं, मनुष्यों और देवताओं का राजा वताया

गया है। नियामक के रूप में वरूण परम व्योम में स्थित अपने भव्य भवन से और अपने गुप्तचरों के माध्यम से सर्वत्र विचरते हैं। शासक के रूप में वह पापियों और व्रतों का उल्लंघन करने वालों को दण्ड भी देते हैं। असुर-शक्ति से समन्वित होने के कारण वह क्रुद्ध भी हो सकता है और उस अवस्था में वह मनुष्य का विनाश कर सकता है। परन्तु आत्म-निवेदन करने पर वह अपराधियों को क्षमा प्रदान कर देता है। ऋग्वेद में एक मंत्र में वरूण से प्रार्थना की गई है कि 'हे वरूण देव ! हमारे पूर्वजों द्वारा किये गये अपराधों को क्षमा करों। व्यक्तिगत रूप से किये गयें हमारे अपराधों को भी क्षमा करों। ऋग्वेद का सातवाँ मण्डल वरूण की स्तुतियों से भरा पड़ा है। वरूण सम्बन्धी वैदिक मंत्रों में **'मित्रावरूणौ'** के रूप में मित्र और वरूण देवताओं का सँयुक्त उल्लेख हुआ है। सम्भवतः मित्र देवता वरूण के ज्योतिर्मय रूप के प्रतीक थे। सम्भवतः मित्र का सम्वन्ध दिन से और वरूण का सम्वन्ध रात्री से था।

सूर्य– वैदिक आर्यों ने अन्धकार विनाशक तथा प्रकाश और ऊर्जा के विपुल स्रोत सूर्य को भी अपना आराध्य देव बना लिया था। ऋग्वेद के अनुसार सूर्य देवों का मुख और चर-अचर की आत्मा है। वह वरूण एवं अग्नि का नेत्र और मनुष्यों के समस्त अच्छे व बुरे कार्यों का दृष्टा है। वह समस्त ज्योतियों में सर्वोत्तम है।

सविता– सूर्य के एक अंश के रूप में सविता की पूजा भी प्रचलित थी। सूर्य उदित होकर जब सम्पूर्ण पृथ्वी और आकाश में व्याप्त हो जाते हैं तो उन्हें सविता कहा जाता है। सूर्य दिन के प्रकाश का प्रतीक था तो सविता दिन के प्रकाश और रात्रि में सूर्य के अव्यक्त प्रकाश का सँयुक्त रूप था। सविता देव को सबको जीवन देने वाला और स्फूर्ति का संचार कराने वाला कहा गया है। ऋग्वेद में सविता को देवताओं का चक्षु (आँख) कहा गया है। एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि "हे सविता ! हमने देवों के प्रति जो भी अपराध किये हैं उनसे उत्पन्न पापों से तू ही हमारा उद्धार कर।" इस प्रकार सविता पापमोचन देव के रूप में भी प्रतिष्ठित है। ऋग्वेद के अनुसार देवताओं को अमरत्व और मनुष्यों को दीर्घ आयु प्रदान करना भी सविता का ही कार्य है।

विष्णु– यद्यपि ऋग्वेद में विष्णु का स्थान गौण है। ऋग्वेद में उसके सम्वन्ध में केवल 5 सूक्त हैं और उसका उल्लेख केवल 100 बार हुआ हैं। किन्तु उत्तर वैदिक युग में यह आर्यो का प्रमुख देवता बन गया। ऋग्वेद में विष्णु को संसार का संरक्षक और सर्वव्यापी तथा सर्वगामी बताया गया है। ऋग्वेद में कहा गया है कि वह इस विस्तृत लोक को अपने तीन पदों (पगों) में नाप लेता हैं।उसके इस सर्व व्यापक रूप के कारण ही उसे 'वृहद् शरीर', उरु-गाय, (व्यापक रूप से गमनशील), उरु-क्रम (व्यापक रूप से अतिक्रमण करने वाला) आदि कहा गया है। ऋग्वेद का कथन है कि वह अपने उपासकों की प्रार्थना सुनकर सदैव उनकी सहायता के लिए आ जाता है। कभी-कभी विष्णु को सूर्य के रूप में भी प्रतिष्ठित किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णु सूर्य के गतिशील और सक्रिय रूप के प्रतीक है।

अग्नि– आर्य देवताओं में अग्नि का प्रमुख स्थान है। द्यु लोक का सूर्य और अन्तरिक्ष की विद्युत भी अग्नि के ही रूप हैं। अग्नि का मानव जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है। प्रत्येक गृह में उसका निवास होता हैं और मनुष्य के जीवित रहने का प्रमुख माध्यम है। अग्नि देवता की स्तुति में ऋग्वेद में 200 मंत्र हैं। यज्ञ में अग्नि का विशेष महत्व था। इसीलिये अग्नि को पुरोहित, यज्ञिय और होता भी कहा गया है। ऋग्वेद में अग्नि को आहुतियों का स्वामी और धर्मों का अध्यक्ष बताया गया है। आर्यों का धर्म यज्ञ प्रधान था। यज्ञ में अग्नि का अत्याधिक महत्व है। अग्नि का आह्वान करके ही देवताओं का आह्वान किया जाता हैं। आर्यों की मान्यता थी कि अग्नि के द्वारा आहुति देवताओं तक पहुँचती है। उसी के द्वारा हवन करने वाला वरूण, इन्द्र, मरूत् आदि देवताओं को बुलवाता है। ऋग्वेद के अनुसार अग्नि समस्त चर-अचर का ज्ञाता है और सूर्य की भाँति सर्वदृष्टा है। वह अंधकार, शीत, रोग, हिंसक पशु आदि को दूर भगाती है अतः उसे रक्षक और द्रविण प्रदान करने वाली कहा गया है।

इन्द्र– ऋग्वेद में इन्द्र देवता का सबसे अधिक महत्व था। इन्द्र वर्षा, आंधी, तूफान और बिजली का देवता था। ऋग्वेद में कहा गया है कि इन्द्र आकाश, अन्तरिक्ष और पृथ्वी से भी अधिक बड़ा है। वह पृथ्वी से दस गुना बड़ा है और पृथ्वी और आकाश सम्मिलित रूप से उसके आधे भी नहीं है। वह आकाश, पृथ्वी, जल और पर्वत सभी का राजा है और दोनों लोक उसकी मुट्‌ठी में आ सकते हैं। वह वृत्र (अनावृष्टि अथवा शीत-पाले का देवता) का वध करके आप (जल) को मुक्त करता है और आकाश, सूर्य तथा उषा को जन्म देता है। युद्धों में विजय प्राप्त करने के लिये इन्द्र की स्तुति परमावश्यक समझी जाती थी। ऋग्वेद में कहा गया है कि "हे इन्द्र ! तुमसे रक्षित होकर हम कठिन अस्त्र धारण कर द्वेष रखने वाले शत्रु को पराजित करेंगे।" वज्रधारी इन्द्र दस्युओं अर्थात् अनार्यों का विनाशकर्ता और आर्यों का संरक्षक था। डॉ. आर.सी. मजूमदार के अनुसार इन्द्र का महत्व इस बात से प्रकट होता है कि उसकी स्तुति में 2500 ऋचाएँ हैं। इसका यह अभिप्राय है कि ऋग्वेद का चौथा भाग इन्द्र की स्तुति से भरा पड़ा है।

सोम– सोम भी आर्यों के प्रमुख देव थे। याज्ञिक कर्म में सोम-योग का विशिष्ट महत्व था। अतः सोम आर्यों के महान् देव बन गये। ऋग्वेद में सोमदेव से सम्बन्धित अनेक सूक्त है, अकेले नवम् मण्डल के 144 सूक्त सोम देवता से सम्बन्धित हैं। सोम एक वनस्पति थी जिसके रस का पान कर आर्य बल और स्फूर्ति अनुभव करते थे। आर्यों की मान्यता थी सोमरस देवों और मनुष्यों के अमरत्व का स्रोत है। सोम औषधि भी थी इसीलिये उसे वनस्पतियों का राजा कहा गया है। इन्हीं गुणों के कारण उसे देवत्व प्रदान किया गया था। यज्ञों में भी सोम रस की आहुति दी जाती थी। वस्तुतःसोम आर्यों के आनन्द और उल्लास का देवता था। ऋग्वेद के अनुसार सोम सूर्य और विद्युत्त से उत्पन्न हुआ था। वह सूर्य के साथ चमकता है और अपने प्रकाश से अंधकार को भगाता है।

उषा– आर्यों ने सूर्योदय के पूर्व व्याप्त होने वाली रमणीक बेला को भी उषा देवी के रूप में देवत्व प्रदान किया। ऋग्वेद में उसे रजनी (रात्री) का अन्धकार दूर करने वाली और सूर्य का यात्रा पथ खोलने वाली कहा गया है। यद्यपि उषा पुरानी है किन्तु पुनः पुनः प्रकट होने के कारण वह सदैव युवती ही बनी रहती है। अंलकारिक रूप में ऋग्वेद में कहा गया है कि सूर्य उषा का उसी प्रकार अनुसरण करता है जैसे कोई युवक युवती का। उषा के साथ ही अन्धकार का अन्त होकर सर्वत्र उल्लास छा जाता है और सभी अपने कार्य में प्रवृत हो जाते हैं। अतः ऋग्वेद में उषा को प्रकाश, स्फूर्ति, उत्साह और चेतना की दात्री (देने वाली) माना गया है। ऋग्वेद में एक मंत्र में कहा गया है कि "हे देवकन्या उषा ! धन सहित हमारे लिए प्रभात करो। विभावरी उषा ! काल देवता, विपुल अन्न दे कर प्रभात करो। देवी ! दानशील होकर पशु-रूपी धन के साथ प्रभात करो।"

वृहस्पति–वृहस्पति भी आर्यो के उपास्य देव थे। ऋग्वेद में इनकी स्तुति में 11 सूक्त हैं। वृहस्पति यज्ञों में देवताओं के पुरोहित और प्रार्थनाओं, स्तुतियों और मन्त्रों के प्रेरक माने जाते थे।

अन्यान्य देवी-देवता– उपर्युक्त देवताओं के अतिरिक्त आर्यों ने बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् की अन्यान्य शक्तियों का भी दैवीकरण किया। ऋग्वेद में सिन्धु नदी का भी देवी के रूप में उल्लेख है। प्राकृतिक वन सम्पदा को आर्यों ने 'आख्यानी' देवी के रूप में प्रतिष्ठित किया था। इसके साथ ही उन्होंने मानवीय बुद्धि की अधिष्ठात्री के रूप में 'सरस्वती' और अन्तर्जगत् की उदात्त भावना को 'अदिति' देवी के रूप में प्रतिष्ठित किया। इसके अतिरिक्त मरूत्, वात्, पर्जन्य, अश्विन्, आप, यम, रूद्र, पूषन आदि अन्यान्य छोटे-बड़े देवता थे। अश्विन् सूर्य से सम्बन्धित युगल देवता थे जिनका आविर्भाव उषा और सूर्य के उदय के मध्यवर्ती काल में होता था। ये देवताओं के भिषक् और मानवमात्र के सहायक थे। च्वयन और विप्र कलि को इन्होंने ही पुनः युवा बनाया था। तुग्र के पुत्र भुज्यु के समुद्र में फंसने पर अश्विन् देवों ने ही सहायता की थी। पूषन् सूर्य की उत्पादक और पोषण शक्ति के प्रतीक थे। इन्हें पशुओं और वनस्पति का भी देवता माना जाता था।

देवी-देवताओं की तीन कोटियाँ– ऋग्वेद के अनुसार आर्यों के कुल 33 प्रमुख देवता थे जो तीन कोटियों में विभक्त थे–

(i) आकाशवाणी– इस कोटि में द्यौस, वरूण, आप, मित्र, सूर्य, सविता, पूषन, विष्णु, अदिति, उषा, अश्विन आदि थे।

(ii) अन्तरिक्षवासी– इस कोटि में इन्द्र, रूद्र, मरूत्, वात् आदि थे।

(iii) पृथ्वीवासी– इस कोटि में अग्नि, सोम, पृथ्वी, वृहस्पति, सरस्वती आदि थे।

उत्तर वैदिक काल में भी वही देवता थे जो ऋग्वैदिक युग में थे। परन्तु अब

उनकी स्थिति में अन्तर आ गया था। इनमें से कुछ देवताओं का महत्व बढ़ गया था तथा कुछ का घट गया था। इस युग में इन्द्र, वरूण, अग्नि आदि की प्रधानता जाती रही और उनके स्थान पर प्रजापति, विष्णु तथा रूद्र (शिव) आदि देवताओं की प्रधानता हो गई। प्रजापति ब्रह्मा के रूप में यज्ञों के स्वामी और विष्णु प्रधान यज्ञ पुरूष बन गए। रूद्र की पूजा कल्याणकारी शिव के रूप में की जाने लगी। इस प्रकार उत्तर वैदिक काल में प्रजापति, विष्णु तथा रूद्र (शिव) की पूजा ने आर्यों के धार्मिक जीवन में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया था।

मानवीयकरण और आर्यों के देवी-देवताओं की विशेषताएँ– किसी वस्तु में मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा करना मानवीयकरण कहा जाता है। आर्यों ने भी अपने देवताओं की कल्पना मानव के रूप में की और उनमें उन सभी गुणों की कल्पना की जो मानव में पाये जाते हैं। किन्तु आर्यों के देवता मानव होते हुये भी अतिमानव थे। वस्तुतः वे साधारण मानव की भाँति मृत्यु, दुर्बलता, पराधीनता तथा मानवीय दुर्गुणों और निर्बलताओं से युक्त न होकर अमर, परमशक्तिमान, स्वतंत्र और एकमात्र गुणवान थे। वे दुर्गुणों और निर्बलता रहित थे। किन्तु सर्वगुण सम्पन्न और सर्वसत्तावान होने पर भी वे उच्छृंखल और स्वेच्छाचारी न होकर सदाचारी, नैतिकता से परिपूर्ण और ऋत् (नैतिक व्यवस्था) के पोषक थे।

देवातिदेव की खोज– प्रारम्भ में आर्यों के लिए सभी देवी-देवता समान रूप से पूज्य और शक्तिशाली थे। परन्तु बौद्धिक विकास के साथ आर्य इस प्रश्न पर मनन करने लगे कि उनका सर्वप्रमुख देवता कौन है ? ऋग्वेद में हमें इस प्रकार के प्रश्नों का उल्लेख मिलता है कि "सर्वप्रथम जन्मा को किसने देखा है ?", "किस देव को हम हवि प्रदान करें ?" इन प्रश्नों के अन्तर्गत ही आर्यों की देवातिदेव की खोज की भावना दिखाई देती है। इसके परिणामस्वरूप आर्यों ने देवताओं को वर्गों में संगठित करना शुरू किया जिससे देवताओं की संख्या में कुछ कमी हो गई और इससे देवातिदेव की खोज करना सरल हो गया। फलतः प्रारम्भ में कुछ समय के लिए अग्नि, इन्द्र, सोम, वरूण को प्रमुख देवता का स्थान प्राप्त हुआ। किन्तु कालान्तर में इन्द्र ने वरूण की प्रधानता को समाप्त कर देवातिदेव का पद प्राप्त कर लिया।

एकेश्वरवाद और परमतत्व– आर्यों के धार्मिक विचारों का शनैः शनैः आगे विकास हुआ। उन्हें देवातिदेव की खोज से ही सन्तुष्टि नहीं हुई। अन्त में, आर्य विचारक इस परिणाम पर पहुँचे कि प्रकृति के विभिन्न रूपों के पीछे एक सर्वशक्तिमान सत्ता है जो सारे जगत् की सृष्टा, पालनकर्ता और संहारक है। ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि "सत् एक ही है। विद्वान् उसे अग्नि, यम और मातरिश्वा आदि विभिन्न नामों से पुकारते हैं।" इस मंत्र से स्पष्ट होता है कि आर्य एकेश्वरवाद में आस्था रखते थे। एक अन्य सूक्त में कहा गया है कि "वह जिसने जीवन दिया है, जिसने सृष्टि की रचना की है, वह अनेक देवताओं के नाम से प्रसिद्ध होते हुए भी एक ही है।" ऋग्वेद के एक

अन्य मंत्र में कहा गया है कि "जिसे लोग कभी इन्द्र, कभी वरूण और कभी अग्नि कहते हैं तथा जिसे कवि अनेक नाम देते हैं, वह ईश्वर एक ही है।" इस प्रकार इन्द्र, वरूण, अग्नि आदि देवताओं के ऊपर आर्यों ने एक सर्वशक्तिमान तत्व की कल्पना की जिसे कभी हिरण्यगर्भ, कभी प्रजापति और कभी विश्वकर्मा के नाम से पुकारा गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि आर्यों ने प्राकृतिक शक्तियों के रूप में अनेक देवताओं की उपासना करते हुये भी एक सर्वशक्तिमान परमेश्वर की कल्पना की थी।

स्तुति और यज्ञ– देवताओं के मानवीयकरण के साथ आर्यों की यह स्वाभाविक कल्पना थी कि जिस प्रकार मानव उपेक्षा और अनादर से अप्रसन्न तथा विनय और स्तुति से प्रसन्न होते हैं। उसी प्रकार उनके देवता भी उन्हीं कारणों से अप्रसन्न और प्रसन्न होंगे। यही भावना देव स्तुति का हेतु बनी। फलतः आर्य भी अपने देवताओं की अप्रसन्नता से बचने और अनुग्रह को प्राप्त करने के लिये अनेक प्रकार से उनकी स्तुति करने लगे। प्रारम्भिक स्थिति में देवता और मनुष्य के सम्बन्ध परस्पर आदान-प्रदान पर आधृत थे। आर्यों की मान्यता थी कि उनके देवता प्रेम, दया और न्याय से परिपूर्ण हैं जो मनुष्यों की प्राकृतिक प्रकोपों, रोगों और कष्टों से रक्षा करते हैं और प्रसन्न होकर उन्हें अच्छी फसल, पुत्र, पुत्रियाँ, पशु और धनादि देते हैं। ऋग्वेद में मन्दिर और मूर्तिपूजा का उल्लेख नहीं मिलता। आर्यों की प्रारम्भिक स्तुति विधि काफी सरल थी। प्रत्येक देवता के लिये पृथक्-पृथक् ऋचाएँ थीं और उन्हीं से देव स्तुति होती थी। यही उनका यज्ञ था। किन्तु कालान्तर में हव्यों की सहायता से यज्ञ करने की परम्परा अधिक प्रचलित हो गई। ये यज्ञ यज्ञकुण्ड में अग्नि का आधान कर उसमें घी, दूध, जौ, तिल, सोमरस आदि वस्तुओं की आहुति देकर किये जाते थे। आर्यों की मान्यता थी कि आहुति के रूप में डाली गई सामग्री यज्ञ-अग्नि की ज्वाला और धुवें के माध्यम से देवताओं को प्राप्त होती हैं। ऋग्वैदिक युग याज्ञिक विधि-विधान जटिल और आडम्बर मय नहीं हुये थे। अतः इस युग में गृहपति यह देवस्तुति और यज्ञ स्वयं ही सम्पन्न कर लेते थे। किन्तु उत्तर वैदिक युग में देव स्तुति और यज्ञों की सरलता समाप्त हो गई और यज्ञवाद का विकास हुआ। इस युग में यज्ञ देवस्तुति का प्रमुख माध्यम बन गये और मंत्रों को देवस्तुति के साधन के स्थान पर यज्ञ सम्पादन का माध्यम माना जाने लगा। इस युग में यज्ञों की संख्या और जटिलताएँ अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। इस युग में आर्य गृहस्थों के लिये प्रतिदिन पाँच यज्ञों- देवयज्ञ, पितृयज्ञ, नृ यज्ञ, ऋषि यज्ञ और भूत यज्ञ का करना अनिवार्य था। इन दैनिक यज्ञों के अतिरिक्त विशेष अवसरों पर विशेष यज्ञ भी किये जाते थे जैसे अमावस्या को दर्शयज्ञ और पूर्णिमा को पौर्णमास यज्ञ। कार्तिक, मार्गशीर्ष और माघ मासों में कृष्ण पक्ष की अष्टमी को 'अष्टका यज्ञ' तथा चैत्र, आश्विन, श्रावण और अग्रहायण की पूर्णिमा को क्रमशः चैत्री, आश्वयुजी, श्रावणी और अग्रहायणी यज्ञों का विधान था। अनेक यज्ञ तो महीनों और वर्षों तक चलते थे। ऐसे यज्ञों में सोमयज्ञ, अग्निष्टोम यज्ञ और चातुर्मास यज्ञ प्रमुख थे जो क्रमशः 1 से 12 दिन, 5 दिन और चार माह चलते थे। नये राजा को राजसूय यज्ञ करना आवश्यक था क्योंकि इसके

बिना कोई व्यक्ति राजा का पद नहीं प्राप्त कर सकता था। चक्रवर्ती पद प्राप्त करने के आकांक्षी शासक अश्वमेध यज्ञ करते थे। इस युग में यज्ञ कराने वाले पुरोहितों की संख्या भी बढ़कर 17 तक पहुँच गई। इस प्रकार के यज्ञों में अपार धन व्यय किया जाता था। देवताओं के प्रति समर्पण की ऋग्वैदिकयुगीन भावना के स्थान पर इस युग में मंत्रों और यज्ञों के माध्यम से देवताओं को वशवर्ती करने की भावना का विकास हुआ। पुरोहित वर्ग ने लोगों में यह विश्वास उत्पन्न कर दिया था कि यज्ञ आदि धार्मिक अनुष्ठानों के विशेष प्रक्रिया से सम्पादित न होने पर अभीष्ट और वांछित फल की प्राप्ति नहीं होती। ब्राह्मण ग्रंथों में अनेक यज्ञों, यज्ञ-कालों, यज्ञ-क्रियाओं, यज्ञ-पात्रों तथा यजमानों और पुरोहितों की संख्या तथा उनकी विशिष्टताओं का उल्लेख हुआ हैं। इस युग में यज्ञों में बलि का महत्व भी बढ़ गया और यज्ञ कुण्डों के समीप ऐसे यूपों (स्तम्भों) का निर्माण किया जाने लगा जिनसे बध्य पशुओं को बांधा जाता था। अश्वमेध यज्ञ में अश्व की और नरमेध यज्ञ में मानव की बलि दी जाने लगी।कतिपय विद्वान् बलि प्रथा को मान्यता नहीं देते। उनका मत है कि वलि के प्रतीक रूप में केवल स्पर्श होता था। किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण के शुनः शेप आख्यान और बौद्ध साक्ष्यों से यह प्रमाणित होता है कि उत्तर वैदिक युग में यज्ञों में इस प्रकार की बलि देने की प्रथा विद्यमान थी। इस प्रकार उत्तरवैदिक युग में यज्ञों की प्रधानता और उनके कर्मकाण्डों के कारण आर्यों का धार्मिक जीवन जटिल हो गया और ब्राह्मणों के महत्व में वृद्धि हुई।

वैदिक धर्म प्रवृत्तिमार्गी था। उसमें गृहत्याग, संन्यास का कोई स्थान और मोक्ष की कल्पना नहीं थी। वैदिक आर्य गृहस्थ जीवन में ही देवोपासना, स्तुति और यज्ञों के द्वारा इहलोक को उत्कृष्ट बनाने की आकांक्षा करते थे। ऋग्वेद की देव स्तुतियों में स्थान-स्थान पर दीर्घायु, पुत्र, धन-धान्य तथा विजय आदि की कामनाएँ की गई हैं।

नैतिक आदर्श– ऋग्वैदिक आर्यों में नैतिकता की भावना उच्च आदर्शों पर आधृत थीं। आर्य नैतिक आदर्शों पर अत्यधिक बल देते थे। वे अतिथि सत्कार को एक पवित्र कर्त्तव्य मानते थे। वे झूठ से घृणा करते थे और चरित्र की शुद्धता पर बल देते थे। ऋग्वेद में एक स्थान पर उपासक वरूण से यह प्रार्थना करता है कि "हे देव ! यदि हमने अपने किसी सुहृदय के प्रति पाप किया हो, अपने किसी मित्र या सहयोगी का अहित किया हो अथवा अपने साथ रहने वाले किसी पड़ौसी अथवा अपरिचित को कष्ट पहुँचाया हो तो हमें आप इस पाप से मुक्त करें।" अन्य स्थान पर निर्धन, भूखे, असहाय मनुष्यों के प्रति उदार और दानशील होने की सम्मति देकर दानशीलता को आवश्यक बताया गया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में जादू-टोना, विश्वासघात, व्यभिचार आदि की कटु निन्दा की गई है।

अन्य धार्मिक विश्वास– ऋग्वेद में पाप-पुण्य तथा स्वर्ग-नरक की कल्पना मिलती है। आर्यों की मान्यता थी कि सद्कार्य करने वाले व्यक्ति मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में जाते हैं और पापकर्मा को नरक की पीड़ा भोगनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त आर्य आत्मा

में भी विश्वास करते थे। ऋग्वेद में अमरता का उल्लेख है परन्तु मोक्ष का नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य मोक्ष के स्थान पर स्वर्ग-प्राप्ति को ही अपना सर्वोच्च लक्ष्य मानते थे। आर्यों में देव-पूजा के साथ पितृ-पूजा भी प्रचलित थी।

वैदिक चिन्तन

वैदिक चिन्तन के लक्ष्य–वैदिक ऋषियों के चिन्तक को मुख्य रूप से दो तत्त्वों ने प्रभावित किया–(1) प्रकृति के स्वाभाविक परिवर्तन; (2) संसार में व्याप्त दुःख। सरल हृदय आर्य ऋषि बाह्य जगत से प्रभावित हुये। प्रकृति की विभिन्न शक्तियों को उन्होंने कार्य करते देखा।अतः उनके हृदय में प्रकृति के इन स्वाभाविक कार्यों के रहस्यों को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। वैदिक ऋषि सांसारिक दुखों से पूर्ण परिचित थे। अतः उनमें सांसारिक दुखों से मुक्ति पाने की तीव्र अभिलाषा जाग्रत हुई। इस प्रकार परम ज्ञान व परम सुख की खोज वैदिक ऋषियों के चिन्तन का प्रधान लक्ष्य बने।

वैदिक चिन्तन की प्रमुख विशेषताएँ–

(1) **रहस्यपूर्ण धर्म**–वैदिक ऋषियों ने प्रकृति के स्वाभाविक व्यवहार से प्रभावित होकर प्रत्येक प्राकृतिक शक्ति का दैवीयकरण कर दिया था। इसके अन्तर्गत प्रकृति के प्रत्येक विभाग को एक देवता के अधीन स्वीकार किया गया जैसे प्रकाश का देवता, सूर्य, आकाश का देवता वरूण, वर्षा का देवता इन्द्र, धन का देवता कुबेर इत्यादि। यहाँ तक की मानवीय गुणों का भी दैवीयकरण कर दिया गया। वेदों की प्रत्येक स्तुति किसी न किसी देवता से सम्बन्धित है। स्तुतियों के द्वारा देवताओं का गुणगान किया जाता था। देवताओं की कल्पना मानव ने की थी। अतः उसने देवताओं के भी मानवीय स्वरूप व गुणों की अपेक्षा की। परिणामस्वरूप देवताओं की अलौकिकता व लौकिकता ने वैदिक चिन्तन को अत्यन्त रहस्यपूर्ण बना दिया।

(2) **कर्मकाण्ड में अधिकार भेद**–स्थूल रूप से वेद को ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड, इन दो भागों में विभाजित किया गया है। ज्ञानकाण्ड में आध्यात्मिक चिन्तन और कर्मकाण्ड में उपासनाओं का विचार है। यह उपासनायें अधिकार भेद से अलग-अलग बताई गई हैं। सभी कर्मों को करने का अधिकार सभी को नहीं है। अधिकार के बिना उपासना करने से विघ्न पैदा होता है और प्रयत्न सफल नहीं होता। वेदों के अनुसार सबको अपने-अपने अधिकार भेद के अनुसार काम्य और नैमित्ति कर्म करने चाहिये। परम तत्व को प्राप्त करने के लिये व्यवस्था, स्मृति, पवित्र आहार, शुद्धपान तथा निश्चल पवित्र विचार और अन्तःकरण की शुद्धि जरूरी है। लोभ, छल, अभिमान, क्रोध, क्रूरता आदि कर्मों से परमतत्व की प्राप्ति में विघ्न पैदा होता है। अतः सत्कर्मा व्यवित को ही परम तत्व की प्राप्ति के योग्य माना गया है।

(3) **कर्म का सिद्धान्त**–वेद कर्मवाद को मानते हैं। उन्होंने सत्कर्म व दुष्कर्म में विभेद किया है। **'शुभस्वतिः'** (अच्छे कर्मों का रक्षक), **'धियस्वतिः'** (अच्छे कर्मों के रक्षक), **'विचर्षणिः'** तथा विश्व (शुभ व अशुभ कर्मों के दृष्टा) तथा **'विश्वस्व कर्मणोधर्ता'** (सभी

कर्मों का आधार) आदि पदों का देवताओं के विशेषण के रूप में प्रयोग हुआ है। इन मन्त्रों में स्पष्ट कहा गया है कि शुभ कार्य करने वाले को अमरत्व मिलता है। जीव अपने कर्मानुसार बार-बार इस संसार में जन्म लेता और मरता है। वेदों के अनुसार पूर्व जन्म के दुष्ट कर्मों के कारण ही लोग पाप कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। जीव को अगले जन्म में अपने शुभ-अशुभ कर्मों का फल भोगना पड़ता है। वेदों में पिछले जन्म के कर्मों से छुटकारा पाने की प्रार्थनायें की गई हैं। वेदों के अनुसार अच्छे कर्म करने वाले 'देवयान' से ब्रह्मलोक जाते हैं और साधारण कर्म करने वाले 'पितृयान' से चन्द्र लोक को जाते हैं। पिछले जन्म के भोग के लिये जीव वृक्ष, लता आदि स्थावर शरीरों में प्रविष्ट होता है। इस प्रकार वेदों में कर्म के सभी पक्षों पर विचार किया गया है।

(4) **ऋत् का सिद्धान्त**– वेदों के अनुसार मानव जीवन में जो स्थान प्राणों का है वहीं स्थान जीव जगत् में ऋत् का है। ऋत् का अर्थ है वस्तुओं का मार्ग। यह जगत् के पदार्थों में व्यवस्था दिखाता है। जगत् की व्यवस्था के इस सिद्धान्त को वेद में ऋत् कहा गया है। वैदिक ऋषियों के मन में यह विचार प्रारम्भ में सूर्य, चन्द्र,, तारे, सुवह-शाम, दिन-रात और ऋतुओं आदि की व्यवस्थित गति को देखकर उठा होगा। ऋत् जगत् की सब वस्तुओं से पहले हैं। वस्तु जगत् उसकी अभिव्यक्ति मात्र है। जगत् परिवर्तनशील है। ऋत् नित्य है। स्वर्ग और नरक भी ऋत् के कारण ही है। प्रारम्भ में ऋत् का अर्थ सूर्य, चन्द्र, तारों, दिन, रात आदि का निश्चित मार्ग था। परन्तु कालान्तर में यह मानव व देवताओं का नैतिक मार्ग हो गयसूर्य ऋत् के मार्ग पर चलता है। सारी दुनिया ऋत् पर आधारित है और उसी पर चलती है। इस तरह कालान्तर में भौतिक नियम नैतिक नियम का पर्याय हो गये। ऋग्वेद में वरूण को **'ऋतस्य गोप'** (ऋत् का रक्षक) कहा गया है। इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि **"हे इन्द्र ! हमें ऋत् के मार्ग पर ले चलो"**

इस प्रकार वैदिक चिन्तन में जगत एक आकस्मिक घटना मात्र न रहकर एक व्यवस्थित प्रयोजन की सिद्धि बन गया।

(5) **स्वर्ग और नरक**–ऋग्वेद में पाप-पुण्य तथा स्वर्ग-नरक की कल्पना मिलती है। ऋग्वेद का कथन है कि मृत्यु के पश्चात् पुण्य कर्मा मनुष्य सानन्द स्वर्ग में रहता है। इसके विरूद्ध पाप कर्मा मनुष्य नरक में जाता है। नरक की कल्पना एक निम्न स्तरीय अन्धे कुयें की गई है। ऋग्वेद में स्वर्ग-नरक की जो कल्पना हैं वह परवर्ती पुराण शास्त्रों से बिलकुल भिन्न है। वेदों में नरक का जीवन अन्धकारमय माना गया है किन्तु वीभत्स नहीं।

(6) **सृष्टि रचना**–वैदिक ऋषियों ने सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी विचार व्यक्त किये हैं। वेदों में सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक विचार पाये गये हैं। सृष्टि की उत्पत्ति कभी जल से मानी जाती है तो कभी वायु से और कभी अग्नि को सम्पूर्ण सृष्टि का कर्ता बताया गया है। कभी 'सोम' व 'त्वष्ट्रा को समस्त जगत् का कर्ता कहकर आमन्त्रित किया जाता है और कभी 'विश्वकर्मा' और 'वरूण' को जगत्कर्ता

की पदवी दी गई। इन विविध उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषि को जिस देवता से काम था उसी को उसने सृष्टि कर्ता बना दिया।

ऋग्वेद के नासदीय सुक्त में कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ में न 'सत्', न **'अन्तरिक्ष'** और न **'व्योम'** (आकाश) ही था। उसके (परम तत्व) अलावा कोई नहीं था। जल था, प्रकाश नहीं था। वह एक **'तपस'** से उत्पन्न हुआ। यह सृष्टि के आरम्भ में एक अव्यक्त चेतना था। कालान्तर में इसी से सृष्टि प्रकट हुई। यह तपस ही सर्वव्यापी शक्ति है। एक स्थान पर विश्वकर्मा को सम्बोधित करते हुये कहा गया है कि समुद्र के जल ने ही सृष्टि के बीज का रूप धारण किया। ऋग्वेद के पुरूषसूक्त के अनुसार एक व्यापक शक्ति विराट् पुरूष से सृष्टि की उत्पत्ति हुई। ऋग्वेद (7.87.2) में एक स्थान पर वरूण को सृष्टिकर्ता माना गया है।

(7) **बहुदेववाद या एकाधिदेववाद**–वेदों का प्रारम्भिक स्वरूप पूर्णतया बहुदेववादी है। समस्त वेदों में वैदिक ऋषियों द्वारा भिन्न-भिन्न देवताओं की अभिव्यक्ति और स्तुतियाँ की गई है। वैदिक ऋषियों ने समस्त प्राकृतिक शक्तियों और मानवीय गुणों का दैवीयकरण कर दिया था। **'देव'** का अर्थ है दीप्तिमान या तेजपूर्ण होना। इसलिये भिन्न-भिन्न समय पर अपने स्तुत्य देव को अधिक प्रभावशाली बताना स्तुतिगान की मुख्य विशेषता थी। ऋषियों की इन उपासनाओं के फलस्वरूप कुछ विद्वानों की मान्यता है कि वेदों में बहुदेववाद का प्रतिपादन किया गया है। परन्तु इसकी सूक्ष्म विवेचना से स्पष्ट होता है कि वेदों में किसी देवता की न तो स्पष्ट कल्पना की गई है और न ही उसके अधिष्ठान का आदेश है जो बहुदेववाद का आवश्यक गुण है। वैदिक स्तुतियों में जिस देवता का वर्णन किया गया है उसकी कोई निर्धारित सत्ता या स्थिति नहीं है। जिस समय ऋषियों ने जिस देवता की उपासना की उस समय उसी को सर्वश्रेष्ठ माना। इस तरह वैदिक देवताओं की स्थिति तथा सत्ता निरन्तर परिवर्तनशील रही। अतः वेदों में वर्णित देवताओं की कल्पना बहुदेववाद के रूप में करना अनुपयुक्त है। वैदिक चिन्तन की इस प्रवृत्ति को पाश्चात्य विद्वान् **मैक्समूलर** ने बहुदेववाद से भिन्न **'एकधिदेववाद'** (Henoltheism) की संज्ञा दी। इसका अर्थ है–**"अकेले देवताओं में विश्वास जिसमें से हर एक वारी-वारी से सर्वोच्च माना जाता है।"** मैक्डानल (Macdonell) ने एकाधिदेववाद (Henotheism) को अस्वीकृत करते हुये इसे एक भ्रममात्र कहा गया है। परन्तु यह दोनों मत एकपक्षीय है क्योंकि वेद एक काल या एक व्यक्ति की रचना नहीं है। वे अनेक कालों तक अनेक ऋषियों द्वारा उद्भूत स्तुतियों का संकलन है। अतः वैदिक विचारधारा में क्रमशः एक विकासक्रम दिखाई देता है। सम्भव है वेदों के प्रारम्भिक काल में बहुदेववादी चिन्तन रहा हो और फिर एकेश्रवाद का स्वरूप स्थापित करने के विकास क्रम में एक युग एकाधिदेववाद का भी रहा हो जिसमें न तो पूर्णतया बहुदेववाद था और न पूर्णतया एकेश्वरवाद।

(8) **एकदेववाद**–जिज्ञासा वैदिक युग की विशेषता है। यह मानव की स्वाभाविक

प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति के कारण आर्य मस्तिष्क में यह प्रश्न उठने लगा कि आखिर इन बहुसंख्यक देवी-देवताओं में सर्वप्रमुख देवता कौन है ? किस देवता की व्यवस्था के अन्तर्गत अन्य देवी-देवता कार्य करते हैं ? ऋग्वेद में इन जिज्ञासाओं से सम्बन्धित अनेक मन्त्र मिलते हैं। देवातिदेव की खोज के इस प्रारम्भिक प्रयास में आर्यों ने देवताओं को तीन वर्गों–आकाशवासी, अन्तरिक्षवासी, और पृथ्वीवासी में संगठित किया क्योंकि कई ऋग्वेदिक देवता अनेक होते हुये भी समान गुण वाले थे। अतः कुछ देवों को मिलाकर देवों की संख्या कम कर दी गई। इससे देवातिदेव की खोज अपेक्षाकृत सरल हो गई। देवातिदेव की इस खोज में देवातिदेव के पद पर सर्वप्रथम 'अग्नि' तदुपरान्त 'वरूण' और अन्त में 'इन्द्र' आसीन हुये।

(9) **एक्यवाद या अद्वैतवाद**–आर्य ऋषियों की जिज्ञासा देवातिदेव इन्द्र की प्रतिष्ठा से सन्तुष्ट नहीं हुई। वह इस खोज में तत्पर रही कि वह कौन सी सत्ता है जिसकी प्रेरणा से संसार के समस्त स्थावर और जंगम पदार्थ नियमबद्ध स्वकार्य में लगे रहते हैं। इस आधारभूत एक और अद्वितीय सत्ता की खोज वैदिक ऋषियों के चिन्तन का मुख्य लक्ष्य था। ऋषियों की इस प्रवृत्ति के अन्त में इस 'सत्ता' का आभास कर लिया और वे इस दृढ़ निश्चय पर आरूढ़ हो गये कि सत् एक ही है, विद्वान् उसका अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं। (ऋग्वेद 1.114)

यद्यपि एक्यवाद या अद्वैतवाद की निश्चित विचारधारा उपनिषदों में मिलती है तथापि इस सिद्धान्त के कुछ विचार बीज रूप में हमें वैदिक संहिताओं में भी मिलते हैं। ऋग्वेद में अद्वैतवाद के दो रूप मिलते हैं। एक तो जिसमें परमेश्वर (परमसत्) प्रकृति में पूर्णतया व्याप्त है। इसका उत्कृष्ट उदाहरण ऋग्वेद का पुरुषसुक्त है जिसमें कहा गया है कि **"पुरुष ही एक मात्र सत् है। उसके हजार सिर हैं, हजार आँख और हजार पैर हैं। उसे चारों ओर से पृथ्वी को घेर रखा है। जो कुछ है या था और जो कुछ होगा, वह सव पुरुष ही है। पुरूष अमरों तथा अन्नजीवियों का ईश्वर है।"** अद्वैतवाद का दूसरा रूप वह है जो विश्व कारण की खोज से प्राप्त होता है। इस प्रकार के अद्वैतवाद की कल्पना ऋग्वेद के नासदीय सुक्त में मिलती है। इस सुक्त में स्पष्ट किया गया है कि सृष्टि की उत्पत्ति किससे हुई ? इन उदाहरणों के अतिरिक्त वेदों में अनेक ऐसे मन्त्र हैं जो वेदों की अद्वैतवादी विचारधारा के प्रतिरूप हैं। ये निम्नलिखित हैं–

(1) एक ही सत् है, विप्रजन उसका अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं। (ऋग्वेद)

(2) जो कुछ है या था और जो कुछ होगा, वह पुरूष ही है (ऋग्वेद)

(3) देवताओं का वास्तविक सार एक ही है। (ऋग्वेद)

(4) वह जगत् की आत्मा, निष्काम, आत्मनिर्भर, अमर, स्वयंसिद्ध, आनन्दमय, सर्वश्रेष्ठ, सदैव युवा व शाश्वत है। उसके ज्ञान से ही मृत्यु को जीता जा सकता है। (यजर्वेद)

(6) अनिर्वचनीय ही सब नाम रूपों और सब सृष्टि का आधार है। (अथर्ववेद)

इसी अद्वैतवाद के आधार पर बाद में ब्राह्मण ग्रन्थों में आत्मा और ब्रह्म तथा इन दोनों की एकता का विचार मिलता है जो उपनिषदों में विकसित होकर सारे भारतीय दर्शन का मूलतत्व बन गया। ऋग्वेद के एकेश्वरवाद के सम्बन्ध में ड्यूसन ने अपनी पुस्तक "आउट लाइन ऑफ इण्डियन फिलॉसफी" में लिखा है कि "हिन्दू लोग एकेश्वरवाद के सिद्धान्त पर ऐसी विधि के द्वारा पहुँचे, जो अन्य देशों की विधियों से बिलकुल अलग है।" मैक्समूलर ने भी स्वीकार किया है कि "ऋग्वेद संहिता के संग्रह की समाप्ति का चाहे जो भी काल रहा हो, उस काल के पहले इस विचार की जड़ जम गई थी कि एक ही अद्वितीय सत्ता है।" पिक्टेट का भी विश्वास है कि "ऋग्वेद के आर्य लोग मौलिक रूप से एकेश्वरवादी रहे हैं भले ही यह विचार अस्पष्ट और पिछड़ा हुआ ही क्यों न रहा हो।" रीथ व दयानन्द सरस्वती ने भी इस विचार का समर्थन किया है। राजा राममोहन राय ने भी कहा है कि "विभिन्न देवतागण तो केवल परमब्रह्म के पृथक्-पृथक् गुणों के प्रतीक मात्र (symbols) हैं।"

समीक्षा–उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वेद केवल आदिम युग के ग्रंथ ही नहीं है वरन् उसके बाद की भारतीय विचारधाराओं के मूल आधार भी है। चिन्तन की बाल्यावस्था होने पर भी वैदिक चिन्तन अत्यन्त उत्साहपूर्ण व ओजस्वी है। उनमें प्रकृति और मानव की आदिम प्रक्रियायें निहित हैं। वेदों के समीक्षात्मक अध्ययन से हम पाते हैं कि रहस्य के स्वरूप का चित्रण केवल अतिमानवीय अन्तर्दृष्टि या किसी दैवीय प्रेरणा के द्वारा न होकर बुद्धि व तर्क के द्वारा भी पूरा किया जाता है। वेदों में एक ऐसी धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति है जो निश्छल होते हुये भी रहस्यपूर्ण रहती है। वैदिक चिन्तन की प्रशंसा करते हुये फ्रान्सीसी विद्वान् वाल्तेयर ने कहा है कि "केवल ऋग्वेद के लिये पश्चिम को पूर्व का ऋणी रहना होगा।" वैदिक चिन्तन की महत्ता व विशेषताओं की विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

3

सामाजिक संगठन-वर्ण, आश्रम और परिवार

(Social Organization–Varna, Asharma and Family)

–वर्ण व्यवस्था भारत के सामाजिक इतिहास व जीवन की आधार-शिला है। इस व्यवस्था में भारतीय समाज को वर्णों में विभाजित किया गया है। भारतीय संस्कृति में इस व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त प्रत्येक हिन्दू के समस्त संस्कार वर्ण के अनुसार होते हैं। यही नहीं बल्कि प्राचीन भारत में हिन्दुओं के राजनीतिक, आर्थिक व धार्मिक संगठन का आधार भी यही वर्ण-व्यवस्था थी। इसने हिन्दू समाज की समस्त गतिविधियों को अपने विचारों व प्रभाव से प्रभावित किया है। परिणामस्वरूप देश में होने वाले अनेकानेक परिवर्तनों, संघर्षों व क्रान्तियों में इसकी महम् भूमिका रही। कालान्तर में इसने राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि सभी अवस्थाओं का किसी न किसी रूप में मार्ग दर्शन किया। वर्ण व्यवस्था चिरजीवी है। हजारों वर्ष बीते किन्तु अपने दीर्घकालीन इतिहास के सम-विषम पथ पर संघर्ष-विमर्ष का मुकाबला करती हुई यह व्यवस्था अनवरत चलती रही। देश में अनेकों राजनीतिक व धार्मिक परिवर्तन हुये। नये-नये राज्य व राजवंश बने व बिगड़े, नये-नये धर्मों का उदय और पतन हुआ। परन्तु यह व्यवस्था समाप्त नहीं हुई। यहाँ तक कि वर्ण-व्यवस्था के विरोधी जैन व बौद्ध धर्म भी इस व्यवस्था का पूर्ण परित्याग नहीं कर सके। समय व परिस्थितियों के अनुरूप वर्ण-व्यवस्था में परिवर्तन भी हुये तथा अपनी भेद परक व्यवस्था के कारण एक वर्ण द्वारा दूसरे वर्ण पर अपनी महत्ता व प्रभाव सिद्ध करने के लिये वर्णों में परस्पर शारीरिक व वैचारिक संघर्ष भी हुये किन्तु परस्पर विचारों, निर्दिष्ट कार्यों और अधिकारों के संघर्ष से इस व्यवस्था की जड़ें और गहरी व मजबूत हुई हैं जो आज भी हिन्दू समाज में विद्यमान है। वर्ण-व्यवस्था की महत्ता का उल्लेख करते हुये डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय ने कहा है कि—"भारतीय इतिहास में प्रभाव व प्रभुता के लिये वर्णों का यह पारस्परिक संघर्ष सामाजिक इतिहास के लिये उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना राजनीतिक इतिहास में सिंहासनों के लिये राजवंशों का पारस्परिक संघर्ष।"

वर्ण व्यवस्था के आधार तत्व—वर्ण-व्यवस्था जातिगत वर्ग व सामाजिक संरचना पर आधारित है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वाभाविक गुणों के अनुरूप वर्ण में स्थान मिलता है। वर्ण के अनुसार ही समाज में व्यक्ति का प्रभाव और महत्त्व निश्चित होता है। इस व्यवस्था में कर्म का प्रधान स्थान है। प्रत्येक वर्ण का अपना विशिष्ट कर्त्तव्य (कर्म) है। ये कर्त्तव्य वर्णों के नैतिक कर्त्तव्य या वर्णधर्म के नाम से जाने जाते हैं। इस प्रकार वर्ण में दो प्रधान तत्व विद्यमान हैं—प्रथम, भेद परक ऊँच-नीच की भावना और द्वितीय, वर्ण के निर्धारित कर्म। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था सामाजिक वर्गों की महत्ता और वर्णों से सम्बद्ध है। प्रत्येक वर्ण के गुणों और कर्मों में अन्तर होने के बावजूद सभी वर्णों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

वर्ण व्यवस्था का समाज निर्माण में योगदान—वर्णधर्म (वर्ण के कर्त्तव्य) के निष्ठापूर्वक पालन करने से व्यष्टि व समष्टि दोनों का उत्कर्ष होता है। प्रत्येक वर्ण के मनुष्य अपने-अपने वर्ण के अनुरूप कर्मों को स्वीकार करके परस्पर होने वाली स्पर्धा से अपने को दूर कर लेते हैं। इससे समाज में शान्ति व स्पर्धाहीन वातावरण का निर्माण होता है तथा प्रत्येक वर्ण निर्बाध रूप से उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता है। इससे मनुष्य के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास होता है। वह वर्ण धर्म के अनुसार परिवार, समाज, और देश के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है। परिवार और समाज की सुचारू व सुन्दर व्यवस्था चलाने के लिये वह अपनी कल्याणकारी भावना से व्यक्तिगत व सामाजिक व्यवहारों का निष्पादन करता है। इन्हीं नैतिक और सुव्यवस्थित नियमों का पालन करके वह सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक सुख को प्राप्त करता है जो मोह, माया, लोभ व रोष रहित होता है। इस प्रकार समाज और देश के निर्माण व उन्नति में वर्ण व्यवस्था का गरिमामय योगदान है।

'वर्ण' शब्द का अर्थ और प्रयोग—यास्क ने 'वर्णोवृणोते' कहकर वर्ण शब्द की व्युत्पति 'वृञ्' या 'वरी' धातु से निष्पन्न की है। जिसका अर्थ चुनना या वरण करना है। 'वर्ण' और 'वरण' शब्दों में समानता भी है। सम्भवतया 'वर्ण' से तात्पर्य किसी विशिष्ट व्यवस्था के चुनने से है। समाजशास्त्रीय भाषा में वर्ण का अर्थ उस 'वर्ग' से है जो अपने चुने हुये किसी विशिष्ट व्यवसाय से सम्बद्ध है। यह वर्ग अपनी अन्तर्निहित विशेषताओं के कारण समाज के अन्य वर्गों से पृथक् रहकर अपने हितों के प्रति सचेत रहता है। 'वर्ण' शब्द का एक अन्य अर्थ रंग भी होता है। पाणिनि ने अपने ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' में धातु के अन्तर्गत 'वर्णन इत्येके' और 'वर्ण रसो' कह कर 'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति वर्ण (रंग के अर्थ में) शब्द से मानी है। इस प्रकार वर्ण को एक विशिष्ट रंग माना गया है। ऋग्वेद (I.73.7.) में वर्ण शब्द का प्रयोग रंग के अर्थ में ही हुआ है। पुराणों में भी कई स्थानों पर प्रत्येक वर्ण के लिये पृथक् रंग यथा—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, व शूद्र के लिये क्रमशः शुक्ल (श्वेत), रक्त (लाल), पीत (पीला) व कृष्ण (काला) इंगित किये गये हैं।

'वर्ण' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद के विभिन्न मन्त्रों में किया गया है इसमें 'वर्ण' शब्द का प्रयोग रंग या आलोक के अर्थ में किया गया है (ऋग्वेद I. 73 7., II. 3.5., VII. 97, 15., IX. 104. 4. आदि)। ऋग्वेद में यत्र-तत्र 'वर्ण' शब्द का प्रयोग ऐसे वर्गों के लिए भी किया गया है जिनकी त्वचा गौर (श्वेत या श्याम रंग की थी। पूर्व-वैदिक समाज की प्रारम्भिक अवस्था में दो ही वर्ण थे एक आर्य व दूसरा अनार्य (दास) या दस्यु। अतः त्वचा के रंग को विभाजन व विभे का आधार माना गया। डॉ. पाण्डुरंग वामन काणे (Dr. P.V. Kane) ने धर्म शास्त्र का इतिहास, द्वितीय भाग पृष्ठ 25 पर इस बात को स्वीकार किया है कि ऋग्वेद में I. 179 6. और II. 12.4 में वर्ण शब्द का अर्थ आर्य व दास समुदाय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और यह दोनों समुदाय रंग के आधार पर ही अलग थे। मैकडोनल ने भी इसी मत का समर्थन किया है।

वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भिक स्वरूप

प्रारम्भिक युग में आर्यों को समाज में वर्ण-व्यवस्था की आवश्यकता नहीं थी। प्रत्येक आर्य व्यक्तिगत रूप से देवस्तुति व यज्ञ किया करता था। अतः ब्राह्मण-पुरोहित की आवश्यकता नहीं थी। इसी प्रकार युद्ध में प्रत्येक व्यक्ति भाग लेता था अतः क्षत्रिय वर्ण की भी आवश्यकता नहीं थी। पुरुषसूक्त को छोड़कर सम्पूर्ण ऋग्वेद में कही भी वैश्य व शूद्र वर्ण का उल्लेख नहीं मिलता।

परन्तु भारत में आने के बाद आर्यों को नवीन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। उन्हें इस देश की एक-एक इन्च भूमि के लिए यहां के मूल निवासी अनार्यों से युद्ध करने पड़ें। भारत के मूल निवासी अनार्यो को ऋग्वेद में दास (अनार्य) कहा गया है। आर्य आक्रमणकारी थे व अनार्य आक्रान्त। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर आर्य व अनार्य (दास) की भिन्नता व इनके परस्पर संघर्ष में आर्यों की विजय का उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद के अनुसार आर्य गौर वर्ण (रंग) तथा अनार्य कृष्ण वर्ण थे। रंग के अतिरिक्त आर्यो व अनार्यों की शारीरिक रचना में भी अन्तर था। ऋग्वेद में इन अनार्यों को 'अपनासः' (चपटी नाक वाले) कहा गया है। आर्यों व अनार्यों में धार्मिक व सांस्कृतिक भिन्नता भी थी। इसीलिए ऋग्वेद में इन्हें 'अव्रत' (देवताओं के नियम व व्यवहार का पालन न करने वाले) 'मृध्रवाचः' (अमधुर भाषी) व 'अक्रतु' (यज्ञ न करने वाले) कहा गया है। इसके विपरीत आर्य ऊँची नाक वाले व सदाचरण व सद्प्रवृत्तियों का अनुसरण करने वाले थे। इस प्रकार आर्यों व यहां के मूल निवासियों के रक्त, रंग, आचार-विचार व रहन-सहन में पर्याप्त अन्तर था। अतः स्वाभाविक था कि आर्यों के आते ही समाज में दो वर्ग दिखाई देने लगे जो शारीरिक व सांस्कृतिक दृष्टि से नितान्त भिन्न थे। ऋग्वेद में रंग के आधार पर इन दोनों वर्गों में से एक वर्ग को आर्य वर्ण व दूसरे वर्ग को

दास वर्ण कहा गया है । अतः समाज में स्पष्ट रूप से आर्य व दास दो वर्ण बन गए जिनका अस्तित्व वैदिक युग के प्रारम्भिक काल तक बना रहा ।

डॉ. विमल चन्द्र पाण्डेय के अनुसार, "ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों व अनार्यों को पृथक्-पृथक् समुदाय घोषित करने का काम सर्वप्रथम उनके रंग ने किया । दोनों में रंग का इतना भारी अन्तर था कि उन दोनों की जाति भिन्नता किसी प्रकार भी छिप न सकती थी । उनके रंग को देखकर कोई भी कह सकता था कि वे दोनों विभिन्न समुदाय व जातियों के हैं । अतः सर्वप्रथम दोनों का पृथक्-पृथक् विभाजन रंग (वर्ण) के आधार पर ही हुआ । कालांतर में उनकी शारीरिक और सांस्कृतिक विभिन्नताओं ने इस विभाजन को और भी दृढ़ कर दिया" इस प्रकार वैदिक युग के प्रारम्भिक काल में ही वर्णों (रंगों) के रूप में समाज संगठित होने लगा था । इस युग में आर्य व दास वर्ण के रूप में दो प्रधान वर्ग स्पष्ट हो चुके थे । यह वर्गीकरण आर्यों व अनार्यों के जातीय व सांस्कृतिक पार्थक्य का प्रतीक था ।

भारत में आने के कुछ समय बाद आर्यों को नवीन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा । अनार्यों के साथ निरन्तर संघर्ष ने आर्यों के समक्ष ऐसे कारण उपस्थित कर दिये कि आर्य अपने समाज को पुनः संगठित करने को प्रेरित हुए ।

निरन्तर युद्धों के कारण समस्त आर्य व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही थी । अतः समाज को व्यवस्थित व संगठित रखने के लिए यह आवश्यक था कि युद्ध के साथ समाज के अन्य कर्म भी होते रहे । अतः आर्यों ने समाज में कार्य-विभाजन की आवश्यकता महसूस की । आर्यों के जीवन में धर्म का अत्यधिक महत्व था अतः समाज को एक ऐसे वर्ग की आवश्यकता थी जो युद्ध कर्म से दूर रहकर उनके धर्म की रक्षा कर सके, मन्त्र रचना व मन्त्र संरक्षण कर सके तथा उनके कल्याण व शत्रु के विनाश के लिए देवी-देवताओं का आह्वान कर सके । इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ब्राह्मण वर्ग का जन्म हुआ था ।

इसी प्रकार समाज को एक ऐसे वर्ग की भी आवश्यकता थी जो अन्य सब कार्यों से पृथक होकर युद्ध कला में निपुणता प्राप्त कर सके और आवश्यकता पड़ने पर उनके धन व जन की सुरक्षा कर सके । इस आवश्यकता के फलस्वरूप क्षत्रिय वर्ग का जन्म हुआ ।

शेष आर्य समाज (विश्) निश्चिन्त होकर कृषि वाणिज्य व अन्य व्यवसायों के द्वारा समाज की आर्थिक उन्नति व उपर्युक्त दोनों वर्गों की आवश्यकताओं की पूर्ति में संलग्न था । यह वर्ग कालान्तर में वैश्य वर्ग कहलाया ।

युद्ध में पराजित अनार्यों (दास) को आर्यों ने अपने निम्न कार्यों के लिए अपनी सेवा में नियोजित किया। यह अनार्य शूद्र कहलाये।

इस प्रकार ऋग्वेदिक युग में हम वर्ण व्यवस्था को बीज रूप में आरोपित पाते हैं। इस व्यवस्था का विकास परवर्ती युग की घटना है। ऋग्वेद में वर्ण या वर्ग व्यवस्था का जो रूप मिलता है वह कर्म पर आधारित था, जन्म पर नहीं।

उत्तर वैदिक काल तक आते-आते आर्यों व अनार्यों की प्रतिस्पर्धा व विरोध प्रायः समाप्त हो गया और दोनों के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित होने लगे तथा सहयोग की भावना को बल मिला। प्रत्येक युग में ऐसे लोग रहे हैं जो यौन भावना से वशीभूत होकर रक्त, रंग, वंश आदि का विचार किए बिना स्त्रियों से सम्पर्क करते रहे हैं। ऋग्वेदिक काल में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी। इसके परिणामस्वरूप आर्य अपनी जातीय व सांस्कृतिक मौलिकता को बनाये रखने में असमर्थ हो गए। धीरे-धीरे वर्ण संकरता का विस्तार होने लगा। आर्य वर्ण और दास वर्ण का अन्तर समाप्त हो गया तथा समाज में धूसर (गेहूँआ) रंग के आर्य पुत्र भी अवस्थित होने लगे। सामंजस्य व सहयोग के कारण अब समाज में अनार्य अथवा दास वर्ग जो आर्यों की दृष्टि में सांस्कृतिक दृष्टि से हेय व पराजित थे, आर्यों ने चौथे वर्ग (वर्ण) के अन्तर्गत अपने समाज में सम्मिलित कर लिया। किन्तु अनार्यों को चौथे वर्ग के रूप में अपने समाज में शामिल करने के उपरान्त भी आर्यों ने अपनी रक्त शुद्धता, श्रेष्ठता व उच्चता को बनाये रखा। प्रथम तीन वर्ण (वर्ग) आर्यों के रक्त से सीधे सम्बन्धित थे। अनार्यों को चतुर्थ वर्ग के रूप में समाज में निम्नतम स्थान प्रदान किया गया था। प्रारम्भ में इन वर्णों के सम्मिश्रण पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। यह वर्ग विभाजन व्यवसाय व श्रम के आधार पर था। इनमें कठोरता व पार्थक्य नहीं था। इसके परिणामस्वरूप दासीपुत्र औशिज, वत्स व दीर्घतमा जैसे लोग ऋषि कहलाये। इस प्रकार दो संस्कृतियां मिश्रित होने लगी। अतः आर्यों ने अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक व रक्त की श्रेष्ठता बनाये रखने के लिए समाज का पुनर्गठन किया और चार वर्णों की व्यवस्था की— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र प्रारम्भिक तीन वर्णों में आर्यों को सम्मिलित किया और चतुर्थ शूद्र वर्ण के अन्तर्गत समस्त अनार्य तथा दासों को सम्मिलित किया गया। इस प्रकार नवीन सामाजिक संगठन से आर्य संस्कृति अक्षुण्ण बनी रही और अनार्य संस्कृति आर्य संस्कृति से प्रभावित होने लगी परन्तु आर्य अनार्य संस्कृति की मूल प्रवृत्तियों को नहीं बदल सके। अनार्यों की कतिपय परम्परायें बनी रही। अतः अपनी संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए आर्यों की सामाजिक व्यवस्था कठोर व रुढ़िवादी होने लगी। आर्यों ने अपनी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसे नियम और दिशा निर्देश स्थापित किये जो एक दूसरे वर्ण को आपस में संयुक्त होने से अवरुद्ध करते थे। इस प्रकार ऋग्वेदिक आर्यों का वर्ण शब्द जो आर्य वर्ण (रंग) व दास वर्ण (रंग) का परिचायक था। कालान्तर में रंग मूलक न रहकर कर्म मूलक और फिर जन्म मूलक हो गया।

वर्ण व्यवस्था के उद्भव सम्बन्धी सिद्धान्त

वर्ण व्यवस्था का उद्भव कब, कैसे व किन परिस्थितियों में हुआ ? यह विचारणीय प्रश्न है। जैसा की पूर्वोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि वर्ण व्यवस्था का विकास धीरे-धीरे इतिहास की घटनाओं के सन्दर्भ में हुआ। इस व्यवस्था को पूर्ण रूप से विकसित होने में सैकड़ों वर्ष लगे। समस्त वर्णों के कर्म (कर्त्तव्य)निर्धारित करने के लिये अपार बुद्धि और विवेक की सहायता ली गई। इस निर्धारण में वर्णों के गुण, व्यवसाय तथा समाज की आवश्यकता को प्रमुख रूप से ध्यान में रखा गया। सभी वर्णों के लोग अपने कर्मों का निष्ठा व स्वतन्त्रतापूर्वक पालन कर सके इसके लिये धर्म की सहायता ली गई तथा सभी वर्ण के कर्त्तव्यों को धर्म के अन्तर्गत माना गया है। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई सिद्धान्त कई रूपों में विकसित हुये। जिनमें से निम्नांकित प्रमुख हैं :—

(1) दैवीय अथवा परम्परागत उत्पत्ति का सिद्धान्त :—प्राचीन धर्मशास्त्रों में वर्णों की उत्पत्ति को दैवीय मानकर उनके विभाजन को पवित्र माना गया है। इस सिद्धान्त को परम्परागत सिद्धान्त भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार वर्णों की उत्पत्ति ईश्वरकृत मानी गई है। ऋग्वेद के पुरूषसूक्त में वर्ण की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद का पुरुषसूक्त इस प्रकार है—

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहु राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽज्यात ॥"

(ऋग्वेद. 10.90.12)

इसके अनुसार वर्णों की उत्पत्ति विराट पुरुष से हुई थी। विराट, पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरु (जांघ) से वैश्य व पैर (पद्) से शूद्र उत्पन्न हुये। इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि समाज का चार वर्णों में विभाजन अत्यन्त प्राचीन है। यह विराट पुरुष सृष्टिकर्त्ता है। इसी से चारों वर्णों की उत्पत्ति हुई। दूसरे शब्दों में स्वयं ईश्वर ने ही वर्णों की सृष्टि की और उनकी स्थिति निर्धारित की। यह कथन प्रतीकात्मक भी है। जिस प्रकार शरीर में मुंह, बांह, जांघ और पैर का महत्व है उसी प्रकार शरीर रूपी समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अंग हैं। जिस प्रकार शरीर के संचालन में सभी अंगों का समान एवं महत्वपूर्ण योगदान है, किसी एक अंग के बिना उसकी स्थिति दयनीय हो जाती है, उसी प्रकार किसी एक वर्ण के बिना समाज की स्थिति भी गम्भीर बन जाती है। ब्राह्मण की उत्पत्ति मुंह से

इसलिये बताई गई है कि उसका समस्त कार्य मुंह से सम्बन्धित था अर्थात् शिक्षा व विद्या प्रदान करना। जिस तरह मुख समस्त शरीर की स्थिति की अभिव्यक्ति का माध्यम है उसी प्रकार ब्राह्मण समाज का प्रवक्ता माना गया। बाहु शक्ति व शौर्य का केन्द्र है। अतः क्षत्रिय की उत्पत्ति बाहु से मानी गई है क्योंकि उसका प्रमुख कार्य देश की रक्षा व प्रशासन बाहु से सम्बन्धित है। वैश्यों का जांघ से उद्भव इसलिए माना गया है कि उनका प्रमुख कार्य समाज की आर्थिक व्यवस्था सुदृढ़ करना था। कृषि पशुपालन और वाणिज्य से वे समाज की आवश्यकतायें पूरी करते थे। जिस प्रकार शरीर के आधार के लिए जांघ आवश्यक है उसी प्रकार समाज के आधार के लिए वैश्य वर्ण आवश्यक माना गया। पैर का कार्य शरीर को गतिमान बनाये रखना है। इसलिए शूद्रों की उत्पत्ति पैरों से बताई गई है क्योंकि यह अपनी सेवाओं द्वारा तीनों वर्णों व समाज को गति प्रदान करते हैं। जिस प्रकार शरीर अपने इन अंगों—मुख, बाहु, जंघा व पैर के बिना अस्तित्वहीन, गतिहीन और निस्तेज हो जाता है उसी प्रकार चारों वर्णों के बिना समाज का कोई महत्व नहीं है।

कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि ऋग्वेद का पुरुषसूक्त परवर्ती रचना है। प्रो. एन. के दत्ता के अनुसार वर्ण व्यवस्था ऋग्वैदिक न होकर परवर्ती काल की रचना है। जी. एस. घुर्ये ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए कहा है कि "ऋग्वेद के मूल अंश में सम्भवतः वर्ण व्यवस्था जैसी कोई संस्था विकसित नहीं हुई थी।"

वैदिक साहित्य के अतिरिक्त अन्य परवर्ती संस्कृत साहित्य में भी वर्ण व्यवस्था की दैवीय उत्पत्ति के सिद्धांत का उल्लेख मिलता है। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार चारों वर्णों की उत्पत्ति विराट पुरुष के विभिन्न अंगों से हुई है। महाभारत में भी वर्ण व्यवस्था की दैवीय उत्पत्ति के सिद्धांत का वर्णन मिलता है। अन्तर सिर्फ इतना है कि इसमें विराट पुरुष के स्थान पर ब्रह्मा का उल्लेख किया गया है (महाभारत, शांतिपर्व, 122·4-5) गीता में भी श्री कृष्ण ने ऐसा ही मत प्रकट किया है। (गीता 4.13) मनु स्मृति (1·31) में भी इसी मत को स्वीकार किया गया है। पुराणों में भी वर्ण-व्यवस्था को ईश्वरीकृत माना गया है। विष्णु पुराण (1·12·63) के अनुसार भगवान विष्णु के मुख, भुजा, जंघा और पैरों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र की उत्पत्ति हुई। वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराणों में भी चार वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा के विभिन्न अंगों से मानी गई है। ग्याहरवीं शताब्दी के लेखक अलबरूनी ने भी वर्णों की उत्पत्ति के इसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि भारतीय व्यवस्थाकारों ने वर्ण व्यवस्था का दैवीय उद्भव स्वीकार करके इस व्यवस्था को आदिकालीन माना है। इस सिद्धांत की प्रशंसा करते हुये डॉ. जयशंकर मिश्र ने लिखा है कि "इस सिद्धांत के अन्तर्गत वर्णों

का एक दूसरे वर्ण से सम्बन्ध, उनका एक दूसरे से उच्च स्थान तथा विभिन्न निश्चित कर्मों का नियोजन है जिससे भारतीय समाज में उनकी ऐतिहासिकता तथा कार्य प्रणाली का पता चलता है। तत्कालीन समाज का वर्णों में बंटा हुआ वर्गीकरण तथा व्यावहारिकता के आधार पर सुनिश्चित कार्य विभाजन इसकी अपनी मौलिकता है।"

हमारे व्यवस्थाकारों ने वर्ण व्यवस्था को दैवीय स्वरूप इसलिये प्रदान किया कि इससे सम्बद्ध वर्ण अपने-अपने वर्ण के अन्तर्गत रहे और वर्ण व्यवस्था का उल्लंघन करने का प्रयास न करे। मानव स्वाभाविक रूप से स्वतन्त्र व स्वच्छंद विचारों का होता है। उस पर बन्धन व प्रतिबन्ध का कोई असर नहीं होता। अपने मन और मस्तिष्क से संचालित होने वाले व्यक्ति प्रत्येक युग में रहे हैं जो कोई नियन्त्रण स्वीकार नहीं करते। अतः हमारे तत्कालीन ऋषियों व विचारकों ने मानव की इस प्रवृत्ति का विश्लेषण करके सामाजिक व्यवस्था को दैवीय रूप प्रदान किया। ताकि ऐसी प्रवृति के लोग ईश्वर के नाम से डरकर वर्ण व्यवस्था का उल्लंघन करने या उसे आघात पहुंचाने का प्रयास न करे।

2. गुण सिद्धांत

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्द्ध में गुणों को भी आधार माना गया है। मनुष्य अपने गुणों से महान् होता है न कि अपने वंश या परिवार से। उसके आंतरिक व बाहरी गुण ही उसको श्रेष्ठता या महानता प्राप्त कराते हैं। महाभारत में उल्लेखित युधिष्ठिर-यक्ष (जल-देव) के संवाद इसका प्रमाण है। यक्ष के प्रश्न "ब्राह्मण कौन है ?" का उत्तर देते हुये युधिष्ठिर ने कहा था—"जो सत्यवादी है, दानी है, दयालु है, क्षमाशील है, जो चरित्रवान है तथा दूसरों के प्रति सहानुभूति रखता है और जो तपस्वी है उसे ही स्मृतियों में ब्राह्मण कहा गया है।" इस पर यक्ष ने पुनः प्रश्न किया कि "यदि यह गुण व लक्षण शूद्र में पाये जाएँ तो क्या वह ब्राह्मण कहलायेगा ?" इसका उत्तर देते हुये युधिष्ठिर ने कहा कि "यदि यह गुण शूद्र में पाये जाएँ तो वह शूद्र नहीं ब्राह्मण है और यदि किसी ब्राह्मण में ये गुण न हो तो वह ब्राह्मण नहीं शूद्र है।"

गुण सिद्धांत का वर्णन गीता में भी किया गया है। गुण कई प्रकार के होते हैं उन में तीन प्रमुख माने गये हैं—सत्व, रज और तम। सत्व गुण निर्मल, दोष रहित, ज्ञान प्रेरक और सांसारिकता से विमुक्त करने वाला होता है। इससे सुख व ज्ञान मिलता है। इस श्रेष्ठ गुण से मनुष्य की स्थिति उच्च हो जाती है। रजो गुण का आधार काम व वासना है जिसके कारण व्यक्ति के अन्दर अनेक प्रकार की इच्छायें व कामनायें उत्पन्न होती हैं। जो मनुष्य को कर्मों के लिये प्रेरित करती है। मनुष्य को भौतिक व सांसारिक बन्धनों से आबद्ध करने वाला यह गुण सत्व गुण की

तुलना में कुछ निम्न है। तमो गुण से अज्ञान की सृष्टि होती है। इस अज्ञान से मनुष्य भ्रम, आलस्य, प्रमाद व निद्रा से ग्रस्त हो जाता है। अतः सत्व गुण सुख का, रज गुण कर्म का और तमस गुण अज्ञान का द्योतक माना गया है। इन्हीं गुणों से मनुष्य अपना विकास करता है। समस्त वर्णों के लिये अलग-अलग गुण निर्धारित किये गये हैं। ब्राह्मण के लिये सत्व गुण, क्षत्रिय के लिये रजो गुण, वैश्य के लिये रजस व तमस गुण का मिश्रित रूप तथा शूद्र के लिये तमोगुण अर्थात् जिसमें सत्व गुण थे उसे ब्राह्मण, जिसमें रजो गुण थे उसे क्षत्रिय, जिसमें रजो गुण व तमस गुण का सम्मिश्रण था उसे वैश्य और तमो गुण वाले को शूद्र माना गया। मनुस्मृति (12·24)तथा विष्णु पुराण (1·6·4-5) में भी गुणों के आधार पर वर्णों का वर्गीकरण किया गया है। इसे वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति का गुणात्मक सिद्धान्त कहा जाता है।

3. रंगों से सम्बन्धित उत्पत्ति का सिद्धांत

'वर्ण' का एक अन्य अर्थ रंग भी है। ऋग्वेद में वर्ण शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में आर्यो व अनार्यों की पृथकता सिद्ध करने के लिये किया गया है। कालान्तर में जब वर्ण शब्द का प्रयोग वर्गों की विभिन्नता सिद्ध करने के लिये होने लगा तो चारों वर्णों के लिये भिन्न-भिन्न रंग निश्चित किये गये। वर्णों की रंग से सम्बन्धित उत्पत्ति के सिद्धांत का महाभारत के शांतिपर्व (188·5) में विशद् वर्णन हुआ है। शांतिपर्व में भृगु ऋषि ने वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति का आधार रंग को ही बताया है। भृगु ऋषि के अनुसार ब्रह्मा ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र की उत्पत्ति की जिनका रंग क्रमशः श्वेत (सफेद), लोहित (लाल), पीत (पीला) व काला था।[1] **डॉ. जयशंकर मिश्र** के अनुसार **"रंग का यह सिद्धांत त्वचा के रंग को उतना व्यंजित नहीं करता, जितना मनुष्य के गुण और कर्म को। वस्तुतः श्वेत रंग का परिचायक सत्व गुण था, लाल रंग का रजो गुण और काले रंग का तमो गुण। रंगों पर आधारित ये गुणात्मक अभिव्यक्तियां मनुष्य की त्वचा के रंग को नहीं बल्कि उसके कर्म प्रधान गुण को उद्घाटित करती है..................इस प्रकार विभिन रंगों में विभाजित चातुर्वर्णों की उत्पत्ति गुणों से सम्बन्धित हो गई तथा शास्त्रकारों ने उनके रंग को मूलभूत गुणों से संयुक्त कर दिया।"**

4. कर्म से सम्बन्धित उत्पत्ति का सिद्धान्त

वर्ण व्यवस्था के उद्भव के सम्बन्ध में कर्म सिद्धांत भी अपना महत्व रखता है। विभिन्न वर्णों के अलग-अलग कर्म थे और इन्हीं के आधार पर वर्णों का वर्गीकरण हुआ था। वैदिक काल के प्रारम्भ में जो लोग विद्या, शिक्षा, तप, यज्ञ, धार्मिकता आदि में रुचि रखते थे वे ब्राह्मण वर्ग में माने गये। जो वर्ग देश की

सुरक्षा, शासन संचालन और राजव्यवस्था में योगदान देते थे। उन्हें क्षत्रिय वर्ग से सम्बन्धित किया गया। कृषि, पशुपालन और वाणिज्य आदि में संलग्न लोगों को वैश्य वर्ग का माना गया। अन्य तीन वर्णों की सेवा और परिचारक वृत्ति अपनाने वाले को शूद्र वर्ग में माना गया। इस प्रकार प्रारम्भिक युग में कर्मों के आधार पर ही वर्णों का उदय हुआ।

वैदिक काल के प्रारम्भ में आर्य और दास दो वर्ण थे। वर्णों का यह विभाजन आचार व कर्ममूलक था। ऋग्वेद में एक स्थान (9 63·5) पर कहा गया है **"कृण्वन्तो विश्वम् आर्यम्"** अर्थात् समस्त विश्व को आर्य बनाओ। ऋग्वेद के इस कथन से स्पष्ट है कि अनार्य को आर्य तभी बनाना सम्भव है जब आर्य-अनार्य का भेद जन्म या रक्त मूलक न होकर कर्म मूलक हो। बौद्ध ग्रन्थ मज्झिम निकाय के अनुसार यवन, कम्बोज और दूसरे सीमावर्ती देशों में 'आर्य' और दास दो ही वर्ण होते हैं। आर्य दास हो सकता है और दास आर्य। बौद्ध ग्रन्थ का यह कथन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि कोई व्यक्ति कर्म से ही दास या आर्य हो सकता है। कालान्तर में जब समाज का चार वर्णों में विभाजन हुआ तो वह भी कर्म पर ही आधारित था। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था में समाज की चार प्रधान वृत्तियों के आधार पर समूहों का विभाजन किया गया। व्यक्ति के वर्ण का आधार कर्म बना।

महाभारत में भी वर्ण व्यवस्था के उद्भव के सम्बन्ध में कर्म सिद्धांत को मान्यता दी गई है। शांति पर्व (188·10) में उल्लेख है कि सर्वप्रथम समाज में केवल ब्राह्मण ही थे। बाद में कर्त्तव्यों की भिन्नता के कारण समाज में कई वर्ण हो गये। सत्य, धर्म, नैतिकता व सदाचरण का पालन करने वाले ब्राह्मण थे। काम और भोग के प्रेमी, तीक्ष्ण, क्रोधी, स्वधर्म, त्यागी व साहसिक क्षत्रिय थे। स्वधर्म च्युत, पशुपालन करने वाले और पीत वर्ण के वैश्य थे। हिंसा प्रिय, काले रंग के, अपवित्र व येन-केन जीविका उपार्जित करने वाले शूद्र थे। इस प्रकार वर्णगत समूहों का उदय हुआ।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि वर्ण व्यवस्था के उद्भव के मूल में कर्म सिद्धान्त अत्यन्त प्रभावशाली था। वर्ण व्यवस्था के प्रारम्भिक स्वरूप का निर्माण कर्म के आधार पर ही हुआ था। इस व्यवस्था के विकास का मार्ग भी कर्म के सिद्धान्त पर ही अधिक अवलम्बित था।

आधुनिक समाजशास्त्री विद्वानों में स्वामी माधवाचार्य, गिरधर शर्मा, जी. ए. धुर्वे आदि विद्वान वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति कर्म पर आधारित मानते हैं। डॉ. रामदत्त भारद्वाज के अनुसार वर्ण व्यवस्था जन्म व कर्म दोनों पर आधारित है

जबकि बी. के. चटर्जी ने द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, विश्वामित्र आदि के उदाहरण देकर कहा कि भारतीय समाज में वर्ण का आधार जन्म था न कि कर्म। डॉ. राधा कृष्णन ने भी इसी मत का समर्थन किया है।

5. जन्म से सम्बन्धित उत्पत्ति का सिद्धान्त

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति जन्म से भी मानी गई है। आश्वलायन धर्म-सूत्र का कथन है कि ब्राह्मण परिवार में जन्मा व्यक्ति, अयोग्य व अज्ञानी होकर भी पूजनीय माना जाता था। उसे चारों वर्णों में श्रेष्ठ समझा जाता था। वर्ण-व्यवस्था की वैदिककालीन उदारता परवर्ती काल में समाप्त हो गई और महाकाव्यों के काल तक आते-आते वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म हो गया। वैदिक काल में ब्राह्मण पौरोहित्य को लेकर वशिष्ठ व विश्वामित्र के मध्य संघर्ष हुआ था। जन्म से क्षत्रिय विश्वामित्र की ब्रह्मर्षि बनने की उत्कृष्ट अभिलाषा थी। किन्तु वशिष्ठ उनके कार्य में बाधक हो गए। अनेकों संघर्ष के बाद भी विश्वामित्र को सफलता नहीं मिली। वे जन्म से क्षत्रिय होने के कारण क्षत्रिय ही कहलाये। महाभारत युग में भी यद्यपि द्रोणाचार्य का कर्म क्षत्रिय का था। किन्तु जन्म से ब्राह्मण होने के कारण वे ब्राह्मण ही कहलाये। स्वभाव व कर्म से साहसी व क्रूर अश्वत्थामा जिन्होंने रात्री में पाण्डव शिविर में घुसकर द्रोपदी के पुत्रों का वध किया, अपनी क्रूरता व साहस के बाद भी ब्राह्मण ही कहलाये। इसी प्रकार सात्विक कर्म करने के बाद भी युधिष्ठिर क्षत्रिय तथा कर्ण राजपद मिलने के बाद भी सूतपुत्र ही कहलाये। इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज-व्यवस्था जन्म पर आधारित थी कर्म पर नहीं। ऐतिहासिक युग में भी पुष्यमित्र ने क्षात्र धर्म अपना कर राज्य की स्थापना की थी। किन्तु वे क्षत्रिय नहीं कहलाये। कण्व, सातवाहन और वाकाटक राजवंश भी ब्राह्मण ही कहलाये क्षत्रिय नहीं।

वर्ण का आधार—जन्म या कर्म

वर्ण-व्यवस्था के ऐतिहासिक विश्लेषण से ज्ञात होता है कि इसका आधार जन्म व कर्म दोनों था। वैदिक आर्यों ने जातीय व सांस्कृतिक आधार पर आर्यों तथा अनार्यों में भेद बनाये रखने के लिये वर्ण व्यवस्था की स्थापना की। इस व्यवस्था का आधार जन्म व कर्म था। एक जाति समूह में जन्म लेने वाले को एक निश्चित वर्ग से सम्बद्ध किया गया। आर्य वर्ग में जन्म लेने वाले को द्विज कहा गया और अनार्य वर्ग में जन्म लेने वाले को दास या शूद्र।

गीता (4.13) में श्रीकृष्ण ने कहा है कि **"मैंने गुण व कर्म के आधार पर चारों वर्णों की सृष्टि की है"**। गुण सत्व, रज व तम हैं जिनसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र आदि का वर्गीकरण किया गया है। (इसका विशद् विवरण पूर्व में दिया जा चुका है) इस प्रकार गुण वर्ण व्यवस्था की मूल अभिव्यक्ति का मुख्य धरातल है।

महाभारत में भी जन्म और कर्म दोनों से वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी मत व्यक्त किया गया है। शान्ति पर्व में वर्ण-व्यवस्था का आधार कहीं पर जन्म व कहीं पर कर्म माना गया है। शान्तिपर्व (189.4) में कहा गया है कि "सत्य, धन, द्रोहहीनता, अनृशंसता, विनय, घृणाहीनता और तप जिसमें हो वही ब्राह्मण है। यदि ये लक्षण शूद्र में हो और ब्राह्मण में न हो तो शूद्र शूद्र नहीं और ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं।" ये उदाहरण वर्ण के लिये जन्म के स्थान पर कर्म को महत्व देते हैं। अर्थात् समाज में व्यक्ति का सम्मान कर्म से था जन्म से नहीं। परन्तु सम्पूर्ण महाभारत के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि महाभारत काल में वर्ण का आधार जन्म भी था। महाभारत में द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कर्ण आदि क्षत्रिय कर्म में प्रवृत्त थे। किन्तु उन्हें जन्म के आधार पर ब्राह्मण व सूत पुत्र ही माना गया। इसी प्रकार युधिष्ठिर को धर्मराज कहे जाने के बाद भी वे क्षत्रिय ही माने गये। कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि महाभारत काल वर्ण व्यवस्था के आधार-जन्म व कर्म का संक्रमण काल था। महाभारत में वर्ण का आधार जन्म व कर्म दोनों थे। परवर्ती युग में कर्म का महत्व गौण हो गया व जन्म के आधार पर वर्ण का निर्धारण किया जाने लगा। बालक के पिता का वर्ण ही बालक का वर्ण माना जाने लगा। आश्वलायन श्रौतसूत्र में कहा गया है कि ब्राह्मण परिवार में जन्मा व्यक्ति अयोग्य और अज्ञानी होकर भी पूजनीय माना जाता है।

वर्ण व्यवस्था का ऐतिहासिक विश्लेषण

ऋग्वैदिक युग—ऋग्वेद के प्रारम्भिक काल में वर्ण व्यवस्था विद्यमान नहीं थी। इस युग में समाज में केवल दो वर्ग (वर्ण) थे—आर्य व अनार्य। इस वर्गीकरण का आधार सांस्कृतिक व शारीरिक था। समाज का आधार यही दोनों वर्ण थे। किन्तु भारत में आने के बाद आर्यों को नवीन परिस्थितियों में अपने समाज को वर्गीकृत करने की आवश्यकता महसूस हुई। अतः उन्होंने आर्यों में ही तीन वर्ग बनाये। मन्त्र, प्रार्थना, यज्ञ आदि कार्यों में संलग्न वर्ण को ब्राह्मण कहा गया। ऋग्वेद में ब्राह्मण शब्द एक वर्ग समूह के लिये प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में उन्हें 'ब्रह्मपुत्र' भी कहा गया है।

ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर क्षत्रिय शब्द का भी प्रयोग हुआ है। कई स्थानों पर 'क्षत्र' शब्द भी मिलता है। 'क्षत्र' शब्द का अर्थ शूरता या वीरता से था। तात्कालीन समाज में शूरवीरों का एक वर्ग बन गया था। इस वर्ग के लिये पुरुष सुक्त में 'राजन्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः यह वर्ग युद्ध व राज-कार्यों में संलग्न था।

पुरुष सुक्त को छोड़कर ऋग्वेद में कहीं भी 'वैश्य' शब्द का उल्लेख नहीं है। ऋग्वेद में इसके समानार्थी शब्द 'विश' का उल्लेख मिलता है। इस 'विश' वर्ग के अन्तर्गत ब्राह्मण व क्षत्रिय को छोड़कर शेष आर्य वर्ग सम्मिलित था।

ऋग्वेद में 'शूद्र' का उल्लेख भी सिर्फ पुरुष सुक्त में मिलता है। विराट पुरुष के पैर से उत्पन्न मानकर इसे समाज में निम्न स्थान दिया गया है। ऋग्वेद में यहां के मूल निवासियों के लिये 'दास' शब्द का उल्लेख किया गया है। विद्वानों की मान्यता है कि आर्यो ने पराजित अनार्यो को 'दास' के रूप में अपने समाज के चतुर्थ वर्ग के रूप में स्थापित कर लिया था। इस प्रकार ऋग्वेद युग में चार वर्गो —ब्राह्मण, क्षत्रिय, विश् (वैश्य) व दास (शूद्र) का उल्लेख मिलता है।

आर्य आक्रमणकारी थे और ऋग्वेदिक युग में वे यहाँ के मूल निवासियों से संघर्षरत थे। चूंकि युद्ध में महत्वपूर्ण भूमिका सैनिकों व पुरोहितों की थी अतः समयानुसार इन्हें सामाजिक व्यवस्था में विशिष्ट स्थान मिला। शेष आर्य विश के नाम से सम्बोधित किये जाते रहे। कालान्तर में पराजित अनार्य 'दास' रूप में आर्य समाज का चतुर्थ वर्ग बने।

ऋग्वैदिक आर्यो का उपर्युक्त वर्ण विभाजन कर्म पर आधारित था। ऋग्वेद में ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे लगता है कि एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण में जा सकता था और एक ही परिवार के व्यक्ति विभिन्न कार्य करते थे। ऋग्वेद (IX· 12·3) में एक ऋषि कहते हैं। **"मैं प्रार्थना करता हूँ मेरे पिता वैद्य हैं और मेरी माता पत्थर पर आटा पीसती है।"** इसी प्रकार ऋग्वेद (*III·44·5*) में एक कवि पूछता है कि **"हे इन्द्र तुम मुझे राजा बनाओगे ऋषि बनाओगे अथवा मुझे अपार सम्पत्ति दोगे।"** ये उदाहरण स्पष्ट करते है कि वैदिक काल में वर्ण परिवर्तन सम्भव था। व्यक्ति अपनी योग्यता से किसी भी वर्ण में जा सकता था।

उत्तर वैदिक काल—ऋग्वेद में बीज रूप में प्राप्त वर्ण व्यवस्था उत्तर वैदिक काल में विकसित हुई। **अथर्ववेद** में चारों वर्णों का उल्लेख हुआ है। इसी ग्रन्थ में चारों वर्णों की ब्रह्मा से उत्पत्ति मानकर इनके कर्मो का उल्लेख किया गया है। तैत्तिरीय संहिता में प्रत्येक वर्ण के लिये पृथक यज्ञोपवीत व पृथक ऋतु में अग्निहोत्र की व्यवस्था की गई। इस काल में वर्ण परिवर्तन की व्यवस्था भी समाप्त हो गई और यह जात्यपर्क हो गया। ऐतेरेय ब्राह्मण के शुनः शेप आख्यान में ब्राह्मण पुत्र को जन्म के आधार पर क्षत्रिय से श्रेष्ठ बताया गया है। इस युग में विभिन्न वर्णो के मध्य विभाजक रेखा अधिक स्पष्ट हो गई। ऐतरेय व शतपथ ब्राह्मण में ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य व शूद्र को क्रमशः एक दूसरे से श्रेष्ठ घोषित किया गया है।

उत्तर वैदिक युग में ब्राह्मण का महत्त्व बढ़ गया था। उसे दिव्य वर्ण व भू-देव कहा जाता था। अपने धार्मिक कार्यो के कारण उसे क्षत्रिय से श्रेष्ठ माना जाता था। ऐतेरेय ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण के बिना अर्पित की गई राजा की हवियों को देवता स्वीकार नहीं करते थे। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण द्वारा प्रदत्त सत्ता से ही राजा शासन करता था। राजसूय यज्ञ तो ब्राह्मण की स्तुतिगान बिना सम्भव ही नहीं था।

ब्राह्मण के बाद क्षत्रिय वर्ण का स्थान था। यह वर्ग वीरता व राज शासन में निपुण था। किन्तु ऐसा लगता है कि इस काल में ब्राह्मण और क्षत्रियों के मध्य उच्चता के लिये परस्पर संघर्ष आरम्भ हो गया था। इस युग में विदेह के शासक जनक, प्रवाहल, जाबालि, अजातशत्रु आदि क्षत्रिय शासकों ने पौरोहित्य, याज्ञिक क्रियाओं व दार्शनिक गवेषणा में पारंगत होकर ब्राह्मणों के एकाधिकार को चुनौती दी और अनेक ब्राह्मणों को दीक्षा दी।

इस युग में वैश्य वर्ण का पूर्ण विकास हो चुका था। समाज में इनका स्थान ब्राह्मण और क्षत्रिय के बाद था। इनका मुख्य कार्य कृषि, पशुपालन, व वाणिज्य था।

शूद्र को समाज में निम्न स्थान प्राप्त था। इसका मुख्य कार्य अन्य तीन वर्णों की सेवा करना था। वह यज्ञ करने के अयोग्य माना गया था। शूद्रों को विद्या प्राप्त करने का अधिकार था। ऐतेरेय ब्राह्मण का रचयिता ऐतरेय शूद्र-भार्या से उत्पन्न था। ऋषि जानश्रुति भी शूद्र थे।

सूत्र कालीन वर्ण व्यवस्था—जिस काल में विभिन्न श्रौत, गृह्य व धर्म सूत्रों की रचना हुई उस युग को सूत्र काल कहा जाता है। सूत्रों का रचना काल 600 ई. पू. से 300 ईसा पूर्व माना जाता है। इन सूत्र ग्रन्थों में याज्ञिक क्रियाओं, सामाजिक व धार्मिक आचार-विचारों तथा विभिन्न कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया है। इस काल में वर्ण व्यवस्था के स्वरूप में जटिलता के दर्शन होते हैं। अब वर्ण में कर्म की अपेक्षा जन्म का महत्व होने लगा था।

इस युग में जैन व बौद्ध धर्म के उदय से वर्ण व्यवस्था को गहरा आघात लगा। अतः हमारे व्यवस्थाकारों ने इन वर्ण विरोधी धर्मों के प्रभाव से हिन्दू धर्म को अक्षुण्ण रखने के लिये वर्ण व्यवस्था को समुचित ढंग से पुनर्गठित किया और जन्म को वर्ण निर्धारण का आधार बनाया। ब्राह्मण की प्रतिष्ठा में वृद्धि की गई। द्विज की व्याख्या करते हुये ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य के उपनयन संस्कार का प्रतिपादन किया गया। ब्राह्मण को क्षत्रिय से श्रेष्ठ माना गया। गौतम धर्मसूत्र में कहा गया है कि क्षत्रिय अन्य वर्णों का शासक हो सकता है, ब्राह्मण का नहीं। इस युग में ब्राह्मण को अवध्य व अदण्डय माना गया था। ब्राह्मण से किसी प्रकार का कर नहीं लिया जाता था। इस प्रकार ब्राह्मण विशेष सुविधायुक्त वर्ण था। धर्म सूत्रों में आपात्काल में ब्राह्मण को क्षत्रिय व वैश्य कर्म अपनाने की स्वीकृति दी गई है।

सूत्रकाल में क्षत्रिय वर्ण की स्थिति में पूर्वापेक्षा सुधार हुआ। सूत्रकाल में इसे चारों वर्णों की रक्षा करने वाला कहा गया है। वैदिक ज्ञान में पारंगत होकर यह आचार्य बन कर ब्राह्मण को वेदाध्ययन भी करा सकता था। आपात्-काल में वह वैश्य और शूद्र के कर्म भी अपना सकता था।

सूत्रकाल में समाज संगठन, प्रतिष्ठा और सम्मान की दृष्टि से वैश्य वर्ण का तीसरा स्थान था। अध्ययन, याजन व दान देने के अतिरिक्त कृषि और वाणिज्य व्यापार वैश्य का मुख्य कर्त्तव्य था। इस युग में वैश्य वर्ण ने विद्याध्ययन प्रायः छोड़ दिया था। आपात्काल में यह वर्ण शूद्र कर्म अपनाने के लिये स्वतन्त्र था।

शूद्र का स्थान समाज में अत्यन्त निम्न और हेय था। उनका मुख्य कर्त्तव्य अन्य तीन वर्णों की सेवा करना था। यही उसकी जीविका का साधन था। वह अपने स्वामी द्वारा त्यागे वस्त्रों, वर्तन व जूठन से जीवन-निर्वाह करता था। सूत्र साहित्य में इनकी हीन अवस्था का उल्लेख है। उसे वेदाध्ययन व यज्ञ का अधिकार नहीं था। वह श्मशान की भाँति अपवित्र माना जाता था। बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार शूद्र की हत्या के लिये उसी दण्ड की व्यवस्था थी जो कौवे, उल्लू, मेंढ़क अथवा कुत्ते की हत्या के लिये थी। शूद्र का सम्पूर्ण जीवन द्विज वर्ण (ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य) की सेवा में बीत जाता था।

महाकाव्यकालीन वर्ण व्यवस्था—महाकाव्यों में वर्ण व्यवस्था पूर्व की अपेक्षा अधिक संगठित हो चुकी थी। समाज में ब्राह्मण को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। किन्तु यह सम्मान ज्ञानी ब्राह्मण के लिये ही था। वेद, ज्ञान रहित ब्राह्मण को काष्ठ हस्ती, नपुंसक, पंखहीन पक्षी और जल-रहित कुयें के समान माना जाता था। वर्ण कर्म से विपरीत ब्राह्मण को शूद्र से भी निम्न माना गया है। इस युग के ब्राह्मणों की छः श्रेणियाँ थी—ब्रह्मसम, देवसम क्षत्रसम, वैश्यसम, शूद्रसम और चाण्डालसम। इस काल में वर्ण का आधार जन्म हो गया था। द्रोण, अश्वत्थामा व कृपाचार्य कर्म से क्षत्रिय होनें पर भी जन्म के कारण ब्राह्मण ही कहे गये।

क्षत्रिय वर्ण युद्ध व शासन द्वारा चारों वर्णों को संरक्षण प्रदान करता है। अतः समाज में इनका स्थान ब्राह्मण वर्ण के बाद था। दुष्टों पर नियन्त्रण व प्राणिमात्र की रक्षा उनका प्रधान कर्त्तव्य था। ब्राह्मण क्षत्रिय का सहयोग समाज के लिये कल्याणकारी माना जाता है। महाकाव्य काल में क्षत्रिय को अध्ययन व यज्ञ करने का अधिकार था। परन्तु अध्यापन और याजन करना उसके लिये निषेध था।

महाकाव्य काल में वैश्य वर्ण की सामाजिक स्थिति पूर्व की अपेक्षा अच्छी थी। सबसे अधिक राजकर देने और धनी होने के कारण यह वर्ण भी अन्य सभी वर्णों के लिये भी सम्मानीय हो गया था। इस वर्ण का प्रमुख कर्त्तव्य कृषि व वाणिज्य द्वारा समाज का आर्थिक जीवन सुदृढ़ करना था।

महाकाव्य काल में भी शूद्र की सामाजिक स्थिति निम्नतम थी। अन्य तीन वर्णों की सेवा ही उसका मुख्य कर्त्तव्य था। शूद्रों के लिए यज्ञ व विद्या निषेध थे। राम ने इसी कारण शम्बूक का वध किया था। महाभारत में एक स्थान पर विदुर ने स्वीकार किया था कि वे शूद्र होने के कारण शिक्षा प्राप्त करने के अधिकारी नहीं हैं। समाज में शूद्रों की स्थिति निम्नतम होने के बावजूद कुछ शूद्र अपने सत्कर्मों और सदाचरणों से सम्मानीय थे। युधिष्ठिर ने अपने राजसूय यज्ञ में शूद्र प्रतिनिधियों को भी आमन्त्रित किया था। यह उदाहरण महाभारत में शूद्रों के प्रति उदार भावना के प्रतीक है।

परवर्ती काल में वर्ण व्यवस्था (300 ई. पू. से बारहवीं शताब्दी तक)

इस युग में वर्ण व्यवस्था पूर्ण रूप से जन्म पर आधारित हो गई थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में चारों वर्णों व कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया है। वर्ण व्यवस्था की वास्तविक पुनर्स्थापना शुंग काल में हुई। बौद्ध युग की मरणासन्न,वर्ण व्यवस्था के लिये मनु और याज्ञवल्क्य ने नई व्यवस्थायें की। उन्होंने समाज के सुव्यवस्थित और सुसंगठित जीवन को परिभाषित किया। मनु द्वारा निर्धारित वर्ण व्यवस्था सदा के लिये मार्गदर्शक बन गई। बाद में मेधातिथि, कुल्लूक, विश्वरूप, अपरार्क आदि विचारकों और भाष्यकारों ने स्मृतियों द्वारा निर्धारित वर्ण व्यवस्था को जीवन्त बनाये रखा।

इस युग में ब्राह्मण का आदर और सम्मान सर्वोच्च था। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्हें विशेष सुविधायें प्राप्त थी। वह अवध्य, कर मुक्त तथा अदण्डय था। ह्वेनसांग और अलबरूनी ने भी ब्राह्मण को समाज में श्रेष्ठतर माना है। ब्राह्मण अपने उच्च कर्मों व नैतिक जीवन के कारण समाज में आदरणीय थे।

क्षत्रिय वर्ण का कार्य समाज का पोषण, रक्षण व संवर्धन करना था। समाज के आंतरिक व वाह्य शत्रुओं से रक्षा करने का दायित्व क्षत्रिय वर्ण का था। मनु ने ब्राह्मण व क्षत्रिय में क्रमशः पिता व पुत्र का सम्बन्ध माना है। मनु ने प्रजा रक्षण, दान, यज्ञ, वेदाध्ययन व विषयों के प्रति अनासक्ति क्षत्रिय के कर्त्तव्य बताये हैं। वीर व संरक्षक होने के कारण क्षत्रियों का स्थान समाज में अत्यन्त सम्माननीय था। ह्वेनसांग ने भी क्षत्रियों की कर्मनिष्ठा की प्रशंसा की है। नवीं शताब्दी के लेखक इब्न खुर्दाज्बा ने लिखा है कि क्षत्रियों के समक्ष सब लोग सिर झुकाते थे। लक्ष्मीधर ने भी क्षत्रिय को तीन वर्णों को हानि व भय से मुक्ति दिलाने वाला कहा है।

मनु ने वैश्य वर्ण के लिये पशुरक्षा, दान, वेदाध्ययन, व्यापार और कृषि कर्त्तव्य निर्धारित किये हैं। इस युग तक आते-आते वैश्य वर्ग का अध्ययन प्रायः छूट गया और वे पूर्ण रूप से व्यापार और कृषि में संलग्न हो गये। कालान्तर में इस वर्ण ने कृषि कार्य भी छोड़ दिया।

शूद्र वर्ण की समाज में दयनीय स्थिति पूर्ववत बनी रही। वह अधिकार तथा कर्त्तव्यों से वंचित थे। उनका कार्य अन्य तीन वर्णों की सेवा करना था। कालान्तर में जब वैश्यों ने कृषि कर्म त्याग दिया तब शूद्रों ने यह कार्य ग्रहण कर लिया। पुराणों में शूद्र के प्रति उदार भावना भी व्यक्त की गई है। वायु पुराण में कहा गया है कि यदि वे भक्ति में निमग्न रहे, मदिरा-पान न करे, इन्द्रियों को संयत रखे तो उन्हें मोक्ष प्राप्त हो सकता है। ह्वेनसांग ने एक शूद्र राजा का भी उल्लेख किया है। पतञ्जलि ने शूद्रों के दो वर्ग बताये हैं—निरवसित व अनिरवसित। निरवसित अस्पृश्य थे व अनिरवसित स्पृश्य थे। इनके साथ उदारता का व्यवहार किया जाता था।

वर्णों के धर्म (कर्त्तव्य), आपद् धर्म व स्थिति

ब्राह्मण—चतुर्वर्णों में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोपरि था। विराट पुरुष के मुख से उत्पन्न होने के कारण समाज के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी स्थिति उच्च थी। ब्राह्मणों को वेदों का ज्ञाता और विद्या का मर्मज्ञ माना जाता था। ब्राह्मण वर्ण के छः प्रधान कर्म थे—वेद पढ़ना व पढ़ाना, यज्ञ करना व कराना, दान देना व लेना। राजनीति के क्षेत्र में वह पुरोहित के रूप में राजा को परामर्श देता था। मन्त्रियों में पुरोहित का स्थान प्रमुख था। पुराणों के अनुसार ब्राह्मण द्वेषी राजा का राज्य नष्ट हो जाता है। ब्राह्मणों को धर्मच्युत राजा को गद्दी से हटाने का अधिकार था। ब्राह्मणों को कई विशेषाधिकार प्राप्त थे। किसी अपराध के लिये उन्हें अन्य वर्णों की अपेक्षा कम दण्ड दिया जाता था। वह कर मुक्त थे। अध्यापन कार्य पर उसका एकाधिकार था।

आपद् धर्म—यदि कभी परिस्थितिवश ब्राह्मण स्वधर्म का पालन करने में असमर्थ रहता और जीवनयापन नहीं कर सकता तो ऐसे समय में शास्त्रकारों ने उसे अन्योत्तर कर्म अपनाने का की निर्देश दिया है। आपद् स्थिति में ब्राह्मण; क्षत्रिय और वैश्य के कर्म सैनिक वृत्ति; कृषि और व्यापार तथा राज्य सेवा आदि ग्रहण करने को स्वतन्त्र था।

क्षत्रिय—ब्राह्मण वर्ण के वाद समाज में क्षत्रिय वर्ण का स्थान था। क्षत्रिय वीरता एवं शौर्य से सम्बन्धित थे। समाज के अन्य वर्णों की रक्षा व शासन क्षत्रिय वर्ण के प्रमुख कर्त्तव्य थे। महाभारत में इस वर्ण को 'इन्द्र' कहा गया है। उत्तर वैदिक काल में सामाजिक सर्वोच्चता के लिए ब्राह्मण तथा क्षत्रियों में काफी संघर्ष हुआ था।

धर्मशास्त्रकारों ने संकट काल में क्षत्रियों के लिये अपने से नीचे वाले वर्ण (वैश्य) के कर्म अपनाने की व्यवस्था की है। गौतम व वौधायन धर्मसूत्र के अनुसार जीवन-यापन के लिये क्षत्रिय वैश्य कर्म अपना सकता है। मनु ने उसे वैश्य कर्म अपनाने की सलाह दी है। परन्तु कृषि को निषेध बताया है। लक्ष्मीधर ने भी संकटकाल में क्षत्रिय द्वारा कृषि कर्म करने का विधान किया है।

वैश्य—समाज में तीसरा स्थान वैश्य वर्ण का था। यह वर्ग समाज का आर्थिक स्तम्भ था। यह वर्ण कृषि, पशुपालन और वाणिज्य कर्म में संलग्न था। अध्ययन, यजन व दान इनका प्रमुख कर्त्तव्य था।

धर्मशास्त्रकारों ने संकट काल में वैश्य को अन्य वर्ण के कर्म अपनाने का निर्देश दिया है। यद्यपि युद्ध व सैनिक वृत्ति क्षत्रिय का कर्म है किन्तु वौधायन धर्म-सूत्र में यह कहा गया है कि गौ, ब्राह्मण और वर्ण की रक्षा के लिये वैश्य भी शस्त्र

ग्रहण कर सकता था। मनु ने भी संकटकाल में क्षत्रिय को निषिद्ध कर्मों को त्यागते हुये शूद्र वर्ण के कर्म अपनाने की व्यवस्था दी है। कूल्लूक तथा मेघातिथि ने भी इस मत की पुष्टि की है।

शूद्र—समाज में शूद्र की सबसे निम्न स्थिति थी। सामाजिक व्यवस्था में इस वर्ण के कोई अधिकार नहीं थे। उसका कार्य अन्य वर्णों की सेवा करना था। वे अपने स्वामी द्वारा त्यागे वस्त्र, आसन आदि का उपयोग करते थे।

शूद्र के आपद्धर्म के बारे में मनु ने कहा है कि भूख से पीड़ित शूद्र कारू कर्म अपना सकता है। मेघातिथि ने कारू कर्म की व्याख्या करते हुये भोजन बनाने, कपड़े सीने, बढ़ईगीरी, शिल्पकारी आदि को कारू कर्म माना है। इससे स्पष्ट है कि शूद्र आपद्काल में वैश्य कर्म अपना सकता था।

वर्ण व्यवस्था का महत्व एवं गुण

भारतीय समाज की वर्ण व्यवस्था हमारी संस्कृति के नभ में दैदीप्यमान नक्षत्र है। इस व्यवस्था के कारण हमारी संस्कृति ने अत्यधिक उन्नति की है। यह सही है कि वर्तमान युग में यह व्यवस्था अत्यन्त दोषपूर्ण दिखाई देती है परन्तु यह व्यवस्था अत्यन्त प्राचीन काल से अनेकों सम-विषम मार्गों, संघर्षों-विघर्षों का सामना करती हुई आज तक विद्यमान है। इसका मुख्य कारण यही है कि यह व्यवस्था हमारी प्राचीन परिस्थितियों के अनुकूल थी। देश में अनेकों राजनीतिक व धार्मिक परिवर्तन हुये, राज्य और राजवंश उदित व अस्त हुये किन्तु वर्ण व्यवस्था चलती रही। इसका मूल कारण यही है कि इस व्यवस्था से भारतीय समाज को हानियों की अपेक्षा लाभ अधिक हुये हैं। यहाँ हम वर्ण व्यवस्था के महत्व व गुण-दोषों का वर्णन करते हुये यह स्पष्ट करेंगे की अनेक दोषों के उपरांत भी यह व्यवस्था आज भी भारतीय समाज में क्यों कर विद्यमान है?

कतिपय पाश्चात्य व भारतीय विद्वान प्राचीन भारतीय वर्ण व्यवस्था को असमानता की नीति पर आधारित पक्षपातपूर्ण व्यवस्था मानते हैं। परन्तु उनका यह मत भ्रांतिपूर्ण तथा एकपक्षीय है। हमारे प्राचीन साहित्य—वेद, उपनिषदों, ब्राह्मणों, सूत्रों, महाकाव्यों आदि में वर्ण व्यवस्था का जो वर्णन प्राप्त है उसके गहन अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह व्यवस्था पूर्णतया तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल तथा दार्शनिक व मनोवैज्ञानिक आधार पर समाज को संगठित करने का सुन्दर प्रयास थी। यह व्यवस्था समाज को विभाजित करने वाली नहीं अपितु समाज के सभी लोगों व वर्गों को अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिये प्रेरणा का स्रोत थी। जिससे समाज का प्रत्येक व्यक्ति समाज के विकास में अपना योगदान कर सके। वर्ण व्यवस्था के महत्व और गुणों को अग्रलिखित तथ्यों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

(1) सामाजिक संघर्ष से मुक्ति—वर्ण व्यवस्था का सबसे अधिक महत्व इस बात से है कि उसने समाज में होने वाली अनावश्यक प्रतियोगिता पर नियन्त्रण करके समाज में होने वाले सामाजिक संघर्ष से मुक्ति प्रदान कर दी। वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत समाज को चार वर्णों में विभाजित करके प्रत्येक वर्ण के कर्त्तव्य इस प्रकार निर्धारित किये गये कि वे एक दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप न कर सके। प्रत्येक वर्ण के लिये वर्ण धर्म का पालन ही मोक्ष प्राप्ति का सरलतम मार्ग बताया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति में समाज के उच्च शिखर पहुँचने की आकांक्षा नियन्त्रित हो गई। प्रत्येक व्यक्ति अपनी जीविका, व्यवसाय और वर्ण धर्म के प्रति सचेत रहा। इससे उसके कार्यों में उच्च श्रेणी के मानवीय गुणों का विकास हुआ। इसी आधार पर भारतीय संस्कृति उच्चकोटि के मानवीय गुणों से परिपूर्ण हो सकी।

(2) श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन—वर्ण व्यवस्था का मुख्य आधार श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण था। कार्यों के आधार पर विभिन्न वर्णों का संगठन किया गया था। इसलिये समाज को किसी समस्या का सामना नहीं करना पड़ा। आपसी व्यवसायिक प्रतिद्वंद्विता समाप्त हो गई। सभी वर्णों के लोग अपने-अपने वर्ण के लिये निर्धारित कर्म निष्पादित करते थे। इससे उन्हें अपने कर्म में विशेष योग्यता प्राप्त हो जाती थी। विशिष्टीकरण के लिये यह आवश्यक है कि सभी लोग वही कर्म करें जिसमें उनकी रुचि हो। परम्परागत व्यवसाय में रुचि स्वतः ही जागृत हो जाती है। भारतीय ज्ञान, दर्शन, कला, नृत्य, संगीत आदि क्षेत्रों के सर्वोच्च विकास का कारण वर्ण द्वारा उत्पन्न यह विशिष्टीकरण ही है। वर्ण व्यवस्था में आजीविका सम्बन्धी समस्याओं का समाधान भी स्वमेव ही कर दिया।

(3) गतिशीलता—वर्ण व्यवस्था में प्रत्येक वर्ण के कर्म व कर्त्तव्य निर्धारित कर दिये गये थे किन्तु इससे भारतीय संस्कृति की गतिशीलता समाप्त नहीं हुई। कोई भी समाज या संस्कृति तब तक विकास नहीं कर सकती जब तक उसमें गतिशीलता का गुण न हो। वर्ण व्यवस्था द्वारा केवल व्यक्तियों के श्रम का विभाजन किया गया था। उसके अन्तर्गत व्यक्तियों को अपनी सामाजिक स्थिति में उन्नति करने का अवसर प्रदान किया गया था। वर्ण में मनुष्य के गुण व कर्म को महत्व था। इसी आधार पर कई व्यक्तियों ने निम्न वर्ण में जन्म लेने के उपरान्त भी अपने गुणों व कर्मों के आधार पर उच्च वर्ण के स्थान प्राप्त किया। वर्ण व्यवस्था की इसी गतिशीलता की प्रवृत्ति के कारण समाज में कर्म निर्वाह की सर्वाधिक प्रेरणा प्राप्त हुई और हमारा समाज संगठित रहा।

(4) समानता की भावना—भारतीय वर्ण व्यवस्था में सामाजिक सम्मान की दृष्टि से विभिन्न वर्णों में उच्चता और निम्नता की असमानता अवश्य स्थापित की

गई है परन्तु इस आदर्श असमानता में भी समानता के गुण विद्यमान हैं। इस व्यवस्था में सामाजिक दृष्टिकोण से असमानता अवश्य दृष्टिगत होती है किन्तु व्यवहारिक रूप में सभी वर्णों को समाज में समान महत्व प्रदान किया गया है। ऋग्वेद के पुरुषसुक्त के आधार पर यदि यह मान लें कि विराट/पुरुष के चार अंगों से वर्णों की उत्पत्ति हुई तो इससे भी वर्णों की समानता प्रकट होती है क्योंकि शरीर के विभिन्न अंग सिर्फ वाह्य रूप से अलग हैं जबकि शरीर संचालन में सबका समान योगदान है। इसी तरह सभी वर्ण वाह्य रूप से अलग हैं किन्तु समाज के संचालन में सब वर्णों की सावयवी एकता और समानता विद्यमान है।

(5) **रक्त की पवित्रता**—वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत सभी वर्णों को अपनी जातीय पवित्रता बनाये रखने के लिये प्रोत्साहित किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारी सांस्कृतिक विशेषतायें बिना किसी विशेष प्रयास-बाधा के एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में स्थानान्तरित होती रही। भारतीय समाज में रक्त का मिश्रण अधिक नहीं हो सका और इसी के परिणामस्वरूप हमारी संस्कृति समाप्त होने से बच गई।

(6) **अनुशासन की भावना**—भारतीय वर्ण व्यवस्था में वर्ण धर्म पालन को मोक्ष प्राप्ति का सरलतम मार्ग बताया गया है। 'मोक्ष' प्रत्येक आर्य के जीवन का परम लक्ष्य था। अतः वह कठोरतापूर्वक वर्ण के नियमों का पालन करता था। ऐसा नहीं करने पर उसे वर्ण से बहिष्कृत कर दिया जाता था। इसके परिणामस्वरूप नियमपालक व अनुशासित समाज का निर्माण हुआ।

(7) **सुव्यवस्थित जीवन को प्रोत्साहन**—वर्ण व्यवस्था ने सभ्य व सुव्यवस्थित जीवन को प्रोत्साहन दिया। इस व्यवस्था के कारण जन्म से ही व्यक्ति के कार्यों, कर्त्तव्यों एवं अधिकारों का निर्धारण हो जाता था।

(8 **धर्म और संस्कृति की रक्षा**—भारतीय धर्म और संस्कृति की रक्षा में वर्ण व्यवस्था ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। जिस समय विदेशियों ने आक्रमण करके भारतीय धर्म और संस्कृति को नष्ट करने का असफल प्रयास किया। उस समय भारतीय वर्ण व्यवस्था के कठोर नियमों ने ही भारतीय धर्म को स्वाधीन व नियंत्रित रखा। वर्णों की उच्चता की भावना के कारण ही उच्च वर्णों ने आक्रमणकारियों की मानसिक अधीनता स्वीकार नहीं की। इसके परिणामस्वरूप सैकड़ों वर्षों की गुलामी के बाद भी भारतीय संस्कृति व धर्म समाप्त नहीं हुये।

(9) **कला की उन्नति**—वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत समाज में श्रम-विभाजन किया गया। जिससे समाज के प्रत्येक क्षेत्र में विशिष्टीकरण हुआ। इस विशिष्टीकरण का परिणाम यह हुआ कि भारतीय कलाओं की उन्नति अपने चरम शिखर पर पहुँच गई।

वर्ण व्यवस्था के दोष—उपर्युक्त गुणों के होते हुये भी वर्ण व्यवस्था पूर्ण-तया दोषमुक्त नहीं थी। अनेक विद्वानों की मान्यता है कि यह समाज के लिये लाभ-दायक होने की अपेक्षा हानिकारक अधिक रही है। वर्ण व्यवस्था में निम्नलिखित दोष थे :—

(1) **दोहरे मापदण्ड पर आधारित**—आलोचक विद्वानों की मान्यता है कि भारतीय वर्ण व्यवस्था नैतिकता और आदर्श के दोहरे मापदण्ड पर आधारित है। वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में शास्त्रों की मान्यता है कि स्वभाव सम्बन्धी विशेषतायें जन्मजात होती हैं। इसी कारण विभिन्न वर्णों के कर्तव्य और अधिकार भिन्न हैं। परन्तु इस तर्क में इस तथ्य की अवहेलना की गई है कि गुणों के आधार पर वर्ण व्यवस्था की स्थापना नहीं की गई है बल्कि जब सैकड़ों वर्षों की परम्परा के कारण एक समूह एक ही प्रकार का व्यवसाय करता रहा तो अपने द्वारा किये जाने वाले कार्य की परिस्थितियों के कारण उनमें एक विशेष प्रकार के स्वभाव का स्वतः विकास हो गया। इस तरह वर्ण व्यवस्था दोहरे मापदण्ड पर आधारित थी।

(2) **मानवीय सिद्धान्तों के विपरीत**—वर्ण व्यवस्था सामाजिक जीवन के मानवीय सिद्धान्तों, सामाजिक न्याय, समानता व स्वतन्त्रता के विपरीत थी। मानव अपनी सामाजिक स्थिति के निर्माण, व्यवसाय के चयन तथा अन्य सामाजिक कार्यों के लिए प्राकृतिक रूप से स्वतन्त्र है। वर्ण व्यवस्था में जन्म से ही मानव की सामाजिक स्थिति, व्यवसाय और कर्त्तव्यों को निर्धारित कर दिया जाता था। जन्म के आधार पर यह निर्धारण मानवीय सिद्धान्तों के प्रतिकूल था। वर्ण व्यवस्था में किसी वर्ण के कर्म अत्यधिक रोचक तथा किसी के अत्यन्त घृणास्पद थे। शास्त्रों के अनुसार समाज की उन्नति तभी सम्भव है जब प्रत्येक वर्ण निष्ठापूर्वक अपने वर्ण के लिये निर्धारित कर्म सम्पादित करे। सामाजिक विघटन को रोकने के लिये व्यक्ति को वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्त के अनुसार उसके लिये निश्चित कर्म को करने के लिये बाध्य किया जाता था। यह व्यवस्था समानता व योग्यता के सिद्धान्त के विपरीत थी क्योंकि यह सम्भव था कि एक वर्ण में दूसरे वर्ण की प्रवृति के लोग जन्म ले। विश्वामित्र, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, एकलव्य आदि इसके प्रमाण हैं जिन्होंने अपने वर्ण के विपरीत कार्य किये। ऐसी दशा में उनसे वर्णानुसार कर्म करवाना उनके गुणों और योग्यता का अनादर था।

(3) **एकाधिकार की प्रवृत्ति**—वर्ण व्यवस्था सामाजिक एकाधिकार की प्रवृत्ति पर आधारित थी। प्रारम्भ में चतुर और शक्ति सम्पन्न लोगों ने अपने लिये सबसे अधिक अधिकार एवं सुरूचिपूर्ण कर्त्तव्य निर्धारित कर लिये फिर किसी अन्य व्यक्ति में योग्यता होते हुये भी उसे उन अधिकारों से वंचित कर दिया। विश्वा-मित्र व एकलव्य इसके उदाहरण हैं। यह स्थिति कालान्तर में समाज की प्रगति और देश रक्षा में बाधक सिद्ध हुई।

(4) वर्ण संकरता की संकीर्ण भावना—वैदिक काल के उपरान्त वर्ण व्यवस्था को जन्मजात और कठोर बनाने के पीछे भारतीय शास्त्रकारों का यह तर्क था कि इससे वर्ण संकरता का प्रसार नहीं होगा। वर्ण संकरता की यह भावना पूर्णतया भ्रमपूर्ण, संकीर्ण व पक्षपातपूर्ण मनोवृत्ति की परिचायक थी। यह कथन कि दो भिन्न वर्णों के स्त्री-पुरुष के संसर्ग से उत्पन्न सन्तान वर्ण संकर होती पूर्णतया भ्रमपूर्ण है। इसे न जैविकीय सिद्धान्त द्वारा सिद्ध किया जा सकता और न ही बौद्धिक आधार पर। अपितु देखा जाय तो दो विभिन्न वर्णों के संसर्ग से उत्पन्न सन्तान स्ववर्ण सन्तानों से श्रेष्ठ होती है। वर्ण संकरता की यह भ्रमपूर्ण धारणा कालान्तर में भारतीय समाज को एकता के सूत्र में बाँध रखने में बाधक सिद्ध हुई। अन्तर्वर्ण विवाह धर्म विरुद्ध माने जाने के कारण विवाह क्षेत्र अत्यन्त संकुचित हो गया। इससे रक्त मिश्रण से उत्पन्न होने वाली शारीरिक और मानसिक उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो गया। इस प्रकार वर्ण संकरता के भय ने भारतीय समाज के शारीरिक व मानसिक उन्नति के रास्ते रोक दिये।

(5) शूद्रों का शोषण—वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत समाज के एक बड़े वर्ग को 'शूद्र' की संज्ञा देकर उसका अमानवीय शोषण किया गया। शूद्रों को सामाजिक व्यवस्था में निम्नतम स्थान प्रदान किया गया। उसे किसी भी प्रकार के अधिकार से वंचित कर दिया गया। शूद्र के लिये अध्ययन, यज्ञ आदि निषेध थे। शास्त्रकारों ने उसके जीवन-यापन के लिये भी फटे पुराने वस्त्रों व जूठे भोजन का विधान किया। शूद्रों के प्रति यह व्यवहार सभी मानवीय सिद्धान्तों के प्रतिकूल था इसमें न्याय के सभी सिद्धान्तों की नृशंसता से हत्या की गई थी। शूद्रों के शोषण का परिणाम यह हुआ कि जब छठी शताब्दी में वर्णविहीन जैन व बौद्ध धर्मों का उदय हुआ तो शोषण पीड़ित शूद्र वर्ण इन धर्मों के प्रति आकृष्ट हो गया।

(6) राष्ट्रीय एकता में बाधक—वर्ण व्यवस्था राष्ट्रीय एकता के लिये बड़ी घातक सिद्ध हुई। वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत समाज को चार भागों में बांट कर उसके अधिकार और कर्म निर्धारित कर दिये गये। इसके परिणामस्वरूप विचार संकीर्णता, स्वार्थपरता, ईर्ष्या और द्वेष में वृद्धि हुई। लोग वर्ण हित में संलग्न हो गये तथा राष्ट्रीय हित की अवहेलना करने लगे। वर्ण व्यवस्था ने सामाजिक समानता की भावना समाप्त कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में कभी भी एकजुट नहीं हो सके। वे एक राष्ट्र के रूप में विदेशियों का मुकाबला नहीं कर सके। जब देश पर विदेशी आक्रमण हुये तब युद्ध का सम्पूर्ण भार क्षत्रियों को ही वहन करना पड़ा। ब्राह्मण, वैश्य व शूद्र रणक्षेत्र से दूर ही रहे। इसका कारण यह था कि वे युद्ध को अपना कार्य नहीं समझते थे।

वर्ण व्यवस्था के स्थायित्व के कारण—भारतीय वर्ण व्यवस्था अनेकानेक गुण-दोषों से युक्त रही है। जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है। अपने अन्तर्निहित दोषों के उपरान्त भी यह व्यवस्था स्थायी रूप से विद्यमान रही है। इस व्यवस्था के दीर्घजीवी होने के पृष्ठ में अनेक सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक व धार्मिक कारण है जो निम्नलिखित है—

(1) वर्ण व्यवस्था के चिरस्थायी होने का प्रथम कारण भारतीयों का धर्म प्राण होना है। भारतीयों के लिए धर्म व जीवन पृथक वस्तुयें नहीं थी। उनके लिए जीवन धर्म का व्यवहारिक रूप था और धर्म जीवन का संग्रहीत तथ्य। धर्म और जीवन का अविच्छेद और अन्योन्याश्रित सम्बन्ध था। इस भावना का परिणाम यह हुआ कि भारतीयों के समक्ष जो भी चीज धर्म का अंग बनाकर प्रस्तुत की गई उसे पूर्ण मान्यता मिल गई और वह चिरस्थायी हो गई। भारतीय वर्ण व्यवस्था की दैवी उत्पत्ति ने इस व्यवस्था को चिरस्थायी होने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

(2) वर्ण व्यवस्था के चिरस्थायी होने का द्वितीय कारण यह था कि वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत सर्वोच्च वर्णों ने केवल धार्मिक व सामाजिक अधिकारों पर अधिकार किया आर्थिक अधिकारों पर नहीं। ब्राह्मण वर्ण ने राजनीतिक अधिकार क्षत्रियों और वैश्यों के लिये छोड़ दिये। इसका परिणाम यह हुआ कि इन दो वर्णों ने सर्वोच्च ब्राह्मण वर्ण के धार्मिक अधिकारों का विरोध नहीं किया। राजनीति क्षेत्र में भी ब्राह्मणों का हस्तक्षेप न्यूनतम था। इसलिये क्षत्रियों ने ब्राह्मण वर्ण का सम्मान किया। शूद्रों को तीनों वर्णों की सेवा का कार्य सौंपा गया और इस कारण समय-समय पर वर्ण व्यवस्था का विरोध भी हुआ। परन्तु शिक्षा, धर्म, शासन और सम्पत्तिहीन होने के कारण शूद्रों के विरोध का कोई महत्व नहीं था।

(3) वर्ण व्यवस्था के चिरस्थायी होने का तीसरा कारण समाज में ब्राह्मण वर्ण की लोक मान्यता थी। वर्ण व्यवस्था के प्रारम्भिक युग में ब्राह्मण वर्ण ने अपनी विद्वता, सदाचारिता, त्याग परायणता और सरलता के कारण समाज में अग्र स्थान प्राप्त कर लिया था। यह गुण और ब्राह्मण परस्पर पर्याय बन गये थे। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण वर्ण वन्दनीय हो गया। क्षत्रियों की भौतिक अभिजातता को ब्राह्मण वर्ण ने अपनी आध्यात्मिक अभिजातता से प्रभावित कर लिया। अतः वह क्षत्रिय के लिये भी माननीय हो गया। ब्राह्मण देश के मस्तक थे और क्षत्रिय भुजा। अतः सामाजिक संगठन की अधिकांश योजनायें ब्राह्मण के मस्तिष्क में उपजी और क्षत्रिय की छत्रछाया में क्रियान्वित हुई। ब्राह्मण वर्ण की इस लोक मान्यता ने उसके विधि-निषेधों को भी मान्य बना दिया।

(4) वर्ण व्यवस्था के चिरस्थायी होने का चौथा कारण भारतीयों की क्रान्तिकारी परिवर्तनों के प्रति व्याप्त अरुचि थी। भारतीयों की सामंजस्य और ग्रहण-

शीलता की भावना सदैव आधारभूत परिवर्तन के विरुद्ध रही है। भारतीय धर्मी भी अपनी संस्थाओं में आमूल परिवर्तन के लिये प्रस्तुत नहीं होते । इस भावना का परिणाम यह रहा कि अनेक प्राचीन संस्थायें व परम्परायें आज भी विद्यमान हैं। इनमें वर्ण व्यवस्था एक है। समय और परिस्थिति अनुकूल इस व्यवस्था में परिवर्तन अवश्य हुये। परन्तु इसका आधार नहीं बदला और ना ही देश का कोई भी वर्ग इस व्यवस्था का पूर्ण परित्याग कर सका। यहाँ तक की वर्ण विरोधी जैन व बौद्ध धर्म भी इस व्यवस्था का पूर्ण परित्याग नहीं कर सके।

(5) वर्ण व्यवस्था के स्थायी होने का पाँचवा कारण जैन और बौद्ध धर्म का उदय था। यह दोनों धर्म हिन्दू धर्म में व्याप्त बुराइयों और वर्ण व्यवस्था के विरोध में उत्पन्न हुये थे। परन्तु इन्हीं के उदय ने वर्ण व्यवस्था को दृढ़ता प्रदान की। इन वर्ण विरोधी धर्मों के बढ़ते हुये प्रभाव ने भारतीय चिन्तकों को अपनी वर्ण व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करने की प्रेरणा दी। अतः भारतीय शास्त्रकारों ने वर्ण व्यवस्था के नियमों को और कठोर बना दिया। उन्होंने विश्वास दिला दिया कि वर्ण व्यवस्था के पतन से हिन्दूधर्म का पतन हो जायेगा।

(6) वर्ण व्यवस्था को चिरस्थायी करने में भारतीयों के कर्म, भाग्य, पुनर्जन्म और मोक्ष के विचारों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन विचारों ने व्यक्ति में यह भावना भर दी की पूर्वजन्म के बुरे कर्मों के कारण उसे निम्न वर्ण में जन्म लेना पड़ा है तो उसने इस व्यवस्था का विरोध छोड़ दिया और इस व्यवस्था में ही रहकर भावी जीवन को अच्छा बनाने के लिये प्रयत्नशील हो गया। व्यक्ति की इस भाग्यवादी प्रवृत्ति ने उसे निष्क्रिय बना दिया जिससे उसकी सामाजिक चेतना लुप्त हो गयी। अतः वर्ण व्यवस्था का विरोध नहीं हो सका।

(7) वर्ण व्यवस्था की चिरप्रियता का सातवाँ कारण इस व्यवस्था की दीर्घकालीन उपयोगिता थी। वर्ण व्यवस्था ने शताब्दियों तक भारतीय समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति की, समाज को संगठन, व्यवस्था और आदर्श प्रदान किया। वर्ण व्यवस्था से भारतीय समाज एक सुदृढ़ इकाई बन गया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत समाज का प्रत्येक व्यक्ति पारस्परिक अधिकार और कर्त्तव्यों के आधार पर एक दूसरे से सम्बद्ध था।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वर्ण व्यवस्था को चिरस्थायी रखने में किसी दैवीय शक्ति का हाथ नहीं था बल्कि यह व्यवस्था अपनी अन्तर्निहित सामाजिक, धार्मिक राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के कारण स्थायी रही। यद्यपि आधुनिक परिपेक्ष्य में यह व्यवस्था दोषपूर्ण परिलक्षित होती है परन्तु प्राचीन भारतीय समाज में यह हमारी संस्कृति के विकास का मेरुदण्ड रही थी।

आश्रम व्यवस्था

प्रत्येक सभ्यता और संस्कृति की कुछ आधारभूत विशेषतायें होती हैं जिनके कारण वह अपनी समकालीन अन्य संस्कृतियों से विशिष्टता व महत्व रखती हैं। भारतीय संस्कृति की एक विशेषता उसकी आदर्श सामाजिक व्यवस्था है। यह व्यवस्था वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित है। वर्ण व्यवस्था का विवेचन हम पूर्व में कर चुके हैं। यह दोनों व्यवस्थायें—वर्ण और आश्रम, पूर्णतया वैज्ञानिक है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत इस बात का प्रयास किया गया है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्ण विभेदों के अनुसार सामाजिक संघर्षों से मुक्त होकर अपने-अपने कर्त्तव्य और अधिकारों का अबाध गति से निर्वाह करता रहे। भारतीय समाज और संस्कृति की इस विशेषता की प्रशंसा करते हुये डॉ. मदन मोहन शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति व साहित्य' में कहा है कि **"यह व्यवस्था न केवल समाज को अपितु राष्ट्र को भी पूर्ण सहयोग देती हुई विश्व में शांति स्थापित कराके असीम सुख का उपभोग कराने वाली एक मात्र सुन्दर व्यवस्था है।"**

प्राचीन भारतीय जीवन का चरम लक्ष्य धर्म के द्वारा मोक्ष प्राप्त करना था। हमारे मनीषियों ने जीवन के इस मर्म को समझ कर ऐसी व्यवस्था की जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म की यथोचित प्राप्ति कर मोक्ष मार्ग पर अग्रसर हो सके। इसके लिये मनुष्य के जीवन को चार भागों में विभाजित किया गया। यह विभाजन ही आश्रम व्यवस्था है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति अर्थ और काम के सहारे चरम लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त करता है। भारतीयों के पुरुषार्थ (धर्म, काम, अर्थ व मोक्ष) को आश्रम व्यवस्था द्वारा व्यक्त किया गया है। इसमें मनुष्य अर्थ व काम का उपभोग करते हुये मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। श्री के. एम. कपाडिया के अनुसार **"पुरुषार्थ के सिद्धान्त की वास्तविक अभिव्यक्ति आश्रमों की हिन्दू योजना में की गई है।"**

आश्रम व्यवस्था का दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आधार – हिन्दू व्यवस्थाकारों ने मानव के समग्र जीवन को सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने के लिये उसे आश्रमों में विभाजित किया है। भारतीयों के लिये लौकिक और पारलौकिक दोनों जीवन की महत्ता थी किन्तु वे पारलौकिक जीवन को अधिक महत्व देते थे। अतः हमारे विचारकों ने इस भावना का समाजशास्त्रीय व मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके जीवन के मूल कर्त्तव्यों को चार भागों में विभाजित किया। उनके विचारों में मानव जीवन कर्त्तव्य परायणता, बौद्धिकता, धार्मिकता और आध्यात्मिकता का मिश्रण है। अतः उन्होंने समग्र जीवन की व्याख्या की और जीवन का लक्ष्य जीना ही नहीं वलिक अर्थ व काम के उपभोग के साथ आदर्शात्मक आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करते हुये मोक्ष की ओर अग्रसर होना भी माना हैं। भारतीय दर्शन की इस मान्यता की प्रशंसा करते हुये डॉ. जयशंकर मिश्र ने कहा है कि **"इस दृष्टि से आश्रम व्यवस्था का दर्शन प्राचीन व्यवस्थाकारों के अद्वितीय ज्ञान और प्रज्ञा का प्रतीक है। इसका आधार ज्ञान कर्त्तव्य व आध्यात्म है।"**

मानव जीवन परिवर्तनों से परिपूर्ण हैं। जीवन को क्रमबद्धता, सुविचारित व्यवस्था तथा सुनिश्चित धार्मिकता प्रदान करना भारतीय दर्शन का मूल उद्देश्य रहा है। अतः मानव जीवन को सुनिश्चित और सुव्यवस्थित लक्ष्य तक पहुंचा देना आश्रम व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य है। इस व्यवस्था में मानव जीवन एक आश्रम से होता हुआ अन्तिम आश्रम तक पहुंच कर चरम लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

वस्तुतः आश्रम व्यवस्था मानव जीवन के विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति का मार्ग थी। प्राचीन भारत में जीवन का उद्देश्य चार पुरुषार्थों—धर्म, काम, अर्थ व मोक्ष में निहित माना जाता था। यह चार पुरुषार्थ चार आश्रमों के माध्यम से पूर्ण किये जाते थे। भारतीय विचारकों ने मानव जीवन को सौ वर्ष का मान कर उसे चार भागों में विभाजित किया जिन्हें चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम व सन्यास आश्रम की संज्ञा दी गई। इन चार आश्रमों में मनुष्य क्रमशः ज्ञान प्राप्ति, सांसारिक जीवन का उपभोग, संसार त्याग कर ईश्वर की आराधना व अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करता था।

आश्रम का अर्थ— **'आश्रम'** शब्द संस्कृत भाषा की **'श्रम'** धातु से लिया गया है। जिसका अर्थ है' **परिश्रम करना**। अतः आश्रम का अभिप्राय जीवन के उन विभिन्न स्तरों से है जहाँ मनुष्य परिश्रम करता है। भारतीय विचारकों ने सम्पूर्ण मानव जीवन को कर्मभूमि माना है।

आश्रम का शाब्दिक अर्थ विश्राम स्थल या पड़ाव होता है। हिन्दुओं के अनुसार जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है। इस लक्ष्य की प्राप्ति की लम्बी यात्रा में आश्रम विश्राम स्थल या पड़ाव के समान है। महाभारत के शांतिपर्व में वेद व्यास ने जीवन के चार आश्रमों या विश्राम स्थलों को चार डण्डों वाली एक सीढ़ी बताया है जो मनुष्य को ब्रह्म की ओर ले जाती है। श्री एच. पी. प्रभु के अनुसार—

"आश्रमों को जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिये मानव द्वारा की जाने वाली यात्रा के मध्य विश्राम स्थल मानना चाहिये।" धर्म और नीतिशास्त्र के विश्वकोष में जर्मन विद्वान पॉल डायसन ने आश्रम के दो अर्थ बताये हैं—(1) परिश्रम करना (2) वह स्थान जहाँ परिश्रम किया जाय। इस प्रकार आश्रम का एक अन्य अर्थ एक स्थान से भी लिया जाता है जिस स्थान पर परिश्रम किया जाय वह स्थान भी आश्रम कहा जाता है।

आश्रम-व्यवस्था का उद्भव व विकास

प्राचीन भारतीय समाज में आश्रम-व्यवस्था का उद्भव कब हुआ ? इस सम्बन्ध में इतिहासकारों और सामाजिक विचारकों में पर्याप्त मतभेद है। अधिकांश

विद्वानों की मान्यता है कि उत्तर वैदिक युग आश्रम व्यवस्था का उद्भव काल है। किन्तु रीज डेविड्स आदि विचारकों का मत है इस व्यवस्था का प्रचलन बुद्ध युग के बाद हुआ। इनका तर्क यह है कि बौद्धों के पिटक साहित्य और उपनिषदों में चार आश्रमों के नाम नहीं मिलते। किन्तु यह मत भ्रान्तिपूर्ण है क्योंकि प्राचीन भारतीय साहित्य के गहन अनुशीलन से स्पष्ट हो चुका है कि आश्रम व्यवस्था का उद्भव उत्तर वैदिककाल में हो चुका था। ऋग्वेद में भी आश्रम व्यवस्था सम्बन्धी शब्द मिलते हैं। सर्वप्रथम जाबालोपनिषद में चार आश्रमों का उल्लेख हुआ है। उपनिषदों में भी आश्रमों का उल्लेख हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में भी आश्रम व्यवस्था का उल्लेख हुआ है। अतः आश्रम व्यवस्था का उद्भव उत्तर वैदिककालीन माना जा सकता है। उपनिषद काल में आश्रम व्यवस्था के निर्माण की प्रक्रिया चल रही थी जो सूत्र काल में पूर्ण हुई।

सूत्रकाल तक आश्रम व्यवस्था पूर्णरूप से संगठित व प्रतिष्ठित हो चुकी थी। स्मृतिकाल में इसका पूर्ण विकास हुआ और उसके विभिन्न आचारों व नियमों की व्याख्या हुई। महाभारत व पुराणों में इसका उद्भव ब्रह्मा से बता कर इसे दैवीय स्वरूप दिया गया। बौधायन धर्मसूत्र में प्रहलाद के पुत्र कपिल को इसका जनक माना गया है। वायु पुराण में आश्रम व्यवस्था का पालन करने वाले को पुण्य का और निरादर करने वालों को पाप तथा नरक का भागी बताया गया है।

आश्रमों की संख्या

छान्दोग्य उपनिषद व मनुस्मृति में आश्रमों की संख्या तीन बताई गई है परन्तु अधिकाँश प्राचीन साहित्य में आश्रमों की संख्या चार ही बताई गई है। गौतम, आश्वालायन और विष्णु धर्मसूत्रों तथा महाभारत में चार आश्रमों का उल्लेख है। पतञ्जलि ने 'चातुराश्रम्य' कहकर आश्रमों की संख्या चार ही मानी है। मनु ने भी बाद में आश्रमों की संख्या चार ही बताई है।

आश्रमों के प्रकार—मानव जीवन को व्यवस्थित करने के लिये जिन चार आश्रमों की व्यवस्था की गई उनके नाम इस प्रकार हैं—

(1) ब्रह्मचर्य आश्रम

(2) गृहस्थ आश्रम

(3) वानप्रस्थ आश्रम

(4) सन्यास आश्रम-मनु ने इस आश्रम को 'यति' और बौधायन ने 'परिव्राजक' की संज्ञा दी है।

1. ब्रह्मचर्य आश्रम—आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत प्रथम आश्रम है-ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्य दो शब्दों का युग्म है— 'ब्रह्म' और 'चर्य'। ब्रह्म का अर्थ है ज्ञान और चर्य का अर्थ है विचरण करना। इन दोनों का सम्मिलित अर्थ हुआ ज्ञान में विचरण करना या ज्ञान के मार्ग पर चलना। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ब्रह्मचर्य आश्रम मनुष्य के बौद्धिक व शिक्षित जीवन के निमित्त था। विद्या व शिक्षा की प्राप्ति इसी आश्रम के अन्तर्गत होती थी।

प्रारम्भ—ब्रह्मचर्य आश्रम का आरम्भ उपनयन (यज्ञोपतीत) संस्कार के सम्पन्न होने से होता था। उपनयन संस्कार बालक की विद्यारम्भ का प्रतीक है। जैसा कि उपनयन शब्द के अर्थ से स्पष्ट है। 'उप' का अर्थ है समीप और 'नयन' का अर्थ है ले जाना। इसका तात्पर्य है वह संस्कार जो व्यक्ति को गुरु के समीप ले जाता है। यह संस्कार शूद्रों के लिये वर्जित था। उपनयन को यज्ञोपवीत भी कहा जाता है क्योंकि इस संस्कार के बाद ब्रह्मचारी यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण करने लगता है। मनु ने द्विज वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के उपनयन के लिये पृथक-पृथक आयु, ऋतुयें व यज्ञोपवीत बताये हैं। सूत्रकाल तक द्विज वर्ण की स्त्रियों को भी उपनयनतथाशिक्षा प्राप्ति का अधिकार था।

वेशभूषा—ब्रह्मचारी की वेशभूषा के बारे में वायु पुराण में कहा गया है कि ब्रह्मचारी दण्ड व मेखला धारण करें। यज्ञोपवीत धारण करना प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिये आवश्यक थाजोप्रत्येक वर्ण के लिये पृथक-पृथक था। उत्तरीय (ऊर्ध्ववस्त्र) तथा वास (अधोवस्त्र) भी ब्रह्मचारी धारण करता था।

विद्यार्जन—भारतीय व्यवस्थाकारों ने गुरु के सानिध्य में रहकर विद्यार्जन की बात कही है। प्रायः विद्यार्थी गुरुगृह (गुरुकुल) में रहकर ही विद्या का उपार्जन करता था। गुरुकुल का वातावरण अत्यन्त शान्तऔरगौरवपूर्ण होता था। श्रद्धा, सेवा, संयम व आज्ञाकारिता से परिपूर्ण छात्र गुरुकुल में रहकर वेद, वेदांग आदि विषयों का अध्ययन करता था।

विद्यार्थी का जीवन—ब्रह्मचर्य आश्रम भावी जीवन की आधारशिला है। अतः हमारे व्यवस्थाकारों ने विद्यार्थी की दिनचर्या के सम्बन्ध में अनेक व्यवस्थायें दी हैं। महाभारत के अनुसार ब्रह्मचर्य आश्रम में ब्रह्मचारी को आन्तरिक एवं बाह्य शुद्धि व वेदव्रत का पालन करते हुए अपने मन को नियन्त्रित करना चाहिए। शान्तिपर्व के अनुसार प्रातः जल्दी उठना, सूर्योपासना, गुरुनमन, वेदाध्ययन, भिक्षार्जन, गुरु की आज्ञापालन, गुरु सेवा आदि ब्रह्मचारी के दैनिक जीवन के आदर्श हैं।

स्मृति ग्रन्थों में विद्यार्थी के लिए जो अनुशासन के नियम बताये गये उनसे सिद्ध होता है कि ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्यार्थी का जीवन अत्यन्त कठोर था।

सच्चरित्रता व सदाचरण का पालन ब्रह्मचर्य की अनुपम साधना थी। इच्छा नियन्त्रण और अपनी क्रियाओं को धर्म समन्वित करना उसका श्रेष्ठ आचरण था। इन्द्रिय संयम, मन, वचन तथा कर्म की पवित्रता, सन्तोष, स्वाध्याय और ईश्वराराधन उसके मानसिक विकास के हेतु थे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (संग्रह न करना) आदि नियमों के पालन से उसका आत्मिक विकास होता था।

ब्रह्मचारी के लिए निषेधात्मक कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में मनुस्मृति में लिखा है कि "मधु, मांस, गन्ध (सुगन्ध), माल्य (माला), स्त्री कामना, स्त्री स्पर्श, प्राणी हिंसा, आँखों में अन्जन (काजल), जूता पहनना, छत्रधारण करना, क्रोध, लोभ, नृत्य, संगीत, द्यूत (जुआ), परनिन्दा, असत्य और कामुक प्रवृति ब्रह्मचारी के लिये वर्जित है।"

ब्रह्मचर्य आश्रम की अवधि—सामान्यतया 25 वर्ष की आयु में ब्रह्मचर्य आश्रम पूर्ण हो जाता था। मनु के अनुसार ब्रह्मचारी को विद्याध्ययन के लिये गुरु के पास 36 वर्ष, 18 वर्ष या 9 वर्ष अथवा वेद का अध्ययन पूर्ण होने तक रहना चाहिए। शिक्षा समाप्ति के बाद ब्रह्मचारी गुरु की आज्ञा से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था।

ब्रह्मचारी के प्रकार—गुरुकुल में रहकर शिक्षा प्राप्त करने वाले ब्रह्मचारी कई प्रकार के होते थे। उन्हें आचरण, व्यवहार और योग्यता के अनुसार उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ कहा जाता था। गुरु दक्षिणा देकर गुरु आज्ञा से घर जाने वाले स्नातक (दीक्षित) तीन प्रकार के होते थे—वेद स्नातक, व्रतस्नातक और वेदव्रत स्नातक। विवाह के पूर्व तक गुरुकुल में रहने वाले विद्यार्थी 'उपकुर्वाण' कहलाते थे।

ब्रह्मचर्य आश्रम का महत्व—प्राचीन भारतीय सामाजिक जीवन में ब्रह्मचर्य आश्रम को मानव समाज रूपी भवन की आधारशिला माना जाता था। सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य में इसकी अनिवार्यता पर जोर दिया गया है। स्मृति ग्रन्थों में स्पष्ट कहा गया है कि जिस द्विज वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) ने ब्रह्मचर्य आश्रम व्यतीत नहीं किया उसे धर्मच्युत और वर्णभ्रष्ट समझना चाहिए। उसके लिए यज्ञ कराना, उसका धन स्वीकार करना और किसी भी प्रकार का सम्बन्ध बनाना निषिद्ध माना गया है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में शिक्षा के महत्व को भली प्रकार समझा गया था।

ब्रह्मचर्य आश्रम व्यक्ति की मानसिक, चारित्रिक और आध्यात्मिक उन्नति का हेतु था। शिक्षा उसके मानसिक विकास में सहायक होती थी। संयम और अनुशासन

के अभ्यास से व्यक्ति का भावी जीवन सुनियोजित होता था। ब्रह्मचर्य (इन्द्रिय संयम) सच्चरित्रत व्यक्ति की तामसी प्रवृत्तियों और अमित इन्द्रियों का दमन करती थी। इस प्रकार ब्रह्मचर्य आश्रम का उद्देश्य व्यक्ति को जीवन यात्रा सफलता पूर्वक पूरी करने में सक्षम बनाना था। जिसके आधार पर जीवन यापन करके व्यक्ति जीवन के परम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर सकता था।

2. **गृहस्थ आश्रम**—प्रायः 25 वर्ष की आयु में ब्रह्मचर्य आश्रम के पूर्ण होने पर समावर्तन (शिक्षा समाप्ति) संस्कार के पश्चात् गृहस्थ आश्रम आरम्भ होता है। विवाह के बाद व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है। प्राचीन साहित्य में गृहस्थ आश्रम को अन्य समस्त आश्रमों से श्रेष्ठ माना गया है। मनु ने लिखा है कि जिस प्रकार वायु का आश्रय लेकर सभी प्राणी जीते हैं। उसी प्रकार गृहस्थ आश्रम का आश्रय लेकर सब आश्रम व्यवहार करते हैं। इसलिए गृहस्थ आश्रम श्रेष्ठ है। व्यास स्मृति के अनुसार गृहस्थ आश्रम का अनुसरण करने वाले व्यक्ति को गृह में ही विभिन्न तीर्थों का पुण्य मिल जाता है। महाभारत में भी गृहस्थ आश्रम की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार माता का आश्रय पाकर सब प्राणी जीवित रहते हैं उसी प्रकार गृहस्थ के आधार पर अन्य आश्रम। अतः गृहस्थ आश्रम उत्कृष्ट है। आचार्य शुक्र ने भी गृहस्थ आश्रम को अनिवार्य माना है। मनु ने गृहस्थ आश्रम को त्याग कर संन्यास ग्रहण करने वालों की निन्दा की है।

गृहस्थ के कर्त्तव्य—गृहस्थ आश्रम में व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक व आर्थिक उन्नति के लिए विभिन्न प्रकार के कर्त्तव्यों का पालन करता था। सत्य, अहिंसा, प्राणी मात्र के प्रति दया, दान, आदि गृहस्थ के आदर्श कर्म माने गये हैं। मनु के अनुसार गृहस्थ के लिए धृति, क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी न करना), शौच (पवित्रता) इन्द्रिय निग्रह, ज्ञान, विद्या, सत्य और क्रोध त्याग—इन दस धर्मों का पालन करना आवश्यक था। वायु पुराण में अपने समान गुण, कर्म व स्वभाव वाली स्त्री के साथ यज्ञ करना, ऋषि और पितरों (पूर्वजों) की सेवा, अतिथि सत्कार व सन्तानोत्पत्ति गृहस्थ के कर्त्तव्य बताये गये हैं।

गृहस्थ को अपने परिवार के जीवन यापन के लिए धर्मानुसार धन अर्जन के निर्देश दिए गए हैं। परिवार का पालन-पोषण गृहस्थ का प्रथम कर्त्तव्य माना गया है। इस कर्त्तव्य का भली प्रकार निर्वाह करने वाले गृहस्थ की धर्मशास्त्रों में प्रशंसा की गई है। अपने परिवार का पालन करने के साथ-साथ अतिथि सत्कार भी गृहस्थ जीवन का आदर्श माना गया है। मनु ने कहा है कि यदि कोई गृहस्थ अतिथि का समुचित आदर नहीं करता अथवा उसे असन्तुष्ट लौटाता है तो उस गृहस्थ के सभी संचित पुण्य नष्ट हो जाते हैं।

ऋणों से मुक्ति—धर्मशास्त्रों के अनुसार मनुष्य जन्म लेने के साथ ही देवताओं, ऋषियों और मनुष्य के प्रति ऋणी हो जाता है। इन ऋणों से मुक्ति प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का अनिवार्य कर्त्तव्य माना गया है। सभी व्यवस्थाकारों ने देवऋण, ऋषिऋण व पितृऋण की चर्चा की है। गृहस्थ आश्रम में व्यक्ति इन ऋणों से मुक्ति प्राप्त करता है। मनु ने भी व्यक्ति को इन तीन ऋणों से मुक्त होकर मन को मोक्ष में लगाने की बात कही है। मनु स्मृति और महाभारत आदि ग्रन्थों में वेदाध्ययन, पुत्रोत्पत्ति और यज्ञों के अनुष्ठान द्वारा क्रमशः देवऋण, पितृऋण और ऋषि ऋण से मुक्त होने की बात कही गई है। मनुष्य पर देवी-देवताओं की असीम अनुकम्पा रही है। इस अनुकम्पा को देवऋण माना गया है। व्यक्ति विधिपूर्वक वेदों का अध्ययन कर देव ऋण से, धर्मानुसार पुत्र उत्पन्न करके पितृऋण से तथा नियमपूर्वक यज्ञों का अनुष्ठान करने ऋषिऋण से मुक्त हो सकता है। मनु ने इन ऋणों से मुक्ति पाये बिना मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति को नरक का भागी माना है। डॉ. जयशंकर मिश्र के अनुसार—"**इन ऋणों से मुक्ति के मूल में यह भाव था कि समाज से लाभ उठाने वाले व्यक्ति अपने देवों, पितरों—(पूर्वजों) ऋषियों आदि के प्रति श्रद्धावनत तथा विनीत रहें और कुल व समाज के प्रति उदारता का दृष्टिकोण रखें।**"

पंच महायज्ञ—व्यक्ति के लौकिक व पारलौकिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए हमारे शास्त्रकारों ने गृहस्थ के दैनिक कार्यक्रमों में पंच महायज्ञों को करना आवश्यक बताया है। इन पंच महायज्ञों का मुख्य प्रयोजन गृहस्थ को नित्य ईश्वर भक्ति, स्वाध्याय, ऋषियों के प्रति श्रद्धा, पूर्वजों का स्मरण रखने आदि के लिए प्रेरित करना था। ये पाँच महायज्ञ इस प्रकार थे—

(1) ब्रह्म यज्ञ
(2) देव यज्ञ
(3) भूत यज्ञ
(4) पितृ यज्ञ
(5) मनुष्य यज्ञ

(1) **ब्रह्मयज्ञ**—इसका सर्वप्रथम उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में किया गया है। ब्रह्म यज्ञ को असीम फलदाता बताया गया है। यह स्वाध्याय की महत्ता का सूचक है। इस यज्ञ में वेदों के अतिरिक्त वेदांग, इतिहास आदि का अध्ययन किया जाता था। ब्रह्म यज्ञ का मुख्य प्रयोजन गृहस्थ को इतिहास, पुराण व वेदाध्ययन आदि में प्रवृत्त करना व वैदिक साहित्य की परम्परा को सुरक्षित रखकर आगे बढ़ाना था। इसी स्वाध्याय के कारण वैदिक साहित्य कण्ठस्थ होकर हजारों वर्ष तक सुरक्षित रहा।

(2) देव यज्ञ—देवताओं के प्रति श्रद्धापूर्वक आहुतियाँ प्रदान करना देव यज्ञ है। वैदिक यज्ञ अत्यन्त व्यय साध्य व आडम्बर पूर्ण थे जो प्रत्येक गृहस्थ द्वारा

किया जाना सम्भव नहीं था। अतः देवताओं के प्रति श्रद्धा व भक्ति प्रकट करने का यह सरल माध्यम था।

(3) **भूतयज्ञ**—घर में प्रतिदिन प्रयोग में लिये जाने वाले अन्न में से भूतों के लिये जो वलि (हिस्सा) निकाला जाता है। उसे भूतयज्ञ कहा जाता है। यह यज्ञ सम्पूर्ण प्राणी मात्र के प्रति उदारता और सहिष्णुता का प्रतीक था। भारतीयों का आदर्श त्यागपूर्ण उपभोग है। यह यज्ञ इसी त्याग भावना का प्रतीक है।

(4) **पितृयज्ञ**—मृत पितरों (पूर्वजों) के प्रति विभिन्न प्रकार से सम्मान प्रकट करना पितृ यज्ञ है। यह सम्मान तीन प्रकार से प्रकट किया जाता था—(1) जल तर्पण द्वारा, (2) वलि प्रदान करके, (3) प्रतिदिन एक ब्राह्मण को भोजन प्रदान करके।

(5) मनुष्य यज्ञ—मनुष्य यज्ञ को 'नृ' यज्ञ भी कहा जाता है। अतिथियों का सम्मान करना मनुष्य यज्ञ है। प्राचीनकाल से ही 'अतिथि देवो भव' कहकर अतिथि को देवसम सम्माननीय माना गया है। अथर्ववेद के अनुसार अतिथि को भोजन कराने से गृहस्थ के पापों का नाश होता है। परवर्ती स्मृतिकारों ने भी इसी प्रकार के मत प्रकट किये हैं। पाराशर ने अतिथि सम्मान को स्वर्ग जाने का माध्यम माना है। महाभारत में आतिथ्य सत्कार और उसके गुणों की विभिन्न कथायें दी गई हैं।

3. **वानप्रस्थ आश्रम**—गृहस्थ आश्रम को पूर्ण करके व्यक्ति तीसरे आश्रम—वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। वानप्रस्थ का तात्पर्य है वन की ओर प्रस्थान करना। गृहस्थ आश्रम में व्यक्ति को तीन पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ व काम की प्राप्ति हो जाती है। परन्तु जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष (चतुर्थ पुरुषार्थ) की प्राप्ति है। अतः अपने गृहस्थ आश्रम के समस्त कर्त्तव्यों व उत्तरदायित्वों को पूरा कर लेने के बाद व्यक्ति वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता है। इस आश्रम में रहकर व्यक्ति सांसारिक इच्छाओं, कामनाओं व लोभ का परित्याग कर मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। इस आश्रम में गृह त्याग कर वन में रहने की व्यवस्था है। वानप्रस्थ के सम्वन्ध में मनु की मान्यता है कि जव मनुष्य के सिर के वाल सफेद होने लगे, शरीर पर झुर्रियां पड़ने लगे और उसके पौत्र हो जाय तव वह वानप्रस्थी होकर वन की ओर चल दे। प्रत्येक द्विज के लिये वानप्रस्थ अनिवार्य था। वानप्रस्थ जीवन का पालन न करने वाले द्विज को मनु ने पापकर्मा कहा है।

उद्देश्य—वानप्रस्थ आश्रम का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास करना और उसे सांसारिक वन्धनों से मुक्त कराना था। शरीर की शुद्धि और तपस्या के लिए वानप्रस्थ आश्रम आवश्यक था। वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति त्याग व तपस्या द्वारा ज्ञानार्जन करता था।

जीवन व कर्त्तव्य—वानप्रस्थी का जीवन कठोर तपऔरसाधना से परिपूर्ण था। वायु पुराण के अनुसार "वानप्रस्थी वल्कल अथवा मृगचर्म धारण करे, धान्य, कन्दमूल और फलों का भक्षण करें, दोनों समय स्नान करे तथा परमात्मा का चिन्तन करते हुए प्रातः और सांय अग्निहोत्र करे।" मनु ने वानप्रस्थी को सदैव वेदाध्ययन करने, शीत-ग्रीष्म, सुख-दुःख, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को सहन करने, सबसे मैत्रीभाव रखने, मन को नियन्त्रित रखने, दानशील बनने औरप्राणी मात्र पर दया-भाव रखने का निर्देश दिया है।

वानप्रस्थ आश्रम के कर्त्तव्यों में पंच महायज्ञों के सम्पादन पर विशेष बल दिया गया है। मनु के अनुसार वानप्रस्थी अपने पास उपलब्ध भोजन से ही पंच महायज्ञ पूर्ण करे, दान दें व अतिथि सत्कार करे। सांसारिकता और भौतिकता का पूर्ण परित्याग वानप्रस्थ का मुख्य लक्ष्य है। अतः गौतम ने वानप्रस्थी को वन सुलभ चर्म और वृक्ष के छाल से अपने वस्त्र बनाने की सलाह दी है। वानप्रस्थी के लिए गाँव में प्रवेश वर्जित था। अहिंसा, सत्य, संयम, अपरिग्रह उसके प्रमुख कर्त्तव्य थे।

महत्व—वानप्रस्थ आश्रम का कठोर तपऔरसाधना का जीवन मोक्ष मार्ग का दिग्दर्शक था। इस आश्रम में व्यक्ति कठोर व्यवस्थाओं और नियमबद्ध कर्त्तव्यों द्वारा अपने चरित्र एवं व्यक्तित्व को परिष्कृत करता था। जिससे उसके तपशील, विनयशील, क्षमाशील, दानशील व आचरणशील व्यक्तित्व का निर्माण होता था। यह समस्त गुण उसे जीवन के चरम लक्ष्य-मोक्ष की ओर अग्रसर करते थे।

4. संन्यास आश्रम—जीवन के अन्तिम चरण को चतुर्थ आश्रम अर्थात् संन्यास आश्रम के अन्तर्गत रखा गया है। संन्यास का तात्पर्य है 'पूर्ण त्याग'। 25 वर्ष तक वानप्रस्थ आश्रम में आत्म संयमपूर्ण जीवन व्यतीत कर 75 वर्ष की आयु में व्यक्ति संन्यास आश्रम में प्रवेश करता था। इस सम्बन्ध में मनु ने लिखा है कि "आयु के तृतीय भाग को यथोक्त रीति से वन में पूर्ण कर आयु के चतुर्थ भाग में सभी संगों को त्याग कर व्यक्ति परिव्राज्य या संन्यासी हो जाये।"

धर्मशास्त्रों के अनुसार संन्यास आश्रम में प्रवेश करने के पूर्व व्यक्ति को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि "आज से मैंने पुत्र विषयक, धन विषयक तथा लोक विषयक आतुरता व कामना का सर्वथा परित्याग कर दिया है।" इस प्रकार संन्यासी सब प्रकार की विषय वासनाओं का परित्याग करके मोक्ष प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर होता था।

संन्यासी का जीवन—संन्यास आश्रम का मुख्य उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है। इस आश्रम में व्यक्ति संसार से पूर्णरूपेण निर्लिप्त होकर मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहता है। मोक्ष प्राप्ति के लिए अत्यन्त साधना व तपस्या आवश्यक है।

महाभारत के अनुसार अग्नि, धन, पत्नी व पुत्र के प्रति अनासक्ति, वस्त्र, आसन शैय्या आदि सुख साधनों का त्याग और निरन्तर भ्रमण संन्यासी के प्रमुख कर्त्तव्य हैं। मनु ने संन्यासी के लिए एकांकी निरपेक्ष जीवन का निर्देश दिया है। सांसारिक वस्तुओं से अनासक्त होने पर ही उसे मोक्ष की प्राप्ति हो सकती थी।

मनु ने संन्यासी के लिये दस कर्त्तव्य बताये हैं जो इस प्रकार हैं—(1) भिक्षा द्वारा भोजन प्राप्त करना, (2) अस्तेय (चोरी न करना), (3) बाह्य व आन्तरिक पवित्रता, (4) प्रमाद रहित, (5) ब्रह्मचर्य (इन्द्रिय संयम) का पालन, (6) दया, (7) सब प्राणियों के प्रति क्षमा भाव, (8) क्रोध न करना, (9) गुरु सेवा, (10) सत्य भाषण। संन्यासी के दैनिक जीवन के सम्बन्ध में मनु ने कहा है कि संन्यासी को अपने ऊपर सब प्रकार का संयम रखना चाहिये। उसे नीची दृष्टि करके चलना चाहिये। मनु ने गृहहीनता, लौकिक अग्नि से रहितता, स्थिरचित्त व ब्रह्म चिन्तन में लीनता संन्यासी के आवश्यक गुण माने हैं। निरन्तर भ्रमणशीलता संन्यासी का प्रधान गुण था। किसी ग्राम में एक रात्रि व नगर में पाँच रात्रि से अधिक ठहरना संन्यासी के लिये निषिद्ध बताया गया है। संन्यासी के लिये जितेन्द्रिय होना अति आवश्यक था क्योंकि जितेन्द्रिय व्यक्ति ही विशुद्ध व सात्विक आचरण करने में समर्थ होता है।

प्राचीन भारत में संन्यास का प्रचलन ब्राह्मणों में ही अधिक था। महाकाव्यों में क्षत्रिय व वैश्य संन्यासियों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। पुराण काल में अन्य वर्ण भी संन्यास ग्रहण करने लगे थे। किन्तु ऐसे उदाहरण काफी कम है। राजा मित्र ज्योति व नहुष के पुत्रों ने संन्यास आश्रम का अनुसरण किया था। मध्यकालीन मुस्लिम लेखकों सुलेमान व अलबरूनी ने भी अपने ग्रन्थों में भारतीय संन्यासियों के जीवन का उल्लेख किया है।

चारों आश्रमों का सापेक्षिक सम्बन्ध— भारतीय समाज व्यवस्था में निर्देशित चार आश्रम मानव जीवन के चार चरणों के प्रतीक हैं। इन चारों आश्रमों में सापेक्षिक सम्बन्ध है। एक आश्रम का परित्याग करने पर दूसरे का समुचित विकास सम्भव नहीं था। ब्रह्मचर्य आश्रम की धर्म साधना के बिना गृहस्थ जीवन का अर्थ व काम का क्षेत्र पूर्ण होना असम्भव था। गृहस्थ जीवन में अर्थ व काम की पूर्ति के अभाव में व्यक्ति का सन्तुष्ट होना असम्भव था और इस सन्तुष्टि के अभाव में वानप्रस्थ आश्रम के धर्म इन्द्रिय संयम का पालन सम्भव नहीं था। इसी प्रकार वानप्रस्थ आश्रम में अपने चरित्र व व्यक्तित्व को परिष्कृत करने के अभाव में वह संन्यास के योग्य नहीं माना जाता था। इस प्रकार चारों आश्रमों का सापेक्षिक महत्व है।

आश्रम व्यवस्था का महत्व—प्राचीन भारतीय आश्रम व्यवस्था व्यष्टि व समष्टि दोनों के लिए अत्यन्त उपयोगी व आदर्श व्यवस्था थी। वह व्यवस्था व्यक्ति व समाज दोनों के लिये हितकारी थी।

आश्रम व्यवस्था व्यक्ति को आत्म-नियन्त्रण, आत्म-संयम, क्षमा, तथाइन्द्रिय निग्रह आदि की शिक्षा देती थी। इन गुणों का विकास आश्रम व्यवस्था के पालन से ही सम्भव था। व्यक्ति के लिए आश्रम व्यवस्था का सर्वाधिक महत्व इस बात से है कि यह व्यवस्था उसे चार पुरुषार्थों- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्ति के लिए धरातल प्रदान करती थी। प्राचीन भारत में मानव जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना था। इस लक्ष्य की प्राप्ति आश्रम व्यवस्था के पालन से ही सम्भव थी।

आश्रम व्यवस्था समाज के लिये भी उपयोगी सिद्ध हुई। इस व्यवस्था द्वारा व्यक्ति के जीवन को विभिन्न आश्रमों में विभाजित कर दिया गया जिससे समाज सुचारु रूप से चलता रहा और समाज में संघर्ष नहीं हुआ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्राचीन भारतीय आश्रम व्यवस्था आर्यों के मस्तिष्क की अनुपम कृति थी। आश्रम व्यवस्था मानव जीवन के विभिन्न चरणों की एक वैज्ञानिक श्रृंखला है जिसका उद्देश्य व्यक्ति के जीवन को व्यवस्थित ढंग से निर्देशित व संचालित करना था। इस व्यवस्था का पालन करके ही आर्य संस्कृति अत्यधिक उन्नत व गौरवपूर्ण हो सकी है।

परिवार—मानव एक सामाजिक प्राणी है। उसके लिये एकाकी जीवन असम्भव है। मानव का विकास समाज में ही सम्भव है। परिवार समाज की मौलिक इकाई है। वास्तव में मानव सभ्यता व संस्कृति का शुभारम्भ पारिवारिक जीवन से ही हुआ है। प्रत्येक युग और काल में परिवार किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहा है। सभ्यता व संस्कृति के उत्थान के साथ साथ परिवार का भी उत्थान होता रहा है। मानव जाति का इतिहास ही परिवार का इतिहास है। समाज की प्रारम्भिक इकाई परिवार के अभाव में जगत व समाज की निरन्तरता असम्भव थी क्योंकि पारिवारिक व्यवस्था ही नई सन्तानों को जन्म देकर जगत व समाज में मृत्यु से हुई रिक्तता की पूर्ति करती है। समाजशास्त्रियों की मान्यता है कि मानव ने अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिये परिवार नामक संस्था का गठन किया है। इस संस्था ने मानव जाति को अमरता प्रदान की है। हरिदत्त वेदालंकार के अनुसार, "मनुष्य मरणधर्मा है, किन्तु मानव जाति अमर है। व्यक्ति उत्पन्न होते हैं, बचपन, यौवन व बुढ़ापे की अवस्था भोग कर मर जाते हैं परन्तु वंश परम्परा द्वारा उनका सन्तान क्रम अविच्छिन्न रूप से चलता रहता है। मृत्यु व अमरत्व दो विरोधी वस्तुयें हैं, किन्तु परिवार के द्वारा इन दोनों का सुन्दर समन्वय हुआ है। व्यक्ति भले ही मर जायें परन्तु परिवार और विवाह द्वारा मानव जाति अमर हो गई।"

परिवार का अर्थ व परिभाषा—

'परिवार' अंग्रेजी शब्द 'फेमेली' (Family) का हिन्दी रूपान्तरण है। प्रसिद्ध विद्वान इमलर ने अपनी पुस्तक 'Sociology of Family' में लिखा है कि अंग्रेजी शब्द फेमेली (Family) लैटिन भाषा के शब्द 'फेमुलस' (Famulus) से

बना है। इस लैटिन शब्द से ऐसे समूह का बोध होता है जिसमें माता-पिता, बच्चे, नौकर आदि सभी सम्मिलित होते हैं। परन्तु वह शाब्दिक अर्थ परिवार का पूर्ण अर्थ नहीं देता।

मानव एक सामाजिक व पारिवारिक प्राणी है। फिर भी 'परिवार' शब्द की पूर्ण व सर्वग्राही परिभाषा करना समाजशास्त्रियों के लिये एक चुनौती रहा है। बर्गेस और लॉक ने परिवार की परिभाषा करते हुये कहा है कि—"परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो विवाह, रक्त अथवा गोत्र के सूत्रों से एकीकृत है जो एक ही गृह में निवास करते हैं, जो पति व पत्नी, माता व पिता, पुत्र व पुत्री, भाई और बहिन के रूप में एक दूसरे से सम्बन्धित है तथा जिनसे एक समान संस्कृति का निर्माण व पोषण होता है।" मैकाइवर तथा पेज की दृष्टि में "परिवार यौन सम्बन्धों से बाधित एक ऐसा समूह है जिनका स्वरूप पर्याप्त स्थायी एवं दूरगामी हो जिससे बच्चों का समुचित रक्षण एवं पालन पोषण हो सके।"

इस प्रकार पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि ने परिवार की दो महत्वपूर्ण विशेषतायें हैं—

1. सदस्यों के निवास का एक ही आवास,
2. सदस्यों के रूप में पुरुष व स्त्री तथा उनसे उत्पन्न सन्तान।

परिवार की हिन्दू अवधारणा—

प्राचीन भारतीय समाज विज्ञान के मनीषियों ने भी भारतीय समाज में आदर्श पारिवारिक व्यवस्था की स्थापना की थी। वैदिक पारिवारिक व्यवस्था हमारी संस्कृति का प्राचीनतम अंग है। हमारे आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में पारिवारिक जीवन का विस्तृत उल्लेख प्राप्त है। उसके अनुसार माता-पिता, भाई-बहिन और वधू आदि परिवार के सदस्य थे। यजुर्वेद व अथर्ववेद में पिता, पितामह व प्रपितामह का उल्लेख किया गया है। इस आधार पर हरिदत्त वेदालंकार ने मत व्यक्त किया है कि **"वैदिक परिवार में प्रायः तीन पीढ़ी तक के प्राणी सम्मिलित होते थे"** प्राचीन भारतीय सामाजिक संगठन में पारिवारिक जीवन का आदर्श **"वसुधैव कुटुम्बकम्"** अर्थात् समस्त जगत हमारा परिवार है, माना गया था।

आधुनिक युग में कुटुम्ब के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला परिवार शब्द प्राचीन संस्कृत साहित्य में इस अर्थ में नहीं मिलता है। वैदिककाल में परिवार के लिये 'कुल' शब्द मिलता है। ऋग्वेद में एक बार व उत्तर वैदिक साहित्य में 'कुल' शब्द का अनेक बार प्रयोग किया गया है। 'कुल' का अर्थ है—'वास स्थान'। सम्भवतया 'वास' स्थान पर रहने वालों के लिये 'कुल' शब्द का प्रयोग होता था। पाश्चात्य

विद्वानों ने भी एक स्थान पर निवास करना परिवार की प्रमुख विशेषता माना है। डॉ. शिवराज शास्त्री ने अपनी पुस्तक "ऋग्वेदिक काल में पारिवारिक सम्बन्ध" में प्राचीन भारतीय साहित्य में प्रयुक्त परिवार शब्द के उद्धरणों को संकलित कर यह स्पष्ट किया है कि संस्कृत साहित्य से प्रयुक्त परिवार शब्द अनुयायी वर्ग, सेवक वर्ग व राज्य कर्मचारियों आदि के वर्ग के लिये प्रयुक्त हुआ है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि परिवार के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय विचारधारा पाश्चात्य विचारधारा से सर्वथा भिन्न है।

प्राचीन भारत में परिवार-प्रथा की उत्पत्ति—परिवार प्रथा मानव जाति के संरक्षण, संविधान तथा निरन्तरता बनाये रखने का हेतु है। मनुष्य मरण धर्मा है किन्तु मानव जाति अमर है। मनुष्य मर जाता है किन्तु उसका सन्तान क्रम अविछिन्न रूप से चलता रहता है। मृत्यु और अमरता परस्पर विरोधी हैं, किन्तु परिवार द्वारा इन दोनों का समन्वय हुआ है। व्यक्ति मर जाता है किन्तु परिवार अमर है।

मरणधर्मा मनुष्य को अमर बनाने वाली संस्था परिवार का उदय किस प्रकार व किन परिस्थितियों में हुआ? यह प्रश्न बड़ा जटिल है। यहाँ हम परिवार की उत्पत्ति के सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन न करके केवल प्राचीन भारतीय समाज में परिवार संस्था के उदय व विकास का विवेचन करेंगे।

परिवार की उत्पत्ति के सिद्धांत—प्राचीन भारत में परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से तीन सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। ये तीन सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

1. महाभारत सिद्धांत,
2. जीवशास्त्रीय सिद्धांत,
3. मनोवैज्ञानिक सिद्धांत।

1. महाभारत सिद्धान्त—विवाह प्रथा समाज और परिवार की रीढ़ है। महाभारत में कुछ ऐसे प्रसंग मिलते हैं जो इस बात की पुष्टि करते हैं कि अन्य देशों की भाँति भारत में भी विवाह संस्था का उदय स्वच्छन्द यौनाचार के कारण हुआ। ऐसी मान्यता है कि आदिकाल में स्त्री व पुरुषों को स्वच्छन्दता पूर्वक विचरण करने की स्वतन्त्रता थी। स्त्री-पुरुषों के मैथुन करने पर किसी प्रकार की रोक-टोक नहीं थी। यौन स्वतन्त्रता की इस स्थिति को कामाचार (Promiscuity) कहा जाता है। महाभारत के कुछ प्रसंगों के आधार पर विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि प्राचीन भारत में पहले कामाचार था और बाद में उसे नियन्त्रित करके विवाह का रूप दिया गया। महाभारत में इस कामाचार की समाप्ति तथा विवाह-प्रथा की स्थापना का श्रेय एक कथा में उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु को व अन्य कथा में

यह श्रेय उतथ्य ऋषि के पुत्र दीर्घतमा को दिया है। मर्यादित विवाह प्रथा ने परिवार व्यवस्था की नींव डाली।

महाभारत में वर्णित परिवार उत्पत्ति के उपर्युक्त कामाचार सिद्धांत का हरिदत्त वेदालंकार ने खण्डन किया है। उन्होंने महाभारत में वर्णित कथाओं को किंवदन्तियों पर आधारित, असंगत और अनैतिहासिक कहा है। महाभारत के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रन्थ में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। डारविन व वेस्टरमार्क आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी कामाचार सिद्धांत का खण्डन किया है।

2. **जीवशास्त्रीय सिद्धांत**—कुछ समाजशास्त्रियों ने परिवार संस्था की उत्पत्ति का मूल जीवशास्त्र में ढूंढने का प्रयत्न किया है। इस सिद्धांत के समर्थक विद्वानों की मान्यता है कि स्त्री व पुरुष के सम्बन्धों में स्थायित्व (विवाह-प्रथा) तथा परिवार का मूल कारण व्यक्ति की अपनी जाति को सुरक्षित रखने की चिन्ता है। स्तन जीवधारियों की देखरेख की अधिक आवश्यकता होती है। उनकी सन्तान भी निश्चित संख्या व दीर्घकाल में जन्म लेती है। गैर स्तनधारी जीवों में जीवों की उत्पत्ति अत्यधिक संख्या व शीघ्रता से होती है जैसे—मछली आदि को परिवार बनाने की आवश्यकता नहीं है। स्तनधारी अपनी जैवीय विशेषता के कारण समूह या परिवार में रहता है। गोरिल्ला, बन्दर, चिम्पेंजी आदि जंगली जानवरों में अपने बच्चों की रक्षा व पालन पोषण आदि बातें देखने को मिलती हैं। मानव भी स्तन धारी है। अतः उसने भी अपनी सन्तति को सुरक्षित रखने के लिए परिवार जैसी संस्था की नींव डाली।

3. **मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त**—मानव स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी है। समाज में उसका जन्म होता है, समाज में ही उसका पालन-पोषण होता है और अन्त में वह समाज में ही विलीन हो जाता है। एकांकी रहना मानव की प्रवृत्ति नहीं है। उसकी मानसिक प्रवृत्ति समूह में रहना है। मानव के इसी मनोविज्ञान ने उसे परिवार जैसी संस्था को जन्म देने के लिये प्रेरित किया होगा।

प्राचीन भारतीय परिवार का स्वरूप—प्राचीन भारतीय परिवार हमारी संस्कृति का गौरवपूर्ण अध्याय है। भारत में वैदिक युग से ही परिवार प्रथा प्रचलित रही है। ऋग्वेद में इस व्यवस्था का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद का कथन है कि पुत्र विवाह के बाद अपनी पत्नी व सन्तानों के साथ एक ही घर में रहते हैं। वैदिककालीन परिवार का स्वरूप संयुक्त परिवार व्यवस्था का था जिसमें पिता, पुत्र, पुत्र वधुयें, भाई, भाभियाँ व उनके पुत्र-पुत्री आदि सम्मिलित थे। इनका निवास, भोजन और आय-व्यय एक होता था। भारतीय परिवार पितृसत्तात्मक परिवार था। प्राचीन साहित्य में केवल पिता के पक्ष के पुरुष सम्बन्धियों का ही उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार संयुक्त हिन्दू परिवार में अग्रलिखित विशेषतायें प्रकट होती हैं—

1. पिता के साथ पुत्र तथा पौत्र अपने परिवार के साथ रहते हैं।

2. परिवार एक स्थान पर निवास करता हैं। उनका भोजन और धार्मिक कर्मकाण्ड सामूहिक रूप से होते हैं।

3. सम्पत्ति पर अधिकार और उपयोग सामूहिक तथा समान होता है।

4. परिवार के सब सदस्य मुखिया के आश्रित होते हैं।

डॉ. जयशंकर मिश्र के अनुसार प्राचीन भारतीय परिवार संस्था के तीन प्राथमिक कार्य थे—

1. स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्धों को विहित और नियमित करना।

2. सन्तानोत्पत्ति, पालन पोषण एवं संरक्षण करना।

3. गृहस्थ जीवन में स्त्री-पुरुष का सहवास और संयोजन करना।

प्राचीन भारतीय परिवार की विकास यात्रा—

प्राचीन भारतीय परिवार की व्यवस्थाओं व आदर्शों में आधुनिक युग तक अनेक परिवर्तन आ चुके हैं। इन परिवर्तनों के दौर में हमारी परिवार व्यवस्था ने काफी लम्बी यात्रा की है। यह विकास यात्रा पांच चरणों में पूर्ण हुई है। यह चरण निम्नलिखित हैं—

1. प्रथम चरण (पूर्व वैदिक युग)—इस युग में संयुक्त परिवार व्यवस्था की प्रचुरता मिलती है।

2. द्वितीय चरण (उत्तर वैदिक युग से 600 ई. पू. तक)—इस युग में संयुक्त परिवार प्रथा का विघटन आरम्भ हो गया था। पुत्र पिता की सम्पत्ति से अपने भाग की मांग करने लगे थे।

3. तृतीय चरण (600 ई.पू.से 600 ई. तक)—इस काल में संयुक्त परिवार के विघटन की प्रवृत्तियां अधिक प्रबल हो गई। संहिता व ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा पुत्र के बंटवारे के अधिकार को मान्यता दे दी गई। स्मृति ग्रन्थों में इसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की गई हैं।

4. चतुर्थ चरण—(600 ई. से मध्यकाल तक)—इस युग में पुनः संयुक्त परिवार प्रथा का आकर्षण बढ़ा और स्वअर्जित सम्पत्ति का महत्व समझा गया।

5. पंचम चरण (उत्तर मध्यकाल से आधुनिक काल तक)—इस युग में विघटनकारी प्रवृत्तियां प्रोत्साहित हुई। स्वर्जित सम्पत्ति को वैधानिक दर्जा मिला तथा पाश्चात्य प्रभाव ने पारिवारिक विघटन को प्रोत्साहन दिया।

परिवार में विभिन्न सदस्यों की स्थिति, अधिकार व कर्त्तव्य

पिता की स्थिति, अधिकार और कर्त्तव्य—

प्राचीन भारतीय परिवार का स्वरूप पितृसत्तात्मक था। अतः परिवार में पिता का स्थान सर्वोच्च था। पिता पूर्व वैदिक कालीन परिवार का अधिपति होता था। उसे गृहपति या गृहस्वामी कहा जाता था। वरिष्ठ सदस्य होने के नाते वह परिवार का संयोजक व व्यवस्थापक था। अतः वह अत्यन्त आदर व सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। परिवार के सभी सदस्यों व सम्पत्ति पर उसका पूर्ण अधिकार व स्वामित्व था। तैत्तिरीय उपनिषद में पिता को देव समान कहा गया है। महाभारत में पिता के महत्व के सम्बन्ध में कहा गया है कि **"पिता ही धर्म है, पिता ही स्वर्ग है, पिता परम तप है, पिता के प्रसन्न होने पर सब देवता प्रसन्न होते हैं।"** प्राचीन समाज में पिता की गरिमा सर्वोच्च थी। महाभारत में पिता को प्रथम गुरू कहा गया है। भाष्यकार मेधातिथि ने भी पिता को आचार्य स्वीकार किया है। आवश्यकता पड़ने पर पिता अपने पुत्र का औपचारिक शिक्षक भी हो सकता था। वृहदारण्य उपनिषद के अनुसार श्वेतकेतु, ने अपने पिता से वेद शिक्षा प्राप्त की थी। मनु ने पिता के महत्व को प्रतिपादित करते हुये कहा है कि माता-पिता सन्तान उत्पन्न करने में जो क्लेश सहते हैं उसका बदला 100 वर्ष में भी उनकी सन्तान नहीं दे सकती। इस प्रकार पिता परिवार में सर्वाधिक प्रतिष्ठित, आदृत और सम्मानित व्यक्ति होता था।

पिता के अधिकार—प्राचीन भारतीय परिवार में पिता को सर्वोच्च व्यक्ति होने के कारण अपने परिवार व पुत्र पर असीमित अधिकार प्राप्त थे। पिता के अधिकार निम्नलिखित थे—

(1) दण्ड देने का अधिकार—प्राचीनकाल में पिता प्रायः अपने परिवार व पुत्रों के प्रति सहृदय एवं उदार होते थे। किन्तु सन्तानों द्वारा अपराध किये जाने पर उन्हें दण्ड देने का अधिकार पिता का था। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद से विदित होता है कि ऋजाश्व को उसके पिता ने इसलिये अन्धा कर दिया था, क्योंकि उसने लापरवाही से 100 भेड़ें भेड़िये को खिला दी थी। मुज्यु आख्यान भी पिता के दण्ड के अधिकार को प्रमाणित करता है। प्राचीनकाल में पिता बहुधा पुत्रों को जुआ खेलने के कारण प्रताड़ित करता था। मनु ने भी बिगड़े हुये पुत्र को बेंत से प्रताड़ित करने का अधिकार पिता को दिया है। पिता द्वारा दण्ड देने के यह उदाहरण अपवाद अथवा अलंकरण के रूप में हैं।

(2) पुत्र को दान देने या विक्रय करने का अधिकार—प्राचीनकाल में पुत्र पर पिता का सर्वाधिक अधिकार माना जाता था। पुत्र का वह इच्छानुसार उपयोग कर

सकता था। यहाँ तक उसे बेच सकता था और दान दे सकता था। प्राचीन साहित्य में ऐसी कतिपय घटनाओं का उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण में ब्राह्मण अजीगर्त द्वारा अपने पुत्र शुनःशेप को 100 गायों के बदले राजा हरिश्चन्द्र को बेचने का उल्लेख है। कठोपनिषद में वाजश्रवा द्वारा अपने पुत्र नचिकेता को यमराज को दान देने का उल्लेख है। महाभारत में भी उल्लेख मिलता कि पृथा को उसके पिता शूर ने कुन्ती भोज को दान में दे दिया था। यह प्रमाण पिता के पुत्र पर असीमित अधिकार को प्रमाणित करते हैं।

उपर्युक्त वर्णन का यह अर्थ नहीं है कि पिता अपने अधिकारों का अनिवार्यतः प्रयोग करता था। ऋग्वेद में अनेक ऐसे मन्त्र है जो पिता-पुत्र के मधुर सम्बन्धों की अभिव्यक्ति करते हैं।

पिता के कर्त्तव्य—प्राचीन साहित्य में पिता के अधिकारों से भी अधिक उसके कर्त्तव्यों पर बल दिया गया हैं। परिवार के प्रति उसके निश्चित दायित्व थे। साहित्य में विनय, रक्षण व भरण पिता के कर्त्तव्य बताये गये है। ऋग्वेद में पिता त्राता, खाद्य सामग्री दाता और पोषक के रूप में उल्लेखित है। वस्तुतः पिता शब्द 'पा' (रक्षा करना) धातु से बना है। पिता के रक्षण कर्त्तव्य के सम्बन्ध में ऋग्वेद में अनेक मन्त्र हैं।

परिवार में माता का स्थान—हिन्दू परिवार में माता का स्थान अत्यन्त उच्च, गौरव और श्रद्धापूर्ण रहा हैं। वह पारिवारिक जीवन की अटूट कड़ी मानी गई है। कई अर्थों में माता को पिता से अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। सन्तान भी भावनात्मक रूप से माता से अधिक अपनत्व रखती है। माता भी पिता की तुलना में अपनी सन्तान से अधिक मोह रखती है। परिवार की संरचना में माता का अभूतपूर्व योगदान होता है।

हिन्दू परिवार में प्राचीनकाल से आज तक माता का जो उत्कृष्ट रूप रहा है वह ज्ञान व शरीरदात्री के रूप में है। माता सन्तान के जन्म, लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा और भरण-पोषण का केन्द्र बिन्दु है। ऋग्वेद में 'मातृ देवो भव' कहकर माता को देव समान माना गया है। अथर्ववेद में पुत्र को माता के मनोनुकूल होने का निर्देश दिया गया है। माता की प्रतिष्ठा व गरिमा अत्यन्त उच्च है इसीलिये व्यवहार में वह सदैव पिता के पूर्व उद्दृत हुई है यथा —माता-पिता, मां-बाप। धर्मसूत्रों में माता की प्रतिष्ठा व मर्यादा का विस्तृत उल्लेख किया गया है। गौतम धर्मसूत्र में माता को श्रेष्ठ गुरु कहा गया है क्योंकि सन्तान अपनी प्रारम्भिक शिक्षा माता से ही पाती है। महाभारत का कथन है कि आचार्य दस श्रोत्रियों से बढ़कर व पिता दस उपाध्यायों से अधिक महत्व रखता है किन्तु माता का महत्व दस पिताओं से बढ़कर है। अतः माता के अलावा कोई दूसरा गुरु नहीं है। वशिष्ठ ने भी ऐसा ही मत प्रकट किया है। स्मृतिकारों ने माता को 'परमगुरु' माना हैं। धर्मसूत्रों में माता की सेवा

सुश्रुषा व भरण-पोषण करना पुत्र का परम कर्त्तव्य माना गया है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में व्यभिचारिणी व कलंकनी होने पर भी माता का पोषण करना पुत्र के लिये आवश्यक बताया है। बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार पतित पिता को छोड़ा जा सकता है किन्तु पतित माँ नहीं छोड़ी जा सकती। महाभारत के अनुसार माता के समान शीतल छाया, आश्रय स्थान, रक्षा स्थान तथा प्रिय वस्तु और कोई भी नहीं है। माता शक्ति और प्रेरणा का स्रोत है। संजय की माता विदुला ने उसे ऐसा ही उत्साह प्रदान किया था। नारी को नरक कहने वाले विद्वान शंकर ने भी माता के रूप में नारी की प्रशंसा की है। परवर्ती संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थों में माता की महानता गरिमा व पवित्रता की चर्चा की गई है। परिवार में माता का पद अत्यन्त महिमामय और आदर्शात्मक रहा है।

परिवार में पति का स्थान

विवाह सम्बन्ध पारिवारिक जीवन का मूल आधार है। परिवार के निर्माण हेतु पति-पत्नी का होना आवश्यक है। प्राचीन भारत में वैदिककाल में विवाह संस्था स्थापित हो चुकी थी। वैदिककाल में पति और पत्नी को समान पद प्राप्त था। वैदिक काल में वह पत्नी का सखा (मित्र) था। पति-पत्नी के प्रत्येक कार्य में सहयोग देता था। पत्नी पति का आधा अंग मानी जाती थी। इस प्रकार पति-पत्नी को एक शरीर माना गया है। परन्तु परिवार में पति-पत्नी के समान अधिकार अधिक समय तक नहीं रहे। छठी शताब्दी ईसा पूर्व में आकर परिवार में पति के सम्मान और श्रेष्ठता में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। इस युग में अल्पवयस्क विवाहों, पत्नी के संरक्षण के भाव तथा आर्थिक दृष्टि से पति पर निर्भर रहने के कारण परिवार में पत्नी की श्रेष्ठता कम होने लगी थी। इस काल में पति अपनी पत्नी के ज्ञान वृद्धि में सहायक होने लगा था। अतः परिवार में पति समानता के स्तर से उठकर गुरु के स्तर पर पहुँच गया और परिवार में उसका सम्मान बढ़ने लगा। 200 ई. पू. के युग में पति प्रभावशाली और प्रभुतासम्पन्न हो गया। धीरे-धीरे पत्नी पर अनेक अधिकार और प्रतिबन्ध लागू कर दिये गये और परिवार में पति की एकछत्र प्रभुता स्थापित हो गई। इस युग में पति को देवता माना जाने लगा। रामायण में कहा गया है कि स्त्रियों के लिये पति देवता है। शंख व मनु ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। धर्मसूत्रों के विवरण के आधार पर परिवार में पति की स्थिति के बारे में हरिदत्त वेदालंकार ने कहा है कि "वह (पति) घर में वैसे ही है जैसे राष्ट्र में राजा।" इस प्रकार पति को परिवार में सम्मानीय और देवतुल्य स्थान पाने के लिये तीन अवस्थाओं से गुजरना पड़ा—

(1) सखा युग (वैदिक काल से 600 ई. पू. तक)

(2) गुरु युग (600 ई. पू. से 200 ई. पू. तक)

(3) देवता युग (200 ई. पू. से वर्तमान तक)

प्राचीन भारतीय हिन्दू परिवार में पति के अधिकार— उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वैदिक कालीन सखा रूप पति ने उत्तरोत्तर अपने प्रभाव और प्रभुता में वृद्धि करके परिवार में सम्राट का स्थान प्राप्त कर लिया। वह परिवार का सर्वोच्च सम्मानीय व प्रभुता सम्पन्न व्यक्ति बन गया। प्राचीन भारत में परिवार रूपी राज्य में सम्राट रूपी पति के निम्नलिखित अधिकार थे—

(1) पत्नी को दण्ड देने का अधिकार

(2) पत्नी को त्यागने व दूसरा विवाह करने का अधिकार

(3) पत्नी को दान, उधार व बेच देने का अधिकार

(1) पत्नी को दण्ड देने का अधिकार—प्राचीन भारत में पति को अपनी पत्नी को दण्ड देने का अधिकार प्राप्त था। परन्तु इस दण्ड के रूप में वह उसका वध नहीं कर सकता था। महाभारत के अनुसार पत्नी 'अवध्य' थी। दुष्चरित्र व आचरणहीन होने पर भी उसे मात्र प्रायश्चित ही करना पड़ता था। स्त्री वध को ब्रह्म हत्या और गौहत्या के समान माना गया था लेकिन शास्त्रकारों ने दुष्ट पत्नी को शारीरिक और वाकदण्ड देने का निर्देश दिया है। बृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है कि जो पत्नी पति की इच्छानुसार सहवास को तत्पर न हो तो पति उसे बंध्या होने का श्राप दे सकता है। कौटिल्य ने कहा है कि पत्नी को अनुशासन में रखने के लिये उसे कठोर वचन न कहे बल्कि पति बांस की पतली खपच्ची, रस्सी या हाथ से उसकी पीठ पर तीन प्रहार करें। मनु ने भी इसी मत का समर्थन किया है। महाभारत के रचनाकार ने इन दोनों मतों को नहीं माना है। मत्स्य पुराण में पत्नी को प्रताड़ित करने वाले पति को दण्ड का भागी माना है।

(2) पत्नी को त्यागने व दूसरा विवाह करने का अधिकार—प्राचीन भारत में पति को पत्नी की उपस्थिति में दूसरा विवाह करने व पत्नी को त्यागने का अधिकार था। मनु ने कहा कि यदि पत्नी वंध्या हो, विवाह के आठवें वर्ष में यदि सब सन्तानें मर जाती हो या सिर्फ पुत्रियाँ ही होती हो तो ग्यारहवें वर्ष में और पत्नी अप्रियवादिनी हो तो पति को तुरन्त दुसरा विवाह कर लेना चाहिये। कौटिल्य ने भी इसी मत की पुष्टि की है। यह अनुमति पुत्रकामना और धर्म पालन के लिये थी। स्मृति ग्रन्थों ने पहली सवर्णा पत्नी की उपस्थिति में दूसरी पत्नी लाने का विरोध किया है। हारीत ने गर्भ धारण न करने वाली, हीन वर्ण के पुरुष से सम्बन्ध रखने वाली शिष्य गामिनी, शराबी व धन का अपव्यय करने वाली स्त्री के त्याग का अधिकार पति को दिया है। बौधायन ने पति की सेवा न करने वाली स्वैरिणी तथा पतिघातिनी पत्नी के त्याग का अधिकार पति को दिया है।

(3) पत्नी को दान देने, उधार देने तथा बेच देने का अधिकार—प्राचीन भारतीय साहित्य में कुछ इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं जिससे प्रतीत होता है कि

हिन्दू परिवार में पति को अपनी पत्नी को दान में देने, उधार देने व बेचने का अधिकार प्राप्त था। महाभारत के अनुसार राजा नल ने अपनी पत्नी दमयन्ती को महर्षि वशिष्ठ को दान में दिया था। इसी प्रकार राजा कल्माषपाद और युवनाश्व ने अपनी पत्नियों का दान दिया था। महाभारत में युधिष्ठिर द्वारा द्रोपदी को जुआ में दांव पर लगाने से ऐसा विदित होता है कि महाभारत के काल में पत्नी को पति की सम्पत्ति समझा जाता था। स्मृतिकारों ने पत्नी को अदेय बताकर पति के उसे दान देने के अधिकार को अमान्य कर दिया। कौटिल्य ने ऋण लेने और चुकाने के लिये पत्नी को गिरवी रखने व वेचने की व्यवस्था दी है। बृहस्पति ने भी आपत्तिकाल में पति को पत्नी को वेचने का अधिकार दिया हैं।

पति के कर्त्तव्य—प्राचीन साहित्यकारों ने पति के अनेक अधिकारों के साथ-साथ उसके पत्नी के प्रति विभिन्न कर्त्तव्यों पर विशेष बल दिया है। शास्त्रों के अनुसार पति के पत्नी के प्रति निम्नलिखित कर्त्तव्य थे—

(1) भरण-पोषण सम्बन्धी कर्त्तव्य

(2) रक्षण सम्बन्धी कर्त्तव्य

(3) पत्नी से प्रेमपूर्ण व्यवहार

(4) एक पत्नीव्रत

(1) भरण-पोषण सम्बन्धी कर्त्तव्य—पत्नी का भरण-पोषण पति का प्रधान कर्त्तव्य माना गया है। पाणिग्रहण के प्रथम मन्त्र में ही पति पत्नी के पोषण की प्रतिज्ञा करता है। 'पति' और 'भर्ता' शब्द की व्युत्पत्ति ही पत्नी के भरण व पालन करने से हुई है। महाभारत के अनुसार पत्नी का भरण-पोषण न करने वाला पति 'पति' या 'भर्ता' नहीं है। मनु ने भी साध्वी स्त्री के भरण-पोषण की जिम्मेदारी पति की मानी है। भाष्यकारों ने तो दुराचारिणी और पतिद्वेषी पत्नीं का भरण-पोषण भी पति का कर्त्तव्य माना है। शास्त्रकारों ने भार्योपजीवी पतियों की निन्दा की है और नन्हें पापी माना है।

(2) रक्षण सम्बन्धी कर्त्तव्य—पति का यह कर्त्तव्य है कि वह संकट व आपत्ति के समय पत्नी की रक्षा करें। महाभारत में द्रोपदी कीचक प्रसंग में पत्नी रक्षण पति का प्रधान कर्त्तव्य बताया गया है। महाभारत में पत्नी रक्षा न करने वाले पुरुष को नरकगामी बताया गया है। बृहस्पति व याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार यदि पत्नी की रक्षा न की जाय तो वर्णसंकरता की आशंका रहती है।मनु का कथन हैं कि मनुष्य अपने चरित्र, कुल, आत्मा और धर्म की रक्षा के लिये पत्नी को रक्षा करता है।

(3) पत्नी से प्रेम-पूर्ण व्यवहार—प्राचीन भारत में पत्नी परिवार का सम्मानित अंग थी। महाभारत में पत्नी को पूजनीय, पुण्यशील और घर की शोभा कहा गया है। शास्त्रों का कथन है कि पत्नी सन्तान के जन्म, पालन-पोषण

व सांसारिक प्रीत का कारण होती है। अतः पति का कर्त्तव्य है कि उसे यथोचित सम्मान दें। महाभारत में निर्देश दिया गया है कि पति को पत्नी के साथ प्रेम-पूर्ण व्यवहार करना चाहिए। पत्नी को अपशब्द कहने वाला पति नरक का भागी माना गया है। मनु ने कहा है कि जहाँ नारियों की पूजा होती है वहाँ देवता निवास करते हैं।

धर्मशास्त्रकारों के अनुसार योग्य और उत्तरदायी पति वह है जो अपने दाम्पत्य जीवन को सुखमय व प्रेमपूर्ण बनाता है। व्यास का कथन है कि पत्नी से सहवास कर सन्तान उत्पन्न करना पति का प्रधान कर्त्तव्य है अन्यथा वह भ्रूण-हत्या का दोषी होता है। विश्वरूप ने भी इसी मत का समर्थन किया है।

(4) एक पत्नीव्रत—भारतीय शास्त्रकारों ने आदर्श परिवार के लिए एक पत्नीव्रत का पालन आवश्यक माना है। ऋग्वेद में एक पत्नीव्रत की प्रशंसा की गई है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार पति का यह कर्त्तव्य है कि धर्मयुक्त भार्या के होते हुए वह दूसरी स्त्री से विवाह न करें। नारद ने दूसरे विवाह को दण्डनीय माना है। सभी धर्मशास्त्रकारों ने एक पत्नीव्रत को पति का आदर्श कर्त्तव्य माना है।

परिवार में पत्नी का स्थान, अधिकार और कर्त्तव्य—भारतीय हिन्दू परिवार में पत्नी की अभूतपूर्व महत्ता रही है। वह परिवार के विकास का महत्त्वपूर्ण सेतु थी। ऋग्वेद में उसे घर की आत्मा, प्राण और साम्राज्ञी माना गया है। परिवार के सभी कार्यों में उसका सहयोग अनिवार्य था। महाभारत में पत्नी को पति की सर्वोच्च सखा तथा धर्म, अर्थ व काम का मूल माना गया है। पत्नी वाला गृहस्थ ही यज्ञादि धार्मिक क्रियाओं को करने के योग्य माना जाता था। पत्नी के बिना अनेक धार्मिक कृत्य पूर्ण नहीं होते थे। पत्नी की यह उच्च स्थिति वैदिक काल में ही थी। परवर्ती युग में पत्नी की महत्ता कम होने लगी थी। यज्ञ में पत्नी द्वारा किया जाने वाला हवि कार्य पुरोहित द्वारा किया जाने लगा। फिर भी पारिवारिक जीवन में उसका सम्मान बना रहा। दक्ष स्मृति में पति के मनोकूल, दक्ष, साध्वी व स्वामीभक्त पत्नी को देवी समान माना है। बृहत् संहिता के अनुसार जिसकी पत्नी सर्वदा पति के अनुकूल रहने वाली हो, उस व्यक्ति के लिए यहीं स्वर्ग है।

पत्नी के अधिकार—प्राचीन भारतीय परिवार में पत्नी के अधिकार निम्नलिखित थे—

(1) भरण-पोषण पाने का अधिकार—सभी धर्मशास्त्रकारों ने एकमत से पत्नी को पति से भरण-पोषण पाने का अधिकार प्रदान किया है। भरण के अधिकार के कारण ही उसे 'भार्या' कहा गया है। पत्नी को दुराचारिणी होने पर भी पति से भरण-पोषण का अधिकार था।

(2) रमण का अधिकार—पत्नी को पति से रमण का पूर्ण अधिकार था। शास्त्रकारों ने ऐसा न करने वाले पति को भ्रूण-हत्या का दोषी तथा नरक का अधिकारी माना है। पति के नपुंसक होने, विदेश-गमन, कम आयु में संन्यास लेने तथा मृत्यु होने आदि परिस्थितियों में पत्नी को अन्य पुरुषों से सहवास करने का अधिकार था।

(3) स्त्री-धन—विवाह के अवसर पर माता, पिता, भाई, पति, सास, श्वसुर आदि सम्बन्धियों द्वारा प्रदान किया गया धन और उपहारों पर, जिन्हें स्त्री-धन कहा जाता है उस पर पत्नी का पूर्ण अधिकार था। पति केवल विशेष परिस्थिति में अथवा पत्नी की सहमति से ही उसका उपयोग कर सकता था।

(4) पति की सम्पत्ति पर अधिकार—भारतीय हिन्दू परिवार के प्रारम्भिक युग में पत्नी का पति की सम्पत्ति पर अधिकार मान्य नहीं था। परन्तु छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व में भारतीय शास्त्रकारों ने पुनर्विवाह न करने वाली विधवा को पति की सम्पत्ति में हिस्सा देना स्वीकार कर लिया। कौटिल्य ने भी विधवा के इस अधिकार को मान्यता दी है। गौतम धर्मसूत्र में भी पुत्रों के साथ विधवा को भाग देने की बात कही है। विष्णु पुराण में पुत्रों के अयोग्य होने पर पति की समस्त सम्पत्ति पर विधवा का अधिकार स्वीकार किया गया है।

(5) गृह-स्वामिनी—पत्नी गृहस्वामिनी थी। परिवार की आन्तरिक व्यवस्था संचालित करना गृहणी का प्रमुख अधिकार था। ऋग्वेद में पत्नी को पति, पुत्र तथा घर की स्वामिनी माना गया है।

पत्नी के कर्त्तव्य:—हमारे व्यवस्थाकारों ने पत्नी के अधिकारों के साथ उसके कर्त्तव्य भी निर्धारित किये हैं जो निम्नलिखत है :—

(1) पति की सेवा—पति की सेवा पत्नी का प्रधान कर्त्तव्य माना गया है। वेदव्यास के अनुसार पत्नी को दासी के समान अपने पति की सेवा करनी चाहिए। पति के भोजन, वस्त्र व शयन की व्यवस्था करना पत्नी का मुख्य धर्म है। ब्रह्मवर्त पुराण का कथन है कि स्त्री का सबसे बड़ा तप, व्रत, धर्म तथा देव पूजन पति की सेवा करना है। मनु के अनुसार पत्नी को पति की देवता के समान सेवा-पूजा करनी चाहिए।

(2) पति की आज्ञा का पालन करना—पति की आज्ञा का पालन करना पत्नी का कर्त्तव्य था। मार्कण्डेय पुराण में पति के अयोग्य और अक्षम होने पर भी पत्नी को उसकी आज्ञा-पालन का निर्देश दिया गया है। पति की आज्ञा-पालन पत्नी का मुख्य गुण माना गया है। महाभारत में अनेक उदाहरण हैं जिनमें पति की आज्ञानुसार स्त्रियों ने पर पुरुष से गमन भी किया।

(3) पति व्रत धर्म का पालन पतिव्रत का पत्नि के लिए अपार महत्त्व है। शास्त्रकारों ने कहा है कि स्त्रियों को चाहिए कि वे केवल अपने पति के प्रति साध्वी रहें। मन, वचन व कर्म से केवल पति के प्रति अनुरक्त रहें। पतिव्रता स्त्री निष्ठापूर्वक पति के साथ रहती थी। वस्तुतः पतिव्रता स्त्री वही है जो पति के आर्त्त होने पर आर्त्त, प्रसन्न होने पर प्रसन्न, प्रोषित होने पर मलिन और कृश तथा मृत होने पर मृत होती है। सावित्री, सीता आदि ऐसी ही पतिव्रता पत्नियाँ थीं।

विभिन्न शास्त्रकारों के अनुसार पत्नी के गुण और कर्त्तव्य—मनुस्मृति के अनुसार पत्नी में निम्नलिखित गुण होने चाहिएँ—

(1) सदा हँसमुख रहना,

(2) गृहकार्य में दक्षता,

(3) गृह को स्वच्छ रखना,

(4) अपव्ययी न होना।

याज्ञवल्क्य ने इन गुणों के साथ कुछ अतिरिक्त गुणों का उल्लेख किया है—(1) पति के प्रिय कार्य करना, (2) सास-श्वसुर की सेवा, (3) सच्चरित्रता तथा (4) संयम।

वायु पुराण, स्मृतिचन्द्रिका आदि ग्रन्थों में पत्नी के उचित आचार-व्यवहार के लिए निम्नलिखित नियम बताये हैं—

(1) बिना आज्ञा घर से बाहर न निकलना, (2) ऊपर का वस्त्र ओढ़े बिना घर से बाहर न निकलना, (3) जल्दी न चलना, (4) संन्यासी, चिकित्सक, व्यापारी व वृद्ध के अतिरिक्त अन्य पुरुष से न बोलना, (5) नाभि न दिखाना, (6) टखने तक वस्त्र पहनना, (7) स्तन प्रदर्शित न करना, (8) जोर से न हँसना, (9) पति व उसके सम्बन्धियों से घृणा न करना, (10) नृतकी, धूर्त, प्रेमियों को मिलाने वाली, गुप्त-विधि व वशीकरण करने वाली तथा दुष्ट स्त्रियों से न मिलना।

ब्रह्म पुराण के अनुसार, 'वही स्त्री पतिव्रता है जो पति-सेवा में दासी के समान, काम-सुख में वेश्या के समान, खिलाने में माता के समान, विपत्ति में उत्तम परामर्श-दाता हो।"

परिवार में पुत्र का स्थान—हिन्दू परिवार में आदिकाल से पुत्र का महत्त्व रहा है। परिवार का उद्भव विवाह से होता है किन्तु उसका विकास और अमरता पुत्र से प्राप्त होती है। शतपथ ब्राह्मण में निःसन्तान पुरुष को अपूर्ण व परिवारहीन माना गया है। वैदिककाल में विवाह का मुख्य लक्ष्य सन्तति प्राप्त करना ही था। वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर सन्तान प्राप्ति की कामना की गई है। ऋग्वेद में प्रार्थना की गई है कि प्रजापति देवता हमारे सन्तान उत्पन्न करें। इस काल में

सन्तान के अन्तर्गत पुत्र प्राप्ति की कामना अधिक प्रबल थी। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर पुत्र प्राप्ति की कामना की गई है। इस काल में पाणिग्रहण के समय वधू को पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया जाता था। पति को दस पुत्र उत्पन्न करने की सलाह दी गई है। पुत्र प्राप्ति की कामना के निम्नलिखित कारण थे—

(1) पितृऋण से मुक्ति—प्राचीन हिन्दू परिवार में पितृ-ऋण से मुक्ति पाना जीवन का उद्देश्य था। पितृ-ऋण से मुक्ति पाने का एकमात्र साधन पुत्र प्राप्ति ही है। पुत्र उत्पन्न होने से व्यक्ति पितृ-ऋण से मुक्त माना जाता है।

(2) आत्म-संरक्षण—पुत्र ही वृद्धावस्था में माता-पिता का भरण-पोषण व देखभाल करता है और उसकी मृत्यु के बाद परिवार का संचालन करता है।

(3) नरक से रक्षा—शास्त्रों के अनुसार पुत्र पिता की 'पुत्' नामक नरक से रक्षा करता है। पुत्र शब्द की उत्पत्ति भी 'पुत्' से हुई है।

(4) पितरों का तर्पण—शास्त्रों का मत है कि पुत्रहीन व्यक्ति के हाथों का पिण्डदान पितर स्वीकार नहीं करते। अतः पितरों के तर्पण के लिए पुत्र आवश्[illegible] था

(5) [illegible]किक सुख—पुत्र का जन्म लौकिक जीवन मे भी प्रसन्नता प्रदान करता है। रघुवंश के अनुसार पुत्र के उत्पन्न होने से व्यक्ति का इहलोक व परलोक दोनों समृद्ध होते हैं।

हेमचन्द्र के अनुसार पुत्र का स्पर्श शारीरिक व मानसिक आनन्द का कारण है। महाभारत के अनुसार पुत्र के स्पर्श से अधिक सुखकारी इस संसार में कुछ नहीं है।

पुत्र के कर्त्तव्य—धर्मशास्त्रों में माता-पिता की सेवा व आज्ञापालन पुत्र का परम कर्त्तव्य माना गया है। श्रवण कुमार व राम इसके उदाहरण है। भागवत पुराण के अनुसार अपने पिता की वृद्धावस्था को तरुणता में परिवर्तित करने के लिए पुरु ने अपना यौवन दान में दे दिया था। शुनःशेष अपने पिता की आज्ञा से अपनी बलि को तत्पर हो गया था। माता-पिता का भरण-पोषण करना भी पुत्र का परम कर्त्तव्य माना गया है। मनु व कौटिल्य दोनों ने ऐसा न करने वाले पुत्र को दण्डनीय माना है। इस प्रकार पुत्र के निम्नलिखित कर्त्तव्य थे—

(1) माता-पिता का भरण-पोषण,
(2) माता-पिता का सम्मान,
(3) माता-पिता की सेवा-सुश्रुषा,
(4) माता-पिता की आज्ञा-पालन।

परिवार के विभिन्न पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र को विशेष अधिकार प्राप्त थे। वह पिता की अनुपस्थिति में परिवार के सभी धार्मिक कृत्यों व दायित्वों का निर्वाह करता था। पिता की मृत्यु के बाद ज्येष्ठ पुत्र ही परिवार का संरक्षक बनता था तथा दूसरे भाई उसकी आज्ञा का पालन करते थे।

परिवार में पुत्री का स्थान—प्राचीन भारतीय हिन्दू परिवार में पुत्री का महत्त्व नगण्य-सा था। ऋग्वेद के काल से ही पुत्र की कामना ही अधिक की जाती रही है, फिर भी ऋग्वेद में पुत्री के जन्म को बुरा नहीं माना गया था। किन्तु ऋग्वेदिक काल के उत्तरोत्तर पुत्री के महत्त्व व सम्मान में कमी होती गई। अथर्ववेद में पुत्री न होने देने सम्बन्धी तन्त्र-मन्त्र मिलते हैं।

उत्तर वैदिक काल में पुत्री को दुःख व सन्ताप का कारण माना जाने लगा था। ऐतरेय ब्राह्मण में पुत्री को स्वजनों को दुःख देने वाली और माता-पिता को आघात पहुंचाने वाली कहा गया है। महाभारत में पुत्री को कष्टदायक व अपशगुनी कहा गया है। हर्षचरित के अनुसार पुत्री जन्म के साथ ही पिता को चिन्ता के भँवर में डाल देती है। डॉ. जयशंकर मिश्र का मत है कि पुत्री के लिए ये समस्त चिन्तायें उसके विवाह को लेकर की जाती थी। उचित वर की तलाश से लेकर दहेज, दान, कन्या का श्वसुर के यहाँ होने वाला आचरण और व्यवहार सभी बातें पिता के अन्तस में उभरती थी।"

उपर्युक्त कथनों के विपरीत शास्त्रकारों ने पुत्री के महत्त्व को भी स्वीकार किया है। महाभारत में पुत्री को लक्ष्मी का रूप कहा गया है। नारद, मनु, बृहस्पति आदि स्मृतिकारों ने पुत्री को पुत्र के समकक्ष माना है और पुत्र के अभाव में उसे पिता का उत्तराधिकारी माना है।

पुत्री के अधिकार—प्राचीन हिन्दू परिवार में पुत्री की स्थिति अच्छी न होने के उपरान्त भी वह पूर्ण रूप से उपेक्षणीय नहीं थी। पुत्री को परिवार में अनेक सुविधायें व अधिकार प्राप्त थे। वह पिता के परिवार में पुत्र के समान ही भरण-पोषण पाती थी। सूत्रकाल तक पुत्री को उपनयन संस्कार का अधिकार था। पुत्री पुत्रों के समान ही शिक्षा प्राप्त करने की अधिकारिणी थी। प्राचीन साहित्य में अनेक विदूषी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। अपाला, विश्ववारा, घोषा, लोपामुद्रा, उर्वशी, कुन्ती, गार्गी व मैत्रेयी आदि ऐसी ही स्त्रियाँ थीं। निश्चय ही उन्होंने अपनी शिक्षा पुत्री के रूप में प्राप्त की थी।

प्राचीन काल से ही पुत्रीको सम्पत्ति विषयक अधिकार को प्राप्त थे।

ऋग्वेद में पुत्र के अभाव में पुत्री को उत्तराधिकारी माना गया है। समाज में यह व्यवस्था चौथी सदी ई. पू. तक रही, परन्तु दूसरी सदी ई. पू. में पुत्री का सम्पत्ति विषयक अधिकार क्षतिग्रस्त हुआ। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी पुत्री को उत्तराधिकार से वञ्चित कर दिया गया है। वशिष्ठ, गौतम व मनु ने भी पुत्री को उत्तराधिकारी नहीं माना है। परन्तु नारद, याज्ञवलक्य, बृहस्पति, कौटिल्य आदि पुत्र के अभाव में पुत्री का उत्तराधिकार स्वीकार करते हैं।

पुत्र के होते हुए भी पुत्री का पिता की सम्पत्ति में अधिकार था। धर्मशास्त्र-कारों ने व्यवस्था दी है कि पुत्री का विवाह किये बिना पिता की मृत्यु हो जाय तो पुत्री के विवाह के लिए सम्पत्ति सुरक्षित कर दी जाय। विज्ञानेश्वर व कात्यायन ने इसे सम्पत्ति का चतुर्थांश बताया है। यह चतुर्थांश उसे आजीवन अविवाहित रहने पर भी मिलता था।

संयुक्त परिवार

प्राचीन भारतीय हिन्दू सामाजिक जीवन की मुख्य विशेषता संयुक्त परिवार व्यवस्था है। भारत में अति प्राचीन काल से यह व्यवस्था प्रचलित थी। ऋग्वेद में इस व्यवस्था की उपस्थिति के अनेक उल्लेख मिलते हैं। संयुक्त परिवार व्यवस्था हिन्दू पारिवारिक जीवन का आधार रही है। इस व्यवस्था ने भारतीय समाज और संस्कृति को व्यापक रूप में प्रभावित किया है।

संयुक्त परिवार का अर्थ—संयुक्त परिवार का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। श्रीमती इरावती कार्वे के अनुसार "एक संयुक्त परिवार उन व्यक्तियों का एक समूह है जो साधारणतया एक मकान में रहते हैं, जो एक रसोई में पका भोजन करते हैं, जो सामान्य सम्पत्ति के स्वामी होते हैं और जो सामान्य उपासना में भाग लेते हैं तथा जो किसी न किसी प्रकार एक दूसरे के रक्त सम्बन्धी है।" डॉ. आई. पी. देसाई के अनुसार "हम उस परिवार को संयुक्त परिवार कहते हैं जिसमें मूल परिवार से अधिक पीढ़ियों के सदस्य (अर्थात् तीन या अधिक पीढ़ियों के सदस्य) सम्मिलित हो तथा उनके सदस्य एक दूसरे से सम्पत्ति, आय तथा पारस्परिक अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के द्वारा सम्बन्धित हो।" डॉ. एस. सी. दुबे के अनुसार "यदि कई मूल परिवार एक साथ रहते हों और इनमें निकट का नाता हो, एक ही स्थान पर भोजन करते हों और एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हो तो उन्हें उनके सम्मिलित रूप में संयुक्त परिवार कहा जा सकता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं तथा भारतीय परिवेश के आधार पर हम कह सकते हैं कि संयुक्त परिवार में माता-पिता, पति-पत्नि, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री, पौत्र-पोत्रियां आदि सम्मिलित रूप से रहते हैं। वयोवृद्ध व्यक्ति परिवार का मुखिया या स्वामी होता है। वही सम्पूर्ण परिवार की सुरक्षा, संरक्षा, जीवन यापन व धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन के लिये उत्तरदायी होता है। यह परिवार एक ही आवास में रहता है तथा उसका भोजन भी एक स्थान पर ही बनता है। इस प्रकार के परिवार की सम्पत्ति का स्वामित्व, उत्पादन और उपभोग सम्मिलित रूप से होता है। परिवार में कमाकर लाने वाले सभी सदस्यों की आय संयुक्त कोष में रखी जाती है। परिवार का मुखिया उसका उपयोग सबकी आवश्यकतायें पूरी करने के लिये करता है। इसमें प्रत्येक अपनी योग्यता के अनुसार कमाता है और आवश्यकतानुसार प्राप्त करता है। इस प्रकार संयुक्त परिवार की निम्नलिखित विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं—

1. संयुक्त परिवार में पिता, पुत्र, पौत्र आदि सम्मिलित रूप से रहते हैं।

2. उनका एक आवास, एक रसोइघर होता है तथा इनके धार्मिक अनुष्ठान सम्मिलित रूप से होते हैं।

3. परिवार की सम्पत्ति पर अधिकार और उपभोग समान रूप से होता है।

4. परिवार के सभी सदस्य परिवार के मुखिया के अधीन होते हैं।

भारत में संयुक्त परिवार—भारत में प्राचीन काल से ही संयुक्त परिवार प्रणाली विद्यमान रही है। सिन्धु सभ्यता से प्राप्त आवास इस बात का प्रमाण है कि उन घरों में बड़ा परिवार निवास करता था। ऋग्वेद में भी संयुक्त परिवार के अनेक उदाहरण मिलते हैं। एक स्थान पर पुरोहित वर-वधू को आशीर्वाद देते हुये कहता है कि **"तुम यहीं इस घर में रहो, अपने घर में पुत्र और पौत्रों के साथ खेलते और आनन्द मनाते हुये समस्त आयु का उपभोग करो।"** एक स्थान पर वधू को कहा गया है कि "तू सास, ससुर, ननद और देवर पर शासन करने वाली साम्राज्ञी बन।" ये उद्धरण इस बात का प्रमाण है कि ऋग्वेदिक काल में संयुक्त परिवार विद्यमान था। उत्तर वैदिक काल में भारतीय हिन्दू परिवार संयुक्त व्यवस्था पर ही आधारित था। यद्यपि इस काल में इस व्यवस्था का विघटन आरम्भ हो गया था क्योंकि पुत्र पिता की वृद्धावस्था में सम्पत्ति के बंटवारे की मांग करने लगे थे। शास्त्रकारों ने इस प्रवृत्ति की आलोचना की है। अतः संयुक्त परिवार ही आदर्श माना जाता था। महाकाव्यों में भी संयुक्त परिवार के अनेकों उदाहरण मिलते हैं। गृह्यसूत्रों में भी संयुक्त परिवार के आदर्श व जीवन्तता के उल्लेख मिलते हैं। बौद्धकाल में भी संयुक्त परिवार प्रणाली विद्यमान थी। जातक साहित्य में अनेक बड़े परिवारों का उल्लेख मिलता है। परन्तु इस युग में पृथक या लघु परिवार की मान्यता प्रतिष्ठित होने लगी थी।

स्मृतिकारों ने संयुक्त परिवार का विशद वर्णन किया है। परन्तु स्मृतियों में कुटुम्ब के बड़े आकार, स्वाभिमान, आर्थिक दवाव और स्त्रियों के पारस्परिक मत-भेद के कारण संयुक्त परिवार के विघटन और विभाजन का भी उल्लेख किया गया हैं। कौटिल्य, नारद और शंख आदि ने पिता की जीवितावस्था में सम्पत्ति पर पुत्र के अधिकार को मान्यता नहीं दी है किन्तु बृहस्पति स्मृति में पृथक परिवार का समर्थन और प्रशंसा की गई है। नारद स्मृति में क्रोधी और शास्त्र विरुद्ध आचरण करने वाले पिता से सम्पत्ति का बंटवारा धर्मानुकूल माना गया है। इस प्रकार इस युग में पिता के जीवन काल में ही पुत्र के सम्पत्ति के अधिकार को शास्त्रकारों ने मान्यता प्रदान कर दी थी। इससे परिवार विभाजित होने लगे किन्तु फिर भी संयुक्त परिवार का महत्व बना रहा। इस काल में पैतृक और स्व-अर्जित सम्पत्ति की नयी अवधारणा

का विकास हुआ । पैतृक सम्पत्ति पर पुत्र का अधिकार पिता की मृत्यु के बाद मान्य किया गया और स्व-अर्जित सम्पत्ति पर स्वयं का ही अधिकार माना गया । इसके बाद मध्ययुग तथा आधुनिक युग के आरम्भ तक संयुक्त परिवार प्रणाली भारतीय सामाजिक संगठन का मूलाधार बनी रही । 19वीं शताब्दी के बाद इस व्यवस्था का कुछ कारणों से विघटन आरम्भ हो गया । परन्तु आज भी ग्रामो में बहुसंख्या में तथा शहरों में यदाकदा संयुक्त परिवार देखने को मिल जाते हैं ।

संयुक्त परिवार व्यवस्था के गुण-दोष

संयुक्त परिवार के गुण

1. आपसी सहयोग—संयुक्त परिवार में प्रत्येक बच्चा जन्म लेने के साथ ही परिवार का साझा सदस्य बन जाता है । संयुक्त परिवार में काम करने वाले व काम नहीं करने वाले दोनों तरह के लोगों का पालन-पोषण होता है । प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता हैं । प्रत्येक व्यक्ति के समान अधिकार और कर्त्तव्य होते हैं । परिवार के एक सदस्य पर कोई संकट आता है तो शेष सदस्य उसे पारिवारिक संकट मान कर दूर करने का प्रयास करते हैं । परिवार एक सहकारी संस्था के समान होता है ।

2. जीवनयापन के साधनों की प्राप्ति—जीवन-यापन के साधन जुटाने के लिए भी संयुक्त परिवार का गठन हुआ है । कृषि, पशुपालन और अन्य उद्योग जीवन-यापन के साधन हैं । कृषि कार्य करना अकेले व्यक्ति के वश में नहीं है । इस कार्य के लिए अन्य व्यक्तियों के सहयोग की आवश्यकता होती है । कृषि के अलावा पशुपालन द्वारा जीवन यापन के साधन जुटाना भी अकेले व्यक्ति द्वारा असम्भव है । पशुपालन के लिए व्यक्तियों के सहयोग की आवश्यकता हुई । फलतः संयुक्त परिवार प्रथा आरम्भ हुई । संयुक्त परिवार में अनेक व्यक्ति होते हैं जो एक दूसरे के कार्यों में सहयोग देते हैं तथा जीवन-यापन करते हैं । जीवन-यापन के साधन प्राप्ति में संयुक्त परिवार प्रथा महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है ।

3. सामाजिक प्रतिष्ठा—संयुक्त परिवार में अनेक व्यक्ति होते हैं । संयुक्त परिवार योग्य व कुशल व्यक्तियों की संगठित इकाई होती है । प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता व अनुभव के आधार पर समाज में परिवार को प्रतिष्ठित स्थान दिलाने का प्रयत्न करता है । परिवार के किसी एक व्यक्ति के सम्मानित होने का अर्थ पूर्ण परिवार का सम्मानित होना है । संयुक्त परिवार के सदस्य प्रेमपूर्वक आपसी सहयोग से रहते हैं । ऐसे परिवार समाज में सम्माननीय होते हैं । सम्माननीय परिवार का प्रभाव होता है जिसके कारण समाज के प्रत्येक कार्यों में उनकी सहमति को पूर्ण महत्व दिया जाता है । परिवार के सभी सदस्य एकत्र होकर रहते हैं । परिणामतः परिवार

की समस्त आय भी एकत्र होती है जिससे आर्थिक दृष्टि से समाज में परिवार की साख कायम होती है । परिवार के सदस्य एक जगह रहते हैं तो भोजन और निवास के खर्चों में भी कमी होती है । यदि प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग रहे तो फालतू खर्च अधिक होते हैं । अतः मितव्ययता की दृष्टि से भी संयुक्त परिवार प्रथा लाभप्रद रहती है ।

4 **समान सुविधाएं**—संयुक्त परिवार में चाहे किसी सदस्य का वेतन कम हो, दूसरे का अधिक हो अथवा तीसरा बेकार हो, फिर भी उन सभी को, उनकी पत्नियों और बच्चों को समान सुविधाएँ उपलब्ध रहती हैं। इससे परिवार के सभी सदस्यों को व्यक्तिगत उन्नति का समान अवसर प्राप्त होता है । परिवार में कोई व्यक्ति उच्च पद प्राप्त कर जाता है तो कोई साधारण पद ही प्राप्त कर पाता है । परिवार से अलग रहने पर कम आय प्राप्त व्यक्ति को अपना गुजारा करना मुश्किल हो जाता है । अतः संयुक्त परिवार में कम आय वाला व्यक्ति भी अपना गुजारा आसानी से कर लेता है और उसे कठिनाइयों से मुक्ति मिल जाती है ।

5. **अनुशासन और नियन्त्रण की शिक्षा**—संयुक्त परिवार में रहते हुए प्रत्येक सदस्य अनुशासन व नियन्त्रण में रहना सीख जाता है । संयुक्त परिवार में अपने से बड़ों का आदर करना और आज्ञापालन करना छोटों का कर्तव्य होता है जबकि अपने से छोटों को स्नेह करना तथा उनकी आवश्यकताओं को पूरा करना बड़ों का दायित्व होता है । संयुक्त परिवार ऐसी संस्था है जहाँ सामूहिक हितों के आधार पर जीवन व्यतीत किया जाता है । परिवार के मुखिया बड़े बुजुर्ग होते हैं । बड़े-बुजुर्गों के नियन्त्रण में रहने से व्यक्ति अनुशासन से रहना सीखता है और अनुचित कार्यों से दूर रहता है जबकि परिवार से अलग रहकर व्यक्ति आलसी और अनुशासनहीन हो जाता है और अनुचित कार्य निःसंकोच कर जाता है ।

6. **अधिकार व कर्त्तव्य का सामंजस्य**—संयुक्त परिवार में रहकर व्यक्ति अपने अधिकार व कर्त्तव्यों का निर्वाह करना सीख जाता है । परिवार में उसे कौन-कौन से अधिकार प्राप्त हैं तथा परिवार में अपने छोटे सदस्यों के प्रति कौन-कौन से कर्त्तव्य हैं व्यक्ति इसका पालन करना सीख जाता है । परिवार से अलग रहकर व्यक्ति अपने अधिकारों के प्रति तो सजग रहता है परन्तु अपने कर्त्तव्यों के निर्वाह से दूर भागने की कोशिश करता है । अतः संयुक्त परिवार में व्यक्ति अपने अधिकारों के साथ साथ कर्त्तव्य पालन करने का भी उत्तरदायी रहता है ।

7. **बच्चों के विकास में सहायक**—बच्चे समाज व राष्ट्र के भावी कर्णधार होते हैं। अतः उनमें आरम्भ से ही नैतिक गुण व पारिवारिक संस्कार देना आवश्यक होता है ।

संयुक्त परिवार में बच्चा अनेक व्यक्तियों के बीच रहकर प्रेम, सहयोग, त्याग, उदारता, आज्ञापालन और सहिष्णुता की शिक्षा प्राप्त करता है जो उसके व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होती है। परिवार में रहते हुए बच्चा संकीर्ण विचारों से ग्रसित नहीं होता। परिणामतः बच्चे की मानसिक और शारीरिक उन्नति होती है। इसके विपरीत संयुक्त परिवार के अभाव में बच्चा माता-पिता तक ही सीमित रहता है उसमें संकीर्ण विचारधारा पैदा होती है।

(8) **समाज-सेवा की प्रेरणा**—संयुक्त परिवार में प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे पर निर्भर होता है। प्रत्येक व्यक्ति में दूसरे की सहायता की भावना होती है। प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थों से ऊपर उठा होता है। व्यक्ति का नैतिक स्तर ऊँचा उठा रहता है। संयुक्त परिवार में रहते हुए मनुष्य प्रेम, नैतिकता, सहानुभूति व त्याग करना सीखता है। मनुष्य को समाज-सेवा, देश-सेवा का तथा त्याग करने का अवसर प्राप्त होता है। इससे मनुष्य व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठकर समाज-सेवा के आदर्श की ओर उन्मुख होता है।

9. **वृद्धों के अनुभवों का लाभ**—परिवार में जो व्यक्ति वृद्ध होता है वह अनेक अनुभव प्राप्त होता है। उसके अनुभवों का लाभ नए सदस्यों को होता है। नए सदस्यों को जब वृद्धों से अनुभव मिल जाता है तो वह जीवन में सभी कर्त्तव्यों का निर्वाह सन्तोषजनक ढंग से करते हैं।

10. **विधवाओं को पूर्ण संरक्षण प्राप्त होता है**—विधवा जीवन अत्यन्त दुखदायी माना जाता है। उसके सामने जीवन-यापन करने की समस्या होती है। संयुक्त परिवार में उनको इस समस्या से चिन्तित नहीं होना पड़ता है क्योंकि उनके जीवन का भार परिवार के सभी सदस्यों पर होता है।

संयुक्त परिवार के दोष

1. **व्यक्ति के विकास में बाधा**—संयुक्त परिवार में व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता है। संयुक्त परिवार में सभी लोग एक साथ निवास करते हैं तथा एक साथ भोजन करते हैं। कोई व्यक्ति संयुक्त परिवार में रहते हुए अपनी इच्छानुसार न कुछ खा पाता है न पहन पाता है। उसकी पत्नी व बच्चों की व्यक्तिगत इच्छा की पूर्ति नहीं हो पाती है। व्यक्ति अपनी महत्वाकांक्षाओं को दबा जाता है जिससे उसकी योग्यता का विकास रुक जाता है। संयुक्त परिवार रूपी रथ में व्यक्ति उसके भारी चक्को में पीस जाता है। संयुक्त परिवार का दायित्व निभाने के लिए कई बार अपनी अभिलाषाओं का मर्दन करना पड़ता है।

2. **व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हरण**—संयुक्त परिवार में कोई भी व्यक्ति अपने जीवन का लक्ष्य व जीवन निर्धारित करने को स्वतन्त्र नहीं होता है। व्यक्ति को अपनी इच्छा के काम हेतु गृहस्वामी की अनुमति लेनी पड़ती है।

पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली ने भी संयुक्त परिवार व्यवस्था की जड़ें खोखली कर दी है। आज स्कूल और कॉलेजों में प्रचलित शिक्षा प्रणाली अंग्रेजों के आदर्शो पर आधारित है। इस प्रणाली से शिक्षित छात्र-छात्राओं के हृदय में अपने माता-पिता, गुरुजनों व बड़ों के प्रति वह आदर-भाव नहीं होता जो संयुक्त परिवार के लिये आवश्यक है। इस पाश्चात्य शिक्षा ने ही पति-पत्नी और दो बच्चों के परिवार का आदर्श हमारे समक्ष रखा है। इस प्रकार पाश्चात्य शिक्षा भी संयुक्त परिवार के विघटन का कारण है।

व्यक्तिवादी भावना-- पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति के कारण व्यक्तिवाद की भावना प्रबल हुई है। प्राचीन और मध्यकाल में समष्टिवाद की भावना भारतीय संस्कृति का आधार तत्व थी। सामूहिक हित और सामूहिक उत्तरदायित्व संयुक्त परिवार व्यवस्था का अनिवार्य अंग है किन्तु व्यक्तिवाद की भावना के कारण हम सामूहिक हितों की उपेक्षा करने लगे हैं। अब प्रत्येक व्यक्ति केवल अपनी पत्नी और बच्चो की सुख-शांति, हितों और विकास के बारे में चिन्ता करता है। सम्पूर्ण परिवार के हित और विकास की भावना गौण हो चुकी है। ऐसी स्थिति में संयुक्त परिवार का विघटन स्वाभाविक है।

इसके अतिरिक्त भौतिकवाद की बढ़ती हुई प्रवृत्ति, महिला शिक्षा के विकास, महिलाओं के विभिन्न सुधार आन्दोलनों तथा उनकी बढ़ती जागरूकता एवं सरकार द्वारा बनाये गये विभिन्न कानूनों ने संयुक्त परिवार व्यवस्था को विघटित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

4
जैन धर्म
(Jainism)

छठी शती ई. पू. न केवल भारत के वरन् विश्व के इतिहास में एक महान क्रांति का युग माना जाता है। ई.पू. छठी शती बौद्धिक एवं आध्यात्मिक उथल-पुथल की शती थी। इस युग में विश्व के विभिन्न भागों में अद्‌भुत बौद्धिक चिन्तन आन्दोलन प्रारम्भ हुए जिनके फलस्वरूप मनुष्य के धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन आरम्भ हुए। **डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी** के शब्दों में **"छठी शती ई. पू. मानव इतिहास का एक महत्वपूर्ण काल है। यह विभिन्न क्षेत्रों में जो एक दूसरे से अत्यधिक अलग थे असाधारण मानसिक एवं आध्यात्मिक अशान्ति का युग था।"** यूनान से लेकर चीन तक और भू-मध्य सागर से लेकर प्रशान्त महासागर तक प्रत्येक सभ्य देश में ऐसे मननशील विचारकों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने लौकिक और पारलौकिक सभी समस्याओं पर गहन चिन्तन किया और मानव समुदाय को नई राह दिखायी। एक दृष्टि से छठी शताब्दी ई. पू. का काल मानसिक अशान्ति, बेचैनी एवं व्यापक कोलाहल का काल था। चीन में कनफ्यूशियस, ईरान में जरथुस्त्र तथा भारत में महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध इस क्रांति के प्रणेता बने।

उक्त महान क्रांति का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक था। राजनीतिक क्षेत्र में यह मगध के साम्राज्यवाद के विरुद्ध, सामाजिक क्षेत्र में जाति-प्रथा एवं छुआछूत जैसी बीमारियों के विरुद्ध और धार्मिक क्षेत्र में वैदिक धर्म के जटिल कर्मकाण्डी स्वरूप के खिलाफ थी। समाज के दूषित ढाँचे की नींव चरमराती हुई देखकर धार्मिक पाखण्ड और अनाचार के मध्य पिसती जनता के दुःख दर्दों के निवारण हेतु शीघ्र ही एक भयंकर धार्मिक क्रांति क्षत्रियों के नेतृत्व में आरम्भ हुई, जो दो प्रधान धाराओं में प्रस्फुटित हो चली। एक धारा आस्तिक कहलायी, जो वैष्णव एवं शैव धर्म के रूप में प्रस्फुटित हुई और दूसरी नास्तिक कहलाई जो जैन और बौद्ध धर्म के रूप में बह चली। अब इन दोनों धर्मों का विस्तृत अध्ययन करने से पूर्व क्रांति के प्रमुख कारणों को जान लेना आवश्यक है।

क्रांति के कारण—क्रांति से तात्पर्य आमूलचूल परिवर्तन से है। जब समाज में दोषों की भरमार हो जाती है तो समाज का प्रबुद्ध वर्ग इनके विरुद्ध आन्दोलन कर देता है. यही आन्दोलन क्रांति कहलाता है। छठी शती ई. पू. में भी इसी प्रकार की क्रांति तत्कालीन दोषों के विरुद्ध हुई, जो कि पूर्णतया अहिंसक क्रांति थी। बिन्दुवत्, इस क्रान्ति के कारण अथवा जैन और बौद्ध धर्मों के उद्‌भव के कारण निम्नलिखित थे—

1. वेदवाद में अविश्वास—वेद ब्राह्मण धर्म की आधारशिला थे। उनकी दृष्टि में वेद सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान के अक्षय भण्डार थे। उनकी समस्त मान्यतायें और ग्रन्थ वेदों पर आधारित थे। वेद धर्म के मूल समझे जाते थे। उनकी मान्यता थी कि वेदों में जो कुछ है, वही धर्म है जो इसके विरुद्ध है वह अधर्म है। इस मान्यता को वेदवाद कहा जाता है। छठी शताब्दी ई. पू. में विचारशील लोगों द्वारा इस वेदवादी मान्यता का विरोध किया जाने लगा था क्योंकि वेदों के प्रति यह अत्यधिक श्रद्धा मनुष्य के मानसिक विकास में बाधक थी।

वेदवाद की मान्यता के कारण व्यक्ति को अपनी बुद्धि और अनुभव के उपयोग का अवसर नहीं मिलता था। उसके विचार और तर्क वेदवाद से टकराकर समाप्त हो जाते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि विचारशील और प्रतिभाशाली व्यक्तियों तथा धर्म अन्वेषकों में वेदवाद के प्रति असन्तोष उत्पन्न हो गया।

2. वैदिक धर्म की जटिलता—छठी शताब्दी ई. पू. में वैदिक धर्म का स्वरूप अत्यन्त जटिल हो गया था। इस युग में ब्राह्मण धर्म अपनी वैदिक युगीन सरलता का परित्याग कर पूर्णतया कर्मकाण्ड मूलक हो गया था। उसमें शुद्ध आचरण तथा आत्म-निवेदन के स्थान पर कर्मकांण्ड अधिक प्रबल हो गये थे। वैदिक युग में यज्ञ और कर्मकाण्ड अत्यन्त साधारण थे। कोई भी गृहस्थ स्वयं उन्हें घर में ही सम्पादित कर लेता था। परन्तु छठी शताब्दी ई. पू. में कर्मकाण्ड और यज्ञ की क्रियायें इतनी जटिल और विस्तारपूर्ण थी कि उन्हें सम्पादित करने के लिये एक विशेषज्ञ की अर्थात् पुरोहित वर्ग की आवश्यकता अनिवार्य हो गई। पहले जो यज्ञ एक पुरोहित द्वारा सम्पन्न किये जाते थे उनमें अब सात से सत्रह ब्राह्मण आवश्यक थे। ये यज्ञ अधिक लम्बे समय तक चलने वाले और अत्यन्त खर्चीले थे। देवताओं को प्रसन्न करने के लिये बलि दी जाने लगी थी। ब्राह्मणों ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये धर्म में अनेक आडम्बर पूर्ण मान्यतायें स्थापित कर दी थी। धर्म की आत्मा कर्मकाण्ड में दब गई थी। इसके परिणाम-स्वरूप समाज के एक वर्ग में वैदिक धर्म और ब्राह्मणों के प्रति असन्तोष व्याप्त हो गया और वे एक सरल और आचारमूलक धर्म की खोज में प्रवृत्त हुये।

3. बहुदेववाद में अनास्था—छठी शताब्दी ई. पू. की धार्मिक क्रांति का कारण वैदिक धर्म का बहुदेववाद भी था। वैदिक धर्म पूर्णतया देवतामय था। उसमें बहुसंख्यक देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। वैदिक ऋषियों ने समस्त प्राकृतिक शक्तियों को देवता के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया था। प्रत्येक प्राकृतिक शक्ति का अधिष्ठता कोई न कोई देवता या देवी थी। मनुष्य का आंतरिक और वाह्य जगत दोनों देवमय थे। ऋग्वेद में कहीं कहीं एकेश्वरवाद का भी उल्लेख मिलता है। परन्तु यह सिद्धांत अधिक लोकप्रिय नहीं था। बहुसंख्यक जनता बहुदेववाद में ही आस्था रखती थी। प्रारम्भ में मनुष्य का इन प्राकृतिक शक्तियों के साथ मैत्री सम्बन्ध था। किन्तु धीरे-धीरे यह मैत्री भाव बदल गया। देवता मनुष्य के अधिपति माने जाने लगे। देवता दाता और मनुष्य याचक बन गया। छठी शताब्दी ई. पू. में समाज का एक वर्ग मानव की स्वतन्त्र गरिमा की स्थापना का समर्थक था। वह मनुष्य को बहुसंख्यक देवी-देवताओं की अधीनता से मुक्त कराना चाहता था। उसकी मान्यता थी कि विशुद्ध मानव देवताओं से श्रेष्ठ है। मनुष्य के भाग्य नियन्ता देवता नहीं अपितु उसके कर्म हैं। इस प्रकार बहुदेववाद के विरुद्ध समाज में प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई।

4. ब्राह्मणों का नैतिक पतन—प्राचीन भारत में ब्राह्मण भारत के व्यवस्थाकार थे। समाज उनके द्वारा निर्देशित विधि-निषेधों से ही संचालित हो रहा था। ब्राह्मणों की विद्वता, उदारता और त्यागमय जीवन के कारण उन्हें समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। वैदिक युग से उन्हें भू-देव कहा गया है। उन्हें समाज में अनेक विशेषाधिकार और सुविधायें प्राप्त थी। उनका जीवन मनुष्य के लिए प्रेरणा का स्रोत और आदर्श था। किन्तु छठी शताब्दी ई. पू. में ब्राह्मणों का जीवन आदर्शमय और प्रेरणापूर्ण नहीं रहा था। उनका घोर नैतिक पतन हो चुका था। वे साधनामय जीवन को छोड़कर सांसारिक भोग विलासों में लिप्त हो गये थे। अतः समाज के अन्य वर्गों में ब्राह्मणों के विरुद्ध असन्तोष व्याप्त हो गया और जब महावीर और बुद्ध के आदर्श जीवन को जनता ने निकट से देखा तो यह स्वाभाविक ही था कि वे उनसे प्रेरणा ग्रहण करें।

5. तन्त्र-मन्त्र में विश्वास—छठी शताब्दी ई. पू. में हिन्दू धर्म अपनी मौलिकता खो चुका था। साधारण लोग वेदों के द्वारा बताये मार्ग से हटकर तन्त्र-मन्त्र और जादू-टोनों में विश्वास करने लगे थे। उनका यह विश्वास बढ़ता जा रहा था कि मन्त्र-तन्त्र के द्वारा सिद्धि प्राप्त की जा सकती है और व्याधियों का निराकरण किया जा सकता है। ब्राह्मण इस मान्यता के प्रेरक थे। चिन्तनशील व्यक्ति इसे पाखण्ड मानते थे और इससे समाज को सदा के लिये मुक्त करना चाहते थे।

6. साहित्य की जटिलता—इस समय अधिकांश धार्मिक साहित्य संस्कृत में उपलब्ध था। संस्कृत अपनी क्लिष्टता के साथ-साथ विशाल साहित्य की भी अधिकारिणी थी। जनसाधारण ऐसे साहित्य को समझने में असमर्थ था और उसे

ब्राह्मणों की कदम-कदम पर सहायता लेनी पड़ती थी। फलतः जनता ऐसे धर्म की खोज में थी जो जनसाधारण की सरल भाषा में हो, जिससे वह उसे पढ़ सके और समझ सके।

7. वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्निहित दोष—वैदिक युग में भारतीय वर्ण-व्यवस्था जन्म पर आधारित न होकर गुण और कर्म पर आधारित थी। जो व्यक्ति जो कर्म करता था वह उसी वर्ग का मान लिया जाता था। परन्तु कालान्तर में यह वर्ण व्यवस्था कर्म और गुणों के स्थान पर जन्म पर आधारित हो गई। इस वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मणों का समाज में महत्व अत्यधिक बढ़ गया और शूद्रों की स्थिति अत्यन्त निम्न हो गई थी। वे नाना प्रकार के अभावों और नियन्त्रणों से पीड़ित थे। पहले ब्राह्मणों का सम्मान उसके त्यागमय जीवन के कारण था। परन्तु छठी शताब्दी ई.पू. में उनका जीवन त्यागमय नहीं रहा था। वे अपने आदर्शो से गिर चुके थे। इस नैतिक पतन के बाद भी वे ब्राह्मण वर्ण में जन्म के आधार पर समाज में सम्मान का दावा करते थे। दूसरी ओर शूद्रों को योग्य होने के बावजूद घृणा की दृष्टि से देखा जाता था तथा उन्हें अस्पृश्य समझा जाता था। इस सामाजिक असमानता ने लोगों के मन को उद्वेलित कर दिया।

डॉ. राजबली पाण्डेय इस मत को नहीं मानते। उनका कहना है कि "सुधारवादियों की समस्यायें किसी देश विशेष के समाज की नहीं, वरन मानव जीवन की गम्भीर समस्यायें थी और इनका मूल उस समय के भारतीय धर्म में था। अतः सुधारकों के उदय का मुख्य कारण सार्वभौम या धार्मिक था न कि जातीय या सामाजिक। किन्तु डॉ. पाण्डेय का यह मत एकपक्षीय है क्योंकि सामाजिक असमानता के प्रति लोगों में व्याप्त असन्तोष ने वैदिक धर्म के विरुद्ध हो रही प्रतिक्रिया को आगे बढ़ाया। वैदिक यज्ञों, कर्मकाण्डों और पुरोहितों के प्रभुत्व के विरुद्ध हो रही प्रतिक्रिया को सामाजिक क्लिष्टता असमानता और अस्पृश्यता की भावना ने उग्र रूप प्रदान किया।

8. तर्क पूर्ण विचारधारा का उदय—छठी शताब्दी ई. पू. का युग भारतीय चिन्तन के इतिहास में क्रान्ति का युग था। इस युग में एक स्वतन्त्र विचारधारा का जन्म हुआ जो तर्कपूर्ण थी। वैदिककालीन भावना का स्थान इस युग में तर्क ने ले लियाथा। अब लोग धर्म की बातों को तर्क की कसौटी पर कसने लगे थे। इससे धर्म के प्रति उनका अन्धविश्वास दूर हो गया। वे देवताओं, यज्ञों, कर्मकाण्डों और पुरोहितों से दूर भागने लगे। इसके परिणामस्वरूप वे किसी सरल, सादा और आचारमूलक धर्म की खोज में लग गये।

9. उपनिषदों का योगदान—छठी शताब्दी ई. पू. में भारत में हुई धार्मिक क्रान्ति के बीज ब्राह्मण ग्रन्थों में निहित थे। आरण्यकों में आत्मचिन्तन की भावना

बीज रूप में अंकुरित हुई और उपनिषद काल में यह भावना अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। उपनिषदों की विचारधारा से मानव चिन्तन में तर्क का महत्व बढ़ा। इस सम्बन्ध में डॉ. राधाकृष्णन ने कहा है कि "वास्तव में उपनिषदकाल ने ई. पू. छठी शताब्दी की धार्मिक क्रान्ति के आगमन हेतु मार्ग प्रशस्त कर दिया था। उन्हीं पुरातन तन्तुओं को अपनी बुद्धि एवं आवश्यकता के अनुसार परिगृहीत, संशोधित संवर्धित एवं परिव्यक्त कर नवीन धर्माचार्यों ने अपने-अपने मतों का ताना-बाना तैयार किया।"

10. महापुरुषों का उदय—छठी शताब्दी ई. पू. में भारत में कुछ महापुरुषों का जन्म हुआ जिन्होंने तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक जीवन के विरूद्ध उत्पन्न हो रहे असन्तोष और प्रतिक्रिया को निश्चित दिशा प्रदान की। इस युग में पूर्णकाश्यप, मस्करीपुत्र गोशाल, अजितकेश कम्बलि, प्रक्रुष कात्यायन, संजय वेलिष्टिपुत्र, ज्ञातृपुत्र, निग्रोथ, महावीर और गौतम बुद्ध आदि विचारकों ने जन्म लिया। इन्होंने भारतीय धर्म और जीवन के अलग-अलग तत्व और लक्ष्य निर्धारित किये। इनमें महावीर और गौतम बुद्ध युग प्रवर्तक थे। उन्होंने हिन्दू धर्म और समाज में युगान्तकारी परिवर्तन किये। उन्होंने यज्ञ, वलि और अन्य कर्म काण्डों के स्थान पर सद्कर्मो पर बल दिया। वे मोक्ष प्राप्ति के लिये तप और सदाचार को मुख्य साधन मानते थे। उन्होंने मनुष्य को जन्म के स्थान पर कर्म और गुणों से श्रेष्ठ माना।

जैन धर्म

छठी शताब्दी ई. पू. में भारत में जो धार्मिक क्रान्ति हुई। उसमें अनेक नवीन धार्मिक विचारों का उदय हुआ जिन्होंने भारत के धार्मिक जीवन पर प्रचुर प्रभाव डाला। इन नवीन धर्मो मे जैन धर्म का प्रमुख स्थान है। यद्यपि जैन धर्म बौद्ध धर्म की भाँति कभी देशव्यापी धर्म नहीं बन सका फिर भी यह महत्वपूर्ण है कि वह अपनी जन्मभूमि भारत में बौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक स्थायी सिद्ध हुआ। भारत में आज भी जैन धर्म की सुदीर्घ परम्परा विद्यमान है। उसके अनुयायी यहाँ वहुसंख्या में विद्यमान हैं।

जैन धर्म की प्राचीनता—महावीर स्वामी जैन धर्म के प्रवर्तक नहीं थे। वे उसके संगठनकर्त्ता थे। जैन साहित्य और जैनाचार्यों के अनुसार महावीर स्वामी जैन धर्म के चौवीसवें और अन्तिम तीर्थंकर थे। उनसे पूर्व जैन धर्म के तेईस तीर्थंकर हो चुके थे।

इसके अनुसार जैन धर्म छठी शताब्दी ई. पू. की देन नहीं है। इसका इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। कुछ विद्वानों के अनुसार जैन धर्म पूर्व ऐतिहासिक था।

इस कथन की पुष्टि में वह मोहनजोदड़ों से प्राप्त योगी की मूर्ति को प्रस्तुत करते हैं। हमारा प्राचीन साहित्य भी जैन धर्म की सुदीर्घ परम्परा को स्वीकार करता है। कुछ विद्वान ऋग्वेद के केशीसुक्त (ऋग्वेद 10.136) में उल्लेखित ऋषियों का सम्बन्ध जैन मुनियों से स्थापित करते हैं। वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी प्राचीन जैन तीर्थंकरों के नामों का आभास मिलता है। यद्यपि भारत में श्रमण विचारधारा अत्यन्त प्राचीन है परन्तु यह कहना कठिन है कि इस विचारधारा का जैन विचारधारा से क्या सम्बन्ध था ?

जैन तीर्थंकर—जैन धर्म के संस्थापक और जितेन्द्रिय तथा ज्ञान प्राप्त महात्माओं को तीर्थंकर कहा गया है। 'तीर्थंकर' शब्द 'तीर्थ' से बना है जिसका अर्थ है जो मनुष्य को संसार सागर के पार उतारे। संसार सागर को पार कराने का हेतु निर्मित करने वाले को तीर्थंकर कहा जाता है। जैन साहित्य के अनुसार जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकर थे। ये हैं—(1) ऋषभ (2) अजीत (3) सम्भव (4) अभिनन्दन (5) सुमति (6) पद्म प्रभ (7) सुपार्श्व (8) चन्द्रप्रभ (9) सुविधि (10) शीतल (11) श्रेयांस (12) वासुपूज्य (13) विमल (14) अनन्त (15) धर्म (16) शान्ति (17) कुन्थ (18) अर (19) मतिल (20) मनिसुव्रत (21) नेमि (22) अरिष्ट नेमि (23) पार्श्वनाथ (24) महावीर स्वामी। इनमें से कई तीर्थंकरों की ऐतिहासिकता प्रमाणित नहीं हो सकी है। ऐतिहासिक रूप से पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी ही प्रमाणिक हैं।

जैन धर्म के संस्थापक और प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव-जीवन, कार्य और महत्ता—जैन अनुश्रुति के अनुसार उनके धर्म के संस्थापक और प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव थे। ये आदिकाल में उत्पन्न हुए थे जब भारत में असभ्यता और बर्बरता विद्यमान थी। जैन मत के अनुसार मानव को सभ्यता का पाठ ऋषभदेव ने ही पढ़ाया था। जैन अनुश्रुति के अनुसार ये सृष्टि के जनक मनु के प्रपौत्र नाभि के पुत्र और पौराणिक चक्रवर्ती सूर्यवंशी नरेश भरत के पिता थे। उनका जन्म अयोध्या में हुआ था। वे चक्रवती सम्राट थे। जैन परम्परा के अनुसार ये दीर्घकालीन शासन के पश्चात राज्य अपने पुत्र भरत को सौंपकर तीर्थंकर हो गये थे। यजुर्वेद और श्रीमद्‌भागवत में भी ऋषभदेव का उल्लेख हुआ है।

तेईसवें तीर्थंकर-पार्श्वनाथ—पार्श्वनाथ जैन धर्म के तेईसवें तीर्थकर थे। इनका जन्म महावीर स्वामी से लगभग 250 वर्ष पूर्व हुआ था। पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष थे। ब्राह्मण साहित्य में अनेक स्थानों पर इनका उल्लेख हुआ है। मूर्धन्य कवि तुलसीदास ने इन्हें विष्णु का अवतार माना है। पार्श्वनाथ काशी नरेश अश्वसेन के पुत्र थे। इनकी माता का नाम 'वामा' था। युवा होने पर इनका विवाह कुशस्थल (द्वारिका) के शासक नरवर्मन की पुत्री प्रभावती से हुआ। 30 वर्ष की

अवस्था तक इन्होंने राजकीय सुख समृद्धि के बीच गृहस्थ जीवन को भोगकर वैराग्य ग्रहण किया। 83 दिनों की घोर तपस्या के बाद 84 वें दिन उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। इसके बाद अगले 70 वर्षों तक वे राजगृह, अयोध्या, कौशाम्बी, श्रावस्ती और हस्तिनापुर आदि में घूम-घूम कर धर्म का प्रचार करते रहे। 100 वर्ष की अवस्था में सम्मेत पर्वत पर उन्हें मोक्ष प्राप्त हुआ।

पार्श्वनाथ के सिद्धान्त—जैन साहित्य के अनुसार पार्श्वनाथ वेदज्ञान, देववाद, यज्ञवाद और जातिप्रथा के घोर विरोधी थे। उनके अनुसार तपस्या, काया क्लेश आदि मोक्ष प्राप्ति के साधन हैं। उन्होंने अहिंसा पर विशेष बल दिया। उन्होंने अपने अनुयायियों के लिए चार व्रतों की व्यवस्था दी है—

(1) अहिंसा
(2) सत्य
(3) अस्तेय (चोरी न करना)
(4) अपरिग्रह (संग्रह न करना)

चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी—जैसाकि पहले बताया गया है महावीर स्वामी जैन धर्म के संस्थापक नहीं थे। उनके जन्म से पूर्व ही जैन धर्म की परम्परा संगठित और सुव्यवस्थित हो चुकी थी। अतः महावीर स्वामी को जैन धर्म का सुधारक माना जा सकता है। उन्होंने अपनी प्रतिभा, योग्यता और संगठन शक्ति की सहायता से जैन धर्म के सिद्धान्तों में संवर्धन और परिवर्धन करके उसे पुनर्गठित किया।

वर्धमान महावीर का संक्षिप्त जीवन वृत्त- महावीर स्वामी का जन्म 599 ई. पू. में वैशाली (आधुनिक मुज्जफरपुर विहार) के समीप कुण्डग्राम में हुआ था जो प्राचीन वज्जि संघ)में सम्मिलित ज्ञातृक क्षत्रियों के छोटे गणराज्यों के अन्तर्गत था। महावीर के पिता का नाम सिद्धार्थ था जोकि ज्ञातृक गण के गणमुख्य (प्रधान) थे। इनकी पत्नी त्रिशला थी जो कि वैशाली के लिच्छवि नरेश चेटक की बहिन थी। यही त्रिशला महावीर की माता थी। चेटक उस समय प्रसिद्ध व्यक्ति था क्योंकि उसकी पुत्री मगध नरेश बिम्बसार की पत्नी और अजातशत्रु की माता थी। महावीर के बचपन का नाम वर्धमान था। महावीर का प्रारम्भिक जीवन राजकीय समृद्धि और विलासिता के बीच व्यतीत हुआ। युवावस्था में उनका विवाह यशोदा नामक राजकुमारी के साथ कर दिया गया। उनके एक पुत्री का जन्म भी हुआ। महावीर प्रारम्भ से ही चिन्तनशील प्रवृत्ति के थे। सांसारिक सुख से उन्हें शान्ति नहीं मिली। अतः पिता की मृत्यु के बाद 30 वर्ष की आयु में उन्होंने अपने बड़े भाई नन्दिवर्धन की आज्ञा लेकर गृह त्याग दिया और जैन भिक्षु बन गये। ज्ञान प्राप्ति के लिए उन्होंने कठोर तपस्या प्रारम्भ की। जैन ग्रन्थ आचारंगसूत्र और कल्प-

सूत्र में उनकी कठोर तपस्या का सविस्तार वर्णन है। वस्त्रों को परिग्रह मानकर उन्होंने वस्त्र भी त्याग दिए। बारह वर्ष की कठोर तपस्या के बाद जृम्भिका ग्राम के समीप ऋजुपालिका नदी के तट पर शालभू वृक्ष के नीचे महावीर को कैवल्य (ज्ञान) प्राप्त हुआ। तब से वह 'केवलिन्' कहे जाने लगे। उन्होंने इन्द्रियों को जीत लिया था अतः वे 'जिन' (विजेता) कहलाये। 'जिन' से ही जैन शब्द बना है जिसका अर्थ है जिन के अनुयायियों का धर्म। सम्भवतः यह नाम महावीर के समय ही पड़ा था क्योंकि इससे पूर्व इन्हें 'निर्ग्रन्थ' (बन्धन मुक्त) कहा जाता था। ज्ञान (कैवल्य) प्राप्ति का अतुल पराक्रम दिखाने के कारण वे महावीर कहलाये। ज्ञान प्राप्ति के बाद महावीर अगले तीस वर्षों तक घूम-घूम कर कौशल, मगध, वज्जि और काशी राज्यों में अपने सिद्धान्तों और धर्म का प्रचार करते रहे। धीरे-धीरे बहुत से लोग उनके अनुयायी बन गये। जैन साहित्य में उनके अनेक अनुयायियों के नाम मिलते हैं। उनके धर्म प्रचार के सम्बन्ध में विमलचन्द्र पाण्डेय की मान्यता है कि महावीर स्वामी को अपने मत के प्रचार में अनेक राजवंशों की सहायता मिली। वे स्वयं राजवंशी थे और उनका राजवंश अनेक तत्कालीन राजवंशों से सम्बन्धित था। उनकी माता लिच्छवि नरेश चेटक की बहिन थी। चेटक की पुत्री का विवाह मगध नरेश बिम्बसार से हुआ था। महावीर ने 72 वर्ष की आयु में 527 ई. पू. में पावापुरी (आधुनिक पटना के निकट) में कार्तिक कृष्ण पक्ष की अमावस्या को शरीर त्याग दिया। महावीर ने पार्श्वनाथ के चार सिद्धान्तों--अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह में ब्रह्मचर्य नामक पाँचवां व्रत और जोड़ दिया। उन्होंने पापों को स्वीकार करने के नियम का प्रतिपादन किया। पार्श्वनाथ ने जैन मत के अनुयायियों को श्वेत वस्त्र धारण करने की आज्ञा दी थी परन्तु महावीर ने वस्त्रों को परिग्रह मानकर उन्हें नग्न रहने का आदेश दिया।

जैन धर्म के सिद्धान्त और उपदेश

नैतिक सिद्धान्त और उपदेश

1. निवृत्ति मार्ग—जैन धर्म निवृत्तिमार्गी है। इसकी मान्यता है कि सांसारिक जीवन दुःखमूलक हैं। मनुष्य बुढ़ापे और मृत्यु आदि दुःखों से पीड़ित है। दुःख का मूल कारण मनुष्य की कभी तृप्त न होने वाली तृष्णायें हैं। संसार में मनुष्य आजीवन तृष्णाओं से घिरा रहता है। तृष्णायें अनन्त है। जैन धर्म की मान्यता हैं कि यदि सारी पृथ्वी एक मनुष्य की हो जाये तब भी उसको सन्तोष नहीं होगा। मनुष्य जितना प्राप्त करता है उतनी ही उसकी कामनायें बढ़ती जायेंगी। जीवन का वास्तविक सुख सांसारिक जीवन में नहीं है। अतः मनुष्य को सांसारिक (परिवार, सम्पत्ति आदि) जीवन का परित्याग कर कठोर तपस्या द्वारा मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिये।

2. कर्म और पुनर्जन्म—जैन धर्म मानव के कर्म और पुनर्जन्म में विश्वास करता है। जैन दर्शन के अनुसार मनुष्य का भाग्य निर्माता ईश्वर नहीं बल्कि वह स्वयं है। मनुष्य स्वयं अपने जीवन के सांसारिक और आध्यात्मिक कर्मों के लिए उत्तरदायी है। उसके सारे सुख-दुःख कर्म के कारण है। जैन ग्रन्थ सूत्रकृदंग में कहा गया है कि "कर्म करने से जो आनन्द प्राप्त होते हैं उनमें फंसे हुए लोग कभी दुःख और पाप से नहीं बच सकते।" मनुष्यों को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। इस संसार में समस्त प्राणी अपने-अपने कर्मों के कारण ही अस्तित्व में हैं। उनके भिन्न-भिन्न रूप, रंग, आकार और स्थिति उनके कर्मों के कारण ही है। कर्मों का पूरा फल भोगे बिना जीव को छुटकारा नहीं मिलता। इस प्रकार कर्मों से बंधा हुआ जीव संसार के चक्र में पड़ जाता है अर्थात् उसे पुनर्जन्म लेना पड़ता है।

3. जैन धर्म का जीव-अजीव का विचार—जैन दर्शन सम्पूर्ण जगत को दो द्रव्यों में विभाजित मानता है-जीव और अजीव। जीव चेतन और अजीव अचेतन तत्व है। जैन धर्म के अनुसार जीव का स्वरूप चैतन्य है। जीव अपने शुद्ध रूप में नित्य, सर्वव्यापक, अमूर्त और स्वयं प्रकाशित है। यह दूसरों को भी अपने से प्रकाशित करता है। साधारण रूप से जीव के दो भेद (प्रकार) हैं—बद्ध जीव और मुक्त जीव। बद्ध जीव वे हैं जो जन्ममरण के बन्धन में बन्धे हैं और मुक्त जीव वे हैं जो जन्ममरण के बन्धन से मुक्त हो गये हैं। बद्ध जीव के भी दो भेद हैं-स्थावर और त्रस या जंगम। स्थावर जीव में एक ही इन्द्रिय होती है। जल, पृथ्वी, वायु और वनस्पति स्थावर जीव है। त्रस या जंगम जीवों में पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। मनुष्य, पक्षी, पशु आदि त्रस या जंगम जीव हैं।

अजीव अचेतन तत्व है। अजीव तत्व अविनाशी है। अजीव तत्व के पाँच भेद हैं—(1) धर्म, (2) अधर्म, (3) आकाश, (4) पुदगल, (5) काल। ये समस्त तत्व जीवन और चेतना से शून्य हैं। इन तत्वों में पुद्गल अणुमय है और उसके अणुओं से ही अनुभव की सब वस्तुयें बनी है। समस्त जीव उसी से रचित है। पुद्गल ही कर्म है जो जीव के भीतर प्रविष्ट होकर संसार का कारण बनता है।

4. जैन धर्म की सात तत्वों की योजना—जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष प्राप्त करना मानव जीवन का परम लक्ष्य है। मोक्ष का अभिप्राय है जीव की कर्म बन्धन से पूर्ण मुक्ति। जैन धर्म में यह स्पष्ट किया गया है कि जीव किस तरह कर्म से सम्बद्ध होता है और किस तरह उसको कर्म से मुक्त किया जा सकता है। इसके लिये जैन दर्शन ने सात तत्वों की योजना प्रस्तुत की है। ये सात तत्व हैं—(1) जीव, (2) अजीव, (3) बन्धन, (4) आस्रव, (5) संवर, (6) निर्जरा, (7) मोक्ष। इनमें जीव और अजीव की चर्चा हम पहले कर चुके हैं।

बन्धन—जीव चेतन तत्व है और अपने विशुद्ध रूप में यह ज्ञान और दर्शन है। किन्तु शरीर धारण करने से वह बन्धन में पड़ जाता है। जीव का शरीर से संयोग ही बन्धन की अवस्था है। इस प्रकार बन्धन का अर्थ है—जन्म ग्रहण करना या शरीर धारण करना। जीव का शरीर से संयोग अर्थात् बन्धन दूषित मानसिक प्रवृतियों के कारण होता है। कर्म बन्धन का मूल कारण है। जीव अपने कर्मों के कारण शरीर धारण करता है। पूर्व जन्म के कर्मो के प्रभाव के कारण वासनायें उत्पन्न होती हैं। वासनायें तृप्त होना चाहती हैं। इससे मनुष्य कर्म करने के लिये प्रवृत होता है। कर्म फल के सिद्धान्त के अनुसार इस जन्म में संचित कर्म फलों को भोगने के लिये जीव को पुनः जन्म-ग्रहण करना पड़ता है। इस प्रकार वह बन्धन में पड़ जाता है।

आस्त्रव—सत्य के अज्ञान और राग-द्वेष, माया, मोह, रति आदि दूषित मानसिक मनोवेगों के कारण कर्म पुदगलों (अणुओं) का प्रवाह जीव की ओर होता रहता है। कर्म पुदगलों के जीव की ओर इस प्रवाह को ही आस्त्रव कहा जाता है।

संवर और निर्जरा—जीव को कर्म से मुक्त करने के लिए जैन दर्शन साधना की दो प्रक्रियायें बतलाता है—संवर और निर्जरा। वर्तमान जीवन में कर्म फलों के संचय को रोकना संवर कहलाता है। सम्यक ज्ञान और आत्म संयम से राग-द्वेष, मोह, माया आदि मानसिक दुष्प्रवृतियों का निरोध करके कर्मो का जीव की ओर प्रवाह रोकना ही संवर की साधना है। संवर के दो भेद हैं—भाव संवर और द्रव्य संवर।

मोक्ष के लिये पूर्वजन्म के कर्मफलों का नाश भी आवश्यक है। अतः पूर्व-जन्म के संचित कर्मफल जो पहले से ही जीव में चिपके हुए हैं। उनके नाश की प्रक्रिया को ही निर्जरा कहा जाता है। निर्जरा की प्रक्रिया कठोर तप द्वारा सम्भव थी। निर्जरा के भी दो भेद हैं—भाव निर्जरा और द्रव्य निर्जरा।

मोक्ष—जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष्य है। मोक्ष में जीवन का कर्म पुदगल से पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। जीव कर्म बन्धन के कारण ही भौतिक तत्व शरीर से बँधा है। जिस तरह बादलों से आच्छादित हो जाने के कारण सूर्य का प्रकाश दिखाई नहीं देता उसी प्रकार भौतिक तत्व (कर्म और शरीर) के आवरण से जीव का वास्तविक रूप लोप हो जाता है। भौतिक तत्व से मुक्त होने पर जीव विशुद्ध हो जाता है और उसे आत्मा के निहित ज्ञान और गुणों से साक्षात्कार हो जाता है। इस भौतिक तत्व को आत्मा से मुक्त कर देना ही मोक्ष है।

5. त्रिरत्न—जैन धर्म की प्रधान विशेषता उसका व्यवहारिक उपदेश है। जैन धर्म में ज्ञान और आचरण दोनों पर समान जोर दिया गया है। जीव के बन्धन

के पड़ने की प्रक्रिया की अभिव्यक्ति के साथ जैन धर्म ने उस प्रक्रिया को रोकने के उपाय भी व्यक्त किये हैं। वर्तमान जीवन में कर्मफलों का संचय रोकने और पूर्वजन्म के कर्मफलों के नाश के लिए जैन धर्म में त्रिरत्न का मार्ग बताया गया है। त्रिरत्न है—(1) सम्यक् दर्शन, (2) सम्यक् ज्ञान, (3) सम्यक् चरित्र।

(1) सम्यक् दर्शन—जैन आचार्य उमास्वामी के अनुसार सम्यक् दर्शन का अर्थ है—यथार्थ ज्ञान के प्रति श्रद्धा। जैन शास्त्रों और दर्शन में निहित ज्ञान के प्रति संशय रहित पूर्ण श्रद्धा या आस्था ही सम्यक् दर्शन है।

(2) सम्यक् ज्ञान—सम्यक् दर्शन में जैन धर्म और दर्शन के सिद्धान्तों के सारांश मात्र का ज्ञान होता है। सम्यक् ज्ञान में जीव और अजीव के मूल तत्त्वों का सम्पूर्ण ज्ञान होता है। यह ज्ञान असंदिग्ध तथा दोषरहित होता है। सम्यक् ज्ञान के मार्ग में कर्म बाधक है। अतः कर्मों के नाश से ही सम्यक् ज्ञान सम्भव है। जैन धर्म के अनुसार सम्यक् ज्ञान के पाँच भेद हैं—(1) मति, (2) श्रुति, (3) अवधि, (4) मनपर्याय, (5) कैवल्य।

(3) सम्यक् चरित्र—जिस ज्ञान को पूर्णतया जाना जा चुका है और जिसके प्रति पूर्ण श्रद्धा है उस ज्ञान को जीवन में लागू करने की प्रक्रिया सम्यक् चरित्र है। सम्यक् चरित्र का तात्पर्य है—सदाचारपूर्ण जीवन-यापन और तीर्थंकरों द्वारा दिखाये मार्ग पर चलना। इसमें मनुष्य द्वारा अपनी इन्द्रियों, कर्मों और वचनों पर नियंत्रण किया जाता है। सम्यक् चरित्र जैन धर्म का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है क्योंकि इसके पालन से ही जीव कर्म फलों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करने में सफल हो सकता है।

6. पंच महाव्रत—जैन धर्म आचार प्रधान है। इसमें नैतिक और सदाचारपूर्ण जीवनयापन पर विशेष बल दिया गया है। सम्यक् श्रद्धा और ज्ञान का उपयोग तब ही सम्भव है जब उसका आचरण नैतिक हो। आत्मा को पापों से बचाने के लिए जैन धर्म पाँच महाव्रतों का निर्देश करता है।

(1) अहिंसा महाव्रत—'अहिंसा परमो धर्मः' (अहिंसा सर्वोच्च धर्म है) यह जैन धर्म का सबसे प्रमुख सिद्धान्त है। जैन धर्म समस्त जगत में जीव का अस्तित्व मानता है। उनके अनुसार मनुष्य, पशु, पक्षी, वनस्पति, कीड़े-मकोड़े, पहाड़, यहाँ तक कि मिट्टी के कण-कण में आत्मा का निवास है। अहिंसा का अर्थ है—प्राणिमात्र के प्रति दया भाव। किन्तु जैन धर्म की अहिंसा कर्म की सीमा तक सीमित नहीं है। उन्होंने मन, वचन और कर्म की अहिंसा का प्रतिपादन किया है। कटु व्यवहार या वचनों द्वारा पीड़ा पहुँचाना तथा मन से किसी का बुरा चाहना भी जैन धर्म की दृष्टि में हिंसा है। दूसरे शब्दों में जीव मात्र के प्रति मन, वचन और कर्म से संयमपूर्ण व्यवहार ही अहिंसा है।

अहिंसा के इस व्यापक नियम का पालन करने के लिए जैन धर्म में अनेक नियम प्रतिपादित किये गए हैं जैसे—मधुर वाणी का प्रयोग, दिन के प्रकाश में

भोजन, पद चालन में संयम आदि। जैन मत में कृषि करना भी निषेध है क्योंकि खेत जोतने से जीवों की हिंसा होने का भय है। चूंकि सांसारिक जीवन में पूर्ण अहिंसा असम्भव है। अतः जैन धर्म में गृहस्थ अनुयायियों के लिए 'स्थूल अहिंसा' का प्रतिपादन किया गया। स्थूल अहिंसा का तात्पर्य है निरपराधियों के प्रति हिंसा न करना।

(2) सत्य महाव्रत—सत्य का अर्थ है मिथ्या वचन का परित्याग। जैन धर्म का आदेश है कि मनुष्य सदैव सत्य और मधुर वाणी का प्रयोग करे। जैन मत के अनुसार भय, क्रोध अथवा लालच के वश में भी असत्य न बोला जाय, यहां तक कि हँसी-मजाक में भी असत्य नहीं बोलना चाहिए।

(3) अस्तेय महाव्रत—अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। जैन मत के अनुसार बिना दिये या बिना अनुमति के किसी की वस्तु ग्रहण नहीं करनी चाहिए। जीवन का अस्तित्व धन से है। अतः धन की चोरी करना प्राणों की हिंसा के समान है।

(4) अपरिग्रह महाव्रत—अपरिग्रह का अर्थ है विषयासक्ति का त्याग। जैन धर्म के अनुसार धन-धान्य, वस्त्र आदि किसी वस्तु का संग्रह न करना अपरिग्रह है। संग्रह की प्रवृत्ति से सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है। अतःमोक्ष प्राप्त करने के लिए सांसारिकवस्तुओं के प्रति अनासक्ति आवश्यक है।

(5) ब्रह्मचर्य महाव्रत—ब्रह्मचर्य का अर्थ है वासनाओं का परित्याग। पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतों का निर्देश दिया था। महावीर ने उसमें ब्रह्मचर्य का पांचवां महाव्रत जोड़ दिया। जैन धर्म के ब्रह्मचर्य में इन्द्रिय सुख ही नहीं बल्कि मानसिक, बाह्य, सूक्ष्म, स्थूल, लौकिक, पारलौकिक सभी प्रकार की वासनाओं का परित्याग आ गया। जैन धर्म में मोक्ष के लिए ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक माना गया है।

7. पंच अणुव्रत—जैन धर्म के गृहस्थ अनुयायियों के लिए पांच अणुव्रतों का प्रतिपादन किया गया है—(1) अहिंसा अणुव्रत, (2) सत्य अणुव्रत, (3) अस्तेय अणुव्रत, (4) अपरिग्रह अणुव्रत, (5) ब्रह्मचर्य अणुव्रत। ये पांच अणुव्रत पांच महाव्रतों के समान ही हैं। इन अणुव्रतों में गृहस्थों के लिए महाव्रतों की कठोरता कम कर दी गई है। अपरिग्रह अणुव्रत के अन्तर्गत आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति का संग्रह निषेध है और ब्रह्मचर्य अणुव्रत में परस्त्री गमन को निषेध बताया गया है।

8. जैन धर्म के 10 लक्षण—जैन धर्म के अनुसार धर्म के 10 लक्षण बताये गए हैं जो निम्नलिखित हैं—

(1) उत्तम क्षमा, (2) उत्तम मार्दव (गर्व का अन्त कर देना), (3) उत्तम मार्जव (सरलता ग्रहण करना), (4) उत्तम शौच (आत्मा का शुद्धिकरण), (5) उत्तम सत्य, (6) उत्तम संयम, (7) उत्तम तप, (8) उत्तम अकिंचन (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र) (9) उत्तम ब्रह्मचर्य तथा (10) उत्तम त्याग ।

9. व्रत तथा तपस्या पर बल देना—जैन धर्म में आत्मा की शुद्धि के लिए व्रत और कठोर तपस्या आदि पर बहुत बल दिया गया है। महावीर स्वामी ने स्वयं कठिन तप के उपरान्त 'कैवल्य' ज्ञान प्राप्त किया था और 'जिन' कहलाये। जैन धर्म के अनुसार दुःखों का कारण बुरे कर्म हैं। मनुष्य वासनाओं में फँसा रहता है। जब तक मनुष्य कठिन तप करके अपनी सांसारिक इच्छाओं का बिल्कुल अन्त नहीं कर देता तब तक उसको मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। अतः जैन धर्म में भिक्षुओं के लिए व्रत, उपवास, कठोर तप आदि आवश्यक बताये गए हैं। केशलुञ्चन तथा आमरण अनशन को भी जैन धर्म में महत्त्वपूर्ण माना गया है।

10. अठारह पापों से दूर रहना—जैन धर्म में 18 प्रमुख पाप बतलाये गये हैं। ये 18 पाप हैं—(1) हिंसा, (2) झूँठ, (3) चोरी, (4) मैथुन, (5) परिग्रह, (6) क्रोध, (7) मान, (8) माया, (9) लोभ, (10) राग, (11) द्वेष, (12) कलह, (13) दोषारोपण, (14) चुगली, (15) असंयम में रति, (16) निन्दा, (17) छल-कपट तथा (18) मिथ्या-दर्शन।

जैन धर्म के अनुसार इन पापों के भार से ही जीव भारी हो जाता है और वह नीचे नरक की ओर गिरता है। जब इन पापों का नाश हो जाता है तो जीव हल्का हो जाता है और गगन की ओर ऊपर उठता है। यही उसका निर्वाण मार्ग पर अग्रसर होना है।

जैन धर्म के दार्शनिक सिद्धान्त

(1) स्याद्वाद या अनेकान्तवाद—स्याद्वाद जैन धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है जो इस मान्यता पर आधारित है कि तत्त्व का स्वरूप सर्वथा अनिश्चित होता है। 'स्याद्' शब्द 'अस्' (होना) धातु से बना है और इसका अर्थ है—हो सकता है, शायद। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु के अनन्त पक्ष होते हैं, इसलिए उसे अनेक दृष्टिकोणों से भिन्न-भिन्न रूपों में देखा जा सकता है। अतः किसी वस्तु के स्वरूप के बारे में हमारे सभी कथन सापेक्ष रूप से सही हो सकते हैं, एकान्तिक रूप से नहीं। सत्य के अनेक पहलू हैं और परिस्थिति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को उसका आंशिक ज्ञान होता है। कोई व्यक्ति यह दावा नहीं कर सकता कि उसका मत ही सत्य है तथा दूसरों का गलत है। जिस प्रकार जब सात जन्मान्ध व्यक्तियों से हाथी के सम्बन्ध में पूछा गया तो किसी ने उसकी तुलना खम्भे से

(पैर छू कर), किसी ने पंखे से (कान छू कर). किसी ने शिला से (शरीर देखकर), और किसी ने रस्से से (पूंछ छूकर) की परन्तु कोई भी उचित उत्तर नहीं दे सका। किन्तु जो कुछ उन्होंने कहा उसमें कुछ न कुछ सत्य अवश्य था। उनमें हर एक का हाथी विषयक ज्ञान आंशिक था और किसी को भी हाथी का वास्तविक ज्ञान नहीं था क्योंकि उनमें से प्रत्येक हाथी के एक-एक अंग का स्पर्श कर अनुमान लगाता है।

जैन दर्शन के अनुसार तत्व का स्वरूप अत्यन्त जटिल है। उसके अनन्त पक्षों का ज्ञान तो मोक्ष की अवस्था में ही सम्भव है साधारण व्यक्ति उसके कुछ पक्षों का ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है सब पक्षों का नहीं। तत्व के सम्बन्ध में प्रत्येक मत अंशतः तो सही हो सकता है किन्तु पूर्णतः नहीं। सभी कथन सापेक्षिक रूप से सत्य हो सकते हैं एकान्तिक रूप से नहीं। अतः उसके स्वरूप को एक वाक्य द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। ज्ञान के इस सापेक्ष स्वभाव को जैन दर्शन में निम्नलिखित सात चरणों के कथन द्वारा व्यक्त किया जाता है जिसे 'सप्तभंगी न्याय" भी कहते हैं। ये सात चरण हैं—

(1) शायद वह है (स्यात् अस्ति)

(2) शायद वह नहीं है (स्यात् नास्ति)

(3) शायद वह है भी और नहीं भी है (स्यात् अस्ति च नास्ति च)

(4) शायद वह नहीं कहा जा सकता (स्यात् अवक्तव्यः)

(5) शायद वह है, किन्तु कहा जा सकता (स्यात् अस्ति च अवक्तव्यः)

(6) शायद वह नहीं है और कहा भी नहीं जा सकता (स्यात् नास्ति च अवक्तव्यः)

(7) शायद है, वह नहीं है और कहा भी नहीं जा सकता (स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यः).

इस प्रकार स्यादवाद जैन दर्शन का एक उदार और सामंजस्यपूर्ण सिद्धान्त है जो यह प्रदर्शित करता है कि कोई भी दृष्टिकोण निरपेक्ष रूप से सत्य नहीं हो सकता केवल सापेक्ष रूप से ही यह सम्भव है। यह समन्वयवादी दृष्टिकोण है जो जैन धर्म की बौद्धिक उदारता का परिचायक है। श्री दिनकर के अनुसार "जैन धर्म के अनेकान्तवाद में समन्वय, सह-अस्तित्व और सहनशीलता का उत्कृष्ट रूप प्रकट हुआ है।"

(2) आत्मा के अस्तित्व में विश्वास—जैन धर्मावलवम्बी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और उसे अजर-अमर मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा पर दुखों का कोई प्रभाव नहीं होता है। महावीर स्वामी के अनुसार विश्व में दो

बुनियादी पदार्थ हैं—जीव और अजीव । दोनों ही अनादि और स्वतन्त्र हैं । जीव का अर्थ आत्मा ही है । महावीर स्वामी का विश्वास था कि जीव संसार के कण-कण में पाया जाता है तथा सभी जीव समान हैं । जीव को निकाल कर जो विश्व शेष रह जाता है वह सब अजीव है । जीव अपने शुद्ध रूप में सर्वज्ञ और स्वयं प्रकाशमान है । यह चेतन तत्व ही आत्मा है ।

(3) **अनेकात्मवाद**—जैन धर्म आत्मा की एकता को स्वीकार नहीं करता है । वह तो यह मानता है कि समस्त जीवों में अलग-अलग आत्माएँ होती हैं । जैन धर्म का कहना है कि "यदि समस्त जीवों में केवल एक ही आत्मा होती तो वे एक दूसरे से पृथक रूप में न पहचाने जा सकते और न उसकी भिन्न-भिन्न गतिविधि होती, पृथक-पृथक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, कीड़े-मकोड़े, पक्षी और सर्प न होते सभी मनुष्य और देवता होते । हमारी दृष्टि में इस संसार में जीवन व्यतीत करने वाले और सदाचार करने वाले दोनों प्रकार के जीव समान होते हैं ।"

(4) **सृष्टि और ईश्वर**—जैन धर्म ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखता है । महावीर स्वामी सृष्टि की नित्यता में विश्वास करते थे और ये मानते थे कि सृष्टि अथवा विश्व का संचालन करने के लिए ईश्वर जैसी किसी अलौकिक शक्ति की आवश्यकता नहीं है । ईश्वर इस सृष्टि का रचयिता और कर्त्ता नहीं है तथा सृष्टि और प्रकृति अनादि हैं और प्रवाह रूप से जारी रहती है । उनके अनुसार संसार में छः द्रव्य हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । संसार इन द्रव्यों का समुदाय है । ये तत्व शाश्वत, नित्य और अनश्वर हैं । अतः इन तत्वों से निर्मित संसार भी शाश्वत, नित्य और अनश्वर है ।

जैन धर्म के प्रचार के सीमित रहने के कारण

जैन धर्म बौद्ध धर्म की अपेक्षा कम प्रचलित हुआ। इस धर्म को देशव्यापी व अन्तर्देशीय धर्म होने का गौरव प्राप्त न हो सका । भारत के सीमित क्षेत्र के अलावा यह धर्म कभी विदेशों में भी नहीं फैल सका जबकि बौद्ध धर्म न केवल अन्तर्देशीय बल्कि अपनी अन्तर्राष्ट्रीय पहचान बनाने में सफल हुआ । जैन धर्म का अधिक प्रचलित न होने के कुछ कारण थे जो निम्नलिखित थे—

1. कठोर तपस्या—जैन धर्म अत्यन्त कठोर तपस्या पर बल देता है । महावीर स्वामी के अहिंसा, नग्नता, केश मुण्डन व आमरण अनशन तथा कठोर तप के सिद्धान्त जनता के लिए अव्यावहारिक सिद्ध हुए । यह सब कठोर तप जनता की क्षमता के बाहर थे जो प्रिय नहीं हो सके । दूसरी ओर महात्मा बुद्ध ने मध्यमार्ग (Middle Path) खोज निकाला जिसमें न कठोर तपस्या पर बल दिया न भोग विलास पर बल्कि सदाचार पर बल दिया गया था । फलतः जनसाधारण उसे अपना सकता था । अतः यह बौद्ध धर्म की भाँति व्यापक क्षेत्र में न फैल सका ।

2. अहिंसा पर बल—जैन धर्म अहिंसा पर अत्यधिक बल देता है। वह सभी जड़, चेतन, वस्तुओं, वृक्षों, पौधों, पशुओं में आत्मा का अस्तित्व मानता है वह किसी भी पशु पक्षी, कीड़े-मकोड़ों को न मारने व किसी को मन, कर्म, व वाणी से दुख न देने की शिक्षा देता था। जैन मुनि नंगे पैर व मुंह पर पट्टी बांधे फिरते हैं ताकि किसी जीव की हत्या न हो जाए। गृहस्थ जीवन में इसका कठोरतापूर्ण पालन करना कठिन है। इसलिए यह धर्म साधारणतया लोकप्रिय न हो सका।

3. संगठित प्रचार का अभाव—बौद्ध धर्म की भांति जैन भिक्षुओं का भी संघ था परन्तु जिस तरह महात्मा बुद्ध ने भिक्षुओं को विभिन्न दिशाओं में जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार करने का आदेश दिया उस प्रकार महावीर ने प्रेरित नहीं किया। फलत: जैन संघों व मुनियों ने विदेशों में धर्म प्रचार की रुचि प्रारम्भिक काल से ही नहीं अपनाई। बौद्ध संघ सभाओं की तरह जैन सभाओं ने कोई निर्णय न लिए। जहाँ बौद्ध धर्म को प्रतिभाशाली प्रचारकों व विद्वानों का प्रश्रय मिला वहाँ जैन धर्म में इसका अभाव रहा। अश्वघोष, नागार्जुन व बुद्धघोष जैसे विद्वान् जैन धर्म को नहीं मिल पाये जिसके कारण वह लोकप्रिय न हो सका।

4. बौद्ध धर्म से मुकाबला-- जैन धर्म की उस समय बौद्धधर्म से प्रबल प्रतिस्पर्धा थी। बौद्ध धर्म कठोर तप की अपेक्षा मध्यमार्ग पर बल देता था। जब लोगों को यह विश्वास हो गया कि मध्यमार्ग से भी मोक्ष की प्राप्त हो सकती है तो वह जैन धर्म की कठोर तपस्या मार्ग को छोड़कर बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित हुए।

5. हिन्दू धर्म से मुकाबला—जैन धर्म का उस समय हिन्दू धर्म से भी कड़ा मुकाबला था क्योंकि लोग वैदिक या पौराणिक धर्म छोड़कर ही इसे अपना सकते थे।

ब्राह्मण वैदिक या हिन्दू धर्म के अगुवा थे। उन्होंने जैन व बौद्ध धर्म से मुकाबला करने के लिए अनेक सुधार किए। ब्राह्मण धर्म के अनेक सामाजिक संस्कार, भक्तिवाद और बहुसंख्यक देवी-देवता जैन धर्म में प्रवेश पा गए जिसके फलस्वरूप जैन धर्म की नूतनता समाप्त हो गई। अतः इसका प्रभाव व्यापक न हो सका।

6. राजधर्म पर प्रतिष्ठित न होना-- जैन धर्म को कुछ राजाओं ने संरक्षण प्रदान किया परन्तु यह कभी भी राजधर्म न बन सका। जितना संरक्षण बौद्ध धर्म व हिन्दू धर्म को मिला उतना जैनों को न मिला। उदाहरण स्वरूप सम्राट अशोक मीनेण्डर, कनिष्क, हर्ष अनेक राजाओं ने बौद्ध धर्म को संरक्षण दिया तथा विदेशों में धर्म प्रचारक भेजे व विदेशी यात्रियों को संरक्षण दिया। इसी तरह हिन्दू धर्म को भी शुंग, गुप्त व राजपूतों का संरक्षण मिला। यदि जैन धर्म को भी इसी प्रकार संरक्षण मिलता तो यह सीमित न रह पाता।

7. जैन साहित्य की भाषा--जैन साहित्य की भाषा प्राकृत थी जो लोक भाषा नहीं थी। धर्म प्रचार हेतु लोक भाषा के साहित्य की अत्यधिक आवश्यकता पड़ती है ऐसे साहित्य के अभाव में यह धर्म अधिक न पनप सका।

8. जैन मत में कुरीतियों का प्रवेश—जैनों में बाद में अनेक कुरीतियाँ पैदा हो गई। जैन तीर्थकरों की मूर्तियाँ मन्दिरों में प्रतिष्ठित होने लगी, त्यौहार व उत्सव आयोजित होने लगे। मन्दिर निर्माण और उत्सवों पर लाखों रुपये खर्च होने लगे। यह धर्म सादा न रहकर खर्चीला हो गया जिससे लोगों ने धर्म परिवर्तन कर लिया।

9. तुर्कों के आक्रमण—भारत पर तुर्कों व अफगानों के अनेक आक्रमण हुए थे। वे तुर्क होने के कारण मूर्ति पूजा के विरुद्ध थे। वह हिन्दुओं, बौद्धों व जैनियों के मन्दिर मठो को नष्ट करने लगे थे। जैन व बौद्ध अहिंसावादी प्रवृति के होने के कारण उनका मुकाबला न कर सके व अनेक भागों में अल्पसंख्यकों के रूप में चले गए जो पुनः प्रतिष्ठित न हो सके। उत्तरी भारत में बौद्ध धर्म तो सम्पूर्ण नष्ट हो गया। परन्तु जैन धर्म नष्ट न हुआ अपितु क्षीण हो गया।

जैन धर्म के भारत से लोप न होने के कारण— बौद्ध धर्म भारत से लोप हो गया परन्तु जैन धर्म भारत में अभी तक जीवित है। आज भी भारत में जैन धर्म के लाखों अनुयायी हैं, उनके मन्दिर हैं, उनके धार्मिक पर्व और त्यौहार हैं। जैन धर्म के भारत से लोप न होने के कारण निम्नलिखित हैं—

(1) जैन धर्म के स्थायित्व का मुख्य कारण यह है कि जैन धर्म का दृष्टिकोण उदारवादी रहा है और उसने हिन्दू धर्म से अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ा है। जैन धर्म में कठिन तप, ज्ञान, मोक्ष, सदाचार आदि की बातें जो बताई गई हैं वे हिन्दुओं को विचित्र नहीं लगीं और वे अपनी रूढ़िवादिता को न त्यागते हुए भी इस नवीन धर्म को स्वीकार करने के लिए तैयार हो गए। जैन धर्म ने भी तीर्थयात्रा, भेंट-पूजा कथा-कीर्तन, मूर्ति-पूजा आदि अनेक तत्वों को ग्रहण कर लिया और हिन्दू-धर्म से अपना साम्य बनाये रखा। **श्रीमती स्टीवेन्सन** का कथन है कि "बौद्ध धर्म को नष्ट करने पर तुले हुए उग्रवादी ब्राह्मण-धर्मावलम्बी अपने समुदाय में अन्तर्निहित जैन समुदाय को देख ही न सके। परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म को उत्पीड़न और अत्याचार से बहुत कम क्षति पहुँची।"

(2) जैन धर्म के अनुयायियों की संख्या सीमित रहने से उनमें एकता और संगठन की भावना बनी रही। उनके सामने अस्तित्व बनाये रखने का प्रश्न था। अतः उन्होंने अपने पारस्परिक भेदभाव की उपेक्षा करते हुए पारस्परिक एकता और संगठन को अक्षुण्ण रखा।

(3) कालान्तर में जैन धर्म के अनुयायी एक जाति के रूप में संगठित हो गए। अपने समुदाय के अन्तर्गत ही विवाह और खान-पान की सुविधा के कारण जैन अनुयायी धार्मिक आधार के साथ-साथ जातीय आधार पर भी संगठित हो गए। इस कारण भी जैन धर्म अपना स्थायित्व बनाये रखने में सफल हुआ।

(4) जैन धर्म ने आचरण की पवित्रता पर अत्यधिक बल दिया। परिणामस्वरूप जैन धर्म में दुराचार और भ्रष्टाचार का प्रवेश नहीं हो सका। इसके विपरीत

बौद्ध धर्म के मठ दुराचार और विलासिता के केन्द्र बन गए। अतः जैन धर्म अपनी पवित्रता को बनाये रखने में सफल हुआ।

(5) हिन्दू धर्म की भाँति जैनियों ने भारत के बड़े नगरों में मन्दिरों, धर्मशालाओं, पाठशालाओं आदि का निर्माण करवाया जिनसे लाखों भारतीय लाभान्वित हुए हैं। जैनियों ने समाज-सेवा के आदर्श को सर्वोच्च स्थान दिया है और इसी कारण उसका अस्तित्व आज भी बना हुआ है।

(6) जैन धर्म ने हिन्दू धर्म की कुरीतियों पर उतनी उग्रता से प्रहार नहीं किया जितना की बौद्ध धर्म के आचार्यों ने किया है। जैन धर्म का दृष्टिकोण समन्वयवादी रहा है जिसके परिणामस्वरूप उसका अस्तित्व आज भी भारत में बना हुआ है।

जैन धर्म की भारतीय संस्कृति को देन—जैन धर्म का उत्कर्ष भारतीय संस्कृति के लिए लाभप्रद सिद्ध हुआ। यह धर्म-सुधार आन्दोलन बड़ा प्रभावशाली था। जैन धर्म ने भारतीय संस्कृति को समृद्ध बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। जैन धर्म की भारतीय संस्कृति को देनों का विवेचन निम्नलिखित है :

(1) अहिंसा का सिद्धान्त—यद्यपि जैन धर्म से पूर्व ही भारत में अहिंसावादी भावना विकसित हो चुकी थी किन्तु जैन धर्म ने ही सबसे पहले अहिंसा के सिद्धान्त को दैनिक जीवन में आचरण का विषय बनाया। इसको एक व्यावहारिक रूप देने का जैन धर्म ने ही प्रयास किया। जैन धर्म मन, वाणी तथा कर्म तीनों ही प्रकार की हिंसा से बचने का उपदेश देता है। इस अहिंसा के सिद्धान्त ने भारतीय जनता को इतना प्रभावित और आकर्षित किया कि बहुत शीघ्र ही अन्य धर्मों ने भी इसे अपना लिया और अन्ततः यह भारतीय संस्कृति का एक विशिष्ट अंग बन गया। 'अहिंसा परमो धर्मः' आज प्रत्येक भारतीय का आदर्श है।

(2) संयमशील जीवन—जैन धर्म ने शुद्ध आचरण, त्याग, परोपकार, अपरिग्रह, संयम आदि सद्‌गुणों का प्रचार करते हुए एक नवीन समाज की रचना पर बल दिया। जैन धर्म के पंच महाव्रतों, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह सिद्धांतों ने भारतीय सामाजिक जीवन में नवजीवन का संचार किया और भारतीय नागरिकों के चरित्र-निर्माण में उल्लेखनीय योग दिया है।

(3) भारतीय साहित्य का विकास—जैन धर्म की साहित्यिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण देन है। जैन विद्वानों ने संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, तमिल, तेलगू आदि भाषाओं में अनेक ग्रन्थों की रचना की जिससे इन भाषाओं के साहित्य में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। महावीर स्वामी ने अपने समस्त उपदेश प्राकृत भाषा में दिये और जैन धर्म से सम्बन्धित साहित्य भी प्राकृत भाषा में ही रचा गया। जैन धर्म के प्रसिद्ध 12 अंग, 12 उपांग, 10 प्रकीर्ण, 6 छेदसूत्र तथा 4 मूल सूत्र इत्यादि प्राकृत भाषा में ही लिखे गए हैं। इससे प्राकृत भाषा का साहित्य समृद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त जैन विद्वानों ने संस्कृत में व्याकरण, काव्य, कोष, छन्द शास्त्र, कथाओं आदि विषयों पर बड़े

उत्तम ग्रन्थ लिखे। जैन धर्म का महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'कल्पसूत्र' संस्कृत भाषा में ही है। इसके अतिरिक्त जैनों ने तमिल, कन्नड़, तेलगू, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं में भी अनेक उत्तम ग्रन्थ लिखे हैं। जैन धर्म के प्रसिद्ध विद्वान् हेमचन्द्र ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। उन्होंने दो शब्द कोष और एक प्राकृत भाषा का व्याकरण लिखा। उन्होंने 'जैन साधुओं का जीवन', 'गुजरात का इतिहास', 'योगशास्त्र' आदि ग्रन्थों की भी रचना की। डॉ. राजवली पाण्डेय का कथन है कि 'ऐतिहासिक दृष्टि से जैन साहित्य का सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ आचार्य हेमचन्द्र लिखित 'परिशिष्टपर्वन' है। इसमें जैन साहित्य की बिखरी हुई ऐतिहासिक सामग्री एकत्रित कर दी गई है।" अतः हमारे देश के साहित्य को समृद्ध बनाने में जैन विद्वानों का उल्लेखनीय योगदान रहा है।

(4) **कला के क्षेत्र में देन**—भारतीय कला के स्वरूप को निखारने और उन्नत बनाने में भी जैन धर्म का काफी हाथ रहा है। स्मारकों, स्तूपों, मन्दिरों, मठों एवं गुफाओं के रूप में जैन धर्म की कला सम्बन्धी देन उल्लेखनीय है। जैनों ने अपने तीर्थंकरों और अन्य मुनियों और महापुरुषों की स्मृति को बनाने रखने के लिए और धर्म प्रचार के लिए अत्यन्त सुन्दर मन्दिर, मठ और स्तूप बनवाये। उन्होंने उनको पत्थर की रेलिंग, सुन्दर प्रवेश द्वारों, सोने-चाँदी के छत्रों, उत्कीर्ण स्तम्भों इत्यादि से अलंकृत किया। जैनों द्वारा निर्मित गुफाओं में उदयगिरी में सिंह-गुफा तथा एलोरा में इन्द्र-सभा आदि महत्वपूर्ण हैं। कलिंगराज खारवेल का हाथी गुम्फा का मन्दिर जैन कला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। इसके अतिरिक्त सौराष्ट्र, मध्य प्रदेश राजस्थान आदि के जैन मन्दिर भी स्थापत्य कला के सुन्दर प्रतीक हैं। मध्य प्रदेश में खुजराहो के जैन मन्दिर, काठियावाड़ की गिरनार और पालीताना पहाड़ियों पर बने जैन मन्दिर, रणकपुर (जोधपुर) और पारसनाथ (बिहार) के मन्दिर भी शिल्प-कला के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। राजस्थान में आबू पर्वत पर बने हुए जैन-मन्दिर स्थापत्य कला के दृष्टिकोण से अत्यन्त उच्चकोटि के माने जाते हैं। जैन तीर्थंकरों की विशाल आकार वाली मूर्तियाँ बनाने में तो जैन कलाकारों को अद्वितीय कहा जा सकता है। मैसूर के श्रवण बेलगोला और करकल नामक स्थानों से प्राप्त होने वाली जैन तीर्थंकरों की विशालकाय मूर्तियाँ भव्यता, सौन्दर्य और अनुपात की दृष्टि से बेजोड़ हैं।

(5) **जैन दर्शन**—दार्शनिक क्षेत्र में भी जैन धर्म की महत्वपूर्ण देन है। स्यादवाद के रूप में जैन धर्म ने भारतीय संस्कृति को एक अमूल्य दार्शनिक सिद्धान्त प्रदान किया है। स्यादवाद के अनुसार सत्य के अनेक पहलू हैं और परिस्थितियों के अनुसार व्यक्ति को केवल उसका आंशिक ज्ञान होता है। कोई यह दावा नहीं कर सकता कि उसका मत सत्य है और दूसरों का गलत है। अतः स्यादवाद जैन धर्म की बौद्धिक उदारता और सहिष्णुता का परिचायक है। जैन धर्म के स्यादवाद के सिद्धान्त ने हमारे देश में धार्मिक उदारता और सहिष्णुता का वातावरण बनाने में काफी सहायता की है।

(6) समाज सेवा की भावना—जैनों ने समाज-सेवा के लिए अनेक औषधालय खोले जहाँ मुफ्त दवाईयाँ मिलती थी। इससे निर्धनों को बड़ा लाभ हुआ और उनमें जैन धर्म के प्रति स्वाभाविक रूप से श्रद्धा जागृत हो गई। जैनों ने धर्मार्थ हजारों पाठशालाएँ तथा धर्मशालाएँ बनवाई। इससे समाज पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा और लोगों में समाज सेवा तथा दान देने की प्रवृत्ति में बढ़ोतरी हुई।

(7) संघ व्यवस्था—महावीर स्वामी ने जैन धर्म का प्रचार सुव्यवस्थित ढंग से करने के उद्देश्य से भिक्षु-संघ की स्थापना की थी। भारत में जैन धर्म को लोकप्रिय बनाने में इस संघ व्यवस्था का बहुत बड़ा हाथ था। संघ व्यवस्था की इस उपयोगिता को देखते हुए अन्य भारतीय धर्मों ने भी इसे अपना लिया। भारतीय धर्मों में यह संघ-व्यवस्था आज तक किसी न किसी रूप में विद्यमान है। इस प्रकार संघ-व्यवस्था के रूप में जैन धर्म की भारतीय संस्कृति को एक महत्वपूर्ण देन है।

(8) नारी-स्वतन्त्रता—महावीर स्वामी नारी स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक थे। पार्श्वनाथ ने भी नारी-स्वतन्त्रता का समर्थन किया था। जैन धर्म ने भी स्त्री-, पुरुष की समानता में विश्वास व्यक्त किया और स्त्रियों को भी पुरुषों की भाँति निर्वाण प्राप्त करने का अधिकारी घोषित किया। उन्हें भी पुरुषों की भाँति ही जैन-संघ में प्रवेश होने का अधिकार दिया गया। इस प्रकार जैन धर्म ने भारतीय नारियों के आत्म-गौरव को अक्षुण्ण रखने में महत्वपूर्ण योग दिया।

(9) वैदिक धर्म में सुधार—जैन धर्म का उदय वैदिक धर्म की बुराइयों के प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था। अतः जैन धर्म ने वैदिक धर्म में प्रचलित यज्ञों, पशुबलि, पुरोहितवाद और कर्मकाण्डों का खण्डन किया। जैन धर्म ने जाति प्रथा और ऊँच-नीच के भेद-भावों का विरोध किया और इस बात पर बल दिया कि धर्म का पालन करने तथा मोक्ष प्राप्त करने का सभी को समान अधिकार है। इससे वैदिक धर्म के अनुयायियों को भी अपने धर्म के दोषों को दूर करने और उसे लोकप्रिय बनाये रखने के लिए प्रेरणा प्राप्त हुई। अतः जैन धर्म ने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी कि वैदिक धर्मावलम्बियों को अपने धर्म में सुधार करने के लिए अनेक कदम उठाने पड़े।

5
बौद्ध धर्म
(Buddhism)

भारतीय धर्मों के इतिहास में बौद्ध धर्म का इतिहास अद्वितीय है। इस धर्म का उदय भी जैन धर्म की तरह छठी शताब्दी ई. पू. में हुआ था। बौद्धमत भी वैदिक यज्ञों और कर्मकाण्डों के विरुद्ध प्रतिक्रिया का परिणाम था। वह एक सामाजिक और नैतिक आन्दोलन था। वैदिक कर्मकाण्डों के विरुद्ध उपनिषदों में जो ज्ञान की धारा प्रवाहित हुई उसकी चरम परिणति बौद्ध धर्म के रूप में हुई। वैदिक धर्म जनसाधारण की धार्मिक आकांक्षाओं को पूरा करने में असफल रहा था। उसके यज्ञ और कर्मकाण्ड अत्यन्त जटिल और व्यय साध्य थे। अस्पृश्यता और ऊँच-नीच की भावना के कारण समाज में शूद्रों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। उपनिषद् का ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म और गूढ़ था जो जनसामान्य की समझ के परे था। उस युग में एक ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जो कर्मकाण्डों से दूर सादा और सरल हो, जो व्यावहारिक और सामाजिक समानता के सिद्धान्तों पर आधारित हो। ऐसे समय में गौतम बुद्ध का उदय हुआ जिन्होंने वैदिक कर्मकाण्डों, आडम्बरों और सामाजिक असमानता के विरुद्ध आवाज उठाई। गौतम बुद्ध ने **अहिंसा, संयम सदाचार तथा परोपकार से मोक्ष प्राप्ति का मार्ग सुझाया।** बुद्ध के इन आदर्श विचारों ने भारत की ही नहीं अपितु विश्व की अधिकांश जनता को प्रभावित किया। बुद्ध के अमर सन्देश से सम्पूर्ण विश्व को शान्ति की प्रेरणा मिली।

महात्मा बुद्ध का जीवन चरित

प्रारम्भिक जीवन—महात्मा बुद्ध बौद्ध धर्म के प्रवर्तक और संस्थापक थे। उनका जन्म 563 ई. पू. में नेपाल की तराई में स्थित कपिलवस्तु के निकट लुम्बनी-वन में हुआ था। इनके पिता शुद्धोदन शाक्य क्षत्रिय गणराज्य कपिलवस्तु के प्रमुख थे। उनकी माता का नाम महामाया था जो कोलिय गणराज्य की राजकुमारी थी। गौतम बुद्ध के जन्म के सातवें दिन इनकी माता महामाया का देहान्त हो गया। अतः उनका पालन-पोषण उनकी मौसी महाप्रजापति गौतमी ने किया। बुद्ध के बचपन का नाम सिद्धार्थ था। बुद्ध को बौद्ध साहित्य में गौतम भी कहा गया है। सिद्धार्थ के जन्म के समय कालदेवल नामक तपस्वी तथा एक ब्राह्मण कौण्डिण्य ने भविष्यवाणी की थी यह बालक आगे चलकर बुद्ध होगा।

सिद्धार्थ का प्रारम्भिक जीवन अत्यन्त सुख-समृद्धि के बीच व्यतीत हुआ। उनके रहने के लिए तीन ऋतुओं के अनुरूप अलग-अलग महल बनवाये गये। राजा शुद्धोदन का यही प्रयत्न था कि सिद्धार्थ की संसार त्याग की संभावना का निराकरण कर उसे सांसारिकता में फंसाया जाय।

सिद्धार्थ को राजकुमारों की भाँति शस्त्र विद्या तथा अन्य विद्याएँ सिखाई गई परन्तु उनका मन सांसारिक कार्यों में नहीं लगा था। वे बचपन से ही चिन्तनशील स्वभाव के थे। प्रायः वे जीवन की गूढ़ समस्याओं पर विचार किया करते थे। अतः राजा शुद्धोदन ने सिद्धार्थ की एकान्तप्रिय और चिन्तनशील प्रवृत्ति को देखकर उसे गृहस्थ-जीवन में लगा देने का निश्चय कर लिया और शीघ्र ही 16 वर्ष की अवस्था में सिद्धार्थ का विवाह यशोधरा नामक एक सुन्दर कन्या के साथ कर दिया। कुछ समय के पश्चात् सिद्धार्थ के एक पुत्र भी हुआ जिसका नाम राहुल रखा गया। इस अवसर पर सिद्धार्थ ने दुःखी होकर कहा था कि **"आज मेरे बन्धन श्रृंखला की एक कड़ी और बढ़ गई है।"** इस प्रकार विलासपूर्ण विवाहित जीवन भी सिद्धार्थ के स्वभाव में परिवर्तन नहीं ला सका। सिद्धार्थ की संसार के प्रति विरक्ति बढ़ती चली गई।

चार महान् संकेत—बौद्ध साहित्य में ऐसी अनेक घटनाओं और दृश्यों के उल्लेख मिलते हैं जिनसे सिद्धार्थ की चिन्तनशील स्वभाव को बढ़ावा मिला। बौद्ध साहित्य के अनुसार नगर भ्रमण के दौरान भिन्न-भिन्न अवसरों पर सिद्धार्थ ने मार्ग में पहले जर्जर शरीर वृद्ध, फिर व्यथापूर्ण रोगी, फिर मृतक और अन्त में प्रसन्नचित संन्यासी को देखा। इन दृश्यों को देखकर सिद्धार्थ को पक्का विश्वास हो गया कि संसार दुखों का घर है और यह शरीर, यौवन और सांसारिक सुख क्षणिक है।

महाभिनिष्क्रमण—वैराग्य की भावना सिद्धार्थ के मन में धीरे-धीरे इतनी प्रबल हो गई कि अन्त में उन्होंने घर-बार, माता-पिता, पत्नी और पुत्र तथा राजसी ठाठ-बाट का त्याग करके संन्यास ग्रहण करने का दृढ़-निश्चय कर लिया। अन्त में 29 वर्ष की आयु में उन्होंने अपनी पत्नी और बच्चे को त्याग कर, संसार के सभी सुखों एवं विलासों को ठोकर मारकर जंगलों का रास्ता लिया। इस घटना को 'महाभिनिष्क्रमण' कहते हैं।

ज्ञान की खोज—गृहत्याग के पश्चात् सिद्धार्थ ने सात दिन अनूपिय नामक आम्र उद्यान में व्यतीत किये। इसके बाद वे ज्ञान की खोज में चल पड़े।

सत्य और ज्ञान की प्राप्ति के लिए सिद्धार्थ ने अनेक साधुओं से साक्षात्कार किया। सर्वप्रथम सिद्धार्थ ने राजगृह में आलार कालाम तथा रामपुत्त नामक दो ब्राह्मण पण्डितों के चरणों में बैठकर ज्ञान और शान्ति प्राप्त करने का प्रयास किया परन्तु उन्हें केवल शास्त्रार्थ और दार्शनिक वाद-विवाद में शान्ति नहीं मिल सकी। इसके पश्चात् गया के निकट उरुवेला नामक वन में उन्होंने अपने पांच साथियों के

साथ घोर तपस्या करना शुरू कर दिया। इस कठोर तपस्या और अल्पाहार के कारण उनका शरीर सूख कर कांटा हो गया परन्तु उनके हृदय को शान्ति नहीं मिली। अब उन्हें विश्वास हो गया कि शरीर को यातनाएँ देने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः उन्होंने तपस्या भंग कर भोजन ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। इससे नाराज होकर उनके पाँच साथी उन्हें पथ-भ्रष्ट समझ कर वापस लौट गए। अब सिद्धार्थ अकेले रह गये।

ज्ञान की प्राप्ति—पाँचों ब्राह्मणों के सारनाथ लौट जाने के पश्चात् सिद्धार्थ ने तपस्या का जीवन त्याग कर अपनी समस्या का हल ढूंढने के लिए मनन-चिन्तन शुरू कर दिया। गया नामक स्थान पर एक वट वृक्ष के नीचे बैठकर उन्होंने समाधि लगाई। वे सात दिन और सात रात अखण्ड समाधि में लीन रहे। आठवें दिन वैशाख पूर्णिमा पर 35 वर्ष की आयु में गौतम को ज्ञान प्राप्त हुआ। उसी समय से वे 'बुद्ध' कहलाने लगे। जहाँ उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया था वह वृक्ष **'बोधिवृक्ष'** कहलाने लगा और गया **'बौध गया'** के नाम से पुकारा जाने लगा।

धर्म-प्रचार—ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् महात्मा बुद्ध ने अपने शेष जीवन को पीड़ित मानवता के उद्धार में लगाने का निश्चय किया। उन्होंने अपना प्रथम उपदेश सारनाथ में दिया जिससे प्रभावित होकर उन पाँच ब्राह्मणों ने महात्मा बुद्ध का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया जो उन्हें पथ-भ्रष्ट समझकर उनका साथ छोड़ कर सारनाथ चले आये थे। इस घटना को **'धर्म-चक्र प्रवर्त्तन'** कहते हैं इसके पश्चात् उन्होंने बनारस में धर्म-प्रचार का कार्य किया। यहाँ पर वसु नामक एक धनी सेठ अपने परिवार सहित बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया। बनारस से महात्मा बुद्ध उरुवेला पहुँचे। यह स्थान उस समय ब्राह्मण साधुओं का बड़ा भारी केन्द्र था। उनका नेता काश्यप था। काश्यप महात्मा बुद्ध के उपदेशों से बड़ा प्रभावित हुआ और उसने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया।

बनारस से चल कर महात्मा बुद्ध राजगृह पहुँचे। उनके आगमन का समाचार सुनकर मगध-नरेश बिम्बिसार अपनी प्रजा के साथ उनके दर्शनों के लिए उपस्थित हुआ। बौद्ध ग्रन्थों का कथन है कि वे सब महात्मा बुद्ध के अनुयायी बन गये। इसके अतिरिक्त महात्मा बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित होकर सारिपुत्र तथा मौद्गल्यायन नामक ब्राह्मण विद्वानों ने भी बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। कालान्तर में इन दोनों विद्वानों ने बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योग दिया।

धर्म प्रचार करते हुए महात्मा बुद्ध कपिलवस्तु भी पहुँचे। यहाँ महात्मा बुद्ध की धर्मपत्नी यशोधरा और पुत्र राहुल ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। इसके अतिरिक्त उनकी विमाता महाप्रजापति गौतमी तथा उनके पुत्र नन्द भी बुद्ध के शिष्य बन गये। इस अवसर पर महाप्रजापति गौतमी ने महात्मा बुद्ध से बौद्ध-संघ में प्रवेश देने के लिए बड़ा आग्रह किया। पहले महात्मा बुद्ध इस बात के लिए

तैयार नहीं हुए परन्तु अपने परमप्रिय शिष्य आनन्द के आग्रह पर उन्होंने महाप्रजापति गौतमी तथा अन्य नारियों को बौद्ध संघ में प्रवेश करने की आज्ञा दे दी।

कपिलवस्तु से राजगृह लौटते समय महात्मा बुद्ध ने अनुप्रिय नामक स्थान पर शाक्य राजा भद्रिक तथा उसके साथियों आनन्द, अनुरुद्ध, उपालि और देवदत्त को भी बौद्ध धर्म में दीक्षित किया।

महात्मा बुद्ध का प्रधान कार्य-क्षेत्र मगध था। वे कई बार मगध गये और सर्वत्र घूम-घूम कर उन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया। बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार बिम्बिसार और अजातशत्रु बुद्ध के शिष्य थे। मगध के अतिरिक्त काशी, कौशल और वज्जि जनपदों में भी बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार हुआ। कौशल नरेश प्रसेनजित् भी बुद्ध के अनुयायी बन गये।

महापरिनिर्वाण—महात्मा बुद्ध ने 45 वर्ष तक अपने धर्म का प्रचार किया। जब वे 80 वर्ष की आयु के थे तो उन्होंने राजगृह से कुशीनगर के लिए एक लम्बी यात्रा प्रारम्भ की। पावा पहुँच कर वे बीमार पड़ गये। बीमारी की दशा में ही वे कुशीनगर पहुँचे और हिरण्यवती नदी के तट पर अपना डेरा डाला। यहाँ उनकी दशा और बिगड़ गई। महात्मा बुद्ध की मृत्यु को समीप देखकर भिक्षु उदास हो गये। यह जानकर महात्मा बुद्ध ने कहा—**तुम सोचते होंगे, तुम्हारा आचार्य तुमसे जुदा हो रहा है। पर ऐसा मत सोचो। जो सिद्धान्त और नियम मैंने तुम्हें बताये हैं, जिनका मैंने प्रचार किया है, वही तुम्हारे आचार्य रहेंगे और वे सदा जीवित रहेंगे।"** फिर उन्होंने सब भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा **"पुत्रों! सुनों; मैं तुमसे कहता हूँ, जो आता है वह जाता भी अवश्य है। बिना रुके प्रयत्न किये जाओ।"** इस प्रकार 80 वर्ष की आयु में उनका महापरिनिर्वाण हुआ। उनकी राख 8 राज्यों के शासकों में बाँट दी गई और उस राख पर भारत में 8 स्तूप बनवाये गये। कुशीनगर के समीप उस स्थान पर जहाँ महात्मा बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ था वहाँ अब भी उनकी एक विशाल मूर्ति बनी हुई है।

बौद्ध धर्म मूल रूप से आचारमूलक और व्यावहारिक धर्म है। महात्मा बुद्ध ने धर्म के दार्शनिक पक्ष की अपेक्षा व्यवहार पर अधिक बल दिया है। उन्होंने दार्शनिक पक्षों के बारे में चिन्तन नहीं किया और ऐसे प्रश्नों के बारे में कोई उत्तर नहीं दिया जो साधारण बुद्धि के समझ के बाहर थे। गौतम बुद्ध एक दर्शन की अपेक्षा एक व्यावहारिक और नैतिक धर्म के संस्थापक थे। उनकी दृष्टि में धार्मिक क्रियाओं और गूढ चिन्तन की अपेक्षा शुद्ध आचरण, शुद्ध विचार, शुद्ध कर्म और शुद्ध भावना अधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने कर्म और ज्ञान में कर्म को श्रेष्ठ माना है और शुद्ध चरित्र पर अधिक जोर दिया है। बौद्ध धर्म के व्यवहारिक पक्ष की प्रशंसा करते हुये **डॉ. एस. के. चटर्जी ने कहा है कि "उसका आदर्श एक महासागर है जिसमें पूर्वी विचार-धारा की भिन्न-भिन्न नदियाँ गिरती हैं। वह धर्म मौलिक रूप में मानवता की उच्चतम प्रतिष्ठा का संस्थापक है।"**

बौद्ध धर्म के नैतिक सिद्धान्त

चार आर्य सत्य—चार आर्य सत्य बौद्ध धर्म की आधारशिला है। बौद्ध धर्म के सभी मौलिक और विकसित सिद्धान्त किसी न किसी रूप में इन चार आर्य सत्यों पर आधारित हैं। बुद्ध होने के पूर्व भ्रमण के समय एक वृद्ध, रोगी, मृतक और संन्यासी के दृश्य का बुद्ध के जीवन पर गहरा प्रभाव था। अतः उन्होंने दुःखों के कारणों का पता लगाकर उनके निवारण का मार्ग खोजने का प्रयत्न किया। कठिन साधना के बाद बोधि वृक्ष के नीचे उन्हें सत्य का ज्ञान हुआ। इस सत्य का सार चार आर्य सत्य माने जाते हैं। सारनाथ में धर्मचक्र प्रवर्तन के समय बुद्ध ने इन्हीं चार आर्य सत्यों का ज्ञान अपने शिष्यों को दिया था। वे चार आर्य सत्य हैं—(1) दुःख (2) दुःख समुदय (3) दुःख निरोध (4) दुःख निरोध मार्ग।

1. दुःख—बौद्ध धर्म दुःखवाद पर आधारित है। बुद्ध के अनुसार संसार में सर्वत्र दुःख व्याप्त है।

महात्मा बुद्ध के अनुसार संसार दुःखों का घर है। जन्म, मरण, बुढ़ापा और रोग दुःख हैं। मानव को किसी अप्रिय वस्तु का मिलना भी दुःख है तथा प्रिय वस्तु का वियोग भी दुःख है। यदि कोई इच्छित वस्तु प्राप्त नहीं होती है तो भी मानव दुःखी हो जाता है। संसार का ऐसा कोई प्राणी नहीं है जिसे इन दुःखों का सामना न करना पड़ता हो। महात्मा बुद्ध के अनुसार **"दुःख की इस व्यापक वेदना में मनुष्य ने जितने आंसू अब तक बहाये हैं, वे चार महासमुद्रों के जल से भी कहीं अधिक हैं।"**

दुःख को अपने उपदेशों का मूल मानने के कारण, कुछ विद्वान बौद्ध धर्म को निराशावादी मानते हैं। डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार **"बौद्ध मत जीवन के अन्धकारमय पक्ष को और अधिक और भी अन्धकारमय देखता है।"** परन्तु यह मत सही नहीं है क्योंकि यह सही है कि बुद्ध ने अपने उपदेशों में दुःख को अत्यधिक महत्व दिया है परन्तु चौथे आर्य सत्य में उन्होंने दुःखों को दूर करने के उपाय भी बताये हैं। वह इस बात का प्रमाण है कि वे दुःखों को दूर करके शाश्वत सुख लाना चाहते थे। उनका यह शाश्वत सुख क्षणिक या भौतिक न होकर अनन्त और नित्य था जिसे उन्होंने निर्वाण कहा है।

2. दुःख समुदय—द्वितीय आर्य सत्य **'दुःख समुदाय'** दुःखों के कारण के सम्बन्ध में है। संसार में व्याप्त दुःखों के कारणों की खोज भारतीय दार्शनिकों के चिन्तन की मुख्य विशेषता है। महात्मा बुद्ध ने भी दुःखों के कारणों की खोज की। इस खोज में उन्होंने एक विशेष सिद्धान्त का सहारा लिया है जिसे **'प्रतीत्यसमुत्पाद'** कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार के सभी पदार्थ कारणों से उत्पन्न हैं बिना कारण किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं होता। इसी आधार पर बुद्ध ने संसार में व्याप्त दुःखों के कारण की खोज की थी। उनके अनुसार मानव के दुःखों

का मूल कारण तृष्णा अर्थात् सांसारिक विषयों के प्रति न बुझने वाली प्यास है।
बुद्ध के अनुसार तृष्णा तीन प्रकार की होती है—

(1) काम तृष्णा—इन्द्रिय सुखों के लिये।

(2) भवतृष्णा—जीवन के लिये।

(3) विभव तृष्णा—वैभव के लिये।

मानव में तृष्णा क्यों उत्पन्न होती है ? इस सम्बन्ध में बुद्ध ने कहा है कि "रूप, शब्द, गन्ध, रस स्पर्श आदि से मनुष्य आसक्ति करने लगता है और यहीं तृष्णा का जन्म होता है।" तृष्णा के वशीभूत होकर मनुष्य नाना प्रकार के स्वार्थपूर्ण कार्य करता है तथा इन कार्यों के फलस्वरूप ही उसे दुःख प्राप्त होते हैं। अपनी अतृप्त इच्छाओं के कारण ही मनुष्य सांसारिक बन्धनों से मुक्त नहीं हो पाता और बराबर इस ससार में आकर कष्ट भोगता रहता है।

3. दुःख निरोध—तृतीय आर्य सत्य है दुःख निरोध अर्थात् दुःखों का नाश होता है। जिस प्रकार संसार में दुःख है. दुःख के कारण है उसी प्रकार दुःखों का नाश भी सम्भव है। दुःख को दूर करने का उपाय उसके कारण का दूर करना है। दुःख का मूल कारण तृष्णा है उसका निराकरण करने से ही दुःखों का निरोध (अन्त) हो सकता है। तृष्णा का त्याग या तृष्णा का निरोध ही दुःख निरोध है।

4. दुःख निरोध मार्ग—बौद्ध धर्म का चतुर्थ आर्य सत्य है दुःख निरोध मार्ग अर्थात् दुःख से मुक्ति का मार्ग। इसे 'दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा।' भी कहा जाता है। बुद्ध ने केवल दुःख के कारण ही नहीं बताये बल्कि उन कारणों को दूर करने के उपाय भी बताये हैं। दुःख के कारणों तृष्णा तथा अन्य प्रवृतियों का निरोध (अन्त) करने के लिये बुद्ध ने जो मार्ग बताया है उसे दुःख निरोध मार्ग या दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा कहा जाता है। इस मार्ग के अन्तर्गत आठ विभिन्न अंग (चरण) हैं अतः इसे 'अष्टांगिक मार्ग' भी कहा जाता है।

अष्टांगिक मार्ग—दुःखों के कारणों के नाश के लिये महात्मा बुद्ध ने अष्टांगिक मार्ग का उपदेश दिया। जब व्यक्ति इन आठों आचरणों का पवित्रता से पालन कर लेता है तो उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और उससे जो ज्ञान उदय होता है वह उसकी तृष्णा व अविद्या का अन्त कर देता है। निर्वाण की अवस्था प्राप्त करने का यह साधना मार्ग बौद्ध धर्म के आचार का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। ये आठ मार्ग इस प्रकार हैं—

(1) सम्यक् दृष्टि—चार आर्य सत्यों का पूर्ण तत्त्व ज्ञान तथा मन, वचन और कर्म से होने वाले दुष्कर्मों के बारे में ज्ञान ही सम्यक् दृष्टि है।

(2) सम्यक् संकल्प—निर्वाण के लिये ज्ञान मात्र ही पर्याप्त नहीं है। उस ज्ञान को जीवन और व्यवहार में क्रियान्वित करने के लिये संकल्प का होना भी

आवश्यक है। सत्य दृष्टिकोण से जीवन निर्वाह के लिये सच्चे संकल्प की आवश्यकता है। अतः ज्ञान को प्राप्त करके दृढ़ निश्चयी होकर अहिंसा और सत्य का पालन करना ही सम्यक् संकल्प है।

(3) सम्यक् वाक् सत्य और मधुर तथा समयानुसार वचन बोलना ही सयम्क् वाणी है।

(4) सम्यक् कर्म—सत्य व्यवहार, सदाचार, प्राणी हिंसा न करना, दुराचरण और भोग से बचना आदि सम्यक् कर्म हैं।

(5) सम्यक् आजीव—सम्यक् आजीव का अर्थ है नैतिक उपायों से जीविका कमाना। सम्यक् आजीविका के बिना सम्यक् कर्म सम्भव नहीं है। बौद्ध धर्म के अनुसार अस्त्र-शस्त्र, पशु, मांस, शराब, जहर आदि साधनों से जीवनयापन निषेध है।

(6) सम्यक् व्यायाम—बुराईयों को पैदा होने से रोकना और अच्छे कार्यों के लिये सदा प्रयत्नशील रहना ही सम्यक् व्यायाम या सम्यक् प्रयत्न है। इसमें आत्मसंयम द्वारा पूर्व के बुरे विचारों को छोड़ना, नये बुरे विचारों को न अपनाना, अच्छे विचारों की ओर प्रयत्नशील रहना और उन विचारों के प्रति दृढ़ होना आदि सम्मिलित है।

(7) सम्यक् स्मृति—सम्यक् स्मृति का अर्थ शरीर, चित्त, वेदना तथा मानसिक अवस्था को उनके यथार्थ रूप में स्मरण रखना है।

(8) सम्यक् समाधि—उपर्युक्त सात मार्गों के पालन से मानव की चित्त वृत्तिया शान्त हो जाती है। इस शुद्ध चित्त की एकाग्रता ही सम्यक् समाधि है।

मध्यम मार्ग—बुद्ध द्वारा दुःख निरोध के लिये प्रतिपादित अष्टांगिक मार्ग को मध्यम मार्ग भी कहा जाता है। उसमें न अत्यधिक शारीरिक सुख के लिये अवकाश था और न अत्यधिक शारीरिक दुःख का विधान था। यह दोनों अतियों के बीच का मार्ग था। उन्होंने अति का विरोध करते हुए उपदेश दिया था कि मानव को न तो अधिक भोग-विलास में आसक्त होना चाहिए और न ही कठोर तपस्या द्वारा शरीर को अनावश्यक कष्ट देना चाहिए। उसे इन दोनों के मध्यम का मार्ग अपनाना चाहिए। महात्मा बुद्ध ने वीणा का उदाहरण देकर अपने इस सिद्धान्त को और भी स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है। उन्होंने कहा कि यदि वीणा के तारों को यदि बहुत ढीला कर दिया जाए तो वह बजेगी नहीं और यदि उसे अधिक कस दिया जाए तो तार टूट जाने का भय रहता है। इस प्रकार बुद्ध ने भोग और त्याग के बीच मध्यम मार्ग का अनुसरण करने की प्रेरणा दी।

नैतिक आचरण के दस शील—बौद्ध धर्म में आचरण की शुद्धता पर अधिक बल दिया गया है। उसमें नैतिक आचरण के लिये दस शीलों का पालन आवश्यक बताया है। ये दस शील हैं—

(1) अहिंसा का पालन, (2) झूठ का परित्याग, (3) चोरी न करना, (4) वस्तुओं के संग्रह करने की आदत से बचना, (5) भोग-विलास का परित्याग, (6) संगीत व नृत्य में भाग न लेना, (7) सुगन्धित पदार्थों का प्रयोग न करना, (8) असमय भोजन न करना, (9) कोमल शैया पर न सोना, (10) कंचन (स्वर्ण) और कामिनी (स्त्री) का त्याग।

इनमें से गृहस्थ के लिये प्रथम पांच शीलों का आचरण और भिक्षुक के लिये 10 शीलों का आचरण अनिवार्य था।

स्वावलम्बन पर बल देना—महात्मा बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त करने के लिये व्यक्ति के स्वावलम्बन पर विशेष जोर दिया। उनका कहना था कि व्यक्ति स्वयं अपना भाग्य विधाता है। उसके पापों से कोई दूसरा मुक्ति नहीं दिलवा सकता। हर व्यक्ति को अपने ही प्रयत्नों से निर्वाण के मार्ग पर आगे बढ़ना है। उन्होंने अपने प्रिय शिष्य आनन्द से कहा था कि "हे आनन्द ! अपने को ही दीपक समझो, अपनी ही शरण में जाओ। किसी दूसरे की शरण में मत जाओ। सत्य को ही शरण समझो और उसी पर दृढ़ रहो। अपने प्रयत्न और परिश्रम से अपने निर्वाण का मार्ग प्रशस्त करो।" प्रो. सी. वी. जोशी का कथन है कि "महात्मा बुद्ध संसार का पहला हेतुवादी बुद्धिमान व्यक्ति था जिसने यह कहा कि प्रत्येक स्वयं अपना उद्धारक और स्वामी है तथा उसको इस हेतु किसी बाहरी शक्ति से प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं है।"

अहिंसा पर बल—महात्मा बुद्ध अहिंसा के सिद्धान्त के समर्थक थे। उन्होंने उपदेश दिया था कि मानव को सभी प्राणियों के साथ दया, सहानुभुति और प्रेम का बर्ताव करना चाहिए और किसी को सताना नहीं चाहिये। बुद्ध का कथन था कि "क्रोध पर दया से विजय प्राप्त करनी चाहिए और बुराई पर अच्छाई से। विजय घृणा को पोषण प्रदान करती है क्योंकि विजित व्यक्ति अप्रसन्न होता है। इस विश्व में घृणा को घृणा के द्वारा दूर नहीं किया जा सकता। घृणा तो केवल प्रेम से ही परास्त हो सकती है। याद रखो कि तुम भी अन्य व्यक्तियों की भांति हो, इसलिए हिंसा मत करो।" अतः प्रत्येक व्यक्ति को हिंसा से बचना चाहिए।

जाति-प्रथा का विरोध—महात्मा बुद्ध जाति-प्रथा और ऊँच-नीच के भेद-भाव के विरुद्ध थे। वे मनुष्य मात्र की समानता में विश्वास करते थे। वे यह नहीं मानते थे कि कोई जन्म से बड़ा अथवा छोटा होता है। उनके मतानुसार जन्म से कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण नहीं होता बल्कि कर्म से ही ब्राह्मण या अब्राह्मण होता है। उनका कहना था कि जो भी मनुष्य चाहे वह ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो अथवा शूद्र हो सम्यक् कर्म करेगा वह मोक्ष का अधिकारी होगा। उन्होंने जाति-प्रथा का

विरोध करते हुए कहा था कि "बौद्ध धर्म के द्वार सभी जातियों के लिए खुले हैं। सभी जातियों के लोग इस धर्म में उसी प्रकार आकर मिल सकते हैं जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में आकर मिल जाती हैं।"

वेदों में अविश्वास—महात्मा बुद्ध कर्मकाण्ड प्रधान वैदिक धर्म में आस्था नहीं रखते थे। वे वेदों को सत्य एवं प्रमाणिक नहीं मानते थे। उनकी वेदों में वर्णितयज्ञादि अनुष्ठानों में आस्था नहीं थी। उनका कहना था कि मनुष्य को निर्वाण प्राप्त करने के लिए किसी प्रार्थना और यज्ञादि की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने अपने शिष्यों को कहा कि "तुम स्वयं दीप बनो क्योंकि इसके अतिरिक्त कोई अन्य प्रकाश नहीं है। मोक्ष या निर्वाण तो केवल शुद्ध विचारों और जीवन के द्वारा कर्मों का अन्त करने से प्राप्त होता है।" महात्मा बुद्ध ने देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पशु-बलि, पुरोहितवाद आदि का विरोध किया और कर्मों की शुद्धता पर बल दिया।

बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धान्त

प्रतीत्य समुत्पाद—बुद्ध ने अपने द्वितीय आर्यसत्य में दुःख के कारणों का उल्लेख किया है। दुःखों के कारणों की खोज में उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धांत का सहारा लिया। यह सिद्धान्त द्वादश निदान कारणवाद, भवचक्र तथा प्रतीत्य समुत्पाद आदि कहा जाता है। यह सिद्धान्त बौद्ध धर्म के समस्त दार्शनिक सिद्धान्तों का आधार है।

प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ है—'प्रतीत्य'=किसी वस्तु के प्राप्त होने पर समुत्पाद=अन्य वस्तु की उत्पत्ति होती है अर्थात् एक वस्तु के प्राप्त होने पर दूसरी की उत्पत्ति या एक कारण के आधार पर एक कार्य की उत्पत्ति। रीज डेविड्स के अनुसार इसका सूत्र है ऐसा होने पर वैसा होता है। प्रतीत्य समुत्पाद के अनुसार संसार के सभी पदार्थ और विचार कारणों से परिपूर्ण है। सबके पीछे कोई न कोई कारण है। अतः संसार में दुःख भी अकारण नहीं है। उसका भी कारण है।

बुद्ध ने दुःख का अस्तित्व स्वीकार कर उन्हें जरामरण का सांकेतिक नाम प्रदान किया और प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त के अनुसार उसके कारणों की खोज की है। इस खोज को 'द्वादश निदान' भी कहा जाता है। बुद्ध के अनुसार **जरामरण** सभी दुःखों का प्रतीक है तो इसका कारण है **जाति** अर्थात शरीर धारण करना या जन्म ग्रहण करना। अगर शरीर नहीं होगा तो दुःख किसे होगा? जाति या जन्म ग्रहण करने का कारण है **भव** अर्थात् बार-बार जन्म लेने की प्रवृति। इस प्रवृत्ति या भव का कारण है **उपादान** अर्थात् सांसारिक विषयों में लिप्त रहने की हमारी अभिलाषा। इस उपादान का कारण है **तृष्णायें**। तृष्णा का कारण है **वेदना** अर्थात् इन्द्रियों का अनुभव। इन्द्रियाँ ही विषय भोग का साधन है। तृष्णाओं की तृप्ति

इन्द्रियाँ ही अनुभव करती हैं। वेदना या इन्द्रिय अनुभव का कारण है स्पर्श अर्थात् इन्द्रियों का वस्तु के साथ सम्पर्क। स्पर्श का कारण है **षडायतन** अर्थात् मन तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ क्योंकि स्पर्श के लिये इन्द्रियाँ आवश्यक हैं। षडायतन का कारण है **नामरूप** अर्थात् मन सहित गर्भस्थ शरीर। नामरूप का कारण है **विज्ञान** अर्थात् चेतना क्योंकि गर्भस्थ शरीर का विकास तभी सम्भव है जब उसमें चेतना हो। विज्ञान का कारण है **संस्कार** बौद्ध मत के अनुसार गर्भावस्था में चेतना तभी सम्भव है जब उसमें पूर्वजन्म के संस्कार हों। इन संस्कारों का निर्माण कर्मों से होता है। अतः इन संस्कारों का कारण होता है **अविद्या** अर्थात् अवास्तविक को वास्तविक और असत्य को सत्य समझना। यही जन्म का मूल कारण है।

इस प्रकार बुद्ध ने दुःख के बारह कारणों (द्वादश निदान) की एक शृंखला प्रस्तुत की है। इस शृंखला को संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है। (1) दुःख है, (2) दुःख का कारण है जाति अर्थात् जन्म ग्रहण करना, (3) जाति का कारण भव अर्थात् जन्म लेने की प्रवृत्ति, (4) भव का कारण है उपादान अर्थात् अभिलाषा, (5) उपादान का कारण है तृष्णा, (6) तृष्णा का कारण है वेदना या इन्द्रियानुभूति, (7) वेदना का कारण है स्पर्श, (8) स्पर्श का कारण है षडायतन अर्थात् मन और पाँच कर्मेन्द्रियाँ, (9) षडायतन का कारण है नामरूप, (10) नामरूप का कारण है विज्ञान या चेतना, (11) विज्ञान का कारण है संस्कार और (12) संस्कार का कारण है अविद्या।

इस प्रकार बुद्ध ने दुःखों का मूल कारण अविद्या को माना है अतः अविद्या के निराकरण द्वारा उससे उत्पन्न होने वाले दुःख से भी छुटकारा पाया जा सकता है। बुद्ध ने प्रतीत्य समुत्पाद को अत्यधिक महत्व दिया है। उन्होंने इसको धर्म का नाम दिया है।

अनित्यवाद अथवा क्षणिकवाद—बौद्ध दर्शन जगत की किसी वस्तु या विचार की नित्यता में विश्वास नहीं करता है। उसके अनुसार जगत में कुछ भी स्थायी या अपरिवर्तनशील नहीं है। जगत की प्रत्येक वस्तु अनित्य (अस्थायी) और क्षणिक है। आत्मा और जगत प्रति क्षण बदलते रहते हैं। परिवर्तन जीवन और जगत का वास्तविक नियम है। किसी भी वस्तु या विचार में स्थायित्व या अपरिवर्तनशीलता मन की एक झूठी कल्पना है। जिस प्रकार नदी में जल और जलते हुये दीपक की लौ की स्थिति में प्रतिक्षण परिवर्तन होते रहने पर भी वही प्रतीत होता है वैसे ही आत्मा और जगत भी क्षणिक और अनित्य होने पर भी प्रवाह रूप में बने रहने के कारण नित्य और स्थायी प्रतीत होते हैं। कुछ विचारकों का मत है कि बुद्ध ने अनित्यता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था किन्तु कालान्तर में उनके शिष्यों ने उसे क्षणिकवाद में परिवर्तित कर दिया।

अनात्मवाद—बौद्ध दर्शन अनात्मवादी है। महात्मा बुद्ध स्थायी आत्मा की सत्ता में विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार आत्मा शरीर के समान नाशवान है और

आत्मा में वे सभी विकार है जो शरीर में हैं। शरीर के नष्ट हो जाने पर आत्म भी नष्ट हो जाती है। उनके अनुसार मनुष्य या किसी अन्य में आत्मा जैसा को स्थायी या अविनाशी तत्व नहीं है। जिसे हम आत्मा मानते वह एक विज्ञान संघा मात्र है।

उनका कथन था कि जिस प्रकार एक कारीगर पहियाऔरधुरी आदि क मिलाकर गाड़ी तैयार करता है, उसी प्रकार हमारे शरीर की रचना भी संस्कार संज्ञा, रूप, वेदना एवं विज्ञान रूपी तत्वों के समूह से मिलकर हुई है। जब तव इन तत्वों की समष्टि बनी रहती है तभी तक मनुष्य बना रहता है और जब ये नष्ट हो जाते हैं तब मनुष्य का भी अन्त हो जाता है। अतः इस संसार में आत्मा जैसी कोई सत्ता नहीं है। बौद्ध धर्म का यह सिद्धान्त अनित्यता के सिद्धान्त पर आधारित है।

बौद्ध साहित्य में उल्लेखित कतिपय तथ्यों के आधार पर डॉ. राधाकृष्ण ने बौद्ध धर्म को आत्मवादी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है किन्तु उनका यह म मान्य नहीं है।

कर्मवाद—बौद्ध धर्म कर्मप्रधान है। वह सृष्टि के कर्त्ता या नियन्ता के रू में किसी ईश्वर या दैवीय शक्ति को नहीं मानता। उनके अनुसार समस्त जगत के कार्य व्यापारों का नियन्ता कर्म है। बौद्ध धर्म में कर्म का वही स्थान है जो आस्तिव धर्म में ईश्वर का है। बौद्ध धर्म के अनुसार कर्म में मनुष्य की समस्त शारीरिक, वाचिक (वाणी सम्बन्धी) तथा मानसिक क्रियायें सम्मिलित हैं। कर्म ही मनुष्य के भाग्य का निर्णायक हैं। व्यक्ति को उसके कर्मों के अनुसार फल मिलता है। अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा मिलता है। बौद्ध धर्म के अनुसार पिछले जन्मों के कर्मों के फल वर्तमान जीवन में और वर्तमान जीवन के कर्मों का फल अगले जन्म में भोगना पड़ता है। बुद्ध का उपदेश है—'जो भी व्यक्ति, चाहे वह ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो अथवा शूद्र हो, सम्यक् (सद् अथवा अच्छा) कर्म करेगा वह मोक्ष प्राप्त कर सकेगा।' एक बार माणवक नामक एक ब्राह्मण विद्यार्थी ने गौतम से पूछा 'हे गौतम ! यहाँ संसार में कई मनुष्य अल्पायु हैं तो कई दीर्घायु, कई बहुत रोगी हैं तो कई कम रोगी, कई मूर्ख हैं तो कई बुद्धिमान्। क्या कारण है कि यहां प्राणियों में इतना अन्तर, इतनी हीनता और उत्तमता दिखाई देती हैं?' इसके उत्तर में महात्मा बुद्ध ने कर्म के आधार पर प्राणियों की हीनता और उत्तमता के भेद की व्याख्या करते हुए कहा—'माणवक ! प्राणी कर्म के अधीन है। कर्म ही उनकी वर्तमान दशा का कारण है। कर्म ही प्राणियों का बन्धु और आश्रय है। प्राणियों में जो हीनता और उत्तमता दिखाई देती है उसका कारण भी कर्म ही है।' बुद्ध का यह कथन कर्म के सिद्धान्त की महत्ता पर प्रकाश डालता है।

पुनर्जन्म में विश्वास—महात्मा बुद्ध पुनर्जन्म में विश्वास रखते थे। बौद्ध धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। कर्मों का

फल भोगने के लिए मनुष्य को बार-बार जन्म लेना पड़ता है। बुद्ध के अनुसार वह पुनर्जन्म आत्मा का नहीं बल्कि अनित्य अहंकार का होता है। जिस प्रकार जल-प्रवाह में एक लहर के पश्चात् दूसरी लहर आती है और यह क्रम जारी रहता है और उस में कहीं भी व्यवधान नहीं पड़ता है, उसी प्रकार एक जन्म की अन्तिम चेतना के विलय होते ही दूसरे जन्म की प्रथम चेतना का उदय होता है। वह परिवर्तन इस प्रकार होता है कि विलय और उदय के बीच कोई व्यवधान नहीं पड़ता। ऐसी अवस्था में यह नहीं कहा जा सकता कि जो जीव उत्पन्न हुआ है वह नितान्त पहला ही है अथवा नितान्त दूसरा ही है।

अनीश्वरवाद—महात्मा बुद्ध का ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं था। जब कभी भी महात्मा बुद्ध से ईश्वर के सम्बन्ध में पूछा जाता था तो वे या तो बिल्कुल मौन हो जाते थे या कुछ परिहासपूर्ण शब्दों में ईश्वर के विद्यमान होने में सन्देह प्रकट करते थे। कर्मवादी होने के कारण उन्होंने ईश्वर सम्बन्धी प्रश्नों पर गम्भीरतापूर्वक मनन नहीं किया। उन्होंने एक स्थल पर यह बताया कि आदि मानव को ही परवर्ती मानव ने भ्रमवश ईश्वर मान लिया। अतः अधिकांश विद्वानों ने बौद्ध धर्म को अनीश्वरवादी धर्म माना है।

निर्वाण—निर्वाण बौद्ध धर्म का चरम लक्ष्य है। निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है 'बुझा हुआ'। कुछ विद्वान् निर्वाण को 'विनाश की स्थिति' मानते हैं, किन्तु बौद्ध साहित्य के अनुसार निर्वाण का अर्थ जीवन का नाश नहीं वरन् परम आनन्द एवं शान्ति की वह अवस्था है जिसकी समता उपनिषदों के मोक्ष के आदर्श से की जा सकती है। निर्वाण राग-द्वेष तथा उनसे उत्पन्न दुःख के नाश की अवस्था है। यह दुःख तथा जन्म-मरण के चक्र से छुटकारे का नाम है। निर्वाण शाश्वत शान्ति की अवस्था है जिसे पाकर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। निर्वाण जीवन का अन्त नहीं बल्कि जीवन रहते हुए पूर्णता की प्राप्ति की अवस्था है। महात्मा बुद्ध ने मृत्यु के पूर्व ही निर्वाण प्राप्त किया था। निर्वाण का अर्थ निष्क्रियता भी नहीं है क्योंकि निर्वाण-प्राप्ति के बाद भी बुद्ध धर्म-प्रचार के कार्य में निरन्तर रत रहे। अतः निर्वाण जीवन-काल में ही प्राप्त होने वाली परम शक्ति की वह अवस्था है जिसकी तुलना किसी भी प्रकार के सांसारिक सुखों से नहीं की जा सकती और जो वर्णनातीत (जिसका वर्णन संभव न हो) है। निर्वाण-प्राप्ति के साथ ही पुनर्जन्म तथा दुःखों से मुक्ति मिल जाती है। डॉ. राधाकृष्णन के शब्दों में "बौद्ध ग्रन्थ हमें जिस निर्वाण की अवस्था का वर्णन सुनाते हैं, वह मृत्यु या विनाश की अवस्था नहीं है, बल्कि यह वह अवस्था है, जो कि नैतिक आचरणों की पूर्णता से प्राप्त होती है जो पवित्र धार्मिक जीवन की साधना का परिणाम है। निर्वाण वासनाओं से छुटकारे का नाम है।"

बौद्ध धर्म के प्रसार के कारण

छठी शताब्दी ई. पू. में भारत में जिन नवीन धार्मिक सम्प्रदायों का उदय हुआ उनमें बौद्ध धर्म सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ। इस धर्म के सिद्धान्तों ने न सिर्फ भारतीय मानस को आन्दोलित कर उन्हें इस धर्म को अपनाने के लिए प्रेरित किया, अपितु उसने अपने प्रसार की शृंखला विदेशों तक विस्तृत कर ली थी। बौद्ध धर्म के इस प्रसार के अनेक कारण थे। इन कारणों के प्रभाव से चिर प्रतिष्ठित वैदिक धर्म और अनेक अन्य सम्प्रदायों के मध्य से होते हुए यह धर्म उत्तरोत्तर प्रगति की ओर अग्रसर होता गया। बौद्ध धर्म की तत्वर प्रगति में जिन कारणों ने योगदान दिया वे अग्रलिखित हैं—

(1) **महात्मा बुद्ध का प्रभावशाली व्यक्तित्व**—महात्मा बुद्ध के त्यागपूर्ण जीवन और उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व ने बौद्ध धर्म के विकास को एक नई दिशा प्रदान की। महात्मा बुद्ध का जीवन अत्यन्त पवित्र और सादा था। उनमें मानवीय गुणों की प्रचुरता थी। वे कभी क्रुद्ध नहीं होते थे तथा उनका हृदय दया, स्नेह और करुणा से परिपूर्ण था। अतः जो व्यक्ति उनके सम्पर्क में आता था वही उनसे प्रभावित होकर उनका अनुयायी बन जाता था। इस प्रकार बुद्ध के जीवन-काल में ही हजारों व्यक्ति उनके आकर्षक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनके अनुयायी बन गये थे। **श्री एन. एन. घोष** के अनुसार "महात्मा बुद्ध का अत्यधिक आकर्षक व्यक्तित्व उसके लिए एक हृदय-स्पर्शी वस्तु की भाँति काम करता था जो उनके सम्पर्क में आए। जिस तरह से उन्होंने कट्टर विद्वान ब्राह्मणों के तर्कों में दोष निकाले और जो गहरी मानव-भावना उनके प्रवचनों ने प्रेरित की, उसने पुरोहितों राजाओं तथा साधारण जनता को एक समान उनके धर्म के बारे में आश्वस्त कर दिया।" **डॉ. राजबली पाण्डेय** का कथन है कि "बुद्ध का ऊँचा शरीर, गौरवपूर्ण उन्नत मुखमण्डल, प्रशान्त मुद्रा, दया और करुणा से पूर्ण आर्द्र वाणी लोगों पर जादू के समान प्रभाव डालती थी। बुद्ध ने कोरा उपदेश नहीं दिया, अपने उपदेशों को जीवन में भी चरितार्थ किया। इसलिए उनके धर्म की प्रमाणिकता और उपयोगिता लोग शीघ्र मान लेते थे।" महात्मा बुद्ध के व्यक्तित्व व बौद्ध धर्म के विकास में योगदान के सम्बन्ध में डॉ. केनेथ ने लिखा है कि—"**जब पूर्ण शुद्ध हृदयता और सामान्य दयाभाव एक ही व्यक्ति में निहित हो जाते हैं, तब वह व्यक्ति श्रद्धा का पात्र और आराध्य बन जाता है।** बौद्ध धर्म की सफलता का यही एक मुख्य कारण था।"

(2) **बौद्ध धर्म के सरल सिद्धान्त**—महात्मा बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म सरल और सुबोध था। यह कर्मकाण्डों की जटिलता और दार्शनिक समस्याओं से दूर था। बौद्ध धर्म के सिद्धान्त सरल और व्यावहारिक थे। इसमें वैदिक धर्म की भाँति कर्मकाण्डों और पुरोहितों की आवश्यकता नहीं थी। महात्मा बुद्ध ने आत्मा-परमात्मा जैसे गूढ़ और रहस्यपूर्ण विषयों के बारे में कोई विचार प्रकट नहीं किया। उन्होंने संसार के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए शुद्ध आचरण पर बल दिया। उन्होंने मोक्ष का द्वार स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, बालक, युवा, वृद्ध

आदि सभी के लिए खोल दिया और सम्पूर्ण मानव-जाति के कल्याण पर बल दिया। इसके विपरीत वैदिक धर्म में धार्मिक विधि-विधान के कठोर नियम थे तथा जनता वैदिक कर्मकाण्डों से ऊब गई थी। अतः जनसाधारण ने बौद्ध धर्म को सहर्ष स्वीकार किया।

(3) जन-साधारण की भाषा में प्रचार—बौद्ध धर्म की लोकप्रियता का एक कारण यह भी था कि महात्मा बुद्ध ने अपनी शिक्षाओं का प्रचार जनसाधारण की भाषा में किया। उनका कहना था कि **"मैं गरीबों की भाषा द्वारा गरीबों तक पहुँचना चाहता हूं।"** बुद्ध जानते थे कि संस्कृत का प्रयोग केवल शिक्षित लोगों में ही प्रचलित है। अतएव संस्कृत में उपदेश देने से उनकी शिक्षाओं का प्रचार केवल थोड़े से पढ़े लिखे लोगों के बीच में ही हो सकेगा। अतः उन्होंने जनसाधारण की भाषा में ही उपदेश दिए जिससे उनकी शिक्षाओं का व्यापक प्रचार हुआ।

(4) प्रचार शैली की रोचकता—महात्मा बुद्ध की प्रचार-शैली नितान्त सरल, सुबोध और लोक-रुचि के अनुकूल थी। उन्होंने अपनी शिक्षाओं में लोककथाओं, लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रचुरता से प्रयोग किया। अपने सिद्धांतों को समझाने के लिए वे जिन उदाहरणों और उपमाओं का प्रयोग करते थे उनका सीधा सम्बन्ध मनुष्य के दैनिक जीवन से होता था। वे अपने उपदेशों में हास्य और व्यंग्य का भी उचित मात्रा में पुट दिया करते थे जिससे उनमें रोचकता आ जाती थी। जन-साधारण की भाषा के प्रयोग तथा प्रचार शैली की रोचकता से बुद्ध को अपनी शिक्षाओं का प्रचार करने में बहुत बड़ी सहायता मिली।

(5) धर्म प्रचारकों का उत्साह—बौद्ध धर्म के प्रसार में उसके धर्म प्रचारकों का अकथनीय योगदान रहा है। सौभाग्य से बौद्ध धर्म के उदयकाल में उसे ऐसे अनुयायी और प्रचारक मिले जिन्होंने अपनी धर्म निरपेक्षता और निःस्वार्थ भावना से अपने धर्म के प्रसार में महान योगदान दिया। सारिपुत्र मौगल्यायान, महाकाश्यप आनन्द, अनाथ पिण्डक आदि ऐसे ही प्रचारक थे।

(6) बुद्ध की प्रेरणा—महात्मा बुद्ध ने अपने अनुयायियों में धर्म के प्रति असीम उत्साह का संचार किया था। उन्होंने धर्म प्रचारकों को उपदेश देते हुए कहा था कि **"ओ भिक्षुओं! मानवता और जीवमात्र के कल्याण के लिए जाओ और भ्रमण करो। एक दिशा में दो भिक्षु न जाएँ, बल्कि एक दिशा में एक ही भिक्षु जाए।"** अतः धर्म प्रचारकों ने बौद्ध धर्म को फैलाने में अनुपम त्याग और उत्साह का परिचय दिया। उन्होंने सब प्रकार के कष्टों को सहन करते हुए बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का दूर-दूर तक प्रचार किया। बौद्ध धर्म के प्रचारकों के अथक परिश्रम के फलस्वरूप बौद्ध धर्म तेजी के साथ फैलता चला गया।

(7) भिक्षुओं का आदर्श जीवन—बौद्ध मठों ने भी बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रसार पूर्ण योगदान दिया। बुद्ध ने बौद्ध संघ के भिक्षुओं के आवास के लिए मठों

का निर्माण करवाया। बौद्ध-मठों में रहकर भिक्षु सामूहिक जीवन व्यतीत करते थे। बौद्ध संघ का संगठन लोकतन्त्रीय था। सभी भिक्षु समान थे, उनमें न कोई बड़ा था और न कोई छोटा। सदैव साथ रहने के कारण वे भ्रातृत्व की भावना से अनुप्राणित हो जाते थे। बौद्ध भिक्षु आदर्श, पवित्र और सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। अतः हजारों व्यक्ति भिक्षुओं के उच्च चरित्र और आदर्श जीवन को देखकर बौद्ध धर्म के प्रति आकृष्ट हो जाते थे। **डॉ. वी. ए. स्मिथ** का कथन है कि **"बौद्ध भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों का सुव्यवस्थित संगठन बौद्ध धर्म के प्रचार का एक प्रभावशाली साधन था।"**

(8) **राजकीय संरक्षण**—महात्मा बुद्ध क्षत्रिय राजपुत्र थे। क्षत्रिय जाति में उनका अत्यधिक सम्मान था। अतः बौद्ध धर्म को उसके जन्म-काल से ही अनेक गणराज्यों और राजतन्त्रात्मक राज्यों का संरक्षण प्राप्त हुआ। शाक्यों, लिच्छवियों और मल्लों के गणराज्य बौद्ध धर्म में अपार श्रद्धा रखते थे। इसके अतिरिक्त सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में अपनी सारी शक्ति लगा दी थी। **डॉ. हेमचन्द राय चौधरी** के अनुसार **"सम्राट अशोक ने गंगा की घाटी में फैले बौद्ध धर्म को विश्व धर्म बना दिया।"** इसी प्रकार सम्राट कनिष्क और हर्षवर्धन भी बौद्ध धर्म के संरक्षक थे। उन्होंने भी बौद्ध-धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अनेक कदम उठाये जिसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म तेजी से उन्नति करने लगा। अशोक, कुषाण सम्राट कनिष्क और हर्ष के बाद बंगाल के पाल तथा सेन राजवंशों ने बौद्ध धर्म के प्रचार में योगदान दिया।

(9) **समानता की भावना**—बौद्ध धर्म की लोकप्रियता का एक प्रमुख कारण यह था कि इस धर्म में जाति-प्रथा एवं ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं था। बौद्ध-धर्म के दरवाजे सभी सम्प्रदायों के लोगों के लिए खुले थे। महात्मा बुद्ध ने जाति-पाँति के भेद-भाव को अनावश्यक एवं अस्वाभाविक बतलाया और घोषणा की कि अष्टांगिक मार्ग का पालन करते हुए शूद्र भी मोक्ष प्राप्त कर सकते थे। बौद्ध धर्म के द्वार सभी सम्प्रदायों के लोगों के लिए खुले हुए थे। महात्मा बुद्ध जन्म से किसी व्यक्ति को श्रेष्ठ और किसी को नीच मानने के लिए तैयार नहीं थे। अतः शूद्र और दलित-वर्ग के लोग बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित हुए और उन्होंने बौद्ध धर्म को उत्साह के साथ ग्रहण किया। श्री एन. एन. घोष का कथन है कि **"जाति-पाँति के भावों को नष्ट करके, इस धर्म ने शूद्रों का दर्जा ऊँचा उठा दिया और उन्होंने बौद्ध धर्म को स्वीकार करके अपनी सामाजिक तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त करली।"**

(10) **वैदिक धर्म की जटिलता**—उत्तर वैदिक-काल में वैदिक धर्म अनेक पाखण्डों, कर्मकाण्डों तथा अन्धविश्वासों का शिकार हो गया था। ब्राह्मणों ने यज्ञों को अत्यन्त जटिल और खर्चीला बना दिया था। साधारण लोग इन खर्चीले तथा हिंसात्मक यज्ञों से ऊब चुके थे। अतः जब महात्मा बुद्ध ने हिंसात्मक यज्ञों, कर्मकांडों

ग्रौर पुरोहितवाद की तीव्र ग्रालोचना की तो अनेक व्यक्ति उनके उपदेशों से प्रभावित होकर बौद्ध धर्म के ग्रनुयायी बन गए। बौद्ध धर्म में न किसी सामग्री ग्रौर न किसी ब्राह्मण की ग्रावश्यकता थी। कोई भी व्यक्ति ग्रष्टांगिक मार्ग का ग्रनुसरण करते हुए अपना जीवन सफल ग्रौर सुखी बना सकता था। ग्रतः इस कारण भी बौद्ध धर्म का लोकप्रिय होना स्वाभाविक था। मैक्समूलर के ग्रनुसार "**बुद्ध का धर्म इसलिए सफल हुग्रा कि जन-जन के मानस की बात महात्मा बुद्ध ने सोची थी।**"

(11) समायोजन की विशेषता—बौद्ध धर्म की सफलता का एक कारण यह भी था कि उसमें दूसरों के साथ समायोजन की विशेषता थी। बौद्ध संघ का संगठन लोकतन्त्रीय था तथा कोई भी व्यक्ति ग्रपनी मनमानी नहीं कर सकता था। बुद्ध ने बौद्ध संघों को इतनी शक्तियाँ दे रखी थी कि वे साधारण तथा गौण नियमों को स्वयं बना सकें। तत्पश्चात् देश काल के ग्रनुसार "**बौद्ध धर्म में परिवर्तन होने लगा। इस कारण भी बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रसार में सहायता मिली।**"

(12) बौद्ध सभाग्रों तथा बौद्ध विश्वविद्यालयों का प्रभाव—महात्मा बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् समय-समय पर बौद्धों की चार सभाएँ हुईं। उन सभाओं में बौद्धों के पारस्परिक भेद-भाव दूर किए गए ग्रौर महात्मा बुद्ध की शिक्षाग्रों का संग्रह किया गया। इससे बौद्ध संगठन को शक्तिशाली बनाने की प्रेरणा मिली। नालन्दा, विक्रमशील ग्रौर उद्दन्तपुरी के बौद्ध मठों ने भी बौद्ध-धर्म के प्रचार एवं प्रसार में महत्वपूर्ण योग दिया। नालन्दा विश्वविद्यालय बौद्धों की शिक्षा का सबसे बड़ा केन्द्र था ग्रौर यहाँ न केवल भारत के भिन्न-भिन्न भागों से बल्कि संसार के ग्रन्य देशों से भी विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते थे। ये विद्यार्थी ग्रपने देशों में लौटकर बौद्ध धर्म का प्रचार करते थे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म ग्रपनी ग्रन्तर्निहित विशेषताग्रों ग्रौर ग्रन्य कारणों से विश्व का लोकप्रिय धर्म बन गया। इसका प्रसार संसार के ग्रनेक भागों में हुग्रा। ग्राज भी विश्व में इसके ग्रनुयायियों की संख्या ग्रन्य धर्मों के ग्रनुयायियों से ग्रधिक है। इस विचार का समर्थन करते हुए मैक्समूलर (Maxmuller) ने लिखा है कि "ग्राज भी एशिया में बौद्ध धर्म में विश्वास करने वालों की संख्या किसी भी ग्रन्य धर्म के ग्रनुयायियों की संख्या से जिसमें इस्लाम धर्म ग्रौर इसाई धर्म भी आते हैं, ग्रधिक है। वी. ए. स्मिथ का कथन है कि "यद्यपि बौद्ध धर्म ग्रपनी जन्म भूमि से लुप्त प्रायः सा हो गया है, परन्तु ग्राज भी वह विश्व का एक प्रभावशाली धर्म है ग्रौर विभिन्न रूपों में लंका, वर्मा, स्याम, तिब्बत, मंगोलिया, चीन ग्रौर जापान में पाया जाता है।"

बौद्ध धर्म के पतन के कारण

उत्थान ग्रौर पतन प्रकृति के शाश्वत नियम हैं। जिस का उदय होता है वह ग्रपने विकास के चरम क्षितिज पर पहुँच कर ग्रस्ताचल की ग्रोर ग्रग्रसर होता है। बौद्ध धर्म के साथ भी यही हुग्रा। बौद्ध धर्म भारत

में बहुत फैला और विदेशों में इसका प्रसार हुआ परन्तु भारत के जन-मानस में यह अपना स्थायी घर न बना सका और ईसा की सातवीं शताब्दी के आते-आते बौद्ध धर्म का ह्रास होना शुरू हो गया। कालान्तर में 12 वीं शताब्दी के उपरान्त बौद्ध धर्म भारत से लुप्त हो गया। बौद्ध धर्म के पतन के कारण निम्नलिखित थे -

(1) भिक्षुओं का चारित्रिक पतन—बौद्ध मठ जो बौद्ध धर्म के प्रचार के केन्द्र थे कुछ समय पश्चात् चरित्रहीनता के गढ़ बन गये। भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों का जीवन बहुत ही कलुषित एवं अपवित्र हो गया था। वे भोग-विलास का जीवन करने व्यतीत लगे। बौद्ध मठ भिक्षुओं के पारस्परिक विवादों और कलह के केन्द्र बन गये। बौद्ध भिक्षु उच्च आदर्शों से गिर गये और भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए अधिकाधिक प्रयास करने लगे। परिणामस्वरूप लोगों का बौद्ध धर्म पर से विश्वास उठता चला गया।

(2) बौद्ध धर्म के दोष—महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् बौद्ध धर्म में अनेक दोष आ गये। महायान शाखा के अनुयायियों ने महात्मा बुद्ध को देवता के रूप में स्वीकार कर लिया और उनकी मूर्ति बनाकर उसे पूजना भी आरम्भ कर दिया। कनिष्क के काल में महात्मा बुद्ध और अनेक बोधिसत्वों की व्यापक रूप से पूजा होने लगी। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म में तन्त्रवाद का प्रभाव बढ़ने लगा। वज्रयानी बौद्ध तन्त्रवाद के प्रबल समर्थक थे। कालान्तर में बौद्धों ने संस्कृत भाषा का प्रयोग करना शुरू कर दिया जो केवल सुशिक्षित लोगों की भाषा थी। अतः बौद्ध धर्म आन्तरिक दोषों के कारण जनसाधारण में लोकप्रिय न रह सका। **श्री एन. एन घोष के अनुसार "बौद्ध धर्म के पतन के कारणों के बारे में हमारे देश में बड़ी गलतफहमी है। बौद्ध धर्म के पतन का वास्तविक कारण यह था कि इसमें वे सब बुराइयाँ आ गईं थी। जिनके विरुद्ध महात्मा बुद्ध ने अपनी आवाज उठाई थी। बौद्ध धर्म में पाखण्डों का समावेश हो गया था।"**

(3) हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान—बौद्ध धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव से हिन्दू धर्म के अनुयायी चिन्तित थे। अतः उन्होंने समय के अनुसार हिन्दू धर्म में विशेष परिवर्तन किये। स्वामी शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट ने बौद्ध धर्म का खण्डन किया और हिन्दू धर्म का प्रचार किया। उन्होंने हिन्दूओं में आत्मप्रतिष्ठा तथा आत्मविश्वास की भावना जागृत की जिससे हिन्दू धर्म में एक नवीन चेतना उत्पन्न हुई।

(4) राजकीय संरक्षण का अभाव—कुछ समय तक भारत के सम्राटों का संरक्षण बौद्ध धर्म को प्राप्त हुआ किन्तु बाद में उसको यह राजकीय संरक्षण प्राप्त न हो सका। शुंग वंश तथा गुप्त वंश के राजा पौराणिक हिन्दू धर्म के रक्षक थे।

उन्होंने बौद्ध धर्म की अपेक्षा हिन्दू धर्म को प्रोत्साहन दिया। उन्होंने अश्वमेध यज्ञ तथा अन्य पुरानी वैदिक रीतियों को पुनः चलाया जिसके फलस्वरूप हिन्दू धर्म अपने खोये हुए गौरव को पुनः प्राप्त करने में सफल हुआ। अतः इन सम्राटों की बौद्ध धर्म के प्रति उदासीनता के कारण बौद्ध धर्म को बड़ा आघात पहुँचा। इस प्रकार राजकीय संरक्षण के अभाव में बौद्ध धर्म दिन-प्रतिदिन क्षीण होने लग गया।

(5) बौद्ध धर्म में फूट पड़ना—कालान्तर में बौद्ध धर्म में फूट पड़ गई और वह दो मुख्य शाखाओं—हीनयान एवं महायान में विभाजित हो गया। हीनयान और महायान शाखाओं के भिक्षु परस्पर खुले आम लड़ते थे और अपनी शक्ति को व्यर्थ में ही नष्ट करने लगे थे। इस आन्तरिक फूट ने बौद्ध धर्म को पर्याप्त क्षति पहुंचाई। यद्यपि समय-समय पर बौद्ध सभाओं ने इस पारस्परिक फूट को समाप्त करने का प्रयत्न किया किन्तु इन प्रयासों को सफलता प्राप्त न हुई।

(6) तन्त्र-मन्त्र में विश्वास—बौद्ध धर्म के अनुयायी तन्त्र-मन्त्र में भी विश्वास करने लगे थे। वज्रयानी सम्प्रदाय के लोग तन्त्र-मन्त्र मे अत्यधिक विश्वास करते थे। ये योग सिद्धि प्राप्त करने के लिए मांस, मदिरा, महिला, आदि के सेवन पर बल देते थे। परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म पर से लोगों का विश्वास उठता चला गया।

(7) राजपूत नरेशों का विरोध—आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक उत्तरी भारत का अधिकांश भाग राजपूत राजाओं के अधिकार में आ चुका था जिन्हें युद्ध और रक्तपात में आनन्द मिलता था। वे बौद्धों के अहिंसा के सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखते थे। अतः उन्होंने संघर्षमय हिन्दू धर्म को ही प्रोत्साहन दिया। उन्होंने ब्राह्मणों को अपने दरबार में बड़े-बड़े सम्मान और पद दिये और पुरानी हिन्दू रीतियों को पुनः जीवित किया। इससे बौद्ध धर्म की प्रगति में बाधा पड़ी।

(8) विदेशी आक्रमण—इस प्रकार जब बौद्ध धर्म अनेक दोषों के कारण जीर्ण हो चुका था उस समय हूणों के आक्रमणों ने बौद्ध धर्म को पतन की ओर अग्रसर कर दिया। हूणों के आक्रमणों ने बौद्ध धर्म को प्रबल आघात पहुंचाया। उन्होंने बौद्ध मन्दिरों, मठों और विहारों को नष्ट कर दिया। हूणों के उपरान्त तुर्कों ने भारत पर आक्रमण किया। बंगाल और बिहार उस समय बौद्धों के बड़े भारी केन्द्र थे। तुर्कों ने बिहार और बंगाल पर आक्रमण किया और हजारों बौद्धों को मौत के घाट उतार दिया। उन्होंने नालन्दा, उद्दन्तपुरी और विक्रमशील विश्व-विश्वविद्यालयों को जलाकर राख कर दिया। इस प्रकार मुस्लिम आक्रमणकारियों ने बौद्ध धर्म के टिमटिमाते हुए दीपक को बुझा दिया।

श्री. एन. एन. घोष का कथन है कि "तुर्कों के विरोध, नालन्दा, विक्रमशील और उद्दन्तपुरी विश्वविद्यालयों के जलने तथा प्रमुख बौद्ध राजाओं और भिक्षुओं के

मारे जाने या भारत के बाहर चले जाने के कारण भारत में बचे हुए बौद्धों की दुबारा इतनी हिम्मत नहीं हुई कि बौद्ध धर्म को पुनर्जीवित कर सकें। बौद्धों के पाखण्ड के कारण उनका धर्म बिलकुल थोथा हो चुका था और लोगों का अब इस पर से बिल्कुल विश्वास उठ चुका था, अतः बौद्ध धर्म भारत से बिल्कुल लुप्त हो गया।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत में बौद्ध धर्म ने जिस द्रुतगति से उन्नति की उसी द्रुतगति से उसका पतन हो गया प्रसिद्ध विद्वान मैक्समूलर (Max muller) का कथन है कि "जिस स्रोत से बौद्ध धर्म उत्पन्न हुआ था। उसी में वह समा गया यद्यपि विदेशों में अब भी वह धर्म बहुसंख्यक जनता को प्रभावित किये हुये है" श्री डब्लू. डब्लू हण्टर का कथन है कि "यद्यपि एक हजार वर्षों से बौद्ध धर्म अपनी जन्म स्थली से समाप्त सा हो गया परन्तु इसने अपने देश निकाले में अपनी मातृभूमि से अधिक ख्याति प्राप्त की है। वी. ए. स्मिथ महोदय का कथन है कि "यद्यपि बौद्ध धर्म अपनी जन्मभूमि से लुप्त प्रायः सा हो गया है, परन्तु आज भी वह विश्व का एक प्रभावशाली धर्म है और विभिन्न रूपों में लंका, बर्मा, स्याम, तिब्बत, मंगोलिया, चीन और जापान में पाया जाता है।"

भारतीय संस्कृति को बौद्ध धर्म की देन

भारतीय संस्कृति को बौद्ध धर्म की अपार देन है। बौद्ध धर्म का उदय भारतीय संस्कृति के लिये अत्यन्त हितकर सिद्ध हुआ। इस धर्म के प्रभाव से भारतीय संस्कृति के गौरव में वृद्धि हुई और भारतवासियों को जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण विकसित करने में सहायता प्रदान की। इस धर्म ने भारत के धर्म, दर्शन, साहित्य और कला के क्षेत्र में अभूतपूर्व योगदान दिया। इन पक्षों पर बौद्ध धर्म की अमिट छाप चिरन्तन और चिरकालीन है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वान मैक्समूलर (Maxmuller) ने कहा कि "यद्यपि बौद्ध धर्म भारत से लुप्त हुये 1000 वर्ष बीत गये हैं फिर इस धर्म द्वारा भारतीय विचारधारा और जीवन डाला गया प्रभाव सुदीर्घकाल के बाद आज तक विद्यमान है। भारतीय संस्कृति पर बौद्ध धर्म के प्रभाव को निम्नलिखित बिन्दुओं में व्यक्त किया जा सकता है-

(1) सरल एवं लोकप्रिय धर्म का प्रचार—बौद्ध धर्म ने हमें एक सरल और लोकप्रिय धर्म प्रदान किया जिसमें कर्मकाण्डों, पाखण्डों एवं निरर्थक विधि-विधानों की कोई आवश्यकता नहीं थी। महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म में न तो ईश्वर सम्बन्धी गूढ़ बातों को कोई स्थान दिया और न ही यज्ञादि कर्मकाण्डों को। उनका कहना था कि अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करते हुए कोई भी व्यक्ति अपने जीवन को सफल और सुखी बना सकता था। बौद्ध धर्म ने सदाचार, लोकसेवा और उच्च आदर्शों का प्रसार करते हुए शोषणहीन समाज की स्थापना पर बल दिया। आचरण की पवित्रता, समता, अहिंसा, संयम, सहिष्णुता आदि अनेक गुणों का भारतीय समाज में समुचित ढंग से समावेश करने का श्रेय भी बौद्ध धर्म को प्राप्त है।

(2) ब्राह्मण धर्म पर प्रभाव—बौद्ध धर्म के अहिंसा के सिद्धान्त का प्रभाव ब्राह्मण धर्म पर भी पड़ा। बौद्ध धर्म अहिंसा का प्रबल समर्थक था। उसने यज्ञों में प्रचलित पशुबलि का विरोध किया और अहिंसा के पालन पर जोर दिया। ब्राह्मण धर्म भी इस अहिंसा के सिद्धान्त से प्रभावित हुआ जिसके फलस्वरूप ब्राह्मणों ने भी प्राणीमात्र पर दया दिखाने का उपदेश देना शुरू कर दिया और यज्ञों में पशुबलि की प्रथा का ह्रास होता चला गया। कालान्तर में भागवत धर्म ने भी 'अहिंसा परमो धर्मः' के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार ब्राह्मण धर्म ने बौद्ध धर्म की बहुत सी बातों को ग्रहण कर लिया और अपने धर्म का परिष्कार किया।

(3) कला की उन्नति—बौद्ध धर्म की सबसे प्रमुख देन कला के क्षेत्र में है। अनेक विद्वानों की मान्यता है कि मूर्ति कला एवं शिल्प कलाओं का उद्भव सम्भवतः बौद्ध धर्म के द्वारा ही हुआ। महात्मा बुद्ध और बोधिसत्वों की असंख्य मूर्तियां भारत में बनने लगी जिससे कलाकारों को अपनी कला को समुन्नत बनाने का उचित और पर्याप्त अवसर मिलने लगा। सांची तथा सारनाथ के स्तूप, अरावली के मन्दिर अशोक के शिला स्तम्भ भारतीय कला के नमूनों में से हैं। अजन्ता, एलोरा तथा बाघ की गुफाओं के भित्तिचित्र बौद्ध कलाकारों की देन हैं जो भारतीय चित्र-कला के उत्कृष्ट नमूनें हैं। प्रो. कोहन का कथन है कि "यह स्पष्ट है कि बौद्ध कला का अनुभव हम सबों के लिए एक गम्भीर अनुभव होना चाहिए। सभी क्षेत्रों में चित्रकला, स्थापत्य कला, वास्तुकला और कारीगरी में बौद्ध धर्म ने ऐसी कलाकृतियां उत्पन्न की हैं जो पाश्चात्य कला की श्रेष्ठतम कृतियों के सामने रखी जा सकती हैं।" मूर्ति कला के क्षेत्र में एक नई शैली-गान्धार शैली को भी बौद्ध कलाकारों ने ही जन्म दिया था। भारतीय कला के कोष को उन्नत और समृद्ध बनाने में बौद्ध धर्म का प्रमुख हाथ रहा है। एक विद्वान ने बौद्ध कला की महत्ता के सम्बन्ध में लिखा है कि "यद्यपि भारतीय कला की परम्परा काफी प्राचीन है तथापि सिन्धु घाटी की कला को छोड़कर भारत में कला के जो नमूने प्राप्त होते हैं उनमें से अधिकांश बौद्ध कला के ही है। मूर्तिकला और शिल्पकला का तो उद्भव ही सम्भवतः बौद्ध धर्म के द्वारा हुआ। एक यह भी महत्वपूर्ण बात है कि-बौद्ध कलाकारों ने जिन कलाकृतियों का निर्माण किया उनका सौन्दर्य और सौष्ठव साधारण नहीं है।"

(4) विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार—बौद्ध धर्म की भारतीय संस्कृति को यह एक बहुत बड़ी देन है कि उसने भारत का अन्य देशों के साथ गहरा सम्बन्ध स्थापित करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। बौद्ध धर्म भारत की ओर से विदेशों के लिए एक अमूल्य भेंट थी। भारत के बौद्ध भिक्षुओं और विद्वानों ने विदेशों में बौद्ध धर्म का प्रसार किया। उन्होंने भारत के अतिरिक्त मध्य एशिया, चीन, जापान, तिब्बत, बर्मा, लंका, जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया आदि देशों में अपने धर्म का प्रचार किया इसके परिणामस्वरूप भारत के साथ इन देशों का

घनिष्ठ तथा स्थायी सम्बन्ध स्थापित हुआ और इनके साथ व्यापारिक तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान आरम्भ हो गया। इसके अतिरिक्त विदेशी यात्री तथा बौद्ध भिक्षु धर्म, ज्ञान तथा विद्या-प्राप्ति के लिए भारत आने लगे। उन्होंने बुद्ध की शिक्षाओं के साथ भारतीय संस्कृति के तत्त्वों को भी ग्रहण कर लिया। इस सम्बन्ध में जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि "बौद्ध धर्म ने भारत और विदेशों के बीच सम्बन्ध स्थापित किया। यह धर्म एक विश्वव्यापी आन्दोलन था जिसने तीन शताब्दी ई. पू. में ही भारतीय संस्कृति को विदेशों में पहुँचा दिया"।

(5) **साहित्य सृजन में देन**—साहित्य सृजन के क्षेत्र में भी बौद्ध धर्म की महत्वपूर्ण देन है। बौद्ध धर्म के विद्वानों ने जन साधारण की भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना की। पालि और प्राकृत का विकास बहुत कुछ बुद्ध के उद्देश्यों के कारण हुआ। पालि बौद्ध ग्रन्थों में त्रिपिटकों-विनय पिटक, सुत्तपिटक तथा अभिधम्मपिटक मिलिन्दपन्हो, दीपवंश, महावंश का महत्वपूर्ण स्थान है। बौद्ध साहित्यकारों ने संस्कृत भाषा में भी अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें **मंजुश्रीमूलकल्प, महावस्तु, ललितविस्तार तथा दिव्यावदान** काफी प्रसिद्ध हैं। **अश्वघोष, नागार्जुन, वसुमित्र, दिङ्नाग** आदि शिक्षा और साहित्य में योगदान देने वाले उल्लेखनीय बौद्ध आचार्य हुए। अश्वघोष की कृतियों में **'बुद्धचरित'** एवं **'सौन्दरानन्द-काव्य'** सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। ये रचनायें साहित्यक दृष्टि से ही नहीं अपितु ऐतिहासिक दृष्टि से भी अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। इस सम्बन्ध में एक इतिहासकार ने लिखा है कि **"यह कहने में कोई हिचक नहीं कि बौद्धों की धार्मिक ग्रन्थों की उपयोगिता इसलिए नहीं है कि उनके द्वारा हमें इस धर्म के सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त होता है वरन् उन्होंने प्राचीन भारत के इतिहास के पुनर्निर्माण जैसे दुःसह्य कार्य में विद्वानों की काफी सहायता की है।"**

(6) **शिक्षा का प्रसार**—भारत में शिक्षा की नियमित और व्यवस्थित प्रणाली की स्थापना बौद्ध धर्मावलम्बियों द्वारा ही की गई थी। बौद्ध धर्म की शिक्षा का प्रसार करने के लिए अनेक मठों तथा विहारों का निर्माण किया गया। नालन्दा, तक्षशिला, विक्रमशील आदि स्थानों पर बड़े-बड़े विश्वविद्यालय स्थापित किए गए जिनमें हजारों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। नालन्दा विश्वविद्यालय में बौद्ध धर्म के अतिरिक्त तर्क शास्त्र, व्याकरण, चिकित्सा, दर्शन, भाषा विज्ञान आदि विषयों की शिक्षा भी दी जाती थी। इन विश्वविद्यालयों ने शिक्षा के प्रसार में महत्वपूर्ण योग दिया।

(7) **दर्शन की उन्नति**—बौद्ध धर्म के उदय के फलस्वरूप भारत में एक नवीन दार्शनिक साहित्य का सृजन हुआ। 'शून्यवाद' तथा 'माध्यमिका' दर्शन के प्रतिपादक नागार्जुन का भारत के दार्शनिकों में महत्वपूर्ण स्थान है। बौद्ध धर्म के अन्तर्गत अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास हुआ जिनमें सौत्रान्तिक, वैभाषिक, विज्ञान-

वादी एवं शून्यवादी दार्शनिक विचारधारायें उल्लेखनीय थी। असंग, वसुमित्र, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध दार्शनिकों की कृतियों का अध्ययन किये बिना कोई भी व्यक्ति भारतीय दर्शन का आचार्य नहीं कहा जा सकता। बौद्धों का दार्शनिक साहित्य केवल प्रचुर और समृद्ध ही नहीं अपितु विचारोत्तेजक भी था। इस प्रकार बौद्ध दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन की अभिवृद्धि में महत्वपूर्ण योग दिया।

(8) **संघ व्यवस्था**—इसमें कोई सन्देह नहीं कि बौद्ध संघों की स्थापना भगवान बुद्ध के मस्तिष्क की मौलिक उपज थी और धर्म की यह एक प्रमुख देन थी। सर्वप्रथम महात्मा बुद्ध ने बौद्ध भिक्षुओं के लिए बौद्ध-संघ की व्यवस्था की और उन्हें मठों में रहने का उपदेश दिया। इन मठों में सैकड़ों भिक्षु एक साथ रहा करते थे। इन बौद्ध-संघों ने धर्म-प्रचार की भावना को प्रोत्साहित किया और समाज के नैतिक आचरण को ऊँचा उठाने में योगदान दिया। इस प्रकार महात्मा बुद्ध ने पहली बार धार्मिक संगठन का महत्व जनता को दिखाया। हिन्दू धर्म में मठ और रामद्वारे आदि भी बौद्ध संघ की नकल माने जा सकते हैं।

(9) **समानता की भावना**—बौद्ध धर्म ने जाति-प्रथा का विरोध करके सामाजिक और धार्मिक समानता स्थापित करने पर बल दिया। बौद्ध धर्म ने जाति-पाँति, ऊँच-नीच एवं अस्पृश्यता पर घोर प्रहार किया और अपने धर्म के द्वार सभी सम्प्रदायों के लिए खोल दिए। बौद्ध धर्म ने समानता, उदारता और सहनशीलता का प्रचार किया तथा निम्न वर्ग के लोगों में आत्मविश्वास तथा आत्मप्रतिष्ठा की भावना उत्पन्न की।

(10) **मूर्ति पूजा का प्रादुर्भाव**—अनेक विद्वानों की धारणा है कि भारत में मूर्तिपूजा का व्यापक प्रसार बौद्ध-धर्म के द्वारा ही हुआ। महायान सम्प्रदाय के बौद्धों ने भगवान बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्ति बनाकर उनकी उपासना करना शुरू कर दिया। गान्धार प्रदेश तो भगवान बुद्ध की असंख्य मूर्तियों से भरा पड़ा था। इसका हिन्दू धर्म के अनुयायियों पर भी प्रभाव पड़ा और उन्होंने भी अपने देवी-देवताओं की मूर्तियां बनाकर उनकी उपासना करना शुरू कर दिया। इस प्रकार मूर्तिपूजा की यह पद्धति बौद्धों के द्वारा ही हिन्दुओं को प्राप्त हुई।

(11) **धार्मिक सहिष्णुता**—बौद्ध धर्म ने भारतीय समाज को धार्मिक सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया। महात्मा बुद्ध का दृष्टिकोण बड़ा ही उदार तथा व्यापक था। उन्होंने दूसरे धर्मों की निन्दा कभी नहीं की और बौद्धिक स्वतन्त्रता पर बल दिया। उन्होंने अपने विचार दूसरों पर थोपने का प्रयास नहीं किया बल्कि सत्य और तर्क के आधार पर प्रत्येक धर्म को कसौटी पर परखने का आह्वान किया। इसका प्रभाव हिन्दुओं पर भी पड़ा।

(12) राजनीतिक प्रभाव—बौद्ध धर्म ने भारत के राजनैतिक इतिहास को भी बहुत प्रभावित किया। बौद्ध धर्म ने अनेक भारतीय नरेशों को प्रभावित किया। अशोक, कनिष्क, हर्षवर्धन आदि महान् सम्राटों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया और इस धर्म के प्रचार-प्रसार में अपने राज्य के समस्त साधन लगा दिये। बौद्ध धर्म ने अहिंसा का उपदेश देकर भारतीय नरेशों के हृदय में रक्तपात तथा युद्ध के प्रति घृणा उत्पन्न कर दी। यह बौद्ध धर्म ही था जिसने रक्त-पिपासु और विस्तारवादी अशोक को कलिंग-युद्ध के पश्चात् शान्तिवादी बना दिया तथा उसने युद्धघोष को त्याग कर धर्मघोष ग्रहण किया। बौद्ध धर्म ने शासकों को समाज सेवा तथा लोक कल्याण का पाठ पढ़ाया और उनमें सम्पूर्ण मानव-जाति के उत्थान के लिए असीम उत्साह उत्पन्न कर दिया। बौद्ध धर्म ने राजनैतिक क्षेत्र में शान्ति तथा भ्रातृत्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। आज भी भारत की राजनीति में अहिंसा, विश्व शान्ति तथा शान्ति-पूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त पर बल दिया जाता है।

(13) राजनैतिक एकता—धीरे-धीरे बौद्ध धर्म भारत के अनेक प्रान्तों में फैल गया। इससे राजनैतिक एकता को प्रोत्साहन मिला। **हैवेल** का मत है कि **"बौद्ध धर्म ने आर्यावर्त के जातीय बन्धनों को तोड़ कर तथा ब्राह्मणों के कर्मकाण्डों से उत्पन्न आध्यात्मिक अन्धविश्वासों को मिटाकर तत्कालीन राजनैतिक क्षेत्र में सहानुभूति की भावना उत्पन्न की। इसी राजनैतिक एकता तथा सहानुभूति के आधार पर मौर्य वंश का सुदृढ़ शासन स्थापित हो सका।"** इस प्रकार भारतीय समाज दर्शन और विचारधारा बौद्ध धर्म के ऋणी हैं।

जैन धर्म व बौद्ध धर्म की तुलना

भूमिका—जैन व बौद्ध धर्म का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हमें दोनों धर्मों में अनेक समानतायें दृष्टिगोचर होती हैं। समताओं के आधार पर कतिपय विद्वानों ने जैन धर्म को बौद्ध धर्म का एक सम्प्रदाय माना है। श्री **बार्थ** महोदय लिखते हैं कि 'जैन मत बौद्ध धर्म से उत्पन्न एक सम्प्रदाय है।" दोनों धर्मों में कुछ समानतायें होने के उपरान्त भी अनेक असमानतायें हैं। दोनों धर्मों में कुछ साम्य होने के कारण इन्हें एक मूल से उद्भूत कहा जाता है जबकि दोनों में कुछ विषमतायें भी विद्यमान हैं। दोनों धर्मों की समानतायें व असमानतायें निम्नलिखित हैं—

(1) प्रारम्भ सम्बन्धी समानता—जैन और बौद्ध धर्म का उदय एक ही शताब्दी में हुआ था। दोनों के उदय की उत्पत्ति हिन्दू धर्म की जटिलता, रूढ़िवादिता, व कर्मकाण्डों के फलस्वरूप हुई थी। दोनों धर्मों ने वैदिक यज्ञों तथा कर्मकाण्डों का विरोध किया और अहिंसा को परम धर्म मानकर सब प्रकार की हिंसा वृत्ति का विरोध किया।

(2) **दोनों धर्म प्रचारकों में साम्य**—जैन धर्म के प्रधान उपदेशक महावीर स्वामी व बौद्ध धर्म के प्रधान उपदेशक महात्मा बुद्ध दोनों ही क्षत्रिय राजकुमार थे, जिन्होंने राजपरिवार का सुख छोड़ कर तपस्या की व सत्य की खोज की।

(3) **वेदों की प्रामाणिकता का खण्डन**—जैन व बौद्ध दोनों धर्म ही वेदों की प्रामाणिकता को अस्वीकार करते हैं। दोनों वेदों के स्थान पर तर्क और अनुभव को प्रधानता देते हैं।

(4) **दोनों का ईश्वर में अविश्वास**—दोनों धर्म प्रवर्तक ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। बौद्ध धर्म के अनुसार संसार की रचना अणुओं से हुई है। वह ईश्वर को सृष्टि का रचियता, पालक और संहारक नहीं मानते। यह स्पष्टतया अनीश्वरवादी है।

(5) **दोनों का कर्मवाद व पुनर्जन्म में विश्वास**—जैन व बौद्ध दोनों ही धर्म कर्मवाद में आस्था रखते हैं और दोनों ने ही पुनर्जन्म के सिद्धान्त को माना है। दोनों धर्मों के अनुसार संसार में उत्पन्न होने वाला प्रत्येक मानव पूर्व जन्म में किये गये कर्मों का फल अवश्य पाता है। मनुष्य अपने जीवन में किये गये कर्मों के अनुसार ही जन्म लेता है और कर्मों की श्रेष्ठता ही जन्म योनि निश्चित करती है।

(6) **दोनों धर्म जाति-पाँति विरोधी**—दोनों धर्म जाति-पाँति का विरोध करते हैं। दोनों का विश्वास है कि मनुष्य का वर्ण जन्मजात न होकर कर्मों पर आधारित है और कर्म करने के लिए मनुष्य स्वतन्त्र है।

(7) **सदाचार व अहिंसा पर बल**—दोनों धर्मों ने अहिंसा पर बल दिया है और प्राणियों के प्रति करूणा, प्रेम, सहानुभूति के साथ बर्ताव करने का उपदेश दिया है। दोनों धर्मों ने सदाचार पूर्ण जीवन पर बल दिया है तथा शुद्ध आचरण, संयम, और परोपकार आदि गुणों को ही मोक्ष मार्ग बताया है।

(8) **दोनों का अन्तिम उद्देश्य निर्वाण**—दोनों धर्म इस संसार को बन्धनों व दुःखों का घर मानते हैं। दोनों धर्मों की मान्यता है कि संसार के दुःख अनन्त हैं इनसे छुटकारा पाने अर्थात् सांसारिक दुःखों के बन्धनों से छुटकारे के लिए उत्तम कर्म करने चाहिए। उत्तम कर्मों द्वारा ही हम आवागमन के बन्धन से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं।

(9) **धर्म प्रचार संघ द्वारा**—दोनों धर्मों का प्रचार संघ द्वारा किया गया था। बौद्ध संघ ने धर्म प्रचार में महत्वपूर्ण योगदान दिया। दोनों धर्मों ने संन्यास धर्म की प्रधानता बताई है।

(10) **बोलचाल की भाषा में प्रचार**—दोनों धर्मों के प्रचारकों ने संस्कृत भाषा को छोड़कर साधारण बोलचाल की भाषा में प्रचार किया गया। बौद्ध धर्म का पालि भाषा में और जैन धर्म का प्राकृत भाषा में प्रचार किया गया है।

(11) **दोनों धर्मों के त्रि-रत्न**—दोनों धर्मों के तीन रत्न हैं। बौद्ध धर्म के तीन रत्न हैं—बुद्ध, संघ और धर्म। जैन धर्म के तीन रत्न हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र। दोनों धर्मों में त्रि-रत्नों का साम्य है।

(12) **दोनों धर्म दो प्रधान सम्प्रदायों में विभक्त**—जैन और बौद्ध दोनों धर्म कालान्तर में दो प्रधान सम्प्रदायों में विभाजित हो गये। जैन धर्म श्वेताम्बर तथा दिगम्बर में और बौद्ध धर्म महायान व हीनयान सम्प्रदायों में विभाजित हो गया।

दोनों धर्मों में आचरण सम्बन्धी सिद्धान्तों पर बल दिया है। दोनों धर्मों के तीन धार्मिक ग्रन्थ हैं। जैनियों के अंग, उपांग और सूत्र तथा बौद्धों के मूल ग्रन्थ, विनय, सुत्त और अभिधम्म पिटक हैं। उपरोक्त समानताओं के आधार पर जैन व बौद्ध धर्म मूलतः समान है।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म में असमानताएँ

यद्यपि जैन व बौद्ध धर्म मूलतः एक है। उनमें आपसी समानताएँ हैं तथापि इसके दूसरे पहलू पर विचार करें तो कुछ विषमताएँ भी दृष्टिगोचर होती है। यह मुख्य विषमताएँ निम्नलिखित हैं—

1. **निर्वाण और कैवल्य में अन्तर**—सांसारिक बन्धनों से छुटकारा, दोनों धर्म जीवन का मुख्य उद्देश्य मानते हैं परन्तु बौद्धों के निर्वाण और जैनों के कैवल्य में महान विषमता है। कैवल्य वह अवस्था है जहाँ आत्मा दुखों से छुटकारा पा *जाती है लेकिन बौद्धों के अनुसार निर्वाण का आशय व्यक्तित्व की पूर्णरूपेण* समाप्ति है।

2. **अहिंसा सम्बन्धी विचारों में अन्तर**—जैन धर्म में हिंसा महान पाप है जबकि बौद्ध धर्म के धर्मावलम्बी अहिंसा को श्रेष्ठ मानते हुए भी विशेष परिस्थिति में हिंसा को बुरा नहीं मानते हैं। जैनी मांस भक्षण नहीं करते जबकि कुछ बौद्ध मांस भक्षण भी करते हैं।

3. **मोक्ष कल्पना की असमानता**—जैन धर्मानुसार जब कर्मफल से मुक्ति मिल जाए तथा ऐसे कर्म किए जाए जो फल देने वाले न हो तो जीव अजीव से विमुक्त हो जाता है यह अवस्था मोक्ष कहलाती है जबकि बौद्ध धर्म के अनुसार वासना अग्नि का बुझ जाना व दुखों से छुटकारा ही निर्वाण है। जैन मतानुसार

शरीर नष्ट होने पर ही निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है जबकि बौद्ध धर्म इसी लोक और जीवन में ही निर्वाण मानते हैं।

4. आत्मा के सम्बन्ध में—बौद्ध धर्म आत्मा के अस्तित्व को पूर्णतया अस्वीकार करता है जबकि जैन धर्म परोक्ष रूप से आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार कर आत्मा को अजर-अमर मानता है तथा आत्मा की बहुलता स्वीकार करता है।

5. निर्वाण प्राप्ति के साधनों में अन्तर—जैन धर्म कठोर तपस्या व उपवास में विश्वास रखता है। जैन धर्म के अनुसार शरीर ही बन्धनों में बन्धता है अतः आत्मा के शुद्धिकरण के लिए शरीर को अधिक कष्ट देना आवश्यक है जबकि बौद्ध धर्म शारीरिक यातनाओं व कठोर तपस्या को निरर्थक मानता है तथा मध्यम मार्ग द्वारा ही निर्वाण प्राप्ति सहज बताता है।

6. दोनों धर्मों की व्यापकता व प्रचार में अन्तर—बौद्ध धर्म का प्रचार द्रुतगति से हुआ जबकि जैन धर्म का प्रचार शनैः-शनैः हुआ। जहाँ बौद्ध धर्म विदेशों में भी प्रचारित हुआ वहाँ जैन धर्म भारत में ही सीमित रहा। दीर्घ प्रचार न होने के कारण जैन अनुयायियों की संख्या भी बौद्धों की अपेक्षा कम रही। बौद्ध धर्म अपनी जन्म भूमि से लुप्त प्रायः हो गया है परन्तु जैन धर्म अब भी भारत में अपना स्थायित्व बनाये हुए है।

7. समाज व व्यक्तिक विचारों की असमानता—बौद्ध धर्म में संघ को अधिक महत्व दिया गया है उनके अनुसार मानव मात्र का कल्याण संघ की शरण में जाने पर ही हो सकता है। बौद्धों की "संघम् शरणं गच्छामि" के विपरीत जैन धर्म संघ के स्थान पर गृहस्थ को अधिक महत्व देते हैं।

8. तीर्थंकरों की संख्या में अन्तर—जैन 24 तीर्थंकरों की उपासना करते हैं जबकि बौद्ध धर्म 24 बुद्धों को मानते हैं।

9. धर्म ग्रन्थों में अन्तर—जैनियों के धार्मिक ग्रन्थ 'आचारंग सूत्र' में आचरण के नियमों का संग्रह है जबकि बौद्ध धार्मिक ग्रन्थ "विनय पिटक" में संघ के नियमों का संग्रह तथा "सुत्तपिटक" में महात्मा बुद्ध द्वारा दी गई शिक्षा है।

10. प्रचारक भाषा में अन्तर—जैन धर्म के ग्रन्थ संस्कृत या प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं। जैनाचार्यों ने इनका प्रचार प्राकृत भाषा में ही किया है। बौद्ध साहित्य पालि भाषा में लिखा गया है तथा इसका प्रचार भी पालि भाषा में हुआ है। जैन ग्रन्थ 'आगम' तथा बौद्ध ग्रन्थ "त्रिपिटक" कहलाते है।

11 परिवर्तनशीलता में अन्तर—जैन धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म अधिक परिवर्तनशील था। यह परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता रहता था।

12. राजकीय संरक्षणता में अन्तर—बौद्ध धर्म को जैन धर्म की अपेक्षाकृत अधिक राजकीय संरक्षण प्राप्त हुआ। सम्राट अशोक, कनिष्क आदि के प्रश्रय में बौद्धों ने बौद्ध धर्म का अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया। फलतः यह चीन, जापान, तिब्बत, श्रीलंका, नेपाल व इण्डोनेशिया तक फैला जबकि जैन धर्म का विस्तार भारत की भौगोलिक सीमा तक ही रह गया।

उपर्युक्त तुलनात्मक विश्लेषण से यह सिद्ध हो जाता है कि जैन धर्म व बौद्ध धर्म में समानताएँ होते हुए भी पर्याप्त विषमताएँ विद्यमान हैं। दोनों धर्म अपनी स्वतन्त्र विचारधारा के पोषक थे।

6

वैष्णव एवं शैव धर्म

(Vaishnavism and Saivism)

छठी शताब्दी ई. पू. में वैदिक धर्म के कर्मकाण्डों और जटिलताओं के विरूद्ध हुई प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जैन और बौद्ध धर्म का उदय हुआ। महात्मा बुद्ध ने मानवमात्र के कल्याण व मोक्ष प्राप्ति के लिए बौद्ध धर्म के रूप में एक सरल मार्ग का प्रतिपादन किया था। अपनी सरलता और कर्मकाण्ड रहित सदाचार की प्रबल भावना के कारण बौद्ध धर्म ने महात्मा बुद्ध के जीवनकाल में ही देश-विदेश में काफी प्रचार और प्रसिद्धि प्राप्त करली थी। किन्तु महात्मा बुद्ध की मृत्यु के कुछ दिनों बाद ही बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के बारे में मतभेद उत्पन्न हो गये अतः बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। धीरे-धीरे बौद्ध धर्म में अन्धविश्वास और तन्त्र-मन्त्र शामिल हो गये। बौद्ध धर्म को मिले राजकीय संरक्षण के कारण बौद्ध संघों में असीमित धन और अनाचार प्रविष्ठ हो गया। अशोक के युग की धर्म विजय की अवधारणा तथा उसके उत्तराधिकारियों की अकर्मण्यता ने भारत की सैन्यशक्ति को जर्जर कर दिया। बौद्ध धर्म का समकालीन जैन धर्म भी अत्यन्त कठोर सिद्धांतों व तपस्या पर आधारित था। महावीर स्वामी की मृत्यु के बाद जैन धर्म भी दो प्रमुख सम्प्रदायों में बँट गया तथा कालान्तर में उसमें भी तन्त्र-मन्त्र तथा अनेक बुराइयां व्याप्त हो गई थी। अतः बौद्ध धर्म में व्याप्त तंत्र-मन्त्र और संघ में व्याप्त अनाचार तथा जैन धर्म की कठोरता के विरूद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई जिसके फलस्वरूप वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ। इस पुनरुत्थान में जिस वैदिक धर्म ने जन्म लिया वह अपने प्राचीन रूप से कई प्रकार से भिन्न था। प्राचीन वैदिक धर्म में विविध प्राकृतिक शक्तियों को देवत्व प्रदान किया गया था। किन्तु इस नवीन वैदिक धर्म में धार्मिक नेताओं और महापुरुषों को देवत्व प्रदान किया। इसमें निर्गुण और निराकार ईश्वर के स्थान पर सगुण और साकार ईश्वर की प्रतिष्ठा की गई। प्राचीन वैदिक धर्म के यज्ञों के स्थान पर मूर्तिपूजा व भक्ति-भावना की स्थापना की गई। जैन और बौद्ध धर्म ने इस नवीन वैदिक विचारधारा

को कई दृष्टियों से प्रभावित किया। नवीन वैदिक धर्म में अपने धार्मिक नेताओं और महापुरुषों को वही स्थान दिया गया जो जैन और बौद्ध धर्म में महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध का था।

वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के फलस्वरूप हिन्दू धर्म में कुछ नवीन धार्मिक विचार-धारायें और सम्प्रदाय उदित हुये। इनमें वैष्णव और शैव सम्प्रदाय मुख्य है।

वैष्णव धर्म (Vaishnavism)

उद्भव–वैष्णव धर्म के आराध्य देव विष्णु अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक युग में विष्णु को एक देवता के रूप में पूजा जाता था तथा इनको प्रसन्न करने के लिए यज्ञ किये जाते थे। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में विष्णु के देव रूप का उल्लेख मिलता है। इस काल में विष्णु अन्य देवताओं के समकक्ष थे और सर्वश्रेष्ठ देवता के पद पर इन्द्र आसीन थे। किन्तु ब्राह्मण युग में विष्णु की महत्ता में वृद्धि हो गई और उन्हें सृष्टि का रक्षक और पालनकर्त्ता माना जाने लगा। यास्क के निरुक्त में सूर्य का नाम ही विष्णु बताया गया है।

वैदिक युग में ही यज्ञों में दी जाने वाली पशुबलि और कर्मकाण्डों का विरोध होने लगा था और देवताओं की उपासना पर बल दिया जाने लगा था। उपनिषदों में भी अंशतः ईश्वर शरणागति और भक्ति के उल्लेख मिलते हैं। कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि वैदिक युग में ही वैष्णव धर्म का एक सम्प्रदाय के रूप में बीजा-रोपण हो चुका था। परन्तु अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि वैष्णव धर्म के प्रवर्तन का श्रेय अन्धक वृष्णि संघ के नेता वासुदेव कृष्ण को है। यह कृष्ण वही महापुरुष है जिन्होंने महाभारत युद्ध में पाण्डवों का पक्ष लिया था और अर्जुन को गीता का उपदेश दिया था।

विद्वानों की मान्यता है कि वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड और पशुबलि के विरुद्ध प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ईसा से 3100 वर्ष पूर्व महाभारत के युद्ध के समय श्रीकृष्ण ने वैदिक धर्म में सुधार का प्रयास किया और एक नवीन धार्मिक सम्प्रदाय चलाया जो 'वासुदेव' या 'भागवत' धर्म कहलाया। बाद में इस धर्म को वैष्णव धर्म की संज्ञा दी गई। इस धर्म में सत्य, भक्ति, आत्मसमर्पण और पवित्रता को विशेष महत्व दिया गया है। भगवद्गीता से सम्बन्ध होने के कारण इसे 'भागवत धर्म' भी कहा जाता है।

भागवत धर्म—श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित भागवत धर्म में निर्गुण ईश्वर के स्थान पर सगुण ईश्वर की प्रतिष्ठा की गई और ईश्वर भक्ति को मोक्ष का सरल और सर्वश्रेष्ठ मार्ग बताया गया। भागवत धर्म के अनुसार व्यक्ति का अहंभाव उसकी मोक्ष प्राप्ति में बाधक है। अहंभाव के कारण उसमें अज्ञान रहता है और वह संसार में आवागमन के चक्र में पड़ा रहता है। इस अहंभाव को दूर करने के लिये श्रीकृष्ण ने गीता में कर्म मार्ग, ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग तीन मार्ग बताये

है। इसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य कर्मशील है, अपने वर्ण विहित कर्ममार्ग पर चलता हुआ वह ज्ञान मार्ग पर पहुँच जाता है जहाँ उसे अज्ञान से मुक्ति मिल जाती है। इसके बाद वह भक्ति मार्ग पर अग्रसर हो जाता है। इस भक्ति मार्ग में उसके अहं का नाश हो जाता है और उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

भागवत धर्म के उदय के समय कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग की साधनायें पहले से ही प्रचलित थी। वेदों में कर्म मार्ग और उपनिषदों में ज्ञानमार्ग की धारा प्रवाहित हो रही थी। परन्तु श्रीकृष्ण ने इन दोनों को मर्यादित कर कर्म और ज्ञान का अद्भुत समन्वय किया तथा दोनों से पृथक रूप में भक्ति के नये मार्ग का भी प्रतिपादन किया। गीता में श्रीकृष्ण ने वैदिक कर्मकाण्डों और यज्ञों आदि को निरर्थक बताकर फल की इच्छा से रहित कर्म की प्रवृत्ति को श्रेष्ठ बताया है। ईश्वर भक्ति और शरणागति के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुये गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि **"हे अर्जुन सब धर्मों को छोड़कर तुम मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कराऊँगा"** गीता में भक्ति योग को ज्ञानयोग तथा कर्मयोग से श्रेष्ठ माना गया है। भक्ति योग की महत्ता का प्रतिपादन करते हुये श्रीकृष्ण ने कहा है कि "न तो योग, न ज्ञान, न कर्म, न वेदाध्ययन, न तप और न दान मुझे इतने प्रिय हैं, जितनी एकान्तिक भक्ति" कृष्ण की भक्ति का अर्थ जप, तप या माला फेरना नहीं है। एकमात्र ईश्वर की शरण में चले जाना ही भक्ति का सर्वस्व है। गीता शूद्रों और स्त्रियों को भी भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का अधिकार देती है। गीता के अनुसार मोक्ष के लिए संन्यास आवश्यक नहीं है, वरन गृहस्थ में रहते हुए भी भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

भागवत धर्म का विकास—इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि अन्धकवृष्णि संघ के नायक वासुदेव कृष्ण ने वैदिक धर्म की जटिलता व यज्ञों में दी जाने वाली पशुबलि के विरोध में एक नवीन धार्मिक सम्प्रदाय की स्थापना की जो **'भागवत'** या **'वासुदेव'** धर्म कहलाता है। समय बीतने के साथ इस धर्म का विकास होता गया। धीरे-धीरे इस धर्म के अनुयायियों ने इस धर्म के प्रवर्तक और संस्थापक वासुदेव कृष्ण को विष्णु का अवतार मान लिया और कृष्ण की विष्णु के रूप में पूजा होने लगी। कृष्ण और विष्णु के इस एक्य के कारण भागवत धर्म को वैष्णव धर्म की संज्ञा दी गई है। विद्वानों की मान्यता है कि ऐतिहासिक पुरुष कृष्ण को अवतार और अलौकिक पुरुष मानकर विष्णु और कृष्ण का एकात्म कर लेने की यह प्रक्रिया लगभग 300 ई. पू. के पहले पूरी हो चुकी थी। कालान्तर में वैदिक और ब्राह्मण साहित्य में वर्णित एक उत्कृष्ट देवता **'नारायण'** का भी विष्णु और कृष्ण के साथ एकात्म कर लिया गया। इस कारण इस धर्म को 'नारायणीय' धर्म भी कहा जाता है।

कालान्तर में वैष्णव धर्म का विकास होता गया और इस धर्म में कृष्ण के अतिरिक्त चार अन्य देवताओं की प्रतिष्ठा हुई। ये चार देवता थे—

1. **संकर्षण**—यह कृष्ण के भाई बलराम थे

2. **प्रद्युम्न**—यह रूकमणी से उत्पन्न पुत्र थे।

3. **साम्ब**—यह कृष्ण की पत्नी जाम्बवती के पुत्र थे।

4. **अनुरूद्ध**—यह प्रद्युम्न के पुत्र व श्रीकृष्ण के पौत्र थे।

वैष्णव धर्म में इन चारों व्यक्तियों का देवत्व प्राप्त हुआ। सम्भवतः इन्होंने भागवत धर्म की कुछ विचारधाराओं का प्रतिपादन किया था। इन देवताओं का कृष्ण की अपेक्षा कम महत्व था। वे कृष्ण के व्यूह के अंग माने जाते थे। इस व्यूह का प्रादुर्भाव कृष्ण से ही होता है। वैष्णव धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार वासुदेव कृष्ण विश्व की एकमात्र परम सत्ता है। उन्होंने अपने से ही छः गुण उत्पन्न किये। इन गुणों में ज्ञान और बल, ऐश्वर्य और वीर्य तथा शक्ति और तेज के तीन युग्म हैं। इन युग्मों को 'व्यूह' कहा जाता है। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के अनुसार कृष्ण ने स्वयं से ही संकर्षण व्यूह को जन्म दिया और स्वतः ही प्रकृति उत्पन्न की तथा संकर्षण व्यूह और प्रकृति के सहयोग से **'प्रद्युम्न'** व्यूह और **'मनसतत्व'** अथवा **'बुद्धि'** का जन्म हुआ तथा 'प्रद्युम्न' व्यूह और 'बुद्धि' के संयोग से **अनुरूद्ध व्यूह** और अहंकार तत्व की उत्पत्ति हुई। इसके बाद उन्होंने अपने को प्रकृति के विविध रूपों में प्रकट किया ये उसके **'विभव'** या **'अवतार'** है। इन अवतारों की संख्या असीम है। विश्वक्सेन संहिता में वृक्ष को भी ईश्वर का अवतार माना गया है। अहिर्बुध्न्य संहिता में इनकी संख्या 39 बताई गई है। इस प्रकार वैष्णव धर्म में वासुदेव कृष्ण को परम ब्रह्म और देवातिदेव का रूप प्रदान किया गया। इनके अवतारों की मूर्तियों के रूप में पूजा की जाती है। वैष्णव मत के अनुसार पूजा के पाँच अंग हैं—

(1) **अभिगमन**—देवता की ओर प्रवृत्त होना, (2) **उपादान**—पूजा के लिये पुष्प, फल, नैवेद्य, धूप, दीप आदि सामग्री का संग्रह करना, (3) **इज्या**—इस सामग्री को देवता को अर्पित करना, (4) **स्वाध्याय**—शास्त्रों का अध्ययन और मन्त्र जाप करना, (5) **योग**—ध्यान लगाकर ईश्वर से साक्षात्कार करना। पूजा की इस विधि का उद्देश्य भक्ति में लीन करना था।

अवतारवाद—अवतारवाद की मान्यता का सिद्धान्त भारतीय धर्मों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। कतिपय विद्वानों का विचार है कि भारतीय धर्मों में अवतारवाद महाकाव्यों की देन है। परन्तु रामायण और महाकाव्यों में अवतारवाद

का जो विकसित रूप मिलता है वह यकायक उत्पन्न अवतारवाद का स्वरूप नहीं है। निश्चय ही इसके पीछे शताब्दियों का चिन्तन रहा होगा क्योंकि किसी भी विचार धारा या मान्यता को उत्पन्न होकर विकसित रूप में स्थापित होने में शताब्दियां लग जाती हैं। अतः अवतारवाद की विचारधारा भी महाकाव्यों से काफी पूर्व ही जन्म ले चुकी होगी। वैदिक साहित्य में भी अनेक देवताओं को विभिन्न रूपधारी कहा गया है।

गीता में श्री कृष्ण ने कहा है कि, "जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का उत्थान होता है, तब-तब ही दुष्टों का संहार करने, सज्जनों की रक्षा करने और धर्म की पुर्नस्थापना के लिये, मैं युग-युग में इस धरती पर सगुण रूप में अवतार लेता हूं।" इस प्रकार वैष्णव धर्म में अवतारवाद की प्रतिष्ठा हुई। प्राचीन साहित्य में विष्णु के नृसिंह, वराह, वामन, कृष्ण, हंस, कूर्म, मत्स्य और कल्कि अवतारों का उल्लेख मिलता है। कालान्तर में दशरथ के पुत्र राम को भी विष्णु का अवतार मान लिया गया। पुराणों में चौबीस अवतारों का उल्लेख मिलता है जिनमें महाभारत के रचयिता वेदव्यास और गौतम बुद्ध आदि महापुरुषों को भी अवतार मान लिया गया। भागवत पुराण के अनुसार विष्णु के अवतारों की संख्या असीम है। विश्वकसेन संहिता के अनुसार वृक्ष भी ईश्वर का अवतार है। अवतारवाद की इस विचारधारा का वैष्णव धर्म में अत्यधिक महत्व है क्योंकि इसके कारण अनेक धर्म और मान्यतायें इस धर्म में सम्मिलित हो गई और धर्म के आधार पर कभी संघर्ष नहीं हुआ।

वैष्णव धर्म में नये तत्व–ऐतिहासिक दृष्टि से यह माना जाता है कि बौद्ध धर्म के विरुद्ध हो रही प्रतिक्रिया के फलस्वरूप शुंग काल में वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ। वैदिक धर्म के इस नवीन रूप में बौद्ध और जैन धर्म के प्रभाव के कारण यज्ञ, कर्मकाण्ड तथा पशुवलि का प्रभाव तो क्षीण हो गया किन्तु उस समय प्रचलित वैदिक धर्म के विविध सम्प्रदायों में नये तत्वों का समावेश हुआ। विद्वानों की मान्यता है कि वैष्णव धर्म में राम की विष्णु के अवतार रूप में प्रतिष्ठा 200 ई. पू. की ही देन है। ऐसा माना जाता है कि जैसे-जैसे उपासना और भक्ति का महत्व बढ़ा वैसे-वैसे वैष्णव धर्म के अनुयायियों ने राम को एक आदर्श चरित्र के नाते अपना आराध्य देव स्वीकार कर लिया। चौथी शताब्दी ईस्वी के कवि कालिदास ने अपने काव्य '**रघुवंश**' में अवतारों के रूप में राम की उपासना का वर्णन किया है। अतः निश्चय ही इससे काफी समय पूर्व राम को विष्णु का अवतार मान लिया गया था और वैष्णव अनुयायी उनकी भक्ति और आराधना किया करते थे। गुप्तवंश (चौथी शताब्दी ईस्वी) के शासक वैष्णव धर्म के मानने वाले थे। इनके काल में विष्णु के वराह अवतार रूप की पूजा और आराधना होने लगी। छठी शताब्दी ईस्वी में वराहमिहिर नामक विद्वान ने उन नियमों और सिद्धान्तों का निरूपण किया जिनके अनुसार वैष्णवों के आराध्य देव राम की मूर्ति और मन्दिर का निर्माण किया जाना

चाहिये। भारतीय परम्परा के अनुसार 600 से 800 ईस्वी के मध्य वैष्णव धर्म की 108 पांचरात्र संहिताओं की रचना हुई। मध्यकाल में वैष्णव धर्म का सबसे अधिक प्रसार हुआ। इसी युग में वैष्णव धर्म के स्वरूप में भी व्यापक परिवर्तन हुआ। इस काल में अमितगिरि, आनन्दतीर्थ, रामानन्द, कबीर और तुलसीदास आदि सन्तों ने वैष्णव धर्म में राम की भक्ति पर विशेष बल दिया। इसी काल में वे दक्षिण भारत के वैष्णव सन्त नाथमुनि ने आचार्य सम्प्रदाय की नींव डाली। इसी परम्परा के सन्त रामानुजाचार्य ने **'श्री सम्प्रदाय'** की प्रतिष्ठा की तथा शंकराचार्य के अद्वैत-वाद में संशोधन कर **'विशिष्टाद्वैतवाद'** की नवीन विचारधारा प्रतिपादित की। रामानन्द ने राम की भक्ति पर बल देते हुये **'रामावत'** सम्प्रदाय की स्थापना की। इसी तरह माध्वाचार्य ने **'द्वैतवाद'** तथा निम्बकाचार्य ने **'त्रैतवाद'** का प्रतिपादन कर वैष्णव धर्म में कृष्ण और राधा की भक्ति पर विशेष बल दिया। वल्लभाचार्य ने वैष्णव धर्म में स्वतन्त्र 'पुष्टि सम्प्रदाय' की प्रवर्तन किया। इसके अतिरिक्त मध्यकाल के भक्ति आन्दोलन के अन्य सन्तों ज्ञानदेव, नामदेव, चैतन्य महाप्रभु, रैदास, गुरु-नानक आदि ने वैष्णव धर्म के उत्थान और विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

मध्यकाल में वैष्णव धर्म के स्वरूप में भी पर्याप्त परिवर्तन हुआ। इस धर्म में भक्ति और उपासना पर अधिक बल दिया जाता था। किन्तु मध्यकाल में भक्ति और उपासना का सरल रूप समाप्त हो गया। इस काल में धर्म के अवतारों की मूर्तियों और मन्दिरों की साज-सज्जा और शृंगार पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा और उपास्यदेव को प्रसन्न करने के लिये नृत्य और संगीत की परम्परा भी आरम्भ हो गयी थी। अब मूर्तियों को जीवित और जागृत देवता मानकर मनुष्य की दिनचर्या के अनुरूप उनके स्नान, भोग, शृंगार, वस्त्र, शयन आदि की प्रथा शुरू हो गयी थी। इसी काल में कृष्ण के जीवन के सम्बन्ध में अनेक कथायें प्रचलित हो गयी थीं। मध्य युग की रचना भागवत पुराण में कृष्ण के चरित्र का वर्णन महाभारत के वर्णन से पूर्णतया भिन्न है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में भी कृष्ण की अनेक लीलाओं का वर्णन किया गया है। बारहवीं शताब्दी के अन्त में जयदेव ने **'गीतगोविन्द'** नामक काव्य में राधा और कृष्ण के प्रेम और प्रेम-क्रीड़ाओं का वर्णन किया है। इस प्रकार इस युग में वैष्णव धर्म ने बिलकुल नवीन रूप ग्रहण कर लिया जो प्राचीन भागवत और वासुदेव धर्म से सर्वथा भिन्न था।

इस काल में निर्मित वैष्णव धर्म का स्वरूप उसका जनप्रिय स्वरूप है जो आज तक प्रचलित है। इस जनप्रिय स्वरूप में भक्ति और सैद्धान्तिक पक्ष का ऐसा समन्वय हो गया कि भक्ति और उपासना ने सैद्धान्तिक पक्ष को अपने प्रभाव से पूर्णतया आच्छादित कर लिया।

वैष्णव धर्म का प्रसार—श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित भागवत धर्म भारत में शीघ्र ही लोक प्रिय होने लगा था। गान्धारवासी प्रसिद्ध व्याकरणाचार्य पाणिनि ने जिनका समय 500 ई. पू. माना जाता है, अपने ग्रन्थ **'अष्टाध्यायी'** में वासुदेव धर्म के अनुयायियों का उल्लेख किया है। इससे पता चलता है कि 500 ई. पू. में भागवत धर्म गान्धार तक फैल चुका था। चौथी शताब्दी ई. पू. में चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में आये यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने भी मथुरा में श्रीकृष्ण की पूजा का वर्णन किया है। इस काल तक पूर्वी भारत में भागवत धर्म का प्रसार नहीं हुआ था क्योंकि जैन और बौद्ध साहित्य तथा अशोक के अभिलेखों में भागवत धर्म का उल्लेख नहीं मिलता है। दूसरी शताब्दी ई. पू. में मौर्य साम्राज्य के पतन और शुंग वंश की स्थापना के साथ ही वैष्णव धर्म का तेजी से प्रसार हुआ। इस काल में अनेक विदेशी जातियों ने भी इस धर्म को अपना लिया था। यूनानी, शक, कुषाण आदि जातियाँ इस धर्म की अनुयायी हो गई थीं। मध्य प्रदेश में विदिशा से दो मील दूर बेसनगर में यूनानी शासक अन्ति आलिकदस के तक्षशिला निवासी राजदूत हेलियोडोरस द्वारा वासुदेव कृष्ण की पूजा के निमित्त बनवाया गया गरुड़ ध्वज मिला है। इस पर अंकित लेख में हेलियोडोरस ने स्वयं के नाम के साथ **'भागवत'** विशेषण का प्रयोग किया है तथा भागवत धर्म के तीन सिद्धान्तों—दम, त्याग और अप्रमाद का उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि दूसरी शताब्दी ई. पू. में वैष्णव धर्म का मध्य प्रदेश में प्रसार हो चुका था। इसी प्रकार राजस्थान के चित्तौड़गढ़ जिले में **'घोसुंडी'** नामक स्थान से प्रथम शताब्दी ई. पू. का एक शिलालेख मिला है जिसमें कृष्ण की पूजा और इस धर्म के अन्य देवताओं का उल्लेख है। महाराष्ट्र के नानाघाट में भी इसी काल का एक लेख मिला है जिसमें भागवत धर्म के देवताओं की अन्य देवताओं के साथ स्तुति की गई है। इनसे यह अनुमान लगाया जाता है कि ई. पू. प्रथम शताब्दी में महाराष्ट्र और राजस्थान में भी भागवत धर्म का प्रसार हो चुका था।

मित्रवंशी शासक विष्णुमित्र के ताम्बे की सिक्कों पर अंकित विष्णु प्रतिमा से ज्ञात होता है कि ईस्वी शताब्दी के आरम्भ में वैष्णव धर्म का प्रचार उत्तर, पश्चिम और दक्षिण भारत में हो चुका था। कुषाण वंश के तीन शासकों का नाम वासुदेव था। कुषाण शासक हुविष्क ने अपनी मुद्राओं पर विष्णु की चार हाथों वाली प्रतिमा अंकित कराई थी। उसके उत्तराधिकारी का नाम वासुदेव था। इससे ज्ञात होता है कि कनिष्क के बाद के कुषाण शासक वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। दक्षिण भारत में कृष्णा जिले के चिन्ह नामक स्थान से मिले शिलालेख से ज्ञात होता है कि दूसरी शताब्दी ईस्वी में दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म का प्रचार हो चुका था।

गुप्तवंश के शासकों का समय वैष्णव धर्म के उत्कर्ष का काल था। गुप्त वंश के शासक वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। इन शासकों का राजचिन्ह विष्णु वाहन गरूड़ था। उन्होंने "परम भागवत" की उपाधियां धारण की थी। गुप्त शासकों ने वैष्णव धर्म की उन्नति और विकास के लिये वासुदेव कृष्ण के विविध अवतारों के मन्दिरों का निर्माण कराया। उनकी मूर्तियां बनवाई तथा दान आदि दिये। विष्णु के वराह अवतार की उपासना भी गुप्तकाल की ही देन है। इस प्रकार गुप्तवंश की स्थापना के पश्चात् वैष्णव धर्म भारत के कोने-कोने में फैल गया।

गुप्तवंश के बाद चालुक्य वंश के शासकों ने वैष्णव धर्म के प्रचार और प्रसार में योगदान दिया। उन्होंने विष्णु के विविध अवतारों की मूर्तियां और चित्र अनेक गुफाओं में अंकित करवाये। एलोरा की गुफाओं में पन्द्रहवाँ मन्दिर वैष्णव धर्म की दृष्टि से विशेष महत्व का है। विद्वानों की मान्यता है कि इन मन्दिरों का निर्माण पाँचवी या छठी शताब्दीं में आरम्भ हो गया था जो बाद तक चलता रहा।

आज वैष्णव धर्म का जो जनप्रिय रूप प्रचलित है। उसमें भक्ति भावना का प्राधान्य है। 'तर्क' और 'युक्ति' का इसके वर्तमान रूप में कोई स्थान नहीं है। वासुदेव कृष्ण ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया था उसमें भक्ति की प्रधानता तो थी किन्तु उसमें कर्म, ज्ञान और भक्ति का समन्वयात्मक रूप प्रस्तुत किया गया था। वैष्णव धर्म में भक्ति की प्रधानता को प्रतिष्ठित करने और धर्म के वर्तमान स्वरूप को विकसित करने का श्रेय प्राचीन भारत के वैष्णव आचार्यों और सन्तों को है। यह आचार्य और सन्त भारत के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न कालों में हुये थे। अध्ययन की दृष्टि से इन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) दक्षिण भारत के आचार्य और सन्त

(2) उत्तर भारत के आचार्य और सन्त

(1) दक्षिण भारत के वैष्णव आचार्य और संत—जिस समय उत्तर भारत में वैष्णव धर्म का विकास और प्रसार हुआ उसी काल में दक्षिण भारत में इस धर्म का विकास और प्रसार हुआ। उत्तर भारत की तरह दक्षिण भारत में भी वैष्णव धर्म को राजकीय संरक्षण प्राप्त हुआ। दक्षिण भारत में इस धर्म के विकास और प्रसार में जिन सन्तों और सम्प्रदायों ने विशेष योगदान दिया उनमें आलवार सन्त और आचार्य सम्प्रदाय के सन्तों का नाम मुख्य है।

आलवार सन्त—दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म के प्रसार का श्रेय आलवार सन्तों को है। **'आलवार'** तमिल भाषा का शब्द है, जिसका व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ है— **'आध्यात्म ज्ञान के समुद्र में गोता लगाने वाला व्यक्ति'**। आलवार शब्द सामान्यतया उन बारह वैष्णव सन्तों के लिये प्रयुक्त किया जाता है जिनके भक्ति गीत 'प्रबन्धम्' नामक ग्रन्थ में संकलित है।

आचार्य सम्प्रदाय—दक्षिण भारत में आलवार सन्तों का उत्तराधिकारी 'आचार्य सम्प्रदाय' हुआ। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य नायमुनि थे। आलवार सन्तों ने गीता के माध्यम से ईश्वर भक्ति और आत्म समर्पण की अभिव्यक्ति की थी। किन्तु आचार्य सम्प्रदाय ने तर्क के आधार पर वैष्णव धर्म के सिद्धांतों, आदर्शों और दर्शन का प्रतिपादन किया। आचार्य नायमुनि ने 'न्याय तत्व' और 'योग रहस्य' आदि ग्रन्थों की रचना कर वैष्णव धर्म के सैद्धान्तिक पक्ष का प्रतिपादन किया। नाथमुनि के उत्तराधिकारी यामुनाचार्य थे जिन्होंने 'आगम प्रमाण्य' 'गीता संग्रह', 'सिद्धित्रय' आदि ग्रन्थ लिखकर दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म का प्रचार और प्रसार किया।

आठवीं और नौवीं शताब्दी में वैष्णव धर्म को दो ओर से खतरा उत्पन्न हो गया था। शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन कर केवल ब्रह्म को परम सत्ता माना। उनके अनुसार जीव और प्रकृति पृथक् सत्ता नहीं है वे ब्रह्म के ही रूप है। शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म और जीव के अभेद में भक्ति का कोई स्थान नहीं था। दूसरी ओर कुमारिल भट्ट ने वैदिक कर्मकाण्ड को ही मोक्ष का मार्ग बताते हुए वैदिक धर्म की पुनःप्रतिष्ठा का आन्दोलन चलाया। इससे वैष्णव धर्म को गहरा आघात लगा। इसलिए वैष्णव धर्म की भक्ति परम्परा को सुदृढ़ दार्शनिक आधार पर स्थापित करने के लिये दक्षिण भारत में अनेक आचार्यों का प्रादुर्भाव हुआ। जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—

रामानुजाचार्य—दक्षिण भारत के इस आचार्य सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य रामानुजाचार्य थे। जिन्होंने दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म के सैद्धांतिक पक्ष का प्रतिपादन करने तथा उसका प्रचार और प्रसार करने में अभूतपूर्व योगदान दिया। उन्होंने वैष्णव धर्म में 'श्रीसम्प्रदाय' की स्थापना की। इस सम्प्रदाय के अनुयायी अपने नाम के पूर्व 'श्री' शब्द का प्रयोग करते हैं। रामानुजाचार्य ने अपने पूर्व आचार्य यामुनाचार्य के आदेश से ब्रह्मसूत्र पर नया भाष्य लिखा और उपनिषदों की नये ढंग से व्याख्या की। उन्होंने शंकराचार्य के अद्वैतवाद को नवीन रूप देकर 'विशिष्टाद्वैतवाद' की दार्शनिक विचारधारा की स्थापना की। इसे 'विशिष्टाद्वैतवाद' इसलिए कहा जाता है कि इसमें अद्वैतवाद के साथ कुछ विशेषतायें भी है। अद्वैतवाद के अनुसार केवल ब्रह्म ही सत्य है और सम्पूर्ण सृष्टि मिथ्या है। इसमें जीवात्मा को भी कोई महत्व नहीं दिया गया था किन्तु रामानुज के अनुसार ब्रह्म परम सत्ता नहीं है वरन् इस जगत में तीन सत्तायें हैं—(1) परमात्मा (2) जीवात्मा और (3) जड़ जगत। ब्रह्म सर्वव्यापी व जगत का मूल है। इस प्रकार अद्वैतवाद ने वैष्णव धर्म में भक्ति की जिस सम्भावना को समाप्त कर दिया था उसे रामानुज ने आत्मा की पृथक सत्ता प्रतिपादित कर पुनः स्थापित किया। इस प्रकार उन्होंने वैष्णव धर्म में हृदयता और मस्तिष्क दोनों तत्वों का सुन्दर समन्वय किया।

रामानुजाचार्य के अतिरिक्त दक्षिण भारत में अन्य वैष्णव सम्प्रदायों का भी विकास हुआ। इसमें निम्बार्काचार्य, माध्वाचार्य और बल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित सम्प्रदाय प्रमुख है।

निम्बार्काचार्य—निम्बार्काचार्य का जन्म 1114 ई. में मद्रास के वेलारी जिले के निम्बा ग्राम में वैष्णव अनुयायी जगन्नाथ नामक तैलंग ब्राह्मण के घर में हुआ था। निम्बार्काचार्य मध्यम मार्गी थे। वे द्वैतवाद और अद्वैतवाद दोनों को मानते थे इसलिये उनके सिद्धांत को द्वैताद्वैतवाद कहा जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार जीव और ब्रह्म व्यवहार में भिन्न है किन्तु सिद्धान्ततः अभिन्न है। उनके अनुसार ब्रह्म सर्व-व्यापी और सर्व नियामक है। सृष्टि की सारी क्रियायें इसी के अधीन है। जड़ जगत, जीवात्मा और परमात्मा एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी अभिन्न है क्योंकि जड़ जगत और जीवात्मा अपनी सत्ता के लिए परमात्मा पर आश्रित है। निम्बार्काचार्य ने भक्ति के महत्व का प्रतिपादन करते हुए विष्णु की आराधना कृष्ण की भक्ति के रूप में करने पर विशेष बल दिया। उन्होने कृष्ण के प्रति राधा और गोपियों की भक्ति को आदर्श मानकर यह प्रतिपादित किया कि मनुष्य को भी इसी प्रकार ईश्वर से प्रेम और भक्ति करनी चाहिए। निम्बार्काचार्य का मत 'सनक सम्प्रदाय' कहलाता है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी ललाट पर चन्दन की दो लम्बी रेखायें खींचकर उसके मध्य काले रंग का टीका लगाकर एक विशेष प्रकार का तिलक लगाते हैं तथा गले में तुलसी की लकड़ी की कंठी धारण करते हैं।

माध्वाचार्य—माध्वाचार्य का जन्म 1199 ई. में कन्नड़ जिले के उडि्डपी नगर में हुआ था। ये ब्राह्मण थे। इन्होंने वैष्णव धर्म में नवीन विचारधारा का प्रवर्त्तन किया जिसे **'द्वैतवाद'** कहा जाता है। इसके अनुसार परमात्मा, जीव और जड़ जगत की पृथक-पृथक सत्ता है। इनके अनुसार जीवात्मा एक न होकर अनेक हैं। माध्वाचार्य के अनुसार विष्णु के रूप में ईश्वर की भक्ति ही मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन है। इस प्रकार द्वैतवाद के आधार पर माध्वाचार्य ने वैष्णव धर्म सुदृढ़ आधार प्रदान किया जिससे इस धर्म का व्यापक प्रचार प्रसार हुआ।

वल्लभाचार्य—वल्लभाचार्य ने वैष्णव कर्म में एक नवीन सम्प्रदाय **'पुष्टि सम्प्रदाय'** का प्रवर्त्तन किया। इनका जन्म 1469 ई. में आन्ध्रप्रदेश में हुआ था। इन्होंने ब्रह्म सूत्र पर नया भाष्य लिखकर **'शुद्धाद्वैतवाद'** का प्रतिपादन किया। इस मत के अनुसार परमात्मा एक मात्र परम सत्ता है। वह सर्वव्यापी है। वह प्रसन्नता के लिए स्वयं को प्रकृति और जीवात्मा के रूप में प्रकट करता है। किन्तु यह सभी उससे उसी प्रकार अभिन्न रहते हैं जैसे अग्नि की चिन्गारियाँ उससे अलग होकर भी भिन्न नहीं हो पाती। वल्लभाचार्य कृष्णमार्गी सन्त थे। उन्होंने कृष्ण की भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्ति का उपदेश दिया। उन्होंने भक्ति के लिए कृष्ण की प्रतिमा

पूजन पर भी विशेष बल दिया। वल्लभाचार्य का सम्प्रदाय 'पुष्टि मार्ग' कहलाता है। वल्लभाचार्य ने ईश्वर के अनुग्रह को पुष्टि की संज्ञा दी है। इनके अनुसार पुष्ट जीव ही भक्ति मार्ग पर चल सकता है। वल्लभाचार्य के अनुसार ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने के लिये गृहस्थ जीवन का परित्याग आवश्यक नहीं है। गृहस्थ जीवन में रहकर भी ईश्वर का अनुग्रह और मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। वल्लभाचार्य ने स्वयं गृहस्थ जीवन व्यतीत किया था। वल्लभाचार्य के अनुसार भक्तों को अपने उपास्यदेव के प्रति सखी भाव रखना चाहिए और उससे वैसे ही प्रेम करना चाहिए जैसे राधा और गोपियाँ कृष्ण से करती थी। इसी कारण इस सम्प्रदाय को 'सखी सम्प्रदाय' भी कहा जाता है। इस प्रवृत्ति के कारण इस सम्प्रदाय में रसिकता का प्रवेश हो गया और कालांतर में इसमें अनाचार प्रविष्ट हो गया।

(2) उत्तर भारत के आचार्य और सन्त—जिस युग में दक्षिण भारत में भक्ति प्रधान वैष्णव धर्म का प्रचार और प्रसार हो रहा था। उस समय उत्तर भारत में विदेशी आक्रमण आरम्भ हो गये थे। विदेशियों के इन आक्रमणों का उद्देश्य राजनीतिक सत्ता की स्थापना और धन की प्राप्ति के साथ अपने धर्म का प्रचार करना भी था। आक्रमणकारी तुर्कों ने शक्ति के बल पर सत्ता की स्थापना के साथ हिन्दुओं को बलात् इस्लाम ग्रहण करने को बाध्य किया जिससे उत्तर भारत में हिन्दू धर्म को गहरा आघात लगा। इन बदली हुई परिस्थितियों में हिन्दू धर्म को पुनर्जीवित करने तथा हिन्दुओं का मनोबल बनाये रखने के लिए धर्म का सैद्धान्तिक विवेचन और अध्ययन सम्भव नहीं था। इन परिस्थितियों में भक्ति का मार्ग ही उपयोगी था। अतः उत्तर भारत के विभिन्न वैष्णव सन्तों ने भक्ति भावना का ही प्रचार और प्रसार किया। उत्तर भारत के जिन व्यक्तियों ने वैष्णव धर्म का प्रचार और प्रसार किया उनमें रामानन्द, चैतन्यमहाप्रभु, रैदास, तुलसीदास, मीराबाई, रसखान, हित हरिवंश तथा अष्ट छाप कवि प्रमुख हैं।

ज्ञानदेव—ज्ञानदेव को सन्त ज्ञानेश्वर भी कहा जाता है। यह वैष्णव धर्म के 'वारकरी सम्प्रदाय' के प्रवर्तक माने जाते हैं। इस सम्प्रदाय में भक्ति की प्रधानता है। इसके अनुसार भक्ति और कीर्तन ही पूजा के मुख्य साधन है। ज्ञानदेव ने 'ज्ञानेश्वर' नामक ग्रन्थ में गीता पर मराठी भाषा में भाष्य लिखा था। उन्होंने इस ग्रन्थ में वैष्णव धर्म की सैद्धांतिक और दार्शनिक विचारधारा का प्रतिपादन करके ज्ञान और भक्ति का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है।

नामदेव—सन्त नामदेव का जन्म 1270 ई. में महाराष्ट्र में हुआ था। इन्होंने दक्षिण और उत्तर भारत में भ्रमण कर भक्ति मार्ग का प्रचार किया। इनकी विचारधारा नाथमुनि के श्रीसम्प्रदाय से प्रभावित थी। ऐसा माना जाता है कि ज्ञानदेव के साथ सम्पर्क के कारण उन्होंने निर्गुण ब्रह्म की भक्ति पर बल

दिया। नामदेव का वैष्णव धर्म मुख्य रूप से भक्ति और प्रेम पर आधारित था। उसमें किसी प्रतीक या मन्दिर की आवश्यकता नहीं थी।

रामानन्द—उत्तर भारत में वैष्णव धर्म के प्रचार और प्रसार में रामानन्द का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान है। दक्षिण भारत में वैष्णव भक्ति की जो परम्परा आलवार सन्तों और अन्य आचार्यों द्वारा विकसित हुई थी। रामानन्द उसे उत्तर भारत में लाये। इस मत की पुष्टि साधु समाज में प्रचलित इस दोहे से भी होती है—

"भक्ति द्राविड़ उपजी, लाये रामानन्द
परगट कियो कबीर ने, सात द्वीप नौ खण्ड"

रामानन्द का समय तेरहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग माना जाता है। उनकी रचना **'श्री रामार्चनपद्धति'** के अनुसार वे रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा की चौदहवीं पीढ़ी में थे। उन्होंने काशी में राघवानन्द से दीक्षा ग्रहण की थी।

रामानन्द एक युगान्तकारी सन्त थे। उन्होंने वैष्णव धर्म की भक्ति-परम्परा में निराकार विष्णु के स्थान पर विष्णु के साकार अवतार राम की भक्ति की प्रतिष्ठा की और उनकी पूजा पर विशेष बल दिया। डॉ. ए. बी. पांडेय का कथन है कि **"नारायण के दूसरे नर रूप राम हैं, इस मत के वास्तविक संस्थापक रामानन्द थे।"** रामानन्द ने अपनी भक्ति परम्परा में निम्न और अस्पृश्य जातियों को भी अपने धर्म में शामिल किया। कबीर और रैदास इनके शिष्य बताये जाते हैं। रामानन्द की एक प्रमुख विशेषता उनके द्वारा जनभाषा हिन्दी में अपने धर्म का प्रचार करना था। इससे जनसाधारण ने इनके उपदेशों को सरलता से ग्रहण कर लिया। इससे पहले वैष्णव धर्म की शिक्षा संस्कृत भाषा में दी जाती थी। रामानन्द ने वैष्णव धर्म के प्रचार के लिये साधुओं के दल बनाये जिन्हें **'वैरागी'** कहा जाता है। रामानन्द की वैष्णव धर्म परम्परा **'रामावत सम्प्रदाय'** आज भी उत्तर भारत में प्रचलित है। अयोध्या और चित्रकूट इसके प्रमुख केन्द्र हैं।

चैतन्य महाप्रभु—चैतन्य महाप्रभु रामानन्द के समकालीन थे। इनका जन्म 1485 ई. में बंगाल के नादिया नगर के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वह महान वैष्णव सन्त थे। वह विष्णु के कृष्ण अवतार के उपासक थे और भगवान कृष्ण की भक्ति को जीवन का परम लक्ष्य मानते थे। उन्होंने कीर्तन द्वारा राधाकृष्ण के प्रेम तथा भक्ति का प्रचार किया। वे भी रामानन्द की भांति भक्ति के मार्ग में ऊँच-नीच तथा जाति-पांति को नहीं मानते थे। उनके प्रमुख शिष्य हरिदास अछूत जाति के थे।

सन्त रैदास—सन्त रैदास रामानन्द के शिष्य थे। इन्हें चमार जाति का बताया जाता है। भारत की वैष्णव धर्म की सन्त परम्परा में रैदास का अत्यन्त आदर और सम्मान है। वह निर्गुण भक्ति के उपासक थे।

मीरांबाई—मीरांबाई चित्तौड़ (राजस्थान) के शिशोदिया कुल की रानी थी। वैष्णव धर्म के कृष्ण मार्गी भक्ति शाखा में मीरांबाई का स्थान उल्लेखनीय है। पति की मृत्यु के बाद उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन कृष्ण भक्ति में लगा दिया और अन्ततः कृष्ण भक्ति में लीन होकर संसार त्याग दिया। उनके ब्रज और राजस्थानी भाषा में रचे और गाये गीत कृष्ण की भक्ति से ओत-प्रोत हैं।

रसखान—रसखान मुस्लिम जाति के थे। परन्तु उन्होंने वैष्णव धर्म के अन्तर्गत कृष्ण भक्ति की परम्परा को विकसित किया। वह ब्रज में रहकर कृष्ण की भक्ति का गुणगान करते थे। कृष्ण भक्ति से प्रेरित होकर उन्होंने **'प्रेम वाटिका'** और **'सुजान-रसखान'** नामक दो प्रसिद्ध रचनायें लिखीं जिसमें उन्होंने कृष्ण के प्रति प्रेम और भक्ति का अत्यन्त हृदयस्पर्शी और भावपूर्ण चित्रण किया है। यह रचनायें उत्तर भारत के वैष्णव धर्म की अनुपम निधि है।

हिताहरिवंश—हितहरिवंश वैष्णव धर्म के राधावल्लभीय सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। इन्होंने अपनी भक्ति में कृष्ण की अपेक्षा राधा को अधिक महत्व दिया है। इनकी रचनाओं 'राधा सुधानिधि' तथा 'हित चौरासी' में आध्यात्मिकता से परिपूर्ण राधा और कृष्ण का श्रृंगारपरक वर्णन है।

तुलसीदास—सन्त तुलसीदास का जन्म 1532 ई. में उत्तर प्रदेश के सोरों नामक स्थान पर हुआ था। उत्तर भारत में वैष्णव धर्म और विष्णु के राम अवतार रूप को लोकप्रिय बनाने का श्रेय तुलसीदास को ही दिया जाता है। इन्होंने केवल वैष्णव धर्म की भक्ति परम्परा के सैद्धान्तिक पक्ष का ही प्रतिपादन नहीं किया अपितु 'रामचरितमानस' की रचना कर विष्णु के राम अवतार रूप को न सिर्फ भारत में बल्कि विश्व के कोने-कोने में फैला दिया। सन्त तुलसीदास वैष्णव सन्त ही नहीं अपितु महान समाज सुधारक, लोकनायक, महान कवि और अद्भुत समन्वयकर्ता भी थे।

सूरदास—सूरदास का जन्म मथुरा के निकट रूनकता ग्राम में हुआ था। यह वल्लभाचार्य के प्रमुख शिष्यों में से थे। यह वैष्णव धर्म की कृष्णमार्गी शाखा के सन्त थे। ये कृष्ण की बाल रूप भक्ति के प्रतिपादक थे। 'सूर सागर', 'सूरसागर सारावली' और 'साहित्य लहरी' उनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं। 'सूर सागर' में कृष्ण की बाललीलाओं, श्रृंगार तथा विनय का वर्णन है। यह ग्रन्थ वैष्णव धर्म के कृष्ण मत के विकास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सूरदास कृष्ण के साकार रूप के उपासक थे। उन्होंने अपने पदों में कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का मनोहारी वर्णन कर कृष्ण के स्वरूप को अत्यन्त मोहक बना दिया है। सूरदास द्वारा रचित पद आज भी वैष्णव धर्म के अनुयायियों की जुबान पर विराजमान है।

इसके अतिरिक्त नन्ददास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, कृष्णदास, गोविन्द स्वामी, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास आदि अष्टछाप कवियों ने भी वैष्णव धर्म के आराध्य देव कृष्ण की भक्ति के प्रसार और प्रचार में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी आचार्यों, सन्तों और कवियों के योगदान के फलस्वरूप वैष्णव धर्म का सम्पूर्ण भारत में प्रचार और प्रसार हुआ। वैष्णव धर्म के वर्तमान स्वरूप के निर्माण में इन सबका समग्र योगदान रहा है।

शैव धर्म
(Saivism)

भारत भूमि अनेक धर्मों और सम्प्रदायों की जन्म स्थली रही है। बौद्ध और जैन धर्म के विरुद्ध हुई प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप वैदिक धर्म का जो पुनरुद्धार हुआ उस प्रक्रिया के अन्तर्गत भारत में वैदिक धर्म के परिष्कृत रूप में वैदिक धर्म पर आधारित कतिपय नवीन धार्मिक सम्प्रदायों का उदय हुआ। यह नवीन सम्प्रदाय मूल रूप से वैदिक धर्म पर आधारित होने के उपरान्त भी वैदिक धर्म की जटिलताओं और कर्मकाण्डों से पूर्णतया मुक्त थे। इन नवीन धर्मों में प्रायः किसी वैदिक देवता को ही आराध्य देव मानकर उसकी सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठा की गई थी। इन नवीन धर्मों में दो प्रमुख थे—(1) भागवत धर्म, (2) शैव धर्म। इसमें भागवत धर्म के उदय और विकास की चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। यहाँ हम शैव धर्म के उदय, विकास तथा उसके सिद्धान्तों और उसके प्रचार-प्रसार की चर्चा करेंगे।

शैव धर्म का उद्भव

शैव धर्म भारत का प्राचीन धार्मिक सम्प्रदाय है। इस धर्म के आराध्य देव शिव है। कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि शैव धर्म सम्प्रदाय का उद्भव वैदिक कालीन धर्म की जटिलता और कर्मकाण्डों के विरुद्ध हुई प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भागवत धर्म के साथ हुआ। किन्तु पुरातात्विक और साहित्यिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि शैव सम्प्रदाय के आराध्य देव शिव की उपासना भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित थी।

वैदिक काल के पूर्व सिन्धु सभ्यता के काल में शिव पूजा—वैदिक से काल पूर्व की सिन्धु सभ्यता के उत्खनन के फलस्वरूप जो अवशेष प्राप्त हुये हैं उनमें से एक मुद्रा पर एक योगी का चित्र अंकित है। इस योगी के तीन मुख और दो सींग हैं। इसके सिर पर त्रिशूल के समान कोई चीज अंकित है। इसके बांयी ओर एक गैंडा और एक भैंसा तथा दांयी ओर एक हाथी और एक व्याघ्र अंकित है। इसके समक्ष एक

दो सींग वाला हिरन है। एक अन्य मुद्रा पर एक योगासीन व्यक्ति के दोनों ओर एक-एक ओर सामने दो नाग अंकित हैं। चूंकि शिव त्रिशूलधारी, योगीश्वर, त्रिनेत्र, त्रिमुखी, पशुपति आदि नामों से जाने जाते हैं तथा उनका सम्बन्ध नागों से है अतः सर जान मार्शल आदि विद्वानों की मान्यता है कि यह चित्र शिव के हैं। इसके आधार पर विद्वानों की मान्यता है कि आर्यों से पूर्व ही सिन्धु सभ्यता में रहने वाले लोग पशुपति शिव और नागधारी शिव की पूजा किया करते थे। उनकी यह भी मान्यता है कि बाद में आर्यों ने सिन्धु सभ्यता के प्रभाव के कारण ही अपने धर्म में शिव की पूजा को स्थान दिया था।

वैदिक काल में शिव की उपासना—भारतीय साहित्य में शैव धर्म और शिव की उपासना का उद्भव ऋग्वेद में 'रुद्र' की अवधारणा के फलस्वरूप माना जाता है। ऋग्वेद में 'रुद्र' नामक देवता को प्रकृति का विध्वन्सक और विनाशक माना गया है और उनके क्रोध के शमन के लिये ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में उनकी प्रार्थना और उपासना की गई है। कालान्तर में यह 'रुद्र' शिव के साथ एकाकार हो गये। यजुर्वेद में कहा गया है कि 'रुद्र' का क्रोध शान्त होने पर वे 'शम्भू' अथवा 'शंकर' के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। यह उनका अत्यन्त कल्याणकारी रूप है। यजुर्वेद में रुद्र को शिव तथा शतरुद्र आदि कहा गया है। अथर्ववेद में 'रुद्र' को सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इसके अनुसार 'रुद्र' ही ग्रहों और तारा-गणों को संचालित करने वाला और सदैव सब का कल्याण करने वाला 'सदाशिव' है। तैत्तिरीय संहिता में शिव और रुद्र की एकता प्रतिपादित की गई है। श्वेताम्बर उपनिषद् में 'रुद्र' की अवधारणा को इतना अधिक महत्व दिया गया है कि 'रुद्र' को ब्रह्मा के स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया गया है। इस उपनिषद् में कहा गया है कि जब सर्वत्र अन्धकार व्याप्त था तब 'शिव' ही विद्यमान थे। शिव ही सूर्य के प्रकाश और बुद्धि के स्रोत हैं। वे निराकार तथा अजर-अमर हैं। शिव ही वास्तव में सृष्टि के नियन्ता और विध्वन्सक हैं। शिव को केवल प्रेम, भक्ति और श्रद्धा के द्वारा जाना जा सकता है। केनोपनिषद् में शिव की पत्नी 'उमा' की उपासना सर्वश्रेष्ठ देवी के रूप में की गई है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि वैदिक युग में 'रुद्र' रूपी शिव एक देवता के रूप में प्रतिष्ठित थे। वेदों में उनकी अर्चना तथा आराधना के लिये अनेक ऋचायें मिलती हैं। इस युग में इनको प्रसन्न करने के लिये यज्ञों का अनुष्ठान किया जाता था। परन्तु इस काल में शिव आर्यों के अन्य सामान्य देवताओं के समकक्ष थे। ऐसा माना जाता है कि वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड, जटिलता और हिंसा के विरुद्ध प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जब वैदिक धर्म में संशोधन हुआ तो भागवत धर्म के उदय के साथ शैव धर्म का भी विकास हुआ। इस काल से उत्तरोत्तर शिव की प्रतिष्ठा में वृद्धि

होती गई। श्वेताश्वर उपनिषद् इसका प्रमाण है। महाकाव्यों में भी शिव की महत्ता का उल्लेख मिलता है। रामायण के अनुसार भागीरथ ने शिव की तपस्या करके ही गंगा को पृथ्वी पर अवतरित किया था। इसी ग्रन्थ के अनुसार देवों और असुरों द्वारा समुद्र मन्थन से प्राप्त नवरत्नों में से विष को भी शिव ने ही ग्रहण किया था। महाभारत के अनुसार अर्जुन और अश्वत्थामा ने शिव की तपस्या करके ही उनसे पाशुपत अस्त्र तथा खड्ग प्राप्त किये थे। महाभारत के अनुसार स्वयं वासुदेव कृष्ण ने पुत्र प्राप्ति के लिये शिव की आराधना की थी। इससे यह सिद्ध होता है कि शैव धर्म उत्तर वैदिक काल में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो चुका था। कतिपय विद्वानों की यह मान्यता है कि 400 ई. पू. में शैव धर्म एक सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। इस मत की पुष्टि चौथी शताब्दी ई. पू. के यूनानी राजदूत मेगस्थनीज के वर्णन से होती है। मेगस्थनीज ने भारत के पूजे जाने वाले 'डायोनिसस' नामक जिस देवता का उल्लेख अपने ग्रन्थ 'इण्डिका' में किया है। भारतीय विद्वान उसे शिव का यूनानी रूपांतर मानते हैं। दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व में पतंजलि ने अपने महाभाष्य में इस धर्म के अनुयायियों और शिव उपासकों को 'शिव भागवत' कहा है। कल्हण रचित 'राजतंरगिणि' में इस बात का उल्लेख है कि सम्राट अशोक का पुत्र 'जालौक' शैव धर्मावलम्बी था। कतिपय परवर्ती मौर्य शासकों द्वारा धन संग्रह के लिये शिव, स्कन्ध और विशाख आदि की मूर्तियां बनवाकर बेचने का उल्लेख भी पंतजलि ने अपने ग्रन्थ में किया है। प्रथम शताब्दी ई. पू. के बौद्ध ग्रन्थ 'निद्देस जातक' में भी शिव पूजा और उसके उपासकों का उल्लेख मिलता है। इन आधारों पर हम कह सकते हैं कि 200 ई. पू. तक शैव धर्म एक सम्प्रदाय के रूप में भारत में पूर्ण प्रतिष्ठित हो चुका था।

शैव धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय—शैव धर्म ई. पू. पांचवी शताब्दी में प्रचलित होकर ई. पू दूसरी शताब्दी तक एक सम्प्रदाय के रूप में पूर्ण प्रतिष्ठित हो चुका था। इसके पश्चात अनुकूल परिस्थितियों में शैव धर्म का उत्तरोत्तर विकास होता गया तथा राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों के अनुरूप इसमें नवीन मान्यताएं, विचार, दर्शन और प्रणालियाँ विकसित होती गई। शैव धर्म के विकास के अनन्तर उसमें जिन मतों और सम्प्रदायों का उदय हुआ उनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—

(1) शैव भागवत सम्प्रदाय—वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड, जटिलता और हिंसा के विरुद्ध हुई प्रतिक्रिया के फलस्वरूप शैव धर्म के जिस रूप का उद्भव हुआ वह शैव भागवत सम्प्रदाय था। चौथी शताब्दी ई. पू. में मेगस्थनीज ने जिस शिव पूजा और उसके उपासकों का उल्लेख किया है वह शैव धर्म के इसी सम्प्रदाय का परिचायक

है। पतंजलि ने भी शिव के उपासकों को 'शैव भागवत' ही कहा है। इस प्रकार 'शैव भागवत' सम्प्रदाय ही शैव धर्म का प्राचीनतम सम्प्रदाय था। यह सम्प्रदाय अत्यन्त सरल कर्मकाण्डों और दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधारित था। परन्तु कालान्तर में शैव धर्म में अनेक सम्प्रदायों का उदय हुआ और उनके मूल स्वरूप और सिद्धान्तों में भी काफी परिवर्तन आ गया।

(2) **पाशुपत सम्प्रदाय**—शैव मतावलम्बियों का मत है कि 'पाशुपत सम्प्रदाय' शैव धर्म का सर्व प्राचीन सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के संस्थापक 'लकुलीश' अथवा 'लकुटीश' या 'लकुटी' माने जाते हैं। वायु, कूर्म और लिंग पुराण के अनुसार लकुलीश कृष्ण द्वैपायन के समकालीन थे। इस आधार पर इनका समय 131 ई. पू. अर्थात् दूसरी शताब्दी ई. पू. माना जा सकता है।

पाशुपत सम्प्रदाय की परम्परा के अनुसार लकुलीश शिव के अट्ठाइसवें अवतार थे और वही इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे। शैव धर्मावलम्बी शासकों द्वारा स्थापित अभिलेखों में भी लकुलीश को ही इस सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक बताया गया है। किन्तु लकुलीश ऐतिहासिक व्यक्ति प्रतीत होते हैं। शैवधर्म या पाशुपत धर्म उनके जन्म से पूर्व ही भारत में प्रचलित था। रामायण, महाभारत तथा मेगस्थनीज और पतंजलि आदि के ग्रंथों में इसका उल्लेख मिलता है। अतः इस सम्बन्ध में यही माना जा सकता है कि आचार्य लकुलीश शैव धर्म के वैसे ही आचार्य थे जैसे जैन धर्म के महावीर स्वामी। आचार्य लकुलीश ने शैव धर्म के आदर्शों और सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर इस धर्म को एक सबल और सुदृढ़ आधार प्रदान किया था। शैव परम्परा के अनुसार लकुलीश ने इस धर्म के आदर्शों और सिद्धान्तों को अपने ग्रन्थ **'पंचाध्यायी'** अथवा **'पांचरात्र विद्या'** में संकलित किया था। किन्तु यह ग्रन्थ अभी तक अप्राप्त है। इसके कुछ उद्धरण चौदहवीं शताब्दी में माध्वाचार्य द्वारा रचित 'सर्व दर्शन संग्रह' के पाशुपत सूत्रों में मिलते हैं।

पाशुपत सम्प्रदाय के अनुसार **'पति'** (शिव) सृष्टि का कारण है। **'पशु'** अर्थात् जीवात्मा 'पति' का कार्य है जो 23 भौतिक तत्वों के **'पाश'** अर्थात् बन्धन में जकड़ी है। किन्तु जीवात्मा अपने में निहित **'विद्या'** के गुण के कारण बन्धनों से मुक्ति पा सकती है। पाशुपत धर्म के अनुसार इस मुक्ति के लिये विधि के अनुसार व्रतों का पालन करते हुये विविध **'द्वारों'** से गुजरना अनिवार्य है। उनके अनुसार शरीर पर राख लपेटना, हँसना, नाचना, गाना, हुंड्डुक्कार की आवाज निकालना, मन्त्रजाप और पूजा व्रत के अंग हैं। इसी प्रकार **'क्रायन'** यानि जागते हुये भी निद्रा में लगना, **'मण्डन'** यानि चलते हुये लड़खड़ाना, **'स्पन्दन'** यानि लकवा पीड़ित की तरह अंग हिलाना, 'मण्डन' यानि चाल में लड़खड़ाहट, **'अवितत्करण'** यानि पागलों जैसा व्यवहार, **'अवितद्भाषण'** यानि बेकार बातें बकना और **'शृंगरण'** यानि कामोद्दीपक हरकतें करना 'द्वार' है। इनसे जीवात्मा (पशु) बन्धनों (पाशों) से मुक्त होकर शिव (पति) में लीन हो जाती है जो मोक्ष की अवस्था है।

पाशुपत सम्प्रदाय की साधना पद्धति असामान्य सी प्रतीत होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय के धार्मिक और सामाजिक संघर्ष से व्यथित होकर पाशुपत सम्प्रदाय ने आचार्यों के गर्वीले शिष्टाचार को चुनौती देते हुये अशिष्ट साधना पद्धति का प्रतिपादन किया। महाभारत में शैवधर्म को वर्णाश्रम व्यवस्था के विरुद्ध बताया गया है। पाशुपत सूत्रों के टीकाकार कौण्डिन्य ने भी पाशुपत सम्प्रदाय की साधनाओं को ब्राह्मण विरोधी बताया है। 'स्मृति चन्द्रिका' में पाशुपतों को अस्पृश्य माना गया है। इससे सिद्ध होता है कि पाशुपत सम्प्रदाय जाति-पाँति और ऊँच-नीच के भेद को समाप्त कर एक सार्वभौमिक मानव धर्म स्थापित करना चाहता था। इसकी इन्हीं विशेषताओं के कारण कालान्तर में अनेक विदेशियों ने भी शैव-धर्म को ग्रहण किया।

(3) **कापालिक और कालमुख सम्प्रदाय**—शैवधर्म का एक सम्प्रदाय कापालिक सम्प्रदाय है। जिस प्रकार शिव का एक रूप 'रूद्र' है उसी प्रकार उनका एक अन्य रूप 'भैरव' है। कापालिक सम्प्रदाय के अनुयायी शिव के भैरव रूप को सृष्टि का सृजन और संहार करने वाला मानते हैं। इस सम्प्रदाय का उदय गुप्तवंश के परवर्ती काल में हुआ था। इस सम्प्रदाय के अनुयायी 'वाममार्गी' कहे जाते हैं। कापालिक सम्प्रदाय के सिद्धान्त और साधना पाशुपतों से अधिक उग्र हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायी सिर पर जटा धारण करते हैं, कानों में हड्डियों की बालियाँ तथा गले में हड्डियों की माला पहनते हैं। इस धर्म के अनुयायियों के लिये छः प्रतीक चिन्ह धारण करना आवश्यक है—कर्णिका, रूचक, कुण्डल, शिखामणि, भस्म और यज्ञोपवीत। उनके लिये पारलौकिक सिद्धियों की प्राप्ति के लिये निम्न-लिखित साधनाओं का विधान था—(1) नरमुण्ड के कपाल में भोजन करना, (2) श्मशान की भस्म शरीर पर मलना, (3) श्मशान की भस्म खाना, (4) हाथ में त्रिशूल और नरमुण्ड रखना, (5) मदिरा सेवन, (6) मदिरा पात्र में अवस्थित शिव की पूजा और आराधना करना।

इसी सम्प्रदाय का एक उप-सम्प्रदाय 'कालमुख सम्प्रदाय' था। इस सम्प्रदाय की साधना प्रक्रिया कापालिक सम्प्रदाय के समान थी, किन्तु कालमुख सम्प्रदाय के अनुयायी अपने मुख को काला करते थे। यह सम्प्रदाय दक्षिण भारत में अधिक प्रचलित था। वहाँ से इस सम्प्रदाय के अनेक अभिलेख प्राप्त हुये हैं। कापालिक और कालमुख सम्प्रदाय के सिद्धान्त और दर्शन पाशुपत सम्प्रदाय के समान ही हैं।

(4) **काश्मीर शैव सम्प्रदाय**—शैवधर्म का यह सम्प्रदाय अपनी विशेषताओं के साथ आठवीं शताब्दी ईस्वी के अन्तिम भाग और नौवीं शताब्दी के आरम्भ में काश्मीर क्षेत्र में विकसित हुआ। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वसुगुप्त माने जाते हैं। इस सम्प्रदाय की अनुश्रुति के अनुसार स्वयं शिव ने वसुमित्र को शिवसूत्रों का दर्शन कराया था। यह शिवसूत्र महादेव पर्वत की एक शिला पर अंकित है।

कालान्तर में यह सम्प्रदाय दो शाखाओं में विभक्त हो गया—(1) स्पन्द सम्प्रदाय, (2) प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय। प्रथम सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक स्वयं वसुमित्र माने जाते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ **'शिव सूत्राणि'** में शिवसूत्रों की व्याख्या की। इस सम्प्रदाय के अनुसार शिव सृष्टि के रचयिता और परम ब्रह्म हैं। प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक **सोमानन्द** माने जाते हैं। यह दसवीं शताब्दी के अन्त में हुये थे। इस सम्प्रदाय के अनुसार शिव के वास्तविक रूप अर्थात् प्रत्यभिज्ञा प्राप्त करने के लिये गुरु का सहयोग आवश्यक है।

(5) वीर शैव या लिंगायत सम्प्रदाय—बारहवीं शताब्दी ईस्वी में शैवधर्म के वीर शैव या लिंगायत सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन हुआ। दक्षिण भारत (कर्नाटक) में उदित इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक अल्लमप्रभु और वसवण्ण थे। इस सम्प्रदाय के लोग शिव लिंग की पूजा करते हैं अतः इसे लिंगायत सम्प्रदाय भी कहा जाता है। यह सम्प्रदाय वेदों के ज्ञान और पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता है। इस सम्प्रदाय के अनुसार आरम्भ में केवल सर्वशून्य निरालम्ब में शिव की सत्ता थी। अपनी अन्तर्निहित चेतना के वह 'शून्यलिंग' में परिवर्तित हुआ जो 'निष्कल ब्रह्म' था। इसके तदन्तर उसने 'महालिंग' और फिर पंचमुखी 'सदाशिव' का रूप धारण किया। इसके पंचमुखों से पाँच सादांख्य पैदा हुये जिनसे पाँच तत्व—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश निकले। सदाशिव की आँखों से सूर्य, मन से चन्द्रमा तथा अदृश्य मुख से जीवात्मा का विकास हुआ। इस सम्प्रदाय के अनुसार जीवात्मा को परमात्मा अर्थात् शिव से एकाकार होने के लिये छः स्थलों से गुजरना पड़ता है। ये छः स्थल हैं (1) **भक्त स्थल**—इस स्थल में भक्ति भाव उत्पन्न होता है, (2) **महेश्वर स्थल**—इसमें भक्ति के प्रति विश्वास और निश्चय उत्पन्न किया जाता है, (3) **प्रसादी स्थल**—इसमें ईश्वर कृपा के अतिरिक्त अन्य बातों को तुच्छ समझा जाता है, (4) **प्राणलिंगी स्थल**—इसमें अन्तर्मन में ईश्वर कृपा की अनुभूति होती है, (5) **शरण स्थल**—इसमें शिव से साक्षात्कार होता है, (6) **लिंगांगसामरस्य स्थल**—इस स्थल में जीवात्मा (अंग) और परमात्मा (शिव=लिंग) एकाकार हो जाते हैं। वीर शैव सम्प्रदाय ने अपने धर्म के द्वार सब वर्ग के लोगों के लिये खोलकर सामाजिक क्रान्ति कर दी थी। इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने केदारनाथ, उज्जयनी, श्रीशैलम, रम्भापुरी और वाराणसी में मठों की स्थापना की। इन मठों के कारण लिंगायत सम्प्रदाय का सम्पूर्ण भारत में प्रचार हुआ।

शैवधर्म के मूल सिद्धान्त—वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड, जटिलता और हिंसा के विरुद्ध हुई प्रतिक्रिया के फलस्वरूप शैवधर्म का विकास हुआ था। इस धर्म का प्राचीन सम्प्रदाय शैव भागवत सम्प्रदाय था। कालान्तर में शैव धर्म अनेक सम्प्रदायों में

विभक्त हो गया था। प्रगति, विकास और उत्कर्ष के विभिन्न चरणों में इसके सिद्धान्तों, आदर्शों और स्वरूप में काफी परिवर्तन आ गया था। इन परिवर्तनों की विवेचना शैव धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के साथ की गई है। यहाँ हम इस धर्म के मूल सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे। शैव धर्म के मूल सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

मूल तत्व—शैवधर्म के अनुसार सृष्टि के तीन मूल तत्व हैं—(1)'पति' (शिव) (2) पशु (जीवात्मा) (3) पाश (बन्धन)।

(1) पति (शिव)—शैव धर्म के अनुसार 'पति' का तात्पर्य शिव से है। शिव सर्वज्ञ, सर्वदृष्टा, सृष्टि के कर्त्ता और शक्ति के प्रतीक हैं। शिव के पाँच प्रमुख कार्य हैं—(i) सृष्टि सृजन, (ii) सृष्टि पालन, (iii) सृष्टि संहार, (iv) सृष्टि आवरण अर्थात् उसे विलुप्त कर देना, (v) प्रसाद अर्थात् सृष्टि पर अनुग्रह करना।

(2) पशु (जीवात्मा)—'पशु' से तात्पर्य जीवात्मा से है। शैव धर्म के अनुसार जीवात्मा सूक्ष्म अणु है जो शिव का ही रूप है किन्तु 'पाशों' अर्थात् बन्धनों के कारण वह मलयुक्त और मायामय हो जाती है।

(3) पाश (बन्धन)—"पाश" अर्थात् बन्धन यह जीवात्मा को बन्धन में डालने वाला तत्व है। बन्धन के कारण जीवात्मा का शिव रूप छिप जाता है। शैव धर्म के अनुसार पाश के चार प्रकार हैं—(i) **मल**—मल का अर्थ है वह बन्धन जिसके कारण जीवात्मा का वास्तविक रूप लुप्त हो जाता है। जिस प्रकार छिलका अन्न को छिपा लेता है उसी प्रकार मल भी जीवात्मा के वास्तविक रूप को छिपा लेता है। (ii) **कर्म**—फल की इच्छा से प्रेरित होकर किये गये कर्म, (iii) **माया**, (iv) **रोध शक्ति**—यह वह शक्ति है जो पहले तीन पाशों को प्रेरणा देती है।

मोक्ष की अवधारणा—शैव धर्म के अनुसार जब पशु (जीवात्मा) "पाशों" (बन्धनों) से मुक्त होकर शिव रूप को प्राप्त कर लेती है तो वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यह अवस्था परम शिव की स्थिति है। परम शिव की प्राप्ति के लिये साधना अपेक्षित है। शैव धर्म के अनुसार इस साधना के चार अंग या चरण हैं जिन्हें **'पाद'** कहा जाता है। ये चार पाद हैं—(i) **विद्यापाद**—इस चरण में साधक को जीवात्मा, शिव और बन्धनों का वास्तविक ज्ञान होता है। (ii) **क्रियापाद**—इस चरण में मन्त्र, पूजा और हवन आदि से शिव की आराधना और उपासना की जाती है। (iii) **योगपाद**—इस चरण में योग साधना की सारी क्रियायें आती हैं। (iv) **चर्यापाद**—इस चरण में साधक की जीवनचर्या आती है जिसमें वह विवेक के आधार पर उचित का पालन और अनुचित का परित्याग करता है। शैव धर्म के अनुसार साधक इन चार चरणों की साधना का अनुसरण करते हुये परमशिव का पद अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

शैव धर्म का प्रचार और प्रसार—ऋग्वेद में वर्णित रुद्र रूपी शिव उत्तर-वैदिक युग में आर्यों के प्रमुख देवता के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। चौथी शताब्दी

ईसा पूर्व में शैव धर्म और शिव की पूजा और आराधना आर्यों के जीवन का अंग बन चुकी थी। दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व में शुंग वंश की स्थापना के समय जब वैदिक धर्म का पुनरुद्धार हुआ तो भागवत धर्म के साथ शैव धर्म भी एक सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। दूसरी शताब्दी ई. पू. में आचार्य लकुलीश ने गुजरात में शैव धर्म के पाशुपत सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था। मेगस्थनीज ने अपने ग्रन्थ में शिव उपासकों का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट होता है कि चौथी शताब्दी ई. पू. में शैव धर्म पाटलिपुत्र और उसके आस-पास के क्षेत्र में प्रसार पा चुका था। पंतजलि ने अपने महाभाष्य में परवर्ती मौर्य शासकों द्वारा धन संग्रह के लिये शिव आदि की मूर्तियाँ बनवा कर बेचने का उल्लेख किया है। इससे सिद्ध होता है कि मौर्य साम्राज्य में शिव की उपासना अत्यन्त लोकप्रिय रूप में प्रचारित हो चुकी थी। कल्हण रचित 'राजतरंगिणी' के अनुसार अशोक प्रारम्भिक जीवन में शैव मतावलम्बी था और उसने कश्मीर में एक शिव मन्दिर स्थापित किया था। इसी ग्रन्थ के अनुसार अशोक का पुत्र जालौक शैव था। उसने कश्मीर में अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी। इससे सिद्ध होता है कि तीसरी शताब्दी ई. पू. में शैव धर्म का प्रचार और प्रसार भारत के उत्तर पश्चिम क्षेत्र में हो चुका था। इसी कारण बाद में इस प्रदेश में आने वाले विदेशियों ने शैव मत अपना लिया। अनेक यूनानी, शक और कुषाण शासकों ने शैव धर्म को प्रोत्साहन दिया। यूनानी लेखक हेसेकियास के लेख के अनुसार गान्धार देश का संरक्षक शिव का वाहन ही था। शक शासकों की मुद्राओं पर भी नन्दी का चित्र अंकित है। कुषाण शासकों की मुद्राओं पर भी शिव, उनके पुत्रों और उनके वाहन नन्दी के चित्र अंकित है।

गुप्तकाल वैदिक धर्म का उत्कर्ष का युग था। गुप्त शासक वैष्णव धर्मावलम्बी थे इस कारण उन्होंने इस धर्म को संरक्षण देकर प्रोत्साहन दिया। किन्तु उनके समकालीन भारशिव, वाकाटक, नाग, मैत्रैय, कदम्ब आदि राजवंश शैव मतावलम्बी थे। स्वयं वैष्णव गुप्त सम्राटों के अनेक मन्त्री, सेनानायक एवं उच्च पदाधिकारी शैव थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय का मन्त्री वीरसेन शाब भी शैव था जिसने उदयगिरि में एक शिव मन्दिर का निर्माण करवाया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय की पत्नी ईश्वरा ने जालन्धर में अपने पति की स्मृति में शिवमन्दिर का निर्माण करवाया था। इसी प्रकार मिहिर लक्ष्मी नामक स्त्री ने कांगड़ा में शिव मन्दिर बनवाया था। चन्द्रगुप्त के समकालीन संस्कृत के महाकवि कालीदास शैव धर्म के उपासक थे। उन्होंने अपने काव्य 'कुमारसम्भव' में शिव पुत्र कार्तिकेय के जन्म का व्यापक और प्रभावशाली वर्णन किया है। कालीदास ने राम के जीवन से सम्बन्धी 'रघुवंश' महाकाव्य का आरम्भ भी शिव पार्वती की वन्दना से किया है। गुप्त वंश के अनेक शासकों ने शिव और उनके पुत्र कार्तिकेय को अपना आराध्य देव स्वीकार किया है। कुमारगुप्त (415-455 ई.) के सिक्कों पर शिव पुत्र कार्तिकेय की प्रतिमा

अंकित है। कुमारगुप्त प्रथम का सेनापति पृथ्वीषेण शैव धर्मावलम्बी था। उसने करमदण्डा नामक स्थान पर शिव की एक प्रतिमा स्थापित कराई थी।

गुप्तकाल में अनेक शिव मूर्तियों तथा लिंगों एवं मन्दिरों का निर्माण हुआ। इस समय एक मुख तथा चतुर्मुख मूर्तियों व लिंगों का निर्माण और पूजा होती थी। इस काल में शिव की मूर्तियाँ जटा, सर्प, गंगा और चन्द्रमा से अलंकृत होती थी। गुप्तकालीन शिव मन्दिरों में भूमरा तथा नाचना कुठार का मन्दिर प्रसिद्ध है।

गुप्तवंश के शासन काल में हुये हूण आक्रमण का नायक मिहिरकुल भी शैव धर्मावलम्बी माना जाता है। उसके साथ आये अनेक हूणों ने भारत में आने के बाद शैव धर्म ग्रहण कर लिया था।

हर्ष के दरबारी कवि बाणभट्ट के अनुसार हर्ष के पूर्वज शैव थे। स्वयं हर्ष अपनी दिग्विजय तक शैव धर्म को मानने वाला था। उसकी मुद्रा पर शिव वाहन नन्दी अंकित था। कालान्तर में उसने बौद्ध धर्म अपना लिया था। इसी युग में शैव धर्म के कापालिक सम्प्रदाय का उदय हुआ था।

आठवीं शताब्दी में आचार्य वसुगुप्त ने कश्मीर में कश्मीर शैव सम्प्रदाय की स्थापना की। उन्होंने शिव सूत्रों की व्याख्या के लिये **'शिव सूत्राणि'** की रचना की और कश्मीर में शैव धर्म का प्रचार और प्रसार किया। वसुमित्र के शिष्य **कल्लट** ने भी **"स्पन्दकारिका"** की रचना कर शैव धर्म के प्रचार और प्रसार में विशेष योगदान दिया। दसवीं शताब्दी के अन्त में **'आचार्य सोमानन्द'** ने शैव धर्म के **'प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय'** का प्रतिपादन किया और कश्मीर में शैव धर्म का प्रचार किया।

मध्यकाल शैव धर्म के उत्कर्ष का युग था। इस काल में अनेक राजपूत नरेशों ने शैव धर्म ग्रहण किया और उसे संरक्षण प्रदान कर अनेक भव्य शिव मन्दिरों का निर्माण कराया। पाल, चेदि और चन्देल आदि राजवंशों के लेखों में **'ओम नमोः शिवाय:'** उत्कीर्ण है। चन्देल शासक धंग देव (950-1002 ई.) शैव धर्मावलम्बी था। उसने शिव के एक विशाल मन्दिर का निर्माण करवाया जिसमें मरकत मणि से बने हुये शिव लिंग की स्थापना करायी। गुजरात का चालुक्य शासक जयसिंह सिद्धराज (1094-1144 ई.) भी शैव था उसने सिद्धपुर से रुद्रमहालय नामक विशाल शिव मन्दिर और पट्टन का सहस्त्र लिंग तड़ाग बनवाया था जिसके चारों ओर शिवलिंगों युक्त 100 शिवालय थे। इस प्रकार मध्यकाल तक शैव धर्म सम्पूर्ण भारत में प्रचार और प्रसार प्राप्त कर चुका था।

दक्षिण भारत में शैव धर्म का प्रचार और प्रसार—दक्षिण भारत में भी शैव धर्म का काफी प्रचार और प्रसार हुआ। जिस तरह आलवार सन्तों ने दक्षिण

भारत में वैष्णव धर्म का प्रचार किया वैसे ही 'आडियार' या 'नामन्यार' के नाम से जाने वाले शैव सन्तों ने दक्षिण भारत में शैव धर्म का प्रचार और प्रसार किया। दक्षिण भारतीय परम्परा के अनुसार इन सन्तों की संख्या 63 थी। इन सन्तों ने शैव धर्म से सम्बन्धित साहित्य का सृजन भी किया। शैव धर्म की उपासना और आराधना सम्बन्धी वाणी और प्रार्थनाओं का संग्रह 'आडियार सम्प्रदाय' के इस साहित्य में विद्यमान है। दक्षिण भारत मे जिस शैव धर्म का प्रचार और प्रसार हुआ उसमें भक्ति भावना की प्रधानता थी।

दक्षिण भारत के अनेक राजवंश शैव धर्मावलम्बी थे। इसमें चालुक्य, राष्ट्रकूट, चोल और पल्लव आदि प्रमुख है। इन राजवंशों के शासकों ने धर्म को संरक्षण और प्रोत्साहन देकर दक्षिण भारत में इसका प्रचार और प्रसार किया। बादामी के चालुक्य वंश के शैव शासक विजयादित्य (696-733 ई.) ने बीजापुर के पट्टदकल नामक स्थान पर शिव मन्दिर का निर्माण करवाया जिसे अब संगमेश्वर कहा जाता है। राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्रथम (750-773 ई.) ने वर्तमान आन्ध्रप्रदेश के औरंगाबाद के निकट एलोरा में एक विशाल कैलाश मन्दिर (शिव मन्दिर) का निर्माण करवाया। चोल शासक राजराज (985-1014 ई.) शैव धर्मावलम्बी था उसने 'शिवनाद शेखर' की उपाधि धारण की तथा तंजौर में शिव के प्रसिद्ध राजराजेश्वर मन्दिर का निर्माण करवाया।

परन्तु दक्षिण भारत में शैव धर्म के प्रचार और प्रसार का श्रेय राजकीय संरक्षण की अपेक्षा इस धर्म के सन्तों और अनुयायियों को अधिक है। सातवीं और आठवीं शताब्दी ईस्वी में सन्त अप्पार, साम्बन्दर, सुन्दरमूर्ति और सन्त माणिक्य-वाचक ने क्रमशः शैव धर्म के दास मार्ग (चर्या), सत्यमार्ग (क्रिया), सहमार्ग (योग) तथा ज्ञान मार्ग का प्रतिपादन किया। इन सन्तों द्वारा अपनी प्रतिभा और विद्वता से प्रतिपादित इन पद्धतियों से शैव धर्म की आराधना सरल हो गई थी जिसके फलस्वरूप जनसाधारण में इस धर्म की लोकप्रियता में वृद्धि हुई। माणिक्य वाचक ने बौद्ध भिक्षुओं को शास्त्रार्थ में परास्त कर शैव धर्म की महत्ता प्रतिपादित की। तमिल साहित्य में उनकी रचनाओं का वही महत्व है जो वैदिक साहित्य में उपनिषदों का है। वैष्णव धर्म में वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित 'सखी सम्प्रदाय' की भांति सन्त सुन्दरमूर्ति ने शैव धर्म में भी 'सखा सम्प्रदाय" का प्रतिपदान किया। दक्षिण भारत में शैव धर्म में भक्ति मार्ग का प्रतिपादन करने का श्रेय इन्हीं को है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी जीव और जगत की पृथक सत्ता को स्वीकार करते हैं और शिव को सृष्टि का स्वामी मानते हैं। आठवीं शताब्दी में वैदिक धर्म के पुनर्द्धारक शंकराचार्य भी शैव धर्म के अनुयायी थे उन्होंने शिव की स्तुति में अनेक श्लोकों की रचना की। वह पाशुपत सम्प्रदाय के सिद्धान्तों और साधना पद्धति को स्वीकार नहीं करते थे, इसलिये उन्होंने इस सम्प्रदाय के आचार्यों को

उज्जैन के शास्त्रार्थ में पराजित कर पाशुपत सम्प्रदाय की विकृतियों के निराकरण की आवश्यकता प्रतिपादित की। ग्यारहवीं शताब्दी ईस्वी में सन्त श्रीकण्ठ ने शैव धर्म के **'शिवाद्वैत सम्प्रदाय'** का प्रवर्तन किया। उनके सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म जगत का निमित्त और उपादान दोनों कारण है तथा शिव ही परम ब्रह्म है।

दक्षिण भारत में शैव धर्म के आराध्य देव शिव को सम्पूर्ण कलाओं का अधिष्ठाता माना जाता था। अतः नृत्य कला के अधिष्ठाता और देवता के रूप में शिव को नृत्य मुद्रा में नटराज के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। नटराज के अतिरिक्त दक्षिण के अनेक मन्दिरों में शिव को अर्ध नारीश्वर के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। शिव इस प्रकार की मूर्तियों में लम्बवत आधे भाग में शिव की मूर्ति और आधे भाग में पार्वती है। इस प्रकार शिव और पार्वती को संयुक्त रूप से पूज्य माना गया।

इस प्रकार भारत के विभिन्न क्षेत्रों में शैव धर्म का प्रचार और प्रसार हुआ। आज भी भारत के कोने कोने में शैव धर्म प्रचलित है। विविध क्षेत्रों में इस धर्म के आराध्य देव शिव के स्वरूप में भेद अवश्य है, किन्तु इस धर्म की मूल भावना सर्वत्र समान है।

7
सूफी मत
(Sufism)

'सूफी' शब्द का अर्थ—प्रायः विद्वानों में किसी मत या सम्प्रदाय के स्वरूप के बारे में मतभेद पाये जाते हैं। परन्तु सूफी मत में तो इसके नाम के सम्बन्ध में ही विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है उन्होंने 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में पृथक-पृथक मत व्यक्त किये हैं। कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि 'सूफी' शब्द ग्रीक भाषा के 'सोफिया' (ज्ञान) का रूपान्तरण है। इन विद्वानों की मान्यता है कि सूफी-मत अनुभव सिद्ध ज्ञान को महत्व देता है और 'सोफिया' शब्द भी ज्ञान का अर्थ देने वाला है। इसके अतिरिक्त सूफी और 'सोफिया' शब्दों में शब्द संगति भी दृष्टिगत होती है। परन्तु यह मत मान्य नहीं है। कतिपय विद्वानों ने सूफी शब्द की व्युत्पत्ति अरबी भाषा के 'सफ' या 'सूफा' शब्द में मानी है। इस शब्द के अनेक अर्थ हैं जो विद्वान 'सफ' (पंक्ति) शब्द से सूफी शब्द की उत्पत्ति मानते हैं उनका मत है कि सूफी उन व्यक्तियों को कहा जाता है जो अपने पवित्र आचरण और ईश्वर भक्त होने के कारण पृथक पंक्ति में रखे जाते हैं। 'सूफ' शब्द का एक अन्य अर्थ 'ऊन' है। कुछ विद्वानों का मत है कि सूफी उन लोगों को कहा जाता है जो ऊन के कम्बल ओढ़कर पैगम्बर मुहम्मद के सिद्धान्तों का प्रचार करते थे। 'सूफा' शब्द से सूफी शब्द की उत्पत्ति मानने वाले विद्वानों की मान्यता है कि पवित्राचरण वाले व्यक्ति सूफी कहलाये। सूफ से 'सुफ्फ' (चबूतरा) बना है अतः कुछ लोगों की मान्यता है कि मुहम्मद साहब ने मदीना में एक मस्जिद बनवाई थी जिसके पास एक चबूतरा (सफ्फ) था। उस चबूतरे पर बैठकर ईश्वर का ध्यान करने वाले 'सूफी' कहलाये। 'सफ' शब्द का एक अन्य अर्थ चटाई भी होती है अतः कुछ विद्वानों के अनुसार सूफी उन लोगों को कहा जाता है जो चटाई पर बैठकर ईश्वर का चिन्तन या उपासना करते थे। 'सूफ' के अर्थ ऊन के आधार पर कुछ विद्वानों की धारणा है कि जो लोग ऊन के मोटे और साधारण वस्त्र धारण करते थे वे सूफी कहलाये। डॉ. ए. बी. पाण्डे का कथन है कि "सूफी उन सन्तों को कहते हैं जो दीनता का जीवन बिताने के लिए ऊन के मामूली कपड़े पहनते थे और जो कुरान के बाह्य अर्थ को प्रधानता न देकर उसमें निहित रहस्य को विशेष महत्व देते हैं।" डा. गौरीशंकर भट्ट आदि विद्वान भी इसी मत का समर्थन करते हैं।'

सूफीमत का उद्भव—सूफीमत के नाम की तरह उसके उद्भव के बारे में भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान सूफीमत को इस्लाम धर्म से प्राचीन मानते हैं। उनका मत है कि सूफीमत के प्रवर्तक अली या ऐसे महापुरुष थे जो पैगम्बर मुहम्मद के साथी थे। स्वयं सूफी भी अपने मत की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए अपने मत का प्रवर्तक आदम या आदिम पुरुष को मानते हैं। इस मत के समर्थक डॉ. ताराचन्द ने भी सूफीमत को इस्लाम से प्राचीन मान कर उसके वर्तमान स्वरूप पर अन्य धर्मों के प्रभाव का विवेचन किया है परन्तु यह मत मान्य नहीं है।

अधिकांश विद्वान सूफीवाद के उद्भव का स्थान इस्लाम को मानते हैं। प्रायः प्रत्येक धर्म की यह विशेषता रही है कि उसके प्रवर्तक की मृत्यु के बाद उसके अनुयायियों में मूल धर्म की कुछ विशेषताओं के सम्बन्ध में मतभेद हो जाते हैं। इस कारण भिन्न मत वाले अनुयायी धर्म के मूल रूप को लेकर अपनी मान्यता के अनुसार धर्म की एक पृथक शाखा बना लेते हैं। जैसाकि बौद्ध धर्म में बुद्ध की मृत्यु के बाद मतभेदों के आधार पर उनके अनुयायी हीनयान और महायान शाखाओं में बँट गये। इसी प्रकार जैन धर्म श्वेताम्बर तथा दिगम्बर इन दो भागों में बँट गया। इसी सिद्धान्त के आधार पर कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि सूफीमत भी इस्लाम धर्म के मत विभेद के कारण अस्तित्व में आया। डॉ. सांवलिया की मान्यता है कि मुसलमानों में कई सम्प्रदाय हैं सूफीमत उन्हीं में से एक है। मुसलमानों का उदार दल जो परमात्मा की उपासना परम प्रियतम के रूप में करता है वह सूफी कहलाता है। डॉ. युसुफ हुसैन की मान्यता है कि "सूफीवाद की उत्पत्ति इस्लाम धर्म से है। यदि यों कहे कि सूफीवाद का जन्म इस्लाम के हृदय से हुआ तो कोई अत्युक्ति न होगी।" उनके अनुसार— "हजरत मुहम्मद के कुछ साथियों में संसार के प्रति विरक्ति की भावना विद्यमान थी और वे संयम पूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। प्रथम शताब्दी हिजरी संवत में इस्लाम के विस्तार हेतु हुए धर्मयुद्धों (जेहाद) से उनकी विरक्ति और बढ़ गई। इन पुण्यात्मा व्यक्तियों ने समस्त कलुषित भावनायें, वैभव विलास और सांसारिक जीवन त्याग कर विरक्ति पूर्ण जीवन व्यतीत करना शुरू कर दिया। इस्लाम की कट्टरता से ऊबे इन व्यक्तियों द्वारा प्रतिपादित विचार या मत ही सूफीमत कहलाया।" इस सम्बन्ध में डॉ. रामधारी सिंह दिनकर ने लिखा है कि "जो लोग, लोगों को जबरदस्ती मुसलमान बनाने के पक्ष में नहीं थे, जिन्हें दारूल-हरब और दारूल-इस्लाम से कोई सरोकार नहीं था, जो लोग कुरान के उस पक्ष से प्रभावित थे जो ईश्वर समाधि, ईश्वर चिन्तन और ईश्वर के पास पहुँचने पर बल देता है वे ही लोग इस्लाम के घेरे से निकल कर सूफी हो गये।" इस प्रकार इस्लाम के वे अनुयायी सूफी कहलाये जिनमें ईश्वर चिन्तन और ईश्वर प्राप्ति की तीव्र उत्कण्ठा थी और जो धर्म के बाह्य

आडम्बरों को पसन्द नहीं करते थे तथा जो ईश्वर प्राप्ति के लिए हृदय और आचरण की शुद्धता पर विशेष जोर देते थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि सूफीमत का उद्भव इस्लाम धर्म की कट्टरता और उसमें प्रचलित आचारों के कठोर बन्धनों की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था। इसके उदय के बाद कालान्तर में यह मत अपने मूल स्रोत इस्लाम से भिन्न हो गया। अधिकांश विद्वान इसी मत को स्वीकार करते हैं।

सूफीमत पर प्रभाव—प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय अनवरत अपने मूल रूप को बनाये रखने में सफल नहीं होता। प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय में उसके अनुयायियों द्वारा समयानुकूल और आवश्यकता अनुरूप संशोधन और परिवर्तन होता रहता है। दूसरी ओर एक धर्म या सम्प्रदाय जहाँ दूसरे धर्म या सम्प्रदाय को प्रभावित करता है वहाँ वह स्वयं भी उससे अछूता नहीं रहता। सूफीमत के स्वरूप में भी इसके उद्भव से वर्तमान युग तक पर्याप्त परिवर्तन हो गया है। वह अनेक बाहरी प्रभावों के बाद अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त कर सका है। इस मत को नास्तिक, नव-अफलातूनी, यहूदी, ईसाई, बौद्ध और भारतीय वेदान्त के विचारों ने समय-समय पर प्रभावित किया। सूफी मत को इस्लाम से प्राचीन मानने वाले **डॉ. तारा चन्द** ने सूफी मत पर पांच विचारधाराओं का प्रभाव मानते हैं ये हैं—(1) कुरान (2) हजरत मुहम्मद का जीवन (3) ईसाई सिद्धांत और प्लेटो की विचारधारा (4) हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म (5) जरथुष्ट धर्म। ए. सी बूकेट (A. C. Bouquet) और इलियट भी डॉ. ताराचन्द के मत के समर्थक है। परन्तु इलियट सूफीमत पर प्लेटो की विचारधारा का प्रभाव स्वीकार नहीं करते। डॉ. युसुफ हुसैन सूफीमत पर किसी विदेशी मत के प्रभाव को स्वीकार नहीं करते।

सूफीमत को सबसे अधिक भारतीय विचारधारा ने प्रभावित किया। भारत में 900 ई. पू. में औपनिषदिक रहस्यवाद उदित हो गया था। इस रहस्यवाद ने बौद्ध, शैव, वेदान्त तथा वैष्णव धर्मों को प्रभावित किया। बौद्धों ने देश-विदेश की यात्रा कर अन्य धर्मों को अपने विचारों से प्रभावित किया। उन अन्य धर्मों के माध्यम से ही सूफीमत बौद्ध धर्म से प्रभावित हुआ। छठी शताब्दी ई. पू. में बौद्ध धर्म का प्रभाव सीरिया व बसरा तक था। संभव है कुरान में वर्णित योग, रहस्यात्मक संयोग वियोग की भावना तथा अल्लाह के सर्वव्यापी और अन्तर्यामी होने के विचार बौद्ध धर्म और उपनिषदों की देन हो। सूफीमत में यही विचार है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि सूफीमत की संन्यास भावना यहूदी और ईसाई धर्मों से प्रभावित है। इस प्रकार सूफीमत भारतीय वेदान्त, बौद्ध, यहूदी, ईसाई आदि विचार धाराओं से प्रभावित है। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है।

सूफीमत का विकास—सूफीमत का उदय इस्लाम की कट्टरता की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था। मूल रूप से इस्लाम से सम्बन्धित होते हुए भी सूफीवाद की विचार-धारा इस्लाम से पूर्णतया स्वतन्त्र थी। सूफीमत अपने उद्‌भव काल से लेकर वर्तमान युग तक विभिन्न सूफी सन्तों और विचारकों के द्वारा विकसित होता रहा है। सूफी-मत के विकास को स्थूल रूप से तीन चरणों में विभक्त किया जा सकता है—

(1) प्रथम चरण—सूफीमत अपने विकास के प्रथम चरण में अनुभूति प्रधान था। इस चरण में सूफीमत में साकिक, अवाज और रविया महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। यह पूर्ण श्रद्धा तथा तनमन से ईश्वर की भक्ति की मान्यता का युग था और इस युग में इसका मूल इस्लाम ही था।

(2) द्वितीय चरण—द्वितीय चरण में सूफी मत की इस्लाम के विरुद्ध प्रति-क्रिया स्पष्ट हो गई। इस चरण में सूफी मत पर भारतीय वेदान्त और बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा और सूफी सन्तों ने जीव और ब्रह्म की एकता, सांसारिक जीवन की नश्वरता और माया की प्रबलता के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। सूफी मत का **'अनलहक'** (**मैं ही ब्रह्म हूँ**) का साधना मन्त्र भी इसी युग की देन है। इस चरण में सूफी सन्त मंसूर, कलींदारानी और जुनैद ने मुहम्मद के मत का विरोध किया और ईश्वर प्रेम, संसार तथा कर्म त्याग और आत्म समर्पण के विचारों का प्रचार किया।

तृतीय चरण—सूफी मत के विकास के तृतीय चरण में इस मत में दो प्रकार की विचारधाराओं का उदय हो गया था—(1) एकेश्वरवादी (2) सर्वात्म-वादी। एकेश्वरवादी विचारधारा कुरान के सिद्धान्तों पर आधारित थी। इसके अनुसार ईश्वर एक है और वह अव्यक्त, कल्पनातीत, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक है। सर्वात्मवादी दूसरी विचारधारा के अनुसार जीव और ईश्वर पृथक नहीं है अपितु दोनों एक ही है। जगत ईश्वर या ब्रह्म की अभिव्यक्ति है जगत में ब्रह्म का सौन्दर्य व्याप्त है। सूफी सन्त जलालुद्दीन रूमी सर्वात्मवादी मत के प्रबल समर्थक थे।

भारत में सूफी मत—जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है कि सूफी मत का उदय भारत के बाहर हुआ और यह मत इस्लाम का ही एक भाग था। भारत में सूफी मत का प्रवेश इस्लाम के साथ सातवीं शताब्दी ईस्वी में हुआ। प्रारम्भ में सूफी सन्त अरब यात्रियों के साथ भारत में आये और सिन्ध और पंजाब के सीमावर्ती प्रदेशों में फैल गये। मुल्तान इनका सबसे प्रमुख केन्द्र था। भारत आने वाले सूफी-सन्तों में अबुल हसन हुज हुज्जिरी प्रमुख है। ये गजनी के निवासी थे। इन्होंने **"कश्फूल महजूब"** नामक पुस्तक लिख कर सूफी मत के सिद्धान्तों का प्रचार किया। भारत में सूफी मत का प्रचार करने वालों में दक्षिण भारत के पन्नुकोण्डा में रहने वाले बाबा फखरूद्दीन का नाम भी उल्लेखनीय है। इसके तदन्तर ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती और मोहम्मद वन्दानवाज गैसूदराज ने भारत में सूफीमत का प्रचार किया। ख्वाजा मोईनुद्दीन

मुहम्मदगौरी से थोड़ा पूर्व सन् 1090 ई. में भारत आये थे। ख्वाजा के बाद उनके शिष्य कुतुद्दीन बख्तियार और निजामुद्दीन औलिया तथा उनके शिष्यों ने भारत में सूफी मत का प्रचार किया जिनमें सिराजुद्दीन उस्मानी, शेख अलाउद्दीन, हिसामुद्दीन, सैयद हुसैन नासिरूद्दीन चिराग और शेख सलीम चिश्ती प्रमुख हैं। सूफीमत के चिश्ती सम्प्रदाय के अतिरिक्त सुहरा वर्दिरा, कादिरिया तथा नक्शबन्दिया आदि सम्प्रदायों ने भी भारत में सूफीमत का प्रचार किया। तत्कालीन हिन्दू समाज को सूफी सन्तों ने काफी प्रभावित किया।

प्रवेश के साथ ही सूफीमत का भारत में तेजी से प्रसार हुआ। इसका कारण यह था कि सूफी-सन्तों ने यहाँ आकर अपने आप को यहाँ के अनुकूल बना लिया। सूफी सन्तों ने भारत में आकर भारतीय वेषभूषा अपनाली जो भारत के सन्तों के समान थी। इन्होंने अपने मत के विचारों के प्रसार के लिये भारतीय विचारों का विरोध नहीं किया। सूफी सन्तों के पवित्र आचरण और सात्विक विचारों ने भारतीयों को बहुत प्रभावित किया। शक्ति के बल पर इस्लाम का प्रचार करने वालों की तुलना में सूफियों का व्यवहार भारतीयों के प्रति अपेक्षाकृत उदार था। इसके अतिरिक्त सूफियों का दर्शन भी भारतीय वेदान्त दर्शन के समान था। दूसरी ओर सूफी भी इस्लाम की तरह एकेश्वरवादी थे अतः उन्हें इस्लाम के विरोध का सामना भी नहीं करना पड़ा। इन कारणों से सूफीमत हिन्दू और मुसलमान दोनों में समान रूप से प्रिय हो गया और तेजी से प्रचारित हुआ।

सूफी दर्शन एवं सिद्धान्त

सूफी मत इस्लाम की कट्टरता और उसके आचार की कठोरता की प्रतिक्रिया स्वरूप अस्तित्व में आया था। अतः इस मत के सिद्धान्तों और दर्शन में उदारता की भावना दृष्टिगत होती है। सूफी मत अपने विकास के दीर्घकाल में विभिन्न धर्मों के संसर्ग में आया था। अतः उन धर्मों ने भी इस मत के सिद्धान्तों और दर्शन को न्यूनाधिक रूप से अवश्य प्रभावित किया होगा। सूफीमत के प्रमुख दार्शनिक और नैतिक सिद्धांत निम्नलिखित हैं—

परमतत्व या अन-अल-हक्क—सूफी मत इस्लाम की तरह एकेश्वरवादी है वह एक ईश्वर या परमतत्व में विश्वास करते हैं। सूफियों की श्रद्धा ईश्वर के रहीम (करूणामय) रूप पर है। वे ईश्वर को निर्गुण, निराकार, निर्विकार और सर्वव्यापक मानते हैं। सूफीमत के तसव्वुफ (रहस्यवाद) और हिन्दू धर्म के वेदान्त दर्शन में काफी समानता है। वेदान्त का अहं ब्रह्मास्मि (मैं ही ब्रह्म हूँ) सिद्धान्त सूफीमत में अन-अल-हक्क (अनलहक) के रूप में मिलता है। सूफी मत में ब्रह्म और जीव को एक तत्व माना गया। जिली ने जीव और ब्रह्म को आत्मा के दो रूप माने हैं। सूफी मत के अनुसार जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। परन्तु ब्रह्म और जीव के ऐक्य के सम्बन्ध में सूफी मत के कुछ सम्प्रदायों में मतभेद है। मौलवी सम्प्रदाय के सन्त जलालुद्दीन रूमी का मत है कि जीव और ब्रह्म एक ही है किन्तु उनमें वैसा ही भेद है जैसे

प्रेमी और प्रिय देखने में अलग-अलग दिखाई देते हैं । सूफी मत के ईश्वर अमर साकार सौन्दर्य है । वे ईश्वर को प्रेमिका और आत्मा को प्रेमी मानते हैं । इनके अनुसार ईश्वर के साथ अनन्य प्रेम से एकत्व प्राप्त किया जा सकता है ।

सृष्टि विचार—सृष्टि के सम्बन्ध में भी सूफियों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं । उनके अनुसार सृष्टि अल्लाह का प्रतिबिम्ब है अर्थात् सृष्टि ब्रह्म का एक अंश है । उनका मत है कि सृष्टि के कण-कण में ईश्वर व्याप्त है । सूफियों का मत है कि ईश्वर ने अपने गूढ़ रहस्य को प्रकट करने के लिए सृष्टि की रचना की थी । उनके अनुसार अल्लाह (ईश्वर) की अलौकिक शक्ति 'रूह' सृष्टि का उपादान है । सूफियों की मान्यता थी कि चन्द्रमणि रूप ईश्वर की स्वच्छ दृष्टि से जल की उत्पत्ति हुई और स्थूल पदार्थ फेन (झाग) रूप में ऊपर आ गये उसी से पृथ्वी के सात तल बने । सर्वप्रथम ईश्वर ने मुहम्मदीय प्रकाश बनाया जो बीज में परिवर्तित हो गया । इसके बाद पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश और तारे बने तदुपरान्त नाना-जीव उत्पन्न हुये । जिली के अनुसार अल्लाह ने सबसे पहले अपनी सत्ता को रूह का रूप दिया उसी से सृष्टि, फरिश्तों और कल्ब की उत्पत्ति हुई ।

माया अथवा शैतान का विचार—भारतीय वेदान्त दर्शन में सांसारिक विषयों में आसक्त करने वाले तत्व को **'माया'** कहा गया है । सूफी मत में उस तत्व को **'शैतान'** की संज्ञा दी गई है । कुरान में भी व्यक्ति को खुदा के रास्ते से भटकाने वाली शक्ति को शैतान कहा गया है । परन्तु सूफी मत के 'शैतान' (माया) का स्वरूप वेदान्त और कुरान से भिन्न और परिष्कृत है । सूफी मत का शैतान (माया) ईश्वर की राह में बाधक नहीं अपितु ईश्वर के भक्तों और उसकी आराधना करने वालों की परीक्षा लेने वाला बताया गया है ।

आत्मा के रूप—सूफियों के अनुसार मानव सृष्टि में ब्रह्म की सर्वश्रेष्ठ कृति है । उसमें ईश्वर की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है । इनके अनुसार प्रत्येक मनुष्य सम्पूर्ण है किन्तु उसमें रहने वाली आत्मा के दो रूप हैं—प्रथम जड़ (नफस) आत्मा, द्वितीय रूह आत्मा । सूफीमत के अनुसार नफस (जड़) आत्मा उसे पापों की ओर ले जाती है और रूह आत्मा उसे ईश्वर की ओर ले जाती है । अतः नफस आत्मा का नाश मनुष्य का कर्त्तव्य है ।

सूफी साधना—सूफी मत में साधना के सात सोपान हैं । यह है—
(1) अनुपात, (2) आत्म संयम, (3) वैराग्य दारिद्रय, (4) धैर्य, (5) विश्वास, (6) सन्तोष, (7) प्रेम । सूफीमत में इन्सानी प्रेम का सबसे अधिक महत्व है क्योंकि अनलहक (मैं ही ब्रह्म हूँ) कहकर उन्होंने प्रत्येक मनुष्य में ईश्वर का अंश माना है और चूंकि प्रेम प्रसन्नतादायक है अतः इन्सानीप्रेम भी ईश्वर प्रेम का मार्ग बन जाता है । सूफियों के अनुसार प्रेम के अभाव में साधना सिद्धि असम्भव है । ईश्वर रूपी प्रकाश हजारों पर्दों के पीछे है । प्रेम के द्वारा ही मनुष्य यह पर्दे हटाकर उस प्रकाश की ओर अग्रसर होता है ।

सात सोपानों के अतिरिक्त साधना के चार अंग (मुकाम) भी है। ये हैं—(1) शरीयत, (2) तरीकत, (3) मारफत, (4) हकीकत। **शरीयत** के अन्तर्गत साधक अपनी गल्तियों के लिये पश्चाताप करके भविष्य में ईश्वर पालन की प्रतिज्ञा करता है। **तरीकत** की स्थिति में वह सांसारिकता का परित्याग कर हृदय से मन वचन और कर्म से पवित्र आचरण का प्रयत्न करता है जिससे वह ईश्वर के ध्यान में प्रवृत्त हो सके। **मारफत** की अवस्था में वह पूर्ण रूप से ईश्वर चिन्तन में लीन रहता हुआ ईश्वर व स्वयं के मध्य के फासले को कम करने के लिये प्रयत्नशील रहता है। साधक की अन्तिम अवस्था **हकीकत** की है जिसमें जीव और ब्रह्म का संयोग हो जाता है। यह सूफी साधना की चरम पराकाष्ठा है।

इब्न उल अरामी के अनुसार ईश्वर को प्राप्त करने के दस साधन हैं ये हैं—1. तौबा (प्रायश्चित), 2. वरा (अनुपस्थिति), 3. जुद (दया), 4. फकर (निर्धनता), 5. सब्र (सन्तोष), 6. शुक्र (कृतज्ञता), 7. खौफ (भय). 8. रजा (आशा) 9. तवक्कुल 10. रिजा (ईश्वर के समक्ष आत्मा समर्पण)।

गुरु का महत्व—सूफी मत में गुरु को अत्यधिक महत्व दिया गया है। इनके अनुसार गुरु का मार्ग दर्शन ही साधक को शैतान के शिकंजे से मुक्ति दिलाता है। सूफियों की दृष्टि से गुरु का अन्धानुकरण करना ही श्रेयस्कर है। सूफी सन्त जायसी ने अपने ग्रन्थ '**पद्मावत**' में गुरु की महत्ता बताते हुये लिखा है "**बिन गुरु पंथ न पाइये, भूले सो जो मेह।**"

प्रेम—सूफी साधना में प्रेम को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। सूफियों का समस्त साहित्य प्रेम गाथाओं से परिपूर्ण है। सम्पूर्ण सूफी मत प्रेम फुहारों से सिंचित है। *उनकी मान्यता है कि ईश्वर अत्यन्त सौन्दर्यमय है। उसे प्रेम द्वारा ही प्राप्त* किया जा सकता है। सूफी सन्तों ने ईश्वर को प्रियतमा और साधक को प्रियतम मानकर ही साधना करने का उपदेश दिया है। इस मत में ईश्वर प्रेम के साथ मानवीय प्रेम को भी पर्याप्त महत्व दिया गया है क्योंकि उनके मतानुसार मनुष्य ईश्वर का अंश और उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति है। निजामुद्दीन औलिया ने अपने शिष्यों को उपदेश देते हुये कहा था "ऐ बन्दो वही इन्सान अल्लाह को प्यारा है जो उसके बन्दों से प्यार करता है। बन्दों से प्रेम करना इन्सान का पहला फर्ज है।"

हृदय की पवित्रता—सूफी सन्तों के अनुसार ईश्वर की प्राप्ति के लिये हृदय की पवित्रता अति आवश्यक और महत्वपूर्ण है। उनकी मान्यता है कि हृदय रूपी दर्पण में ही ईश्वर का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। हृदय रूपी दर्पण के मलिन (अपवित्र) होने पर ईश्वर का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई नहीं दे सकता। मनुष्य अपने सांसारिक प्रलोभनों का परित्याग करके ही हृदय की पवित्रता को बनाये रख सकता है।

कर्म पर विश्वास—सूफी मत मनुष्य के कर्म और कर्मफल पर विश्वास करता है। उनके अनुसार अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा होता है। सद्‌कर्म मनुष्य को ईश्वर के समीप पहुँचाने में सहायक और बुरे कर्म बाधक होते हैं।

एकेश्वरवाद—सूफी मत एकेश्वरवादी है। वह एक ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी देवता के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध सूफी सन्त इब्न-उल-अराबी ने कहा है कि "एक (सृष्टिकर्त्ता) और खलिक (सृष्टि) एक है। ईश्वर ही सब कुछ है और वही वास्तविक और शाश्वत है। उसके अतिरिक्त किसी का अस्तित्व नहीं है।" इस प्रकार उन्होंने एक ही ईश्वर को मान्य करके मानव मात्र में परस्पर प्रेम और बन्धुत्व की भावना विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

संगीत प्रेम—सूफी मत में संगीत को काफी महत्व दिया गया है। सूफी सन्त संगीत को आध्यात्मिक उन्नति तथा परम आनन्द की प्राप्ति का साधन मानते हैं। उनका विश्वास है कि संगीत के द्वारा मनुष्य का हृदय पवित्र होता है और इससे वह ईश्वर की ओर प्रवृत्त होता है। डॉ. यूसुफ हुसैन के अनुसार "चूंकि संगीत प्रेम की अग्नि को प्रज्वलित करता है तथा वियोन्माद की उत्तम स्थिति को लाने में सहायता करता है। अतः उन लोगों (सूफीमत) के लिए संगीत वैद्य की भाँति बन गया।"

डॉ. तारा चन्द ने सूफीमत के सिद्धांतों के सम्बन्ध में कहा है कि 'सूफीवाद, प्रगाढ़ भक्ति का धर्म है, प्रेम इसका भाव है, कविता, संगीत तथा नृत्य इसकी आराधना के साधन हैं तथा परमात्मा में विलीन हो जाना इसका आदर्श है।" डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार "सूफी साधकों का मूल लक्ष्य न केवल ईश्वर के साथ बौद्धिक तथा भावुक सम्बन्धों की स्थापना, बल्कि मानवता की सेवा करना है।" सूफीमत के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में डॉ. अवध बिहारी का कथन है कि "सूफी ईश्वर को निर्गुण एवं निराकार न मान कर उसमें प्रकाश, स्नेह, दया, उदारता, सर्वव्यापकता आदि गुणों का आरोपण करते हैं और उसके कहर से भय खाने के स्थान पर उसके प्रति प्रेम का सम्बन्ध स्थापित करके उसके साथ एकत्व प्राप्त करने का आदर्श स्वीकार करते हैं। वे ईश्वर को प्रधानतः आलोकमय मानते हैं और उसके नूर, जलवा अथवा तजल्ली का विभिन्न ढंगों से उल्लेख करते हैं। वे सम्पूर्ण जगत् में, कण-कण में उसी के जलवे को देखने का अभ्यास करते हैं और इस कारण वे प्राणिमात्र के प्रति स्नेह एवं दया का व्यवहार करने का समर्थन करते हैं। वे भगवान

की उपासना में वासना को बाधक समझ कर विभिन्न यौगिक उपायों द्वारा उसका दमन करते हैं और हृदय के ऊपर पड़े मैल के आवरणों को काट कर विशुद्ध निर्मल भाव लेकर उसका ध्यान करते हैं। वे जप की महत्ता को स्वीकार करते हैं और कभी-कभी मन को भगवान में केन्द्रित करने के उद्देश्य से प्रेम-भक्ति पूर्ण संगीत का आश्रय लेते हैं और भावातिरेक में नृत्य करने लगते हैं। उन्होंने भगवत्-प्राप्ति को अपना ध्येय बनाया है और वे इस्लाम के कर्मकाण्ड को अनावश्यक समझते हैं। इन सभी वर्गों में गुरु का भी विशेष महत्व है क्योंकि उसी के निर्देशन में आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करना सम्भव होता है। इस कारण वे व्यवहार में अल्लाह की अपेक्षा पीर को अधिक आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं।"

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि सूफी मत उच्चकोटि के सिद्धान्तों और दर्शन पर आधारित है। इस धर्म में हिन्दू मुस्लिम विचारों का समन्वय दिखाई देता है। कुरान पर आधारित होने पर भी इस पर वेदान्त दर्शन का पर्याप्त प्रभाव था।

सूफीमत के प्रमुख सम्प्रदाय—जैसा कि पूर्व में बताया गया है कि प्रायः प्रत्येक धार्मिक विचार और सम्प्रदाय अपने उदय के परवर्ती युग में अनेक उप सम्प्रदायों में विभक्त हो जाता है। उसी प्रकार सूफीमत भी कालांतर में अनेक उप सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। इस विभिन्न सम्प्रदायों के मूल सिद्धांत तो एक ही थे परन्तु मत की अन्तर्निहित विशेषताओं के कारण उनमें विशेषताओं तथा साधनों आदि में मतभेद था। सूफीमत के सम्प्रदायों की संख्या के बारे में विद्वानों में मतभेद है। कतिपय विद्वानों ने इनकी संख्या 175 मानी है किन्तु मुख्य सम्प्रदायों की संख्या 14 मानी गई है जिनका उल्लेख **अबुल फजल** ने अपने ग्रन्थ **'आइने अकबरी'** में किया है। ये हैं—(1) चिश्ती, (2) सुहरावर्दी, (3) हबीजी, (4) तफूरी, (5) करखी, (6) सकती, (7) जुनैदी, (8) काजरूनी, (9) तूसी, (10) फिरदौसी, (11) जैदी, (12) इयादी, (13) अधमी, (14) हुबेरी।

यहाँ हम उन सम्प्रदायों की विस्तृत चर्चा करेंगे जिनके अनुयायी भारत आये और जिन्होंने यहाँ सूफी मत का प्रचार किया।

चिश्ती सम्प्रदाय—सूफी मत के अन्य सम्प्रदायों में चिश्ती सम्प्रदाय सबसे प्रमुख है। भारत में भी इसी सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या अन्य सूफी सम्प्रदायों से अधिक है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक ख्वाजा आबू अब्दुल्लाह चिश्ती थे। इस सम्प्रदाय को भारत में लाने का श्रेय ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती को है। इनका जन्म सन् 1143 ई. में ईरान में स्थित सीस्तान में हुआ था। यह सन् 1190 ई. में भारत आये और अजमेर (राजस्थान) को अपना केन्द्र बनाया। इन्होंने **'कासफुल मजहब'** नामक ग्रन्थ की रचना की। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती को उनकी सादगी और योग्यता के कारण भारत में

काफी सम्मान मिला । इनके विचारों और व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अनेक हिन्दू और मुसलमान इनके शिष्य बन गये । पृथ्वीराज चौहान का प्रधान पण्डित रामदेव भी ख्वाजा का शिष्य था । सन् 1224 ई. में इनकी मृत्यु हो गई । अजमेर स्थित इनकी समाधि (दरगाह) पर आज भी प्रतिवर्ष विशाल मेला लगता है ।

ख्वाजा मुईनुद्दीन की मृत्यु के बाद उनके शिष्य ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार (फरीद बाबा) ने चिश्ती सम्प्रदाय के विकास को आगे बढ़ाया । तात्कालीन दिल्ली सम्राट इल्तुतमिश इनका बहुत सम्मान करता था । कुतुबुद्दीन अत्यन्त स्वाभिमानी और स्वतन्त्र विचारों के व्यक्ति थे । इल्तुतमिश के अनेक आग्रहों के बाद भी वे उनके दरबार में नहीं गये । इनका प्रधान केन्द्र दिल्ली था ।

कुतुबुद्दीन की मृत्यु के बाद उनके शिष्य फरीदउद्दीन मंसूद गजशंकर उनके उत्तराधिकारी बने । गजशंकर को गरीब लोग अत्यन्त प्रिय थे । वे धन को आध्यात्म के मार्ग में बाधक मानते थे । वे सादा और संयमी जीवन व्यतीत करते थे । वे उच्चवर्ग और धनवानों से मिले सम्मान से घृणा करते थे और सांसारिकता को त्यागकर आन्तरिक उन्नति को महत्व देते थे । 93 वर्ष की आयु में सन् 1265 ई. में उनकी मृत्यु हो गयी ।

चिश्ती मत के विकास का इतिहास शिष्य परम्परा पर आधारित रहा है । ख्वाजा गजशंकर की मृत्यु के बाद उनके प्रमुख शिष्य निजामुद्दीन औलिया ने उनके कार्य को आगे बढ़ाया । इन्हें बचपन से ही धार्मिक वातावरण मिला था । इन्होंने गजशंकर की उदारता और दयालुता से प्रभावित होकर 20 वर्ष की आयु में उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया था । गजशंकर के बाद उन्होंने अपने मत के प्रचार-प्रसार का केन्द्र दिल्ली को बनाया । बाद में वहाँ भीड़-भाड़ अधिक होने पर दिल्ली के पास गयासपुर ग्राम में रहने लगे ।

निजामुद्दीन औलिया के काल में दिल्ली पर सात विभिन्न शासक गद्दी पर बैठे किन्तु अपने गुरु गजशंकर की परम्परा का निर्वाह करते हुये उन्होंने किसी शासक की कृपा प्राप्त नहीं की । औलिया बड़े उदारमना थे । उनका जीवन अत्यन्त सादा और सरल था । अपनी उदारता और आध्यात्मिक साधना के बल पर वह साठ वर्ष की आयु तक असंख्य दीन दु:खी जनता की सेवा करते रहे । जनसाधारण इन्हें 'महबूबे इलाही' (ईश्वर के प्रियतम) के नाम से पुकारते हैं ।

निजामुद्दीन औलिया की शिक्षायें बड़ी व्यवहारिक थी । उन्होंने ईश्वर और मानव मात्र के प्रति प्रेम को अत्यधिक महत्व दिया । उनकी मान्यता थी कि ईश्वर मनुष्य के हृदय में निवास करता है और मानव के प्रति व्यक्ति प्रेम उसके हृदय को प्रसन्नता प्रदान करता है । इस मानव प्रेम से ईश्वर भी प्रसन्न होते हैं । औलिया के विचारों में सहिष्णुता का प्रमुख स्थान है । उनकी सहिष्णुता (अतायत) दो प्रकार

की थी—अनिवार्य और ज्ञापकीय। नमाज, रोजे, हज आदि अनिवार्य सहिष्णुता है और दया, उदारता और परोकार. ज्ञापकीय सहिष्णुता है। उनके अनुसार ईश्वर के प्रति प्रेम और उसकी आराधना जीवन का मुख्य उद्देश्य है।

निजामुद्दीन औलिया की मृत्यु के बाद उनके कई प्रमुख शिष्यों ने चिश्ती सम्प्रदाय के विकास के लिए अथक परिश्रम किया। इन शिष्यों में शेख सिराजुद्दीन, शेख अलाउद्दीन, अल उलहक, शेख वहीरुद्दीन, शेख हिसामुद्दीन, मेहबूबे इलाही और नूर-कुतुवे आलम आदि प्रमुख थे। इन सन्तों ने प्रेम और मानवता की भावना का प्रचार किया।

चिश्ती सम्प्रदाय के अन्य सन्तों में शेख नासिरुद्दीन चिराग और शेख सलीम चिश्ती का नाम प्रमुख है। सलीम चिश्ती सोलहवीं शताब्दी में हुए थे। उन्हीं के आशीर्वाद से जहांगीर का जन्म हुआ था इसीलिये अकबर इनका विशेष सम्मान करता था। अकवर, बैराम खां, अब्दुल अजीज आदि इनके प्रमुख शिष्य थे। चिश्ती सम्प्रदाय के सन्तों की सरलता, सात्विक जीवन, व्यावहारिक दृष्टि, आध्यात्मिक भावना और सिद्धांतों की सरलता के कारण मुगलकाल में इस सम्प्रदाय को काफी प्रसिद्धि मिली।

सुहरावर्दिया सम्प्रदाय—यह सूफी मत का दूसरा सम्प्रदाय था। कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि भारत में आने वाले पहले सूफी इसी सम्प्रदाय के थे। इस सम्प्रदाय के संस्थापक शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी थे। इस सम्प्रदाय के भारत में लाने वाले प्रथम सूफी सन्त सैयद जलालुद्दीन सुर्खपोश थे। इन्होंने सिन्ध को अपना केन्द्र बनाया। शेख हमीदुद्दीन नागौरी तथा शेख वहाउद्दीन जकरिया ने इस सम्प्रदाय के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। फखरुद्दीन, अमीर हुसैन, शेख हुसैन आदि इनके प्रमुख शिष्य थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। वंगाल के शासक और पेनकोण्डा के राजा ने इस सम्प्रदाय का शिष्यत्व ग्रहण किया था। सैयदवंश तथा हैदरावाद का आसफशाही वंश भी इसी सम्प्रदाय का अनुयायी था। सिन्ध, गुजरात और पंजाव में इस सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव था। इस सम्प्रदाय के सन्त भी ईश्वर भक्ति और मानव सेवा को मनुष्य जीवन में प्रमुख स्थान देते थे।

कादरी सम्प्रदाय—सूफी मत के कादरी सम्प्रदाय की स्थापना सन् 1078 ई. में शेख अब्दुल कादिर जिलानी ने बगदाद में की थी। कहा जाता है कि सन् 1485 ई. में सैयद वन्दगी मुहम्मद इस सम्प्रदाय को भारत में लाये। इनके प्रचार का प्रमुख केन्द्र सिन्ध था किन्तु इस सम्प्रदाय का प्रचार पंजाव, विहार, बंगाल और कश्मीर में भी काफी हुआ। सैयद वन्दगी आज भी कश्मीर में बड़ी श्रद्धा से पूजे जाते हैं। भारत में इस सम्प्रदाय का प्रचार करने वालों में शाह नियामतुल्ला और मख्दूम मुहम्मद जिलानी प्रमुख थे। मुगल सम्राट अकबर और दाराशिकोह इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से काफी प्रभावित थे।

नक्शबन्दिया सम्प्रदाय—सूफी मत के नक्शबन्दिया सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक ख्वाजा बहाअलद्दीन नक्शबन्द थे। भारत में इस सम्प्रदाय का प्रचार 16वीं शताब्दी ईस्वी में ख्वाजा मुहम्मद बाकी बिल्लाह द्वारा किया गया। नक्शबन्दिया सम्प्रदाय के सूफी सन्तों ने इस्लाम की कट्टरता और धार्मिक आडम्बरों का विरोध किया। यह सम्प्रदाय बुद्धिवादी था जिसके कारण इसके अनुयायियों की संख्या अधिक नहीं हो सकी। अबेंरी आर्थर के अनुसार इस सम्प्रदाय के अनुयायियों को आठ सिद्धांतों का पालन करना पड़ता था। ये आठ सिद्धांत हैं—(1) श्वास में चैतन्य, (2) चरणों पर दृष्टि, (3) यात्रा, (4) एकान्तवास, (5) ईश्वरीय स्मृति, (6) ईश्वर का एकान्त मनन, (7) ईश्वर ध्यान, (8) आत्म विस्मृति। इस सम्प्रदाय के सन्त उपासना के लिये उपास्य उपासक भाव के सिद्धांत पर अधिक बल देते थे। उनका यह मत अन्य सूफी मतों से भिन्न था।

शत्तारी सम्प्रदाय—सूफी मत के शत्तारी सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन सन् 1455 ई. में अब्दुल सत्तार ने किया था। भारत में इस सम्प्रदाय के प्रमुख सन्त मुहम्मद गौथ, वजीत अलदीन गुजराती और संत शाहेपीर आदि थे। इसका कार्य क्षेत्र प्रधानतः गुजरात था।

अन्य सम्प्रदाय—सूफी मत के अन्य कई सम्प्रदाय थे जिनमें शाहविलिया, रिफाई, निमातुल्लदिया, सुन्सिया, कलन्दरिया तथा मौलवी सम्प्रदाय प्रमुख थे। इनमें से कुछ सम्प्रदायों का प्रचार प्रसार भारत के बाहर हुआ। शाहविलिया तथा निमातुल्लादिया सम्प्रदाय का प्रसार उत्तरी अफ्रीका, टर्की, रूमानिया, ईरान तथा अलजीरिया आदि देशों में हुआ। कलन्दरिया सम्प्रदाय के लोग हाथ में प्याला रखते थे तथा सिर मुंडाते थे।

भारत पर सूफीमत का प्रभाव—भारत में सूफीमत का प्रवेश सिन्ध पर अरबों के आक्रमण के साथ ही हो गया था। उसके बाद अनेक सूफी सन्तों ने भारत में आकार अपने मत का प्रचार किया। किन्तु प्रारम्भ में वह अपने विचारों से भारतीय समाज और धर्म पर कोई प्रभाव नहीं डाल सके बल्कि सूफीमत ही भारतीय वेदान्त के प्रभाव से सराबोर हो गया। इसके बाद इस्लाम की कट्टरता और प्रचण्डता के कारण सूफीमत की ज्योति मन्द-सी पड़ गई। अतः लगभगत बारहवीं शताब्दी तक सूफीमत हिन्दू धर्म और समाज को प्रभावित करने में असफल ही रहा। सम्भवतः सूफीमत का आधार इस्लाम होने के कारण हिन्दू सूफीमत से भी इस्लाम की भांति घृणा करते रहे हों। किन्तु दीर्घकाल के सह अस्तित्व के बाद दोनों धर्म परस्पर निकट आये जिसके परिणामस्वरूप दोनों ने एक दूसरे को प्रभावित किया। तेरहवीं शताब्दी में सूफीमत का चिश्ती सम्प्रदाय भारत में अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। सूफी बलात् धर्म परिवर्तन के पक्षधर नहीं थे। उनके धर्म का आधार ही प्रेम था। अतः सूफी सन्तों ने हिन्दूओं के प्रति दयालुता और प्रेम का व्यवहार किया। इससे

हिन्दुओं में सूफियों के प्रति आदर भाव बढ़ा और वे इस धर्म के निकट आने लगे। सूफियों में साम्प्रदायिकता और धार्मिक कट्टरता नहीं थी। अतः सूफियों ने मुसलमान होते हुये भी हिन्दुओं की बहुत-सी बातें रीति-रिवाजों आदि को अपना लिया। उपवास रखना, शरीर को कष्ट देना और कमण्डल रखना आदि बातें सूफियों ने हिन्दुओं से ही ग्रहण की थी। सूफीमत हिन्दुओं के वेदान्त से प्रभावित था। अतः हिन्दुओं को सूफीमत को समझने में कठिनाई नहीं हुई और उन्होंने सूफियों की अनेक अच्छाइयाँ ग्रहण कर ली। सूफी सन्तों ने भारत में अपने धर्म का प्रचार और प्रसार करने के लिये हिन्दुओं की भाषा और उनके रीति रिवाज सीखे।

सूफी मतावलम्बियों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। यह इस्लाम के अनुयायियों की भाँति कट्टर नहीं थे। सूफियों में मानवता की भावना विद्यमान थी। उन्होंने सम्प्रदायों के आधारों में बँटी मानवता का संगठित करने का स्तुत्य प्रयास किया। उनकी दृष्टि में हिन्दू और मुसलमान मनुष्य होने के नाते समान है। हिन्दू मुस्लिम एकता की स्थापना के लिये उन्होंने दोनों धर्मों की अच्छाइयों को चुनकर उनका प्रचार किया। सूफियों ने हिन्दुओं से अहिंसा, उपवास, शरीर को यातना देना तथा कमण्डल धारण करना ग्रहण किया और इस्लाम से एकेश्वरवाद, भक्ति और समानता का भाव ग्रहण किया। अतः हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही इसकी ओर आकृष्ट हुये। सूफी कवि जायसी ने भी अपने ग्रन्थ 'पद्मावत' में हिन्दू और मुसलमान दोनों को पात्र बनाया है। इस ग्रन्थ में पैगम्बर मुहम्मद की वन्दना के साथ हिन्दुओं के विवाह, खान-पान, सहयोग, ब्रह्मरन्ध्र तथा सहस्रार आदि का भी विस्तृत उल्लेख है। इस प्रकार सूफी सन्त हिन्दु-मुस्लिम के एकता प्रधान हेतु बन गये। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "हिन्दुओं और मुसलमानों के दिलों को आमने-सामने लाकर उनका अजनबीपन मिटाने वालों में इन्हीं (सूफियों) कवियों का नाम लेना पड़ेगा।"

संक्षेप में कहा जा सकता है कि सूफीमत इस्लाम धर्म से आविर्भूत एक धार्मिक मत है जिसका मूल कुरान में निहित है, परन्तु भारतीय विचारधारा ने इसे अत्यधिक प्रभावित किया। अपनी सरलता, उदारता, और व्यावहारिक दृष्टिकोण के कारण वह भारत में अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। इसमें इस्लाम की कट्टरता नहीं है। जहाँ इस्लाम गैर मुसलमानों के प्रति साम्प्रदायिकता का जहर फैलाता था, वहाँ सूफी मत ने मानव-मानव को निकट लाने का प्रयास किया। इस उदारता के कारण ही सूफीमत हिन्दु-मुस्लिम दोनों पर अपना प्रभाव स्थापित करने में सफल हुआ। यही कारण है कि जहाँ इस्लास केवल मुसलमानों का धर्म बन कर हिन्दुओं की घृणा का पात्र बना, वहीं सूफीमत हिन्दू और मुसलमान दोनों का प्रिय बन गया। आज भी सूफी सन्तों की मजारें और दरगाहें हिन्दु-मुस्लिम दोनों के लिये अगाध आस्था और श्रद्धा का केन्द्र है।

8

भक्ति-आन्दोलन

(Bhakti-Movement)

भक्ति-आन्दोलन

भारतीय संस्कृति के इतिहास में भक्ति-आन्दोलन का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। भक्ति-मार्ग एक लोकप्रिय जन-आन्दोलन था जिसने सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में अपनी अमिट छाप छोड़ी है और भारतीय संस्कृति को अत्यधिक प्रभावित किया। इसकी सबसे महान् देन सार्वभौम मानवता के आधार पर लोक-धर्म और संस्कृति के समस्त सूत्रों को एक करना था। इसने जहाँ एक ओर ब्राह्माडम्बरों, अन्धविश्वासों एवं अज्ञानता का विरोध कर शुद्ध भगवत्-भक्ति पर बल दिया, वहाँ दूसरी ओर पवित्र नैतिक आचरण के विकास एवं हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों में समन्वय स्थापित करने में उल्लेखनीय योगदान दिया। भक्ति-मार्ग के प्रवर्तकों ने जाँति-पाँति और वर्ग-वैशिष्ट्य के भेद-भाव को समाप्त कर सब मनुष्यों को समान घोषित किया और उन्हें प्रेरणा दी कि वे भक्ति और प्रेम की तरंगिणी में स्नान कर शुद्ध और बुद्ध हो सकते हैं। सांस्कृतिक क्षेत्र में तो भक्ति-आन्दोलन का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भक्तिमय वातावरण के कारण समस्त भारतीय भाषाओं में विपुल मात्रा में भक्ति साहित्य का निर्माण हुआ है। भक्ति-मार्ग के संतों और आचार्यों ने अपनी साहित्यिक रचनाओं से हिन्दी साहित्य तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं को विकासोन्मुख किया। वास्तव में हम इस भक्ति-आंदोलन के फलस्वरूप एक अनुपम सांस्कृतिक अभ्युत्थान का दर्शन करते हैं।

भक्ति का अर्थ—भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा की 'भज् सेवायाम्' धातु से हुई। 'भज' धातु का अर्थ है 'शरण में जाना' या 'सेवा'। कालान्तर में वह शब्द प्रेमऔरनिष्ठापूर्वक देव सेवा का पर्याय बन गया। अनेक विद्वानों ने भक्ति शब्द की उत्पत्ति और अभिधान के आधार पर इसे भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं यथा- सेवा आराधना, श्रद्धा, पूजा आदि। व्यापक रूप से भक्ति का अर्थ ईश्वर के चरणों में पूर्णरूपेण आत्म समर्पण कर एकमात्र ईश्वरीय ध्यान में अनुरक्त हो जाना है।

श्रीमद्भागवत में भक्ति की व्याख्या करते हुये कहा गया है कि "उस वृत्ति को भक्ति कहते हैं जिससे सांसारिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करने वाली इन्द्रियों की स्वाभाविक वृत्ति निष्काम भाव से भगवान में लग जाये।" महर्षि नारद ने भक्ति का लक्षण बताते हुए कहा है कि—"ईश्वर के प्रति अटूट श्रद्धा का होना ही वास्तविक भक्ति है।" डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, "भक्ति भगवान के प्रति अनन्यगामी एक प्रेम का ही नाम है।" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ईश्वर के प्रति श्रद्धा और ज्ञान के योग को भक्ति की संज्ञा दी है। इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि भक्ति ईश्वर के प्रति अनन्य श्रद्धा और निष्ठा से की गई वन्दना है। इस वन्दना में श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरण सेवा, पूजा और आराधना आदि सब क्रियायें सम्मिलित है।

भक्ति परम्परा का उद्भव, प्राचीनता और विकास

कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि भारत में भक्ति आंदोलन इस्लाम और ईसाइयत की देन है किन्तु उनकी यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है क्योंकि भक्ति विशुद्ध भारतीय परम्परा है जो ईसाई और इस्लाम धर्मों के जन्म से पूर्व ही भारत में विद्यमान थी। भक्ति प्राचीन भारतीय जन-जीवन का प्राण रही है। आदियुग से लेकर वर्तमान युग तक के साहित्य में भक्ति की एक सुदीर्घ परम्परा का वर्णन मिलता है। डॉ. युसुफ हुसैन का कथन है कि "भारत में भक्ति शब्द अति प्राचीन है क्योंकि यह वहाँ ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी में पाया जाता है। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव भी भक्ति की प्राचीनता का समर्थन करते हैं। डॉ. रामधारी सिंह दिनकर तथा श्री मुंशीराम शर्मा आदि विद्वान भक्ति परम्परा का उद्भव वैदिक कालीन मानते हैं किन्तु डॉ. सत्येन्द्र आदि विद्वान भक्ति को आर्येत्तर तत्व मानते हैं। उनकी मान्यता है कि भक्ति की भावना आर्यों के भारत आगमन से पूर्व ही भारत के 'आर्येत्तर' निवासियों में विद्यमान थी। इसके पक्ष में अनेक प्रमाण भी प्रस्तुत किये जाते है। उनके अनुसार आर्य पूर्व सिन्धु सभ्यता की खुदाई में मूर्तियों आदि के जो अवशेष मिले हैं उनसे इस बात की पुष्टि होती है कि उस युग के धार्मिक जीवन में भक्ति का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था। इस प्रकार भक्ति का उद्भव स्थल सिन्धु का होना नितांत सत्य है। तत्पश्चात आर्येतर जातियों की भक्ति परम्परा को वैदिक आर्यों ने अपनाया।

वैदिक साहित्य समग्र रूप से भक्ति साहित्य ही है। ऋग्वेद और सामवेद में स्थान-स्थान पर इन्द्र, विष्णु, अग्नि आदि देवताओं की भक्ति भावनापूर्ण मन्त्रों से उपासना की गई है। ऋग्वेद तो पूर्णतया भक्ति मन्त्रों से युक्त स्तुति ग्रन्थ है। यजुर्वेद में देवों की आराधना सम्बन्धी क्रियाकाण्डों के विधि-नियम संकलित है। उपनिषदों में भी कहीं-कहीं भक्ति के संकेत मिलते हैं। श्वेताश्वर उपनिषद में भक्ति की महत्ता का वर्णन मिलता है।

वैदिक साहित्य के पश्चात् रामायण, महाभारत तथा गीता आदि ग्रन्थों में भी हमें भक्ति भावना के दर्शन होते हैं। रामायण राम को महापुरुष मानकर उनकी ईश्वरीय आराधना का सन्देश देती है किन्तु रामायण का भक्ति सम्बन्धी उल्लेख स्पष्ट नहीं है। प्राचीन भारतीय साहित्य में भक्ति का स्पष्ट निरूपण सर्व-प्रथम महाभारत तथा गीता में दिखाई देता है। महाभारत के शांतिपर्व और भीष्म पर्व में नारायणीयोपाख्यान का वर्णन है जिसमें भागवत, सात्वत, नारायण और पांचरात्र धर्म का उल्लेख किया गया है। इन चारों धार्मिक सम्प्रदायों में नारायण या वासुदेव की जिस उपासना पद्धति का निरूपण किया गया है वह भक्ति का स्पष्ट स्वरूप है। महाभारत में भागवत धर्म का मूल प्रवर्त्तक नारायण और प्रचारक नारद को बताया गया है। छान्दोग्य उपनिषद में भागवत धर्म का प्रवर्तक वासुदेव कृष्ण को अवतार माना गया है। महाभारत में विष्णु को सर्व शक्तिमान देवता बताकर उसकी उपासना पर बल दिया गया है। भागवत धर्म में कृष्ण को विष्णु का अवतार माना गया है।

महाभारत के अंश गीता में भी भक्ति की महत्ता का महत्वपूर्ण वर्णन मिलता है। यद्यपि गीता में कर्म, ज्ञान और भक्ति की त्रिवेणी प्रवाहित है तथापि भक्ति को ही सर्वोपरि माना गया है। भक्ति योग ही गीता के उपदेश का अमृत फल है। गीता को कर्मयोग का सम्पूर्ण ग्रन्थ कहने वाले बाल गंगाधर तिलक भी गीता के भक्ति तत्व की महत्ता को स्वीकार करते हैं उनकी मान्यता है कि निष्काम कर्म के साथ भक्ति की श्रेष्ठता का ज्ञान भी गीता में होता है। गीता में भगवान श्री कृष्ण अर्जुन को अपना विराट रूप दिखाते हुये कहते हैं कि "हे अर्जुन! यह देव दुलर्भ रूप न वेदों से, न दान से, न तप से, न यज्ञ से देखा जा सकता जैसा कि तुमने देखा है। हे अर्जुन! केवल अनन्य भक्ति से ही मैं इस प्रकार तत्वतः जाना और देखा जा सकता हूँ।" गीता के नवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने भक्ति को सब विद्याओं का सार बताया है। शरणागतिभाव की भक्ति पर बल देत हुये भगवान श्री कृष्ण ने कहा है कि "सब धर्मों का सहारा छोड़कर मेरी शरण में आओ, मेरी पूजा और भक्ति करो, मैं तुम्हारे सब पापों का नाश कर दूँगा।" पाणिनि की अष्टाध्यायी में भागवत के भक्तों का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि गीता के रचनाकाल तक भक्ति आर्य संस्कृति का अंग बन चुकी थी।

भक्ति परम्परा का उत्तरोत्तर विकास होता रहा। सूत्रकाल में भक्ति का महत्व पूर्व की अपेक्षा अधिक हो गया। गीता में जहाँ ज्ञान, कर्म और भक्ति को समकक्ष माना गया है। वहाँ सूत्रकाल में नारद भक्ति सूत्र और शाण्डिल्य भक्ति सूत्र में ज्ञान और कर्म को तुच्छ बताकर भक्ति को विशेष महत्त्व दिया गया। नारद ने भक्ति को साध्य और ज्ञान को भक्ति का साधन मात्र माना है। उनका कहना है कि जिस प्रकार भोजन का ज्ञान प्राप्त कर लेने से भूख नहीं मिटती उसी प्रकार ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेने से मोक्ष नहीं मिलता। मोक्ष प्राप्ति का एक मात्र साधन भक्ति ही

है। नारद ने भक्ति के साधनों में विषय-वासना त्याग, अखण्ड भजन, भगवत गुण भजन, कीर्तन, महापुरुषों की कृपा तथा ईश्वर अनुग्रह को मुख्य साधन माना है।

सूत्र ग्रन्थों में भक्ति का सैद्धान्तिक विवेचन हुआ और पौराणिक साहित्य में उसके व्यवहारिक रूप का विकास हुआ। प्रेम में ईश्वर के साकार रूप और गुण की अपेक्षा होती है। अतः पौराणिक युग में प्रेम और श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये हरिवंश पुराण, वायु पुराण, विष्णु पुराण आदि ग्रन्थों की रचना हुई। जिनमें अवतारों को दैवीय व अलौकिक सौन्दर्य तथा शक्ति का प्रतिरूप माना गया।

जैन और बौद्ध धर्म की लोकप्रियता के कारण भक्ति परम्परा के विकास में कुछ समय के लिये रूकावट आयी किन्तु यह स्थिति शीघ्र ही समाप्त हो गई। चौथी शताब्दी में गुप्त सम्राटों ने पौराणिक धर्म को राज्याश्रय दिया जिससे भक्ति परम्परा के विकास को पुनः गति मिली। सातवीं और आठवीं शताब्दी में जब बौद्ध धर्म अपने अन्तर्निहित दोषों के कारण पतनोन्मुख हुआ तो भक्ति की परम्परा एक बार पुनः अबाध गति से चल पड़ी। इस बीच कुमारिल भट्ट ने कर्म और शंकराचार्य ने ज्ञान के महत्व की स्थापना का प्रयास किया किन्तु वे इसमें असफल रहे। नवीं शताब्दी में भक्ति परम्परा के अनुपमग्रन्थ 'भागवतपुराण' की रचना हुई। भागवतपुराण में कृष्ण और गोपियों के प्रेम की विस्तार से चर्चा है। 12वीं शताब्दी के अन्त में जयदेव ने अपने ग्रन्थ **'गीतगोविन्द'** में कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति का उल्लेख किया है।

दक्षिण भारत में भक्ति—दक्षिण भारत में पांचवीं शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी ई. तक भक्ति की प्रधानता रही। इस काल में भक्ति भावना ने दक्षिण के जनमानस को उद्वेलित कर सम्पूर्ण दक्षिणी प्रदेश को भक्तिमय बना दिया। जिस समय उत्तर भारत के बहुसंख्यक लोग वैदिक धर्म के अनुसरण में व्यस्त थे, उस समय दक्षिण भारत में भक्ति का उदय हो रहा था। वहाँ अनेक वैष्णव और शैव भक्त हुये। वैष्णव सन्त आलवार और शैव भक्त नायनार कहलाते थे। आलवार तमिल भाषा का शब्द है। आलवार का व्युत्पतिलभ्य अर्थ है— **"आध्यात्मज्ञान के समुद्र में गोता लगाने वाला व्यक्ति"**। आलवार शब्द का एक अन्य अर्थ है **"शासन करने वाला"** इसका आशय उस व्यक्ति से है जिसने अपनी भक्ति के कारण अपने भगवान पर प्रेमपूर्ण आधिपत्य प्राप्त कर लिया है। आलवार शब्द सामान्यतया उन 12 वैष्णव भक्तों के लिये प्रयुक्त किया जाता है जिनकी भक्ति सम्बन्धित पदमाला चिरदिव्य **'प्रबन्धम्'** नामक उनके ग्रन्थ में संकलित है। प्रो. कृष्णस्वामी आयंगर के अनुसार ये आलवार सन्त तीसरी शताब्दी ईस्वी से लेकर नवीं शताब्दी के बीच तमिल प्रदेश में हुये थे। ये सन्त बहुधा निम्न वर्ग के थे तथा भगवान की अटूट भक्ति और प्रेम से प्रेरित थे। उनके गीत भगवान की शरणागति भाव से ओत-प्रोत थे। ये सन्त जात-पांत तथा ऊँच नीच के भाव के विरुद्ध सबको भक्ति द्वारा मोक्ष का उपदेश देते थे। उन्होंने भगवान विष्णु की भक्ति और

शरणागति पर विशेष जोर दिया। उनके अनुसार भक्ति का उद्देश्य मोक्ष नहीं वरन् भगवान में एकाकार होना है। इन सन्तों ने भक्ति के विचार को घूम-घूम कर जनसाधारण में फैलाया। उनके नेतृत्व में भक्ति परम्परा ने एक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया था। इन संतों ने तमिल भाषा में अनेक भक्ति भावना पूर्ण पदों की रचना की जिन्हें आचार्य नाथमुनि ने 'प्रबन्धम्' नामक ग्रन्थ में संग्रहित किया यह ग्रन्थ भक्ति, ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य और आनन्द से ओत-प्रोत आध्यात्मज्ञान का अनमोल खजाना है। इस ग्रन्थ को 'तमिलवेद' भी कहा जाता है। यद्यपि आलवार सन्त निम्न जाति के थे परन्तु अपने सद्गुणों और भक्ति के माध्यम से उनकी प्रतिष्ठा इतनी बढ़ गई थी कि इनकी मूर्तियों की स्थापना वैष्णव मन्दिरों में की गई और उनके पद आज भी भक्ति भाव से गाये जाते हैं।

पाराशर भट्ट के अनुसार 12 आलवार सन्तों के नाम ये हैं—(1) पोयगै आलवार (सरोयोगी), (2) भूतत्तालवार (भूत योगी), (3) पेयालवार (महत् योगी), (4) तिरुमड़िसै आलवार (भक्तिसार), (5) नम्मालवार (शठकोपाचार्य), (6) मधुर कवि, (7) कुल शेखर, (8) विष्णु चित् (पेरिय आलवार), (9) गोदा या आण्डाल, (10) तोण्डरडिप्पोलि, (11) तिरुप्न (योग वाहन या मुनि वाहन) (12) तिरूमंगैआ आलवार (नीलन्, परकाल)।

आलवार सन्तों की भक्ति परम्परा के उत्तराधिकारी दक्षिण के अन्य आचार्य हुये। शंकराचार्य ने दक्षिण में वेदान्त के ज्ञान का प्रवर्त्तन किया था परन्तु उनके अद्वैतवाद में भक्ति और प्रेम का कोई स्थान नहीं था। इससे दक्षिण भारत की भक्ति प्रिय जनता को निराशा हुई। अतः वैष्णव आचार्यो ने वेदान्त सूत्र की नई व्याख्या कर भक्ति परम्परा को दार्शनिक आधार प्रदान किया।

इस प्रकार दक्षिण भारत में विकसित होती हुई यह भक्ति परम्परा मध्यकाल में उत्तर भारत में आई और सन्त रामानन्द के हाथों उसका प्रचार हुआ। भागवत पुराण में भी भक्ति की परम्परा की उत्पत्ति दक्षिणी भारत के द्रविड़ देश में बतलाई गई है। भागवत पुराण में भक्ति के मुख से कहलाया गया है—"**मैं द्रविड़ देश में जन्मी, कर्नाटक में विकसित हुई, कुछ समय महाराष्ट्र में रही और गुजरात पहुँच कर मैं जीर्ण हो गयी।**"

उक्त विवरण में इस तथ्य में कोई संदेह नहीं कि भक्ति आन्दोलन की चिनगारी दक्षिण भारत में सुलग रही थी जिसकी प्रज्जवलित लपटें थोड़े समय में सम्पूर्ण भारत में फैल गयी। आलवारों का भक्तिवाद जनसाधारण की चीज थी जो क्रमशः शास्त्र का सहारा पाकर सारे भारतवर्ष में फैल गया।

मध्यकालीन भारत में भक्ति आन्दोलन

-मध्यकाल में भारत की राजनीतिक परिस्थितियों में आधारभूत परिवर्तन हुआ। 712 ई. में मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण से भारत पर मुस्लिम आक्रमण की जो शृंखला प्रारम्भ हुई थी वह उत्तरोत्तर बढ़ती गई 1000 ई. के आरम्भ से 1027 ई. तक मेहमूद गजनवी ने भारत पर सत्रह बार आक्रमण किये। 1192 ई. में मुहम्मद गोरी ने तराइन के द्वितीय युद्ध में पृथ्वीराज चौहान को पराजित कर भारत में मुस्लिम

साम्राज्य की नींव डाली। मुस्लिम आक्रमणकारी इस्लाम धर्म के अनुयायी थे। अतः कई मुस्लिम शासकों और धर्म प्रचारकों ने हिन्दू मन्दिरों को तोड़ना और हिन्दुओं को जबरन मुसलमान बनाना आरम्भ कर दिया। उस युग में हिन्दुओं में प्रचलित कोई भी धार्मिक सम्प्रदाय इन तुर्क शासकों और धर्म प्रचारकों से हिन्दू धर्म की रक्षा में समर्थ नहीं था। इस प्रकार जहाँ एक ओर हिन्दू मुसलमानों के अत्याचारों के शिकार हो रहे थे तो दूसरी ओर हिन्दू धर्म अनेक कुरीतियों, पाखण्डों और आडम्बरों से ग्रसित होकर पतनोन्मुख हो रहा था। अतः उस युग की माँग थी कि हिन्दू धर्म को इन कर्म-काण्डों और पाखण्डों से मुक्त कर जनप्रिय धर्म बनाया जाय। इस प्रकार भक्ति आन्दोलन युग की माँग थी जिससे इन आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती थी। अतः साधारण जनता को हिन्दू धर्म की ओर आकृष्ट करने तथा उसे जनता के जीवन का स्फूर्तिदायक तथा सक्रिय तत्व बनाने के उद्देश्य से हमारे मध्यकालीन धार्मिक विचारकों ने भक्तिमार्ग को अधिक महत्व दिया।

इस्लाम और हिन्दू धर्म के सम्पर्क ने इस आन्दोलन को काफी प्रभावित किया। इस्लाम धर्म सादगी तथा ऐकेश्वरवाद का समर्थक और मूर्ति पूजा तथा जाति-पाँति आदि का विरोधी था। इस्लाम के इस सिद्धान्तों ने हिन्दू विचारकों को जाने अनजाने प्रभावित किया। इस सम्पर्क के परिणामस्वरूप कतिपय ऐसे सम्प्रदायों का उदय हुआ जो हिन्दू-मुस्लिम एकता के समर्थक थे। भक्ति-आन्दोलन के विचारकों ने हिन्दुओं की कर्मकाण्डों और जाति पाँति का विरोध और ऐकेश्वरवाद, भक्ति, पूजा श्रद्धा और विश्वास का समर्थन किया। डॉ. रामगोपाल शर्मा के अनुसार "मध्यकालीन भारत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक देन भक्ति आन्दोलन है। भारत में इस्लाम के आगमन पर हिन्दुओं की बौद्धिक तथा आध्यात्मिक प्रतिक्रिया भक्ति आन्दोलन के रूप में प्रकट हुई। डॉ. युसुफ हुसैन के अनुसार, **"भक्ति आन्दोलन रूढ़िवादी, सामाजिक तथा धार्मिक विचारों के विरूद्ध हृदय की प्रतिक्रिया तथा भावों का उद्गार था।"**

मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन के कारण

डॉ. रामगोपाल शर्मा के अनुसार **"मध्यकालीन भारत की सर्वाधिक महत्व-पूर्ण सांस्कृतिक देन भक्ति आन्दोलन था।"** मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन कुछ क्षेत्रों में अपने पूर्ववर्ती भक्ति आन्दोलन से भिन्न था। मध्यकाल में भक्ति आंदोलन का विकास परिस्थितियों का परिणाम था। किसी भी साहित्य का निर्माण अपने समय की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप होता है। मध्य-कालीन भक्ति आंदोलन के प्रारम्भ में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी थी जिससे प्रभावित होकर काव्य का क्षेत्र बदल गया। मुस्लिम प्रभुत्व के स्थापित हो जाने से वीरगाथा कालीन भावना लुप्त हो गयी और इन भाषा भाषियों एवं विधर्मियों के अत्याचार बढ़ने लगे। इस्लाम के अनुयायी विदेशी आक्रमणकारियों ने भारत में

अपना श्याम झण्डा गाड़कर भाँति-भाँति के रंग दिखाने प्रारम्भ किये जिनसे हिन्दू धर्म तथा संस्कृति भस्मीभूत होने लगी। काव्य को राज दरबार से हटकर विरक्त साधुओं की कुटियाँ में स्थान प्राप्त हुआ। फलस्वरूप आश्रयदाताओं के गुणगान के स्थान पर देश का समस्त वातावरण भगवान के कीर्तिमान से गुंजित हो उठा। इसी कारण कुछ विद्वान भक्ति आंदोलन को इस्लाम की देन मानते हैं। **डॉ. ग्रियर्सन** ने भक्ति आन्दोलन को एकाएक और अप्रत्याशित रूप से उद्भूत माना है। परन्तु यह विचार भ्रान्तिपूर्ण है क्योंकि यह आन्दोलन न तो अप्रत्याशित और एकाएक हुआ था और न ही यह इस्लाम की देन था। वास्तविकता यह थी कि भारत की आध्यात्मिक कविता की परम्परा जो कुछ समय से दब गयी थी। धार्मिक आचार्यों और साधु संतों का सहयोग पाकर पुनः उभर आयी थी। पाश्चात्य विद्वान बार्थ ने ग्रियर्सन के तर्क का खण्डन करते हुए कहा है कि **"भक्ति भावना पूर्ण रूप से भारतीय है।"** रोनार्ड एवं युसुफ महोदय ने भी इसी कथन का समर्थन किया है **"भक्ति का उद्भव तथा विकास पूर्ण रूप से भारतीय परिवेश में होना ध्रुव सत्य है।"** इस सम्बन्ध में डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव का मत है कि **"यह आन्दोलन पूर्ण रूप से नया नहीं था और न ही इसकी उत्पत्ति का मूल कारण इस्लाम था जैसाकि भ्रमवश कुछ आधुनिक लेखकों ने समझ रखा है। वास्तव में हुआ यह कि मूर्ति पूजा के शत्रु मुस्लिम धर्म प्रचारकों की उपस्थिति के कारण जिन्होंने हिन्दू धर्म तथा विचारों का खण्डन किया इस आन्दोलन को अधिक प्रेरणा मिली।"**

जिन कारणों और परिस्थितियों ने भक्ति आन्दोलन के उदय और विकास में योगदान दिया वे निम्नलिखित थे—

(1) **ब्राह्मणवाद का बौद्धिक सिद्धान्त**—उस युग में हिन्दू धर्म के अन्तर्गत ब्राह्मणवाद पूर्णतया बौद्धिक सिद्धान्तों पर आधारित था। उसकी शिक्षायें जन-साधारण की समझ से परे थी। अतः लोगों की भावनाओं की तुष्टि कोरे ब्राह्मण-वाद से नहीं होती थी। इसलिये वे एक सरल और व्यावहारिक धर्म की खोज में थे। इन परिस्थितियों में भक्ति प्रेम मिश्रित भजन के आन्दोलन को अनुकूल वातावरण प्राप्त हो गया। इस सम्बन्ध में **डॉ. युसुफ हुसैन** का कथन है कि **"ब्राह्मणवाद मूल रूप से एक बौद्धिक सिद्धांत बनकर रह गया था, मौलिक सिद्धान्त जिनकी यह वाद शिक्षा देता था अवैयक्तिक और काल्पनिक थे। वे उन लोगों की समझ में नहीं आते थे जो सदैव एक नैतिक और भावयुक्त सिद्धान्त एवं धर्म की खोज में थे, इन्हीं परिस्थितियों में भक्ति प्रेम मिश्रित ईश्वर भजन के आन्दोलन ने एक अनुकूल वातावरण पाया।"**

(2) **हिन्दू धर्म में व्याप्त दोष**—उस युग में हिन्दू धर्म अनेक क्रियाकाण्डों, अन्धविश्वासों, आडम्बरों और पाखण्डों का घर बन गया था। लोग धर्म के वास्त-

विक रूप को भूलते जा रहे थे। धर्म के नाम पर अधर्म का बोलबाला था। वज्रयानियों और कापालिकों की सुरा और सुन्दरी युक्त उपासनाओं से धर्म में अनैतिकता और व्यभिचार बढ़ गया था। फलतः अनेक धार्मिक चिन्तकों ने इन धार्मिक कुरीतियों को समाप्त कर एक सरल, सुबोध और व्यवहारिक धर्म स्थापित करने का निश्चय कर लिया।

(3) **मुस्लिम शासकों के अत्याचार** —बारहवीं शताब्दी में तुर्कों ने भारत में स्थायी रूप से रहना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने उत्तरी भारत को विजय कर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। उन्होंने क्रूरता से हिन्दुओं का वध किया और उनके मन्दिरों, मूर्तियों तथा तीर्थ-स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। फिरोज तुगलक संकीर्ण विचारों का व्यक्ति था। उसने हिन्दू धर्म का दमन और मूर्ति-पूजा का नाश करना ही अपना परम उद्देश्य बना लिया था। उसने ब्राह्मणों पर भी जजिया कर लगा दिया और एक ब्राह्मण को आग में इस कारण जलवा दिया कि उसने मुसलमानों को अपना धर्म छोड़ने के लिए प्रेरित किया था। सिकन्दर लोदी भी धर्मान्ध शासक था। उसने अनेक मन्दिरों का विध्वंस किया, हिन्दुओं को यमुना के घाटों पर स्नान करने की आज्ञा नहीं दी और उन्हें इस्लाम-धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार मुस्लिम शासकों के अत्याचारों के कारण हिन्दुओं में घोर निराशा फैलने लगी। अतः साधु-सन्तों ने निराश हिन्दुओं के हृदय में भगवान् के प्रति प्रेम व आस्था पुनः उत्पन्न करने के लिए भक्ति मार्ग जैसा सरल सिद्धांत प्रस्तुत किया।

(4) **आश्रय की प्रेरणा**—इस युग में मुस्लिम आक्रान्ताओं ने अधिकांश भारत पर आधिपत्य स्थापित कर लिया था। हिन्दू लोग अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता खोकर इस्लामी प्रभुत्व के अधीन हो चुके थे। परतन्त्रता से मुक्त होने का उन्हें कोई मार्ग दिखाई नहीं दे रहा था। जब मनुष्य को मानवीय शक्ति से कोई आशा नहीं रहती तो वह निराश होकर ईश्वर की शरण में जाता है। फलतः इस अन्धकारपूर्ण परिस्थिति में हिन्दुओं को भी ईश्वर की शरण में जाने की प्रेरणा मिली और वे भक्ति मार्ग पर अग्रसर हो गये।

(5) **पराधीनता के विस्मरण का साधन** —कहा गया है कि 'पराधीनता **दुःख महासुख जग में स्वाधीन"** महाकवि तुलसी ने भी कह दिया है कि **"करि विचार देखमुहुँन मांही, पराधीन सपने हुँ सुख नाहीं।"** हिन्दुओं का जीवन भी मुसलमानों की अधीनता में बड़ा विपन्न हो गया था। इस पराधीनता को भूल जाने का एकमात्र उपाय था भगवत् भक्ति, क्योंकि भक्त अपने उपास्य देव की भावना में मस्त रहता है और उस समय वह अपने आपको किसी बादशाह से कम नहीं समझता। इस प्रकार हिन्दुओं का मानस ही भगवत् भक्ति की ओर आकृष्ट होने लगा।

(6) क्रियात्मक शक्ति के नियोजन की आवश्यकता—भारत में मुस्लिम प्रभुत्व के स्थापित हो जाने के उपरांत हिन्दुओं के जीवन में निष्क्रियता आ गई। उनकी उन्नति के द्वार बंद हो गए और उनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नष्ट हो गयी। मनुष्य एक क्रियाशील प्राणी है, निष्क्रियता तो उसके लिए बड़ी दुखदायी एवं अभिशाप स्वरूप है। अतएव इस निष्क्रियता के निवारण के लिए एक नवीन मार्ग खोज निकाला गया, यह नवीन मार्ग भगवत् भक्ति और आत्म चिन्तन का था। इसी में हिन्दुओं ने वहुत बड़ी मात्रा में अपनी शक्ति को लगा दिया।

(7) सामाजिक परिस्थितियाँ—मध्यकाल में हिन्दू धर्म की भाँति हिन्दू समाज भी अनेक कुरीतियों से ग्रसित था। समाज में जाति प्रथा की जटिलता निरंतर बढ़ती जा रही थी। ऊँच-नीच की भावना से समाज का निम्न वर्ग अत्यन्त दुःखी और पीड़ित था। समाज में ब्राह्मणों का प्रभुत्व था जो अपने महत्व को बनाये रखने के लिए अनेक हथकण्डों का प्रयोग करते थे। शूद्रों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। उन्हें सभ्य समाज के समस्त अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। उनका स्पर्श तक वर्जित समझा जाता था। अतः इस ऊँच-नीच की भावना से शूद्र वर्ग में तीव्र असंतोष फैला। फलतः अनेक विचारकों ने समाज में व्याप्त इस बुराई को समाप्त कर नवीन समाज की स्थापना का प्रयत्न किया।

(8) सरल मार्ग की आकांक्षा—उस युग में समाज और धर्म में व्याप्त बुराइयों के कारण जन साधारण एक सरल और सुबोध धर्म का आकांक्षी था। ब्राह्मणवाद तथा शंकराचार्य का अद्वैतवाद सामान्य जन की समझ के बाहर था। अतः जन साधारण ने उनको हृदय से स्वीकार नहीं किया। अतः साधारण जनता के मस्तिष्क को हिन्दू धर्म की ओर आकृष्ट करने तथा उसे जनता के जीवन का एक सक्रिय तथा स्फूर्तिदायक तत्व बनाने के उद्देश्य से हमारे मध्यकालीन विचारकों ने भक्ति को अधिक महत्व दिया। भक्ति मार्ग ब्राह्मणवाद और शंकराचार्य के अद्वैतवाद की अपेक्षा अधिक सरल, व्यावहारिक तथा रूचिकर था, इसलिए जन साधारण ने इसका स्वागत किया।

(9) ईसाई धर्म का प्रभाव—कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने भक्ति आंदोलन के उदय का कारण ईसाई धर्म, का प्रभाव माना है। वेवर के अनुसार "**भक्ति आध्यात्मिक चरम मोक्ष के साधन और उसके लिये** एक शर्त के रूप में एक विदेशी **विचार था जो भारत में ईसाई धर्म के साथ आया और** जिसने पुराणों और महाकाव्य युगीन हिन्दू धर्म पर एक गहरा प्रभाव डाला।" किन्तु वेवर का यह कथन भ्रांतिपूर्ण है क्योंकि भारत में भक्ति की परम्परा ईसाई धर्म के जन्म से पूर्व ही विद्यमान थी। डॉ. युसुफ हुसैन, बर्थ और सेनार्ट ने भारत में भक्ति की परम्परा की प्राचीनता को स्वीकार किया है। यह उल्लेखनीय है मध्यकाल में दक्षिण भारत

में अल्प संख्या में ईसाई अवश्य थे परन्तु भक्ति को इनकी देन मानना न्यायसंगत नहीं है।

(10) सूफी मत का प्रभाव— सूफी संतों ने भी भक्ति आंदोलन के विकास में में योगदान दिया। सूफी मत के उदार सिद्धांतों एवं भावनाओं से प्रेरित होकर कई हिन्दू सूफी संतों के शिष्य बन गये और उनके मार्ग से हिन्दुओं में ईश्वर प्रेम तथा भगवान की भक्ति की भावना प्रचारित करने लगे।

(11) इस्लाम का प्रभाव—कुछ विद्वानों की मान्यता है कि मध्यकालीन भक्ति आंदोलन का प्रादुर्भाव इस्लाम धर्म के प्रभाव से ही हुआ। उनकी मान्यता है कि भक्ति आंदोलन के संतों ने एकेश्वरवाद, मूर्तिपूजा का खण्डन तथा जाति प्रथा का बहिष्कार इस्लाम से प्रेरणा पाकर ही किया। डॉ. ताराचन्द के मतानुसार **"भक्ति मार्ग में शरणागति, एकान्त निष्ठा, जाति प्रथा तथा वर्ण व्यवस्था का विरोध, गुरु को महत्व देना तथा मानवतावादी दृष्टिकोण बहुत कुछ इस्लामी सम्पर्क का परिणाम है।"** इस सम्बन्ध में डॉ. आर. सी. मजमूदार का भी मत है कि **"इस्लाम की प्रजातान्त्रिक और उदार भावनाओं ने भक्ति को विशेष रूप से प्रभावित किया।"** परन्तु यह मत नितांत भ्रांतिपूर्ण है क्योंकि साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि भारत में भक्ति परम्परा अति प्राचीन है। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने इस्लाम के प्रभाव का खण्डन करते हुए कहा है कि **"भक्ति आंदोलन पूर्ण रूप से नया नहीं था और न इसकी उत्पत्ति का मूल कारण इस्लाम था जैसा कि भ्रमवश कुछ आधुनिक लेखकों ने समझ रखा है वास्तव में हुआ यह कि मूर्ति पूजा के शत्रु मुस्लिम धर्म प्रचारकों की उपस्थिति के कारण इस आन्दोलन को अधिक प्रेरणा मिली।"** इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भक्ति आंदोलन के उदय का कारण इस्लाम नहीं था; परंतु इस्लाम के भारत प्रवेश से इस आंदोलन ने व्यापक एवं उग्र रूप अवश्य ग्रहण कर लिया था। डॉ. रामधारी सिंह दिनकर का कथन है कि **"कुछ तो इस्लाम का धक्का खाने से घबराकर और कुछ सूफियों के प्रभाव में आकर हिन्दुत्व जगा और जागकर अपने रूप को सुधारने लगा।"**

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों ने ऐसा वातावरण उपस्थित कर दिया था जिसमें भक्ति आंदोलन प्रस्फुटित होना स्वाभाविक ही था। अति प्राचीनकाल से भक्ति की परम्परा की जो सरिता प्रवाहित हो रही थी वही मध्यकाल में पुनः पूर्ण वेग से बह चली।

भक्ति आन्दोलन के मुख्य सिद्धान्त

यद्यपि भक्ति आंदोलन के विभिन्न धार्मिक चिन्तकों और विचारकों के उपदेशों और विचारों में पूर्ण समानता नहीं है फिर भी उनके विचारों में मौलिक

समानता विद्यमान थी। मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के कुछ सामान्य सिद्धांत निम्नलिखित थे—

(1) ईश्वर की एकता—भक्ति आंदोलन के सभी सुधारक और विचारक इस बात पर एकमत थे कि ईश्वर एक है जिसे लोग राम, विष्णु अल्लाह आदि विभिन्न नामों से पुकारते हैं। नानक, कबीर आदि संतों ने यही उपदेश दिया कि हिन्दुओं के ईश्वर और मुसलमानों के खुदा या अल्लाह एक ही है।

(2) ईश्वर की भक्ति—भक्ति आंदोलन के विचारकों ने ईश्वर भक्ति को सर्वोच्च स्थान दिया। उनकी मान्यता थी कि अनन्य श्रद्धा और स्वार्थ रहित की गई ईश्वर भक्ति मोक्ष प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है।

(3) आत्म समर्पण—भक्ति आंदोलन के संतों ने ईश्वर भक्ति में आत्म-समर्पण का विचार प्रस्तुत किया। उनकी मान्यता थी कि ईश्वर के समक्ष पूर्ण आत्म समर्पण किये बिना ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है। सभी संतों ने यह शिक्षा दी कि मनुष्य को ईश्वर की इच्छा के समक्ष नत मस्तक होकर उसे एकमात्र आश्रय स्वीकार करना चाहिए।

(4) गुरु महिमा—भक्ति आंदोलन के सभी संतों ने गुरु की महत्ता का प्रतिपादन किया है। उनकी मान्यता थी कि गुरु के बिना ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि गुरु ही मनुष्य की सोई हुई आत्मा को जगाकर उसे प्रेम और भक्ति के मार्ग पर चलने को प्रेरित करता है। कबीर ने तो गुरु को ईश्वर से भी अधिक पूजनीय माना है।

(5) नाम महिमा, स्तुति और सत्संग की महिमा—भक्ति मार्ग के सभी संतों ने भक्ति भावना के विकास के लिये भगवान के नाम के स्मरण को अत्यन्त उपयोगी बताया है। उनकी मान्यता थी कि मनुष्य को शुद्ध हृदय से भगवान के नाम की स्तुति करनी चाहिये क्योंकि भगवान के नाम का स्मरण करने से पवित्र भावों का उदय होकर पापों का नाश होता है। यह स्तुति दास और सखा किसी भी रूप में की जा सकती है। भक्ति के लिए सत्संग भी अति आवश्यक माना गया है।

(6) सामाजिक समानता व भ्रातृत्व—भक्ति आंदोलन के सभी विचारक सामाजिक समानता के समर्थक थे। उन्होंने जाति प्रथा और ऊँच-नीच के भेदभावों का विरोध किया। उन्होंने यह सिद्ध किया कि मोक्ष अथवा ईश्वर की प्राप्ति के लिये उच्च जातीय होना आवश्यक नहीं है बल्कि निम्न जाति का भक्तिमय व्यक्ति भी मोक्ष अथवा ईश्वर को प्राप्त कर सकता है।

(7) सद्कर्मों व सद्गुणों के विकास पर बल—भक्ति आंदोलन के सब विचारकों ने मनुष्य को सद्कर्मों और सद्गुणों के विकास के लिये प्रेरित किया। उनकी मान्यता थी कि सांसारिक लोभ, मोह, माया, काम, क्रोध, अहंकार आदि का परित्याग कर पूर्ण श्रद्धा और अनन्य भाव से भक्ति करने वाला मनुष्य ही

ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है। अतः ईश्वर की प्राप्ति के लिये मन, वचन और कर्म की पवित्रता आवश्यक है।

भक्ति आन्दोलन के प्रमुख सन्त—भक्ति आंदोलन कोई नियोजित, सुव्यवस्थित और समयबद्ध आंदोलन नहीं था। यह आंदोलन एक निरन्तर प्रवाहमान सरिता के समान था जिसमें समय-समय पर अनेक धार्मिक विचारक और सुधारक जन्म लेते रहे जिन्होंने भक्ति की भावना को प्रोत्साहित कर धर्म के स्वरूप को परिष्कृत किया। इन सभी सुधारकों के सामूहिक प्रयत्न को समग्र रूप से भक्ति आंदोलन कहा जाता है। मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के प्रमुख सुधारक और विचारक निम्नलिखित थे—

शंकराचार्य—भक्ति आन्दोलन के सर्वप्रथम संत शंकराचार्य थे। ये अद्वैतवादी विचारधारा के पोषक थे। इनकी विचारधारा वेदों और उपनिषदों के विचारों पर आधारित थी। परन्तु इनकी अद्वैतवादी विचारधारा सामान्य जन की समझ से परे थी क्योंकि यह ज्ञान पर आधारित थी। इस विचारधारा में प्रेम और भक्ति भावना का अभाव था। अतः इनके विचार बुद्धिजीवी वर्ग तक ही सीमित रहे।

रामानुज—दक्षिण भारत के वैष्णव आचार्यों में रामानुज का महत्वपूर्ण स्थान है। इनका जन्म सन् 1027ई. में दक्षिण भारत में मद्रास के निकट तेरुकुन्दुर नामक स्थान पर हुआ था। प्रारम्भ में यह शंकराचार्य के अद्वैतवादी विचारों के समर्थक थे किन्तु बाद में यह दक्षिण भारत के आलवार संतों के प्रभाव में आ गये। वे बचपन से ही प्रतिभाशाली थे अतः शीघ्र ही अपनी विद्वता के कारण ये महान वैष्णव आचार्य आलवान्दर की गद्दी के उत्तराधिकारी बन गये। रामानुज वैष्णव सम्प्रदाय के असाधारण प्रतिभा सम्पन्न विद्वान थे। वे सगुण ब्रह्म के उपासक थे। रामानुज ने वैष्णव धर्म में एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया और भक्ति को मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन बताया।

विशिष्ट द्वैतवाद— रामानुज ने अपने शिष्य कुरत्तालवार (कुरेश) के साथ देश के विभिन्न स्थानों की यात्रा कर अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ **'श्रीभाष्य'** की रचना की जिसमें उन्होंने शंकराचार्य के वेदांत का वैष्णव भक्ति परम्परा में समन्वय किया। इस ग्रन्थ में उन्होंने शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन करते हुए विशिष्ट द्वैतवाद का सिद्धांत प्रतिपादित किया। इस सिद्धांत से उन्होंने यह मत प्रतिपादित किया कि जगत, जीव और ब्रह्म एक होते हुए भी एक दूसरे से पृथक हैं और उनका विशिष्ट महत्व है परन्तु भिन्न होते हुए भी उनमें आत्मा और शरीर की तरह विलक्षण एकता है। ईश्वर सृष्टि की सर्वोच्च शक्ति, आत्मा और पुरुषोत्तम है। वह अद्वैत है किन्तु फिर भी प्रकृति और जीव का आधार है। शंकराचार्य के अनुसार

ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या व माया से परिपूर्ण है परन्तु रामानुज ने इस तर्क का खण्डन करते हुए कहा कि जीव जगत से विशेष हैं तथा ब्रह्म विशिष्ट है। जीव, जगत और ईश्वर के विशिष्ट संगठन के कारण ही रामानुज का यह मत **'विशिष्टाद्वैत'** कहलाता है।

प्रपति का सिद्धान्त एवं समाज सुधार—रामानुज महान् दार्शनिक होने के साथ ही एक महान् समाज सुधारक भी थे। वे भारतीय जाति व्यवस्था तथा समाज में ब्राह्मणों के प्रमुत्व और शूद्रों की पीड़ित अवस्था से परिचित थे। इस्लाम की उदारवादी सामाजिक व्यवस्था पददलित शूद्रों को धर्म परिवर्तन तथा स्वतन्त्र वातावरण की ओर आकृष्ट कर रही थी। रामानुज एक ओर तो शूद्रों को गिरी हुई स्थिति से ऊपर उठना चाहते थे तथा दूसरी ओर प्राचीन हिन्दू सामाजिक व्यवस्था को तोड़ने के पक्ष में भी नहीं थे। फलत: उन्होंने एक नवीन मार्ग खोज निकाला जो प्रपति मार्ग कहलाता है।

रामानुज ने समाज के प्रतिष्ठित वर्ग ब्राह्मणों को वेद अध्ययन तथा भक्ति द्वारा मोक्ष का साधन बतलाया किन्तु भक्ति मार्ग भी शूद्रों के लिए निहित नहीं था। अत: शूद्रों के लिए प्रपति मार्ग के सिद्धांत का प्रवर्तन किया गया। प्रपति का अर्थ है भगवान के प्रति पूर्ण आत्म निवेदन। यह सर्वाधिक सरल मार्ग है क्योंकि इसके लिए ज्ञान, विद्याध्ययन या योग किसी की आवश्यकता नहीं होती। गुरु और ईश्वर के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण करके शूद्र मोक्ष की प्राप्ति कर सकते थे। पिल्लई तथा उरंग विलास आदि शूद्रों को अपना शिष्य बनाकर रामानुज से भावी समाज सुधारकों का मार्ग प्रदर्शन किया और वर्ष में एक बार शूद्रों को मन्दिर में ले जाकर उन्हें भगवत् दर्शन का अवसर दिया।

भक्ति आंदोलन के अन्तर्गत समाज सुधार आंदोलन रामानुज की देन है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों को भक्ति के रंगमंच पर एक साथ लाकर उन्होंने हिन्दू समाज की प्रशंसनीय सेवा की। एक ओर प्राचीन हिन्दू व्यवस्था को यथावत रखकर ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया तथा दूसरी ओर भक्ति के क्षेत्र में शूद्रों को भगवत् दर्शन तथा मोक्ष का अधिकार देकर इस्लाम धर्म स्वीकार करने से रोका। रामानुज ने समाज सुधार आंदोलन का जो बीज बोया वह आगे चलकर कबीर, नानक, चैतन्य, राजा राममोहन राय और गाँधीजी के हाथों पल्लवित व फलित हुआ।

माध्वाचार्य—माध्वाचार्य का जन्म 1199 ई. में दक्षिण में 'उडुपी' नामक प्रसिद्ध स्थान पर एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इन्होंने 25 वर्ष की आयु में संन्यास ग्रहण कर लिया था। ये भी रामानुज की भाँति सगुण ब्रह्म और विष्णु के उपासक थे। उनका मत था कि भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। वे अद्वैतवाद की अपेक्षा द्वैतवाद में विश्वास रखते थे जिसके अनुसार जीव और

जगत ब्रह्म से पृथक तत्व है और जीव मोक्ष के लिये परमात्मा के अधीन रहता है। माध्वाचार्य ने गुरु की महत्ता पर भी बल दिया है। समस्त भारत का भ्रमण कर उन्होंने 37 ग्रन्थों की रचना की जिनमें प्रमुख हैं—'ब्रह्मसूत्र भाष्य' 'गीता भाष्य' 'तंत्रसार संग्रह' 'विष्णु तत्व निर्णय' आदि।

निम्बार्क—निम्बार्क रामानुज के समकालीन थे। इनका जन्म मद्रास के बेलारी जिले में निम्बपुर नामक स्थान पर हुआ था। ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनके बचपन का नाम नियमानन्द था। इनके पिता भागवत धर्म के अनुयायी थे। निम्बार्क कृष्ण उपासक भक्तों में से थे। वे कृष्ण की उपासना पर बल देते थे। निम्बार्क द्वैताद्वैतवाद के प्रतिपादक थे। निम्बार्क के मतानुसार ब्रह्म सगुण है और वह जगत की उत्पत्ति, स्थिति और भय का कारण है। वह कर्म के अनुसार प्राणियों को फल देता है। उनके द्वैताद्वैतवाद में जीव तथा ईश्वर व्यवहार में भिन्न है और अभिन्न भी रहता है। उनके अनुसार प्रपति (शरणागति) मोक्ष प्राप्ति का सुगम मार्ग है।

वल्लभाचार्य · वल्लभाचार्य वैष्णव धर्म की कृष्ण भक्ति शाखा के प्रमुख आचार्य थे। इनका जन्म सन् 1479 ई. में तेलगु प्रांत में हुआ था। इनके बुद्धि वैभव के कारण इन्हें सरस्वती का अवतार माना जाता है। उन्होंने कृष्ण को उपास्य देव मानते हुए उन्हें ईश्वर का अवतार बताया है। उनके अनुसार ईश्वर की असीम अनुकम्पा से ही भक्ति उत्पन्न होती है। यह भक्तिमार्ग ही पुष्टिमार्ग कहलाता है। इनके पुष्टिमार्ग में रसिकता का समावेश होने के कारण कालांतर में उसमें अनाचार का प्रवेश हो गया।

वल्लभाचार्य महान दार्शनिक और आध्यात्मिक समाज सुधारक थे। उनका दार्शनिक सिद्धांत 'शुद्धाद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है। उनके अनुसार ब्रह्म माया से अलिप्त है अतः ब्रह्म विशिष्ट है। उन्होंने मायावाद का खण्डन कर अद्वैतवाद की शिक्षा दी। उनके अनुसार भगवान की प्राप्ति का सुगम मार्ग सिर्फ भक्ति है। ज्ञान सिर्फ अक्षर ब्रह्म का परिचय कराता है जबकि भक्ति परब्रह्म व सच्चिदानन्द की प्राप्ति का मार्ग है।

रामानन्द—तेरहवीं शताब्दी का युग भारतीय इतिहास में हिन्दू सभ्यता के अन्धकार का युग माना जाता है। इस अन्धकार युग में महान धर्म और समाज सुधारक रामानन्द उदित हुए। रामानन्द का जन्म सन् 1299 ई. में प्रयाग के एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनकी शिक्षा प्रयाग और वाराणसी में हुई तथा राघवानन्द नामक गुरु से इन्होंने रामानुज के श्रीसम्प्रदाय की दीक्षा ग्रहण की। परतु रामानंद ने विष्णु के स्थान पर मर्यादा 'पुरुषोत्तम श्रीराम को अपना आराध्यदेव बनाया। उस युग में हिन्दू समाज को एक ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जो उनकी वीरता की भावना को प्रोत्साहित कर उन्हें त्याग और बलिदान की

प्रेरणा दे सके इसलिये रामानंद ने मानव रूपी व राक्षसों के संहारक श्री राम की उपासना का प्रतिपादन किया। राम इससे पूर्व ही विष्णु के अवतार के रूप में मान्य हो चुके थे परन्तु राम की भक्ति और उपासना का व्यापक प्रचार रामानंद ने ही किया। डॉ. ए. बी. पाण्डेय के अनुसार "भक्ति की राम शाखा का मूल रामानुज में माना जाता है परंतु इस मत के वास्तविक संस्थापक रामानंद थे।" उन्होंने अपने ग्रन्थ 'आनंद भाष्य' में राम को ब्रह्म का रूप माना है। रामानंद ने ईश्वर की सगुण और निर्गुण दोनों उपासनाओं को मान्यता दी है। उनके अनुयायी 'रामावत' कहलाते हैं।

भक्ति परम्परा को दक्षिण से उत्तर में लाना—मध्य कालीन भक्ति आंदोलन में रामानंद का महत्व इसलिये भी है कि उन्होंने उत्तरी भारत में भक्ति आंदोलन का सूत्रपात किया। दक्षिण भारत में भक्ति की जो परम्परा आलवार संतों तथा वैष्णव आचार्यों द्वारा विकसित हुई थी, रामानंद उसे उत्तर भारत में लाये। इसकी पुष्टि साधु समाज में प्रचलित इस दोहे से भी होती है—

"भक्ति द्राविड़ उपजी, लाये रामानंद
परगट कियो कबीर ने, सात द्वीप नौ खण्ड"

समाज सुधार—रामानंद एक युगांतकारी संत थे अतः उनके नेतृत्व में शीघ्र ही एक क्रांतिकारी धार्मिक और सामाजिक सुधार आंदोलन आरम्भ हुआ। रामानंद उदार विचारधारा के व्यक्ति थे। अतः उन्होंने ब्राह्मण होते हुये भी सामाजिक ऊँच-नीच का खण्डन किया और समाज के निम्न वर्ग के प्रति सहानुभूति प्रकट की। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि ईश्वर के समक्ष सब मनुष्य समान हैं, श्रेष्ठता भक्ति से ही होती है जाति से नहीं। उन्होंने अपने सम्प्रदाय का द्वार सब लोगों के लिए खोल दिया। उनके उदारवादी विचारों ने शूद्रों और निम्न जातियों के लिये भी रामभक्ति के द्वार खोल दिया। इससे शूद्रों और निम्न जातियों में नवीन आशा का संचार हुआ। उनके अनेक शिष्य रैदास, अनतानंद, सुखानंद, कबीर, धन्ना, पीपा आदि निम्न जातियों के थे। इस प्रकार रामानंद ने सर्वप्रथम निम्न वर्ग के लोगों को अपना शिष्य बनाकर भक्ति आंदोलन को नवीन स्फूर्ति प्रदान की।

रामानन्द ईश्वर की प्राप्ति का सबसे सुलभ साधन भक्ति को मानते थे। भक्ति में उन्होंने शरण गति (प्रपति) पर विशेष जोर दिया है। उनके अनुसार मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह पूर्ण आत्म समर्पण करता हुआ ईश्वर की शरण में चला जाये क्योंकि असहाय जीव भगवान की सहायता बिना इस भव सागर को पार नहीं कर सकता।

रामानंद के सुधारों की मुख्य विशेषता उनके द्वारा अपने मत का जन भाषा में किया गया प्रचार है। उन्होंने अपने मत का प्रचार हिन्दी भाषा में किया। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव का मत है कि "रामानंद जन भाषा में शिक्षा देने वाले

प्रथम व्यक्ति थे।" इससे पूर्व रामानुज आदि वैष्णव धर्माचार्यों ने अपने मत का प्रचार संस्कृत भाषा में किया था परंतु रामानंद के हिन्दी में प्रचार के कारण एक तो उनके उपदेशों को जन साधारण ने बड़ी सरलता से समझ लिया और दूसरे हिन्दी साहित्य के विकास को प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार रामानंद ने भक्ति आन्दोलन को जन आन्दोलन बनाने का स्तुत्य प्रयास किया।

रामानंद का व्यक्तित्व दो विचारधाराओं में विभक्त था। एक ओर वे वर्णाश्रम धर्म को मानते थे-दूसरी ओर सभी वर्ग के लोगों से समानता का भाव रखते थे। इस बारे में श्री दिनकर ने लिखा है कि "रामानंद के भीतर प्राचीनता और नवीनता के बीच संघर्ष था। विचारों से वह कठोर वर्णाश्रयी किन्तु आचारों से दयालु सन्त थे।"

उनकी मृत्यु के बाद उनके अनुयायी दो वर्गों में विभाजित हो गये। एक वर्ग में विशिष्ट द्वैतवाद को मानने वाले थे जो वर्णाश्रम धर्म और वेदों को मानते थे। इस वर्ग में तुलसीदास औरनाभादास आदि संत थे। दूसरे वर्ग में वे भक्त थे जो धार्मिक आडम्बरों, परम्पराओं और वर्णाश्रम धर्म के विरोधी थे इस वर्ग में कबीर दादू आदि संत हुये। डॉ. ताराचंद के अनुसार "रामानंद के उपदेशों ने धार्मिक विचारधारा के दो सम्प्रदायों को जन्म दिया—एक अनुदार और दूसरा उदार। इस प्रकार रामानंद ने जहां एक ओर अपने ग्रन्थ आनंद भाष्य में शूद्रों को वेदाध्ययन से वंचित किया वही दूसरी ओर व्यवहार में निम्न वर्ग के लोगों को अपना शिष्य बनाया।" **डॉ. ताराचन्द** ने रामानन्द का मूल्यांकन करते हुए कहा कि **"रामानन्द निरन्तर प्रवाहित पर्वतीय जल स्रोत के समान थे, जिसमें मधुर सुख के रूप में जल बुदबुदा रहा था, जो सांसारिक दुःख से संतृप्त हृदय की तृष्णा को शान्त करने में समर्थ था। निसन्देह रामानन्द ने मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद दुःख संतप्त हिन्दू समाज की तृष्णा को शांत किया।"**

चैतन्य महाप्रभु—जिस समय रामानंद उत्तरी भारत में भक्ति का प्रचार कर रहे थे। उस समय में बंगाल में प्रसिद्ध वैष्णव संत चैतन्य महाप्रभु का जन्म हुआ। इनका जन्म सन् 1485 ई. में बंगाल के नादिया नगर में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। प्रसिद्ध वैष्णव संत ईश्वरपुरी के प्रभाव से इन्होंने 25 वर्ष की आयु में संन्यास धारण कर लिया और 6 वर्ष तक स्थान-स्थान पर घूमकर अपनी प्रेममयी भक्ति का प्रचार करते रहे। शेष जीवन उन्होंने पुरी में व्यतीत किया।

चैतन्य भगवान कृष्ण के अनन्य भक्त थे। वे विष्णु के कृष्णावतार के उपासक थे और कृष्ण भक्ति को वे मोक्ष का साधन मानते थे। वे पुरोहितों के बाह्य आडम्बरों के घोर विरोधी थे। उन्होंने कीर्तन द्वारा राधाकृष्ण की भक्ति का प्रचार किया। भक्ति काल के अन्य संतों की भांति वे भी जाति-पाँति के घोर विरोधी थे। प्रेम भक्ति का प्रचार करने के लिये भेजते समय वे अपने शिष्यों को उपदेश देते थे।

"चाण्डालों तक प्रत्येक मनुष्य को कृष्ण भक्ति का उपदेश करो और भक्ति और प्रेम का पाठ सभी को पक्षपात रहित होकर पढ़ाओ।"

चैतन्य का वेदान्त सिद्धांत भेदाभेदवाद पर आधारित है। इसके अनुसार भक्ति से ही जीवात्मा परब्रह्म को प्राप्त कर सकती है। कृष्ण को प्रेमी मानकर उसकी लीलाओं में विभोर हो जाना ही जीवात्मा की सर्वोच्च अवस्था है। उनके अनुसार मोक्ष परम पुरुषार्थ नहीं है अपितु कृष्ण को पिता, स्वामी, मित्र तथा अनन्त प्रेमी के रूप में भजना ही मानव जीवन का परम लक्ष्य है। चैतन्य ने कृष्ण की मूर्ति की पूजा, धूप लगाना, पंखा करना आदि को भक्ति का साधन बताया है।

इस प्रकार चैतन्य ने भक्ति आंदोलन के प्रसार में **प्रशंसनीय** योगदान दिया। उनके भक्तिपूर्ण जीवन का 'चैतन्य चरितामृत' में विस्तृत वर्णन मिलता है।

नामदेव—नामदेव का जन्म सन् 1270 ई. में महाराष्ट्र के एक दर्जी परिवार में हुआ था। वे महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत थे जिन्होंने वहाँ भक्ति की धारा प्रवाहित की। प्रारम्भ में नामदेव सगुणोपासक थे किन्तु बाद में संत ज्ञानदेव के सम्पर्क में आने के कारण वे निर्गुण ब्रह्म को मानने लगे थे। संत नामदेव सरल हृदय व्यक्ति थे। उनकी भावुकता का परिचय उनकी पंक्तियों में सर्वत्र मिलता है। परमात्मा ही सर्वज्ञ है, वह सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है, उसी के प्रति एकनिष्ठ होकर रहना चाहिए, यही उनका मार्ग था। कबीर भी संत नामदेव को एक आदर्श भक्त मानते थे। उनकी अधिकांश कृतियाँ मराठी भाषा में है। उन्होंने भक्ति मार्ग का समर्थन किया क्योंकि मोक्ष का एक मात्र यही साधन है। वे प्रार्थना, भ्रमण, तीर्थयात्रा सत्संग तथा गुरु की सेवा पर विशेष जोर देते थे। समाज सुधार में उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी था।

कबीर—मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के संतों में कबीर का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कबीर एक कवि, संत और समाज सुधारक थे। कबीर का आविर्भाव भक्ति काल की महत्वपूर्ण घटना है। तत्कालीन परिस्थितियों में कबीर का आविर्भाव उस युग का वरदान सिद्ध हुआ। कबीर का जन्म सन् 1425 ई. में एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ था। लोकलज्जा के भय से उसने नवजात शिशु को वाराणसी में एक तालाब के समीप छोड़ दिया जिसे संयोग से नीरु और नीमा नामक मुस्लिम जुलाहा दम्पत्ति ने उठा लिया और उनका पुत्रवत पालन पोषण किया। इस प्रकार कबीर के जीवन में हिन्दू और मुस्लिम दोनों के जीवन का संयोग था। अतः क्या आश्चर्य है कि कबीर हिन्दू-मुस्लिम एकता के समर्थक बने। कबीर की पत्नी का नाम लोई और पुत्र-पुत्री का नाम कमाल और कमाली था। कबीर निरक्षर थे। उन्हें रामानंद का शिष्य माना जाता है। उन पर रामानंद के विचारों की स्पष्ट छाप है। साथ ही सूफीवाद, भारतीय अद्वैतवाद आदि दार्शनिक सिद्धांतों से भी वे प्रभावित थे। निरक्षर होने के बावजूद कबीर को जीवन और जगत का पर्याप्त अनुभव था

और इसी अनुभव के आधार पर कबीर ने विभिन्न विषयों पर अपनी लेखनी चलाई ।

कबीर हिन्दू-मुस्लिम एकता के समर्थक और निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। उन्होंने सम्पूर्ण जीवन भर हिन्दुओं और मुसलमानों की कुरीतियों और आडम्बरों के विरुद्ध आवाज उठाई। उन्होंने जाति-पाँति और ऊँच-नीच के भेद-भावों की कटु आलोचना की और ईश्वर की एकता पर बल दिया।

हिन्दू-मुस्लिम एकता—कबीर हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने जीवन भर हिन्दू-मुस्लिमों के बीच गहरी खाई को पाटने का प्रयत्न किया। हिन्दुत्व और इस्लाम में आधारभूत एकता और समन्वय का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने कहा है—

"भाई रे दुई जगदीश कहाँ ते आया, कहु कौन बोराया
अल्लाह, राम करीमा केशव, हरि हजरत नाम धराया"

× × × × ×

वही महादेव वही मुहम्मद, ब्रह्मा आदम कहिये।
को हिन्दू को तुरक कहावे, एक जमीं पे रहिये॥

कबीर के युग में परस्पर धर्मों, संस्कृतियों एवं सभ्यताओं का संघर्ष था। कबीर हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच समानता का प्रतिपादन करके उन्हें एकता के सूत्र में आबद्ध करना चाहते थे। उनका यह समन्वयवादी दृष्टिकोण सापेक्ष नहीं निरपेक्ष था। कबीर ने राम और रहीम को एक ही मानकर दोनों जातियों को समीप लाने का प्रयत्न किया।

"हिन्दू कहे मोह राम पियारा, तुरक कहे रहिमाना
आपस में दोनों लरिलरि मुये, मरम न कोऊ जाना"

धार्मिक कट्टरता के प्रति विद्रोह—कबीर ने साम्प्रदायिकता का मूल हिन्दुओं के मन्दिर और मुसलमानों की मस्जिद में देखा। इन दोनों धर्मों की कट्टरता को उन्होंने खुले आम ललकारा। मुसलमानों को उन्होंने निम्न शब्दों में आड़े हाथों लिया—

'कांकर पत्थर जोरि के, मस्जिद लेई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय॥'

दूसरी ओर हिन्दुओं को भी उन्होंने नहीं बक्शा—

पाहन पूजे हरि मिले, तो मैं पूजूँ पहार।
ताते ये चाकी भली, पीस खाय संसार॥

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर की इस व्यंगात्मक शैली को लक्ष्य करके कहा है कि "आज तक हिन्दी में ऐसा जबरदस्त व्यंग लेखक पैदा ही नहीं हुआ।"

बाह्य आडम्बरों की कटु आलोचना—कबीर ने जहाँ हिन्दू-मुस्लिम धार्मिक कट्टरता का विरोध किया, वहीं दोनों धर्मों के थोथे बाह्य आडम्बरों पर भी कसकर प्रहार किया। दिन भर रोजा रखने वाले मुसलमानों पर प्रहार करते हुए उन्होंने कहा है कि—

"दिनभर रोजा रहत है, रात हनता है गाय।
यह खून, वह बन्दगी, कैसे खुशी खुदाय॥

दूसरी ओर माला फेरने वाले पण्डितों को, आड़े हाथों लेते हुए कहा है—

माला फेरत जुग गया, गया न मनका फेर।
कर का मनका छाँडिकर, मनका मनका फेर॥

× × × ×

मूँड मुंडाये हरि मिले, सब कोई लेई मुंडाय।
बार-बार के मुण्डन से भेड़ न बैकुण्ठ जाय॥

जाति प्रथा का विरोध—कबीर जाति प्रथा के घोर विरोधी थे। वे सब मनुष्यों को एक ही ईश्वर की संतान मानकर जाति प्रथा, ऊँच-नीच, छुआ-छूत आदि का विरोध करते थे। उनका कहना था कि जब काली और सफेद गाय के दूध में कोई अन्तर नहीं होता तो फिर एक ही ईश्वर की सृष्टि के जीवों में क्या अन्तर है? अतः उन्होंने जाति प्रथा के विरोध में अनेक उक्तियाँ कही है—"एक जाति में सब उत्पन्न, का बामन क्या शूद्रा" इसी प्रकार—

"जो तू बामन बमनी जाया।
आन बार है क्यों नहीं आया॥

कबीर ने जाति के स्थान पर मनुष्य के कर्म को महत्व दिया है। अपने को ऊँचा मानने वाले ब्राह्मणों और मौलवियों पर कटाक्ष करते हुए उन्होंने कहा है—

हिन्दू करे अपनी बड़ाई, गागर छुअन न देई।
बेस्वा के पायनतर सोवे, यह देखो हिन्दुआई॥

इसी प्रकार मुसलमानों के लिये—

मुसलमानों के पीर औलिया, मुर्गी मुर्गा खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहे घर में करे सगाई॥

कबीर के इन विचारों के कारण ही डॉ. त्रिगुणायत ने लिखा है कि "कबीर ने सामाजिक क्षेत्र में साम्यवाद की प्रतिष्ठा की।"

कबीर का आध्यात्म—ब्रह्म और आत्मा की एकता—कबीर एक व्यवहारिक संत थे। उनका धर्म और दर्शन गूढ़ रहस्यों से रहित और विलक्षण है। उन्होंने ब्रह्म और आत्मा की एकता को स्वीकार करते हुये कहा है—

लाली मेरे लाल की, जित देखूं तितलाल।
लाली देखन को गई, हो गई मैं भी लाल॥

× × × × ×

जल में कुम्भ , कुम्भ में जल , बाहर भीतर पानी ।
फूट कुम्भ जल जल ही समान, यह तत्व कह्यो ग्यानी ।।

निर्गुण ब्रह्म के उपासक—कबीर ने अपने गुरु रामानन्द से राम का गुरु मंत्र पाया था किन्तु उन्होंने अपने विचारों में राम सम्बन्धी धारणा बदल डाली । उनके राम न तो दशरथ के पुत्र थे और न विष्णु के अवतार । वह अजन्मा, अविनाशी और अमर ब्रह्म था जिसे हिन्दू राम और मुसलमान रहीम मानते थे । उन्होंने अपने पद्य द्वारा इस तथ्य की पुष्टि की है—

दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना ।
राम नाम का मरम है आना ।।

× × × × ×

निराकार निज रूप है, प्रेम प्रीति सेव

इस प्रकार कबीर निर्गुण ब्रह्म की भक्ति के उपासक थे । कबीर ने निर्गुण भक्ति की उपासना की जो धारा भारत में बहायी उसमें किसी प्रकार के आडम्बर और धार्मिक क्रिया कलापों का महत्व नहीं था । उसमें मन्दिर, मस्जिद रहित ईश्वर आराधना पर बल दिया गया है ।

गुरु की महिमा—कबीर ने अपनी भक्ति में गुरु को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया है । कबीर की दृष्टि में गुरु ईश्वर से भी महान है । वह मानव की मुक्ति का मुख्य स्रोत है । गुरु की महत्ता के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है—

"कबीरा ते नर अन्ध है, गुरू को कहते और ।
हरि रूठे गुरू ठौर है, गुरू रूठे नहीं ठौर ।।

× × × × × ×

गुरू गोविन्द दोउ खड़े, काके लागू पाय ।
बलिहारी गुरु आपनो, गोबिन्द दियो बताय ।।

इस प्रकार कबीर ने धर्म के बाह्य आडम्बरों और कर्मकाण्डों तथा समाज में फैली जाति-पाँति और ऊँच-नीच की भावनाओं का विरोध किया । उनकी दृष्टि में ईश्वर के प्रति प्रेम, शुद्ध आचरण और व शुद्ध विचार, सब जीवों के प्रति प्रेम और भ्रातृत्व का व्यवहार अधिक महत्वपूर्ण है ।

मध्ययुगीन भक्ति मार्गी संतों व समाज सुधारकों में कबीर का नाम अग्रगण्य है । वे मात्र एक भक्त ही नहीं वरन् एक युगसृष्टा, समाज और धर्म सुधारक तथा महान उच्च गुणों से सम्पन्न महामानव थे । उन्होंने तत्कालीन समाज में व्याप्त बुराइयों पर कटाक्ष कर उन्हें दूर करने का प्रयास किया । उनके भक्ति मार्ग ने इस्लाम की प्रचण्ड आँधी से उखड़ने वाले पैरों को जमाने में हिन्दू धर्म को शक्ति और सामर्थ्य प्रदान किया । उन्होंने साम्प्रदायिकता के विषधर सर्प के एक-एक फन पर

नाचकर उसे शक्तिहीन कर दिया। अतः समाज, धर्म और दर्शन के क्षेत्र में की गई उनकी मूल्यवान एवं अविस्मरणीय सेवाओं के लिये समाज उनका सदैव ऋणी रहेगा। इतिहासकार बर्कले ने कबीर के सम्बन्ध में कहा कि—**"सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में नवीन चेतना का स्वर फूँकने वालों में कबीर का नाम सर्वप्रथम है।"**

गुरु नानक—गुरु नानक का जन्म सन् 1469 ई. में पंजाब में रावी नदी के किनारे तलवण्डी (आधुनिक ननकाना) में एक साधारण खत्री परिवार में हुआ था। बाल्यकाल से ही उनमें अपूर्व साधुवृत्ति थी। वे जन्मजात बैरागी, भक्त और ज्ञानी पुरुष थे। वे प्रारम्भ से ही गम्भीर विषयों के चिन्तन में लीन रहते थे। शिक्षा प्राप्त कर इन्होंने नौकरी स्वीकार करली। 29 वर्ष की आयु में गृहस्थ जीवन बिताते हुए वे भक्ति की ओर आकृष्ट हुए और घर त्याग दिया। उन्होंने सारे भारत का भ्रमण किया और सिक्ख मत की स्थापना की।

नानक ने धार्मिक और सामाजिक विचारों की पृष्ठभूमि रामानंद और कबीर पहले ही तैयार कर चुके थे। कबीर ने हिन्दू मुसलमानों की आलोचना कर उन्हें नाराज कर दिया था अतः नानक ने अब आलोचना के स्थान पर प्रेम और सहानुभूति के द्वारा दोनों सम्प्रदायों के मध्य सामंजस्य का मार्ग दिखाया।

नानक कबीर की तरह निर्गुण उपासना के समर्थक थे। उनका ईश्वर अकालीक, अजन्मा, अविनाशी और स्वयंभू है। वे एकेश्वरवाद के समर्थक थे। उनके अनुसार सारे संसार का ईश्वर एक है, भेद मानवकृत हैं। ईश्वर की प्राप्ति भक्ति द्वारा सम्भव है। उनकी भक्ति में तिलक, माला, जप, प्रतिमा पूजन आदि विधि विधान नहीं थे। पूर्ण श्रद्धा, विश्वास एवं प्रेम के साथ एकनिष्ठ भक्ति भावना ही नानक की भक्ति का मूलतंत्र है।

नानक जाति प्रथा एवं ऊँच-नीच की भावना के विरोधी थे। उनके अनुसार कर्म से ही मनुष्य श्रेष्ठ और निम्न बनता है जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं होता। ईश्वर का प्रकाश सब में है। उसके यहाँ कोई विभेद नहीं है। ईश्वर एक है उसके नाम भिन्न-भिन्न हो सकते हैं अतः नामों की भिन्नता व्यर्थ है। अतः उन्होंने कहा है—

> दूकदू जीभउ लख होय, लख होय लख वीस।
> लख लख गेडा आखिये, एकनाम जगदीश॥

नानक ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को अपना शिष्य बनाया। वे हिन्दू और मुसलमानों की एकता पर बल देते थे। वे उन्हें एक ही ईश्वर की संतान मानते थे—

> बन्दे इक्का खुदाय दे हिन्दू मुसलमान।
> दावा राम रसूल कर, लड़डे बेईमान॥

नानक ने हिन्दू और मुसलमानों की आलोचना करते हुए अनेक व्रतों, रोजों, संन्यास आदि को व्यर्थ बताया है। उनके अनुसार क्षमाशीलता, उदारता, नम्रता, समन्वय, सदाचार और सत्य ही धर्म का मूलमंत्र है।

नानक ने गुरू की महत्ता भी स्वीकार की है उनके अनुसार गुरु के बिना मोक्ष असम्भव है। गुरू हमारा मार्ग दर्शक है। मनुष्य गुरू के सहयोग से ही सांसारिकता को त्याग कर आध्यात्मिक जीवन की ओर अग्रसर होता है। नानक हिन्दूओं के पुनर्जन्म के विश्वास को भी स्वीकार करते हैं। स्पष्ट है कि नानक मध्य मार्ग के समर्थक थे। नानक ने बुद्ध की भाँति जीवन की पवित्रता पर बल दिया। उनके अनुसार ईश्वर में विश्वास करके, सत्कर्मों तथा गुरु के मार्ग पर चलकर प्रत्येक व्यक्ति मुक्ति पा सकता हैं। नानक ने बिना सम्प्रदाय के अपने आपको बाह्य आडम्बरों से मुक्त रख कर सच्ची भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया।

तुलसीदास—हिन्दूओं के अत्यन्त पवित्र धार्मिक महाकाव्य **"रामचरित मानस"** की रचना करने वाले महान् सन्त तुलसीदास का जन्म सन् 1532 में बांदा जिले के राजापुर नामक ग्राम में हुआ था। सन्त तुलसीदास अकबर के समकालीन थे। 'रामचरितमानस' का हिन्दू समाज में महान् सम्मान है। यह वेदों की तरह प्रामाणिक ग्रन्थ की तरह पूजा जाता है। महाकाव्य रामचरितमानस हिन्दी में रचित है। इसके माध्यम से सन्त तुलसीदासजी ने गीता व उपनिषदों में वर्णित हिन्दू धर्म की गूढ़ बातों को सरल भाषा में जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत किया है। इसमें ज्ञान और भक्ति का, वैराग्य तथा गार्हस्थ का और भक्ति व मुक्ति का अद्भुत समन्वय है। सन्त तुलसीदास ने **रामचरितमानस** में समन्वय का महान् आदर्श प्रस्तुत किया है।

सन्त तुलसीदास ने भक्ति-सम्प्रदाय में भी योगदान दिया। उनके आराध्य देव भगवान राम थे और वे चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति राम की भक्ति करें। तुलसी सगुण भक्ति के समर्थक थे परन्तु तत्कालीन प्रचलित निर्गुण भक्ति की भी वे अवहेलना न कर सके। तत्कालीन हिन्दू समाज में व्याप्त बुराइयों के निराकरण के लिए ही उन्होंने 'रामचरितमानस' की रचना की थी। भगवान राम के चरित्र को एक मर्यादित तथा आदर्श नायक के रूप में चित्रित कर उन्होंने व्यवस्थित समाज को मर्यादा पालने पर जोर दिया। हिन्दू समाज के आदर्श तथा हिन्दूओं की समस्त धार्मिक विचारधाराओं का रामचरितमानस में समावेश है। समस्त भारतीय गृहस्थों के लिए भगवान राम का आदर्श जीवन प्रेरणा स्रोत है। भगवान राम की भक्ति रखकर व्यक्ति गृहस्थ जीवन में भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

दादू—निर्गुणोपासक सन्तों में दादू का नाम भी उल्लेखनीय है। इनका जन्म यद्यपि अहमदाबाद में हुआ था किन्तु अपने जीवन का अधिकांश समय उन्होंने जयपुर के निकट नरायणा में व्यतीत किया था। प्रारम्भ से ही ये भक्ति भावना से प्रभावित होकर तीर्थयात्रा, सत्संग, चिन्तन, मनन एवं साधनाओं में लगे रहते थे। उनकी नम्रता,

क्षमाशीलता एवं कोमल हृदयता के कारण उन्हें दादू दयाल कहा जाता था । दादू सूफी विचारधारा से प्रभावित थे । उन्होंने एकेश्वरवाद का समर्थन करते हुए हिन्दू मुस्लिम समन्वय की चेष्टा की और महात्मा कबीर की भांति सामाजिक कुरीतियों एवं धर्म के वाह्य आडम्बरों का खण्डन किया । जीवन में कभी भी वे कबीर को न भूल सके और पद-पद में कबीर का उदाहरण देकर साधना पद्धति का निर्देश देते रहे । उन्होंने सदा विभिन्न सम्प्रदायों के मध्य प्रेम और भाईचारे की भावना बढ़ाने पर जोर दिया । उनका पंथ 'दादू पन्थ' कहलाया ।

रैदास – रैदासजी का जन्म वाराणसी के एक चमार परिवारमें हुआ था । ये रामानंद के शिष्यों में से थे । माता-पिता द्वारा निष्कासित रैदास जी जूते बनाकर जीविकोपार्जन करते थे । आगे चलकर वे बहुत बड़े महात्मा हुए । मीरांबाई ने भी इन्हें अपना गुरू स्वीकार किया था । उनकी रचनाओं में उनकी सरल हृदयता तथा गूढ़ भगवत् प्रेम की भावना पायी जाती है । उनका आत्म निवेदन सुन्दर, स्पष्ट तथा हृदयग्राही है । भक्ति भावना तो प्रेम रंग से अनुप्राणित है । एकांत निष्ठा, सात्विक जीवन, विश्व प्रेम, दृढ़ विश्वास और आत्म समर्पण के भाव उनकी रचनाओं की विशेषता है ।

मीरांबाई—भक्ति आंदोलन के क्षेत्र में स्त्रियों की भूमिका भी महत्वपूर्ण है । इनमें मेवाड़ की सिसोदिया प्रदेश की रानी मीरांबाई का स्थान अग्रगण्य है । मीरां बाई राजा रतनसिंह की पुत्री और मेवाड़ के महाराणा सांगा की पुत्रवधू थी । अपने पति राजा भोजराज के साथ उनका गृहस्थ जीवन बहुत ही दुःखद था । धीरे-धीरे कृष्ण के प्रति मीरां की भक्ति भावना बढ़ने लगी । विधवा हो जाने के उपरांत तो मीरां कृष्ण भक्ति में मग्न हो लोक लाज सब खो बैठी । उन्होंने संन्यास ले लिया और कृष्ण के प्रति समर्पित हो गयी । उनके कृष्ण भक्ति के गीत अनन्य प्रेम एवं शरणागति भाव को लिए हुये हैं । वे कृष्ण को अपना प्रियतम मानकर उनकी उपासना करती थी—

"मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई ।"

उनके भक्तिमय गीतों में निहित विरह वेदना हृदयस्पर्शी है । आज भी गिरधर गोपाल की प्रशंसा में गाये गये मीरांबाई के भजन लोकप्रिय हैं ।

मध्ययुगीन संतों के उपर्युक्त परिचय से यह स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में उनकी सेवाएँ महत्वपूर्ण है । मुसलमानों के शासनकाल में देश में एक ऐसा समय आया जिसमें एक नयी स्फूर्ति, आत्मविश्वास तथा आशा के संचार की आवश्यकता थी और इन संतों ने यह सब कुछ दिया । इनकी भक्ति मूलक रचनाएँ साहित्य की ऐसी निधि है जो आज भी प्रेरणा की स्रोत हैं ।

भक्ति आन्दोलन की प्रमुख विशेषताएँ

भक्ति आंदोलन के सभी संतों में समान विशेषताएँ मिलती हैं। भक्ति मार्गी संतों की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित थी—

1. मूर्ति पूजा व आडम्बरों का खंडन—भक्ति मार्ग के सभी संतों ने भारतीय धर्म में चली आ रही मूर्तिपूजा का खण्डन किया। प्रायः सभी संतों ने धर्म के बाह्य आचार तथा आडम्बरों का खण्डन किया और शुद्ध आचरण तथा विचारों की पवित्रता पर विशेष बल दिया। मूर्तिपूजा के विरोध में कबीर ने कहा 'पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजूं पहार' अर्थात् मूर्ति पूजा व्यर्थ है। भक्तिमार्गी सन्तों ने मोक्ष प्राप्ति के लिए ईश्वर की प्रेमपूर्वक शरणागति को सर्वोत्तम साधन माना है।

2. ईश्वर की एकता—अधिकांश संतों ने ईश्वर की एकता पर बल दिया। यद्यपि उनमें कोई निर्गुण ब्रह्म का उपासक था तो कोई सगुण ईश्वर का। सगुण भक्तों के आराध्य देव राम थे तो किसी के कृष्ण परन्तु सभी संतों ने विश्व को संचालित करने वाली किसी सर्वशक्तिमान ईश्वर की सत्ता पर विश्वास किया है। एकेश्वरवाद संतों का मूल मन्त्र था। सगुण व निर्गुण सभी उपासकों में प्रचुर धार्मिक सहिष्णुता विद्यमान थी।

3. समानता पर बल—भक्तिकालीन संतों ने जाँत-पाँत और ऊँच-नीच के भेदभाव का खण्डन किया तथा मध्यकाल में फैली सामाजिक विषमता के स्थान पर समता पर बल दिया। संतों ने निम्न जाति के लोगों को अपने सम्प्रदाय में दीक्षित किया। स्वामी रामानन्द का कहा यह कथन भक्ति आन्दोलन का लोकप्रिय नारा था—

जाति-पाँति पूछे नहीं कोई।
हरि को भजे सो हरि को होई॥

4. हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल—भक्तिमार्गी सन्त कबीर, नानक, दादू आदि सन्तों ने हिन्दू-मुसलमानों के बीच की भेद की खाई को पाटने का प्रयास किया। उनकी मान्यता थी कि समाज में तभी शान्ति और सम्पन्नता स्थापित हो सकती है जब यह धार्मिक खाई न हो। उन्होंने हिन्दुत्व और इस्लाम की मूलभूत एकता पर बल दिया। वस्तुतः भक्ति आंदोलन न केवल हिन्दू-मुस्लिम एकता वरन् विश्व-बन्धुत्व की भावना से प्रेरित था।

5. असाम्प्रदायिकता—भक्तिकालीन अधिकांश संत असाम्प्रदायिक थे। वे किसी भी सम्प्रदाय के कट्टर अनुयायी न थे। उन्होंने साधना और चिन्तन की स्वतन्त्रता के द्वारा आध्यात्मिक विकास किया था।

6. लोकभाषा का प्रयोग—भक्तिमार्गी संतों ने बुद्ध की तरह अपने विचारों व आदर्शों का साधारण बोलचाल की भाषा में प्रचार किया। कबीर, नानक, मीरा,

नामदेव आदि सन्तों ने स्थानीय भाषा में प्रचार किया ताकि जनसाधारण उनके आदर्शों व विचारों को आसानी से हृदयंगम कर सके।

7. **जन आन्दोलन**—भक्ति आंदोलन एक जन आंदोलन था। बौद्ध धर्म व जैन धर्म की भाँति इन संतों को राज्याश्रय प्राप्त नहीं था। भक्ति आंदोलन के अधिकांश संत निम्न वर्गों से उत्पन्न लोग थे। इन संतों ने भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्ति का संदेश सभी निम्न से निम्नतम् वर्गों तक पहुँचाया।

8. **कर्मकाण्ड विरोधी**—भक्ति आंदोलन के संत कर्मकाण्ड, आडम्बर व संन्यास जैसी प्रवृत्तियों से प्राय: दूर ही थे। उन्होंने चरित्र व आचरण की पवित्रता, गुरु का आदर तथा सच्ची भक्ति को ही मुक्ति का मार्ग माना था। गृहस्थ जीवन बिताने वाले लोगों को इन्हीं आचरणों व भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्ति का साधन बताया। कबीर, नानक, रैदास आदि सन्तों ने सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुएँ ही भक्ति-साधना की थी।

भक्ति आन्दोलन का महत्व और प्रभाव—भक्ति आंदोलन मध्यकालीन भारतीय इतिहास की एक क्रांतिकारी घटना थी। जिस समय भारत की शस्य श्यामल भूमि विधर्मियों के तीक्ष्ण पंजों से आतंकित थी, हिन्दू धर्म और संस्कृति के लिये खतरे की घण्टी बज रही थी और प्रत्येक हिन्दू अपने को पदाक्रांत एवं निराशा में महसूस कर रहा था उस समय भक्ति आंदोलन के प्रादुर्भाव ने भारतीयों में नवजीवन एवं नवआशा का संचार किया और वे इस्लाम के आक्रामक तेवर से अपनी रक्षा करने के लिये अंगड़ाई लेकर उठ खड़े हुये। भक्ति आंदोलन ने मानों उन्हें दृढ़ आलम्बन प्रदान किया जिससे वह अपनी संस्कृति की रक्षा में सफल हो सकें।

भक्ति आंदोलन एक जन आंदोलन था, शीघ्र ही इसके द्वारा फैलायी गई चेतना की लहर ने देश की सारी जनता के मानस को स्पर्श किया। भक्ति मार्गी संतों ने अपनी शिक्षाओं और अपने उदार सिद्धांतों से मानव समाज का जो कल्याण किया वह अविस्मरणीय है। इस आंदोलन ने धर्म के वाह्य आडम्बरों तथा कर्म काण्डों पर तीक्ष्ण प्रहार किया जिससे शीघ्र ही हिन्दू धर्म इनसे मुक्त होने लगा। जन साधारण का दृष्टिकोण व्यापक हो गया, वे धर्म के पवित्र रूप को समझने लगे और व्यर्थ के कर्मकाण्ड तथा पूजापाठ कम होने लगे। **डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव** का कथन है कि "**भक्ति आन्दोलन** व्यापक था **और सारे देश में इसका प्रचार हुआ।** यह एक जनसाधारण **का आन्दोलन** था और **इसके कारण उनमें एक गम्भीर** जागृति उत्पन्न हुई। **बौद्ध धर्म के पतन के उपरान्त भारत में इतना** व्यापक **और** लोकप्रिय अन्य **कोई आन्दोलन नहीं हुआ था।**" एक अन्य विद्वान ने भक्ति आन्दोलन के महत्व के बारे में कहा है कि "**इस आन्दोलन का मूल्य और** महत्व इस बात में है कि इसने मनुष्य की हृदयगत भावनाओं **को पहचानते** हुये उनको जगाने का एक सफल प्रयत्न धार्मिक तथा नैतिक आधारों पर लिया।"

इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप हिन्दू धर्म के बाह्य आडम्बरों तथा कर्मकाण्डों को भारी धक्का लगा। हिन्दू धर्म के प्रचलित रूप में सुधार किये गये जिससे हिन्दू धर्म में एक नवीन जागरूकता आई जिससे लोगों का दृष्टिकोण व्यापक हुआ।

भक्ति आंदोलन के परिणामस्वरूप मोक्ष के एक मात्र साधन के रूप में भक्ति की प्रतिष्ठा हुई। भारत के धार्मिक चिंतन में यह भक्ति आंदोलन की महान एवं स्थायी देन थी।

भक्ति आंदोलन के परिणामस्वरूप भक्ति मार्गी संतों के नामों पर कई धार्मिक सम्प्रदायों की स्थापना हुई, जो आज तक जीवित हैं, यथा कबीर पंथ, सिक्ख सम्प्रदाय, दादू पंथ आदि।

भक्ति आंदोलन ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था को भी मूल रूप से प्रभावित किया। यद्यपि सदियों से चली आ रही परम्परागत जाति प्रथा पूर्णतया समाप्त तो न हो सकी तथापि भक्ति मार्गी संतों की करारी चोट से वह चरमरा गयी और अंतिम श्वांसे लेने लगी। समाज के निम्न एवं पददलित व्यक्ति जो समानता का दर्जा पाने हेतु इस्लाम का स्वागत करने के लिये तत्पर थे पुनः हिन्दू धर्म में प्रविष्ट होने लगे। उन्हें भक्ति आंदोलन ने नवज्योति प्रदान की जिसके प्रकाश में वे आगे बढ़े। कुछ संत तो स्वयं निम्न जाति के थे यथा—कबीर, रैदास आदि। इनकेसिद्धान्तोंसे झूठे जातियाभिमान की भावना क्षीण हुई और व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा हुई।

भक्ति आंदोलन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान हिन्दू-मुस्लिम धर्मों को एक रंगमंच पर लाना था। भक्ति मार्गी सभी संतों ने अपने 'जीवनपर्यन्त' इन दोनों धर्मों में पारस्परिक एकता और सौहार्द की स्थापना के लिये प्रयत्न किया। यद्यपि मुस्लिम यह तो स्वीकार नहीं कर सके कि ईश्वर और अल्लाह एक ही हैं तथापि उनकी घृणा एवं द्वेष कम हो गया तथा परस्पर सहयोग की भावना में वृद्धि हुई। भक्ति आंदोलन ने धार्मिक उदारता एवं सहिष्णुता की जो पृष्ठभूमि तैयार की उसी पर आगे चलकर अकबर ने अपना राष्ट्रीय शासन का ढांचा खड़ा किया और आज यही भावना शासकों का मार्ग दर्शन कर रही है।

भक्ति आंदोलन की साहित्यिक देन तो और भी मूल्यवान एवं महत्वपूर्ण है। भक्ति आंदोलन ने देश की क्षेत्रीय भाषाओं के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया। सन्तों ने जनसाधारण की भाषा में अपने उपदेश दिये। भक्ति मार्गी संतों ने अमूल्य साहित्य की रचना कर देश व समाज की महान सेवा की। सूर एवं तुलसी हिन्दी साहित्य गगन के सूर्य एवं चंद्र हैं। उनका काव्य अजस्त्र प्रेरणा का स्रोत है। रामानंद, कबीर, जायसी, तुलसी, दादू, सूरदास और अष्ट छाप कवियों ने हिन्दी भाषा में अपनी भक्ति रस से ओतप्रोत रचनाएं कीं। ब्रज, अवधि और खड़ी बोली इन तीनों ही भाषाओं में साहित्यिक रचनाएँ की गयी। चैतन्य और चण्डीदास ने

बंगला साहित्य को समृद्ध बनाया और विद्यापति ने मैथिली को पुनर्जीवित किया। महाराष्ट्र के नामदेव, तुकाराम, ज्ञानदेव, रामदास आदि ने मराठी साहित्य के विकास में योगदान किया तो गुरु नानक ने पंजाबी साहित्य को सम्पन्न बनाया। मीराँबाई के भजनों से राजस्थानी एवं नरसी मेहता के साहित्य से गुजराती साहित्य को प्रोत्साहन मिला। प्रान्तीय भाषाओं के अतिरिक्त भक्ति आन्दोलन ने संस्कृत साहित्य के विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। दक्षिण के वैष्णव आचार्यों ने भक्ति के दर्शन पर संस्कृत में अनेक सुन्दर भाष्य एवं टीकाएं लिखीं। उत्तरी भारत में जयदेव ने संस्कृत में कोमल कान्त पदावली में कृष्ण चरित्र पर 'गीत गोविन्द' नामक काव्य लिखा। सूफी कवियों ने भी साहित्य को अभूतपूर्व अभिवृद्धि की। डॉ: ए. एल. श्रीवास्तव का कथन है कि **"प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य के उत्कर्ष का मुख्य श्रेय भक्ति आन्दोलन को ही है। यह आधुनिक भाषाओं के विकास के इतिहास में स्वर्ण युग सिद्ध हुआ।"**

संक्षेप में भक्ति आन्दोलन ने विभिन्न क्षेत्रों में अपनी अमिट छाप छोड़ी। निराश हिन्दू जनता में नवजीवन का संचार कर उसे हर क्षेत्र में सक्षम बनाया। सामाजिक कुरीतियों एवं धार्मिक अन्धविश्वासों तथा जटिलताओं पर प्रहार करके हिन्दू धर्म का जो शुद्धिकरण भक्त सन्तों ने किया, वह निश्चय ही अविस्मरणीय है। भक्ति आन्दोलन ने हिन्दू धर्म एवं हिन्दू समाज की महान सेवा की।

9

साहित्यिक परम्परा-बाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसीदास एवं रविन्द्रनाथ टैगोर

(Literary Heritage–Balmiki, Vyas, Kalidas, Tulsidas and Tagore)

महान् धार्मिक परम्पराओं के समान भारत के पास उच्चकोटि की साहित्यिक परम्परा भी विद्यमान है और यह परम्परा अति प्राचीनकाल से ही प्रारम्भ हो गयी थी। जिस समय संसार के अन्य किसी देश में साहित्य और संस्कृति को आकार भी नहीं मिला था उस समय भारतवर्ष में महान् साहित्यिक ग्रन्थों का प्रणयन हो चुका था। अतः प्राचीन भारतीय ग्रन्थ न केवल भारतीयों की अपितु विश्व की एक मूल्यवान धरोहर हैं और यह हर भारतीय के लिये गौरव की वस्तु है। उस समय जो साहित्य रचा गया, आज तक ऐसा सर्वगुण सम्पन्न साहित्य विश्व के प्राचीन इतिहास में प्राप्त नहीं हुआ।

साहित्य समाज का दर्पण है। समाज के सुख और दुःख, एवं उसकी उन्नति-अवनति को तत्कालीन साहित्य में ही देखा जा सकता है। किसी देश की प्रगति का प्रमाण वहाँ का उन्नत साहित्य ही है। अतः हमारे देश की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति की सच्ची तस्वीर भी उस समय के हमारे सुविशाल और समृद्ध साहित्य में दृष्टिगोचर होती है। हम अपने देश के सांस्कृतिक विकास के विभिन्न युगों की प्रवृत्तियों को भली प्रकार तभी समझ सकते हैं जब हम उस युग के प्रतिनिधि महाकवियों की रचनाओं का सांस्कृतिक अध्ययन करें। प्रस्तुत अध्याय में हमारा विषय क्षेत्र बालमीकि, व्यास, कालिदास, तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ टैगोर तक सीमित है, जो तत्कालीन सांस्कृतिक उत्कर्ष को हमारे सामने समग्र रूप में दर्शाते हैं।

बाल्मीकि

महर्षि बाल्मीकि भारत के महान् धार्मिक आदिकाव्य रामायण के रचनाकार हैं। रामायण इस भूतल का प्रथम काव्य माना जाता है जिसका लक्ष्य इक्ष्वाकुवंशी कोशल नरेश दशरथ नन्दन राम के उदार चरित्र का आदर्श जनमानस के समक्ष प्रस्तुत करना था।

जीवन चरित—प्राचीन भारतीय साहित्यकारों व मनीषियों ने अतुल साहित्य के पृष्ठों में अपने जीवन-चरित्र को छिपा रखा है। यही कारण हैकि हमें अधिकांश प्राचीन साहित्यकारों की जीवनी का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं होता। बाल्मीकि के जीवन के सम्बन्ध में भी हमें कोई प्रामाणिक और ऐतिहासिक जानकारी नहीं मिलती यद्यपि महाभारत और स्कन्द पुराण तथा अग्निपुराण में उनके जीवन से सम्बन्धित अनेक किवदन्तियां प्राप्त होती हैं। किन्तु महाभारत और पुराण काफी बाद के युग की रचनायें हैं अतः इनके वर्णन को पूर्ण रूप से विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। महाभारत और स्कन्दपुराण में रामकथा के रचयिता को भार्गव कुल का ब्राह्मण कहा गया है। स्कन्दपुराण के एक आख्यान के अनुसार बाल्मीकि अपने दो जन्मान्तर पूर्व वत्स गोत्रिय ब्राह्मण थे किन्तु दुष्ट कर्मों के कारण इन्हें अगले जन्म में किरात योनि मिली। इस किरात योनि में ऋषि शंख के सत्संग के कारण ये अगले जन्म में पुनः ब्राह्मण वर्ण में उत्पन्न हुये किन्तु पूर्व जन्म के प्राक्तन संस्कारों के कारण वे कुछ समय किरातों के कार्य चोरी डकैती में संलग्न रहे। कहा जाता है कि एक बार उन्होंने कुछ ऋषियों को लूटने के उद्देश्य से रोक लिया था। तब इन ऋषियों ने बाल्मीकि को उपदेश देते हुये कहा कि **"हे व्याध जिन कुटुम्बियों के लिये तुम नित्य यह कर्म कर पाप संचय कर रहे हो क्या वे तुम्हारे इस पाप में भागीदार होंगे ?"** इस पर बाल्मीकि ने अपने कुटुम्बियों से ऋषियों का यही प्रश्न पूछा, किन्तु सबने इसका नकारात्मक उत्तर देते हुये कहा कि **"हमारा पालन करना तुम्हारा धर्म (कर्त्तव्य) है। अतः इस धर्म पालन में तुम जो पाप संचय करते हो उसमें हमारी भागीदारी नहीं है। तुम्हारे पापों का फल तुम्हें ही मिलेगा।"** यह सुनकर बाल्मीकि को वैराग्य उत्पन्न हो गया और वे ऋषियों की आज्ञानुसार अपने पाप कर्मो के प्रायश्चित के लिये **'मरामरा'** (राम का उल्टा रूप) कहते हुये तपस्या में लीन हो गये। अनवरत तपस्या में निश्चल रहने के कारण उनके शरीर पर एक बांम्बी (बाल्मीक) बन गई। बाद में ऋषियों ने इन्हें तपस्या समाप्त कर बाल्मीक से बाहर आने को कहा और कहा कि बांम्बी में तपस्या करने के उपरांत तुम्हारा नया जन्म हुआ है अतः आज के बाद तुम बाल्मीकि के नाम से जाने जाओगे। स्कंदपुराण के अनुसार इनका पूर्व नाम अग्निशर्मा(अग्निशर्मन्) था किन्तु कुछ पुराणों में इनका पूर्व नाम च्यवन बताया गया है। बाल्मीकि रामायण में बाल्मीकि ने स्वयं को प्रचेता का पुत्र बताया है। मनुस्मृति में प्रचेता को वशिष्ठ, नारद आदि कवियों को भाई बताया गया है।

ऋषि वाल्मीकि के कवि रूप में उद्‌भव की भी एक आख्यायिका हमारी परम्परा में विद्यमान हैं। इसके अनुसार एक बार बाल्मीकि भारद्वाज ऋषि के साथ तमसा नदी के किनारे भ्रमण कर रहे थे। उसी समय उन्होंने वहाँ एक व्याध (शिकारी) को क्रौंच पक्षी के युगल में से एक पर बाण प्रहार करते देखा। बाण से क्रौंच पक्षी मर गया और क्रौंची करुण स्वर में आर्तनाद करने लगी। इस करुण दृश्य को देखकर महर्षि के हृदय में करुणा का नैसर्गिक स्रोत फूट पड़ा और उनके मुँह से शाप के रूप में काव्य की वेगवती धारा प्रवाहित हो गई। उन्होंने व्याध को शाप देते हुये कहा—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंच मिथुना देकमवधीः काम मोहितम् ।।

अर्थात् "हे निषाद ! तुमने काम से मोहित इस क्रौंच पक्षियों के जोड़े में से एक को मारा है। अतः तुम अनन्तकाल तक प्रतिष्ठा न पाओगे।"

कवि का यह शाप श्लोक में परिणित हो गया। इसी श्लोक के साथ संस्कृत वाग्धारा और लौकिक संस्कृत काव्य की गरिमा संतृप्त हुई। कहा जाता है उसी समय ब्रह्मा वहां प्रकट हुये और बोले "महर्षि आप आद्य कवि हैं। अब आपके प्रातिभ चक्षु का उन्मेष हुआ है। यह श्लोक अनन्तकाल तक आपकी कीर्ति का कारण होगा। अब आप इसी छन्द से राम के चरित्र को काव्य के रूप में बांधिये।" इसके बाद वाल्मीकि ने 24,000 श्लोकों से युक्त रामायण काव्य की रचना की। कालिदास, भवभूति तथा आनन्द वर्धन आदि ने भी इस घटना की ओर संकेत किया है।

बाल्मीकि को रामायण की रचना करने की प्रेरणा के सम्बन्ध में उल्लेख रामायण के बालकाण्ड में भी हुआ है जिसमें महर्षि बाल्मीकि तपस्वी और स्वाध्याय में रत विद्वान श्रेष्ठ मुनि नारदजी से पूछते हैं कि "हे मुनिवर इस संसार में ऐसा कौन सा महापुरुष है जो गुणवान, धर्मज्ञ, सत्यवक्ता, दृढ़ प्रतिज्ञ, सदाचार युक्त, सर्व प्राणियों का हित साधन, क्रोध विजयी, कान्तिवान और किसी की निन्दा नहीं करने वाला है।" वाल्मीकि का यह प्रश्न सुनकर नारद संक्षिप्त में उन्हें रामचरित्र का वर्णन करते हैं। कहा जाता है इसी को श्लोकवद्ध करके बाल्मीकि ने रामायण महाकाव्य की रचना की थी।

रामायण के प्रक्षिप्त अंश—वर्तमान युग में प्राप्त रामायण में 24,000 श्लोक, 645 सर्ग और सात काण्ड हैं–1. बाल काण्ड, 2. अयोध्या काण्ड, 3. अरण्य काण्ड, 4. किष्किन्धा काण्ड, 5. सुन्दर काण्ड, 6. लंका काण्ड, 7. उत्तर काण्ड।

अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि मूल रामायण में अयोध्या काण्ड से लेकर लंका काण्ड तक केवल पांच ही काण्ड थे। दो काण्ड, बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड उसमें बाद में जोड़े गये प्रतीत होते हैं क्योंकि उनकी रचना शैली अन्य पांच काण्डोंसे भिन्न प्रतीत होती है। इन दो काण्डों की कथावस्तु भी अन्य काण्डों से भिन्न है। वाल्मीकि रामायण के पाँच मूल काण्डों में जहाँ कथा नायक राम को एक महापुरुष के रूप में चित्रित किया गया है, वहाँ बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में राम को विष्णु का अवतार मानकर उन्हें अलौकिक गुण युक्त दिव्य पुरुष बताया गया है। इन आधारों पर याकोबी आदि विद्वानों ने बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड को रामायण का प्रक्षिप्त अंश अर्थात् बाद में जोड़ा गया माना है। आधुनिक काल में भारत और भारत के बाहर रामायण की 2,000 हस्त लिखित प्रतियाँ प्राप्त होती हैं।

इन संस्करणों को विद्वानों ने चार भागों में विभाजित किया है—

1. देवनागरी या दाक्षिणात्य संस्करण—यह 'निर्णयसागर' बम्बई से प्रकाशित हुआ है। उत्तरी और दक्षिण भारत में इस संस्करण का विशेष प्रचलन है।

2. बंगाली या गौडीय संस्करण—यह कलकत्ता से प्रकाशित है। इस पर लोकनाथ और डॉ. गोरेशिया ने उपयोगी टिप्पणियाँ लिखी है।

3. कश्मीरी या पश्चिमोत्तरीय संस्करण—यह डी. ए. वी. कॉलेज, लाहौर द्वारा प्रकाशित है। इसका उत्तरी पश्चिमी भारत में अधिक प्रचलन है **4. उदिच्य पाठ**

रामायण के इन चारों संस्करणों में अत्यधिक पाठभेद हैं। परस्पर श्लोकों में ही नहीं अपितु सर्गों में काफी अन्तर है। इन सभी संस्करण में मूल रामायण के 24,000 श्लोकों के 1/4 अर्थात् 6,000 श्लोक ही समान रूप में मिलते हैं।

इन विभिन्नताओं का कारण यह है कि भारत में सदियों से रामायण का प्रचार-प्रसार होता रहा है। लिपिबद्ध होने के पूर्व रामायण लम्बे समय तक श्रुति परम्परा या मौखिक रूप में प्रचलित रही। अतः इस युग में इसके गायक कवियों द्वार इसे जनसामान्य की मनोवृत्ति के अनुरूप बनाने की प्रवृत्ति के कारण इसमें पाठ परिवर्तन होना अवश्म्भावी था। इस सम्बन्ध में याकोबी का कथन है कि **"काव्य कौशल युक्त** गायक **लोकप्रिय अंशों को बढ़ाते रहे और आदि ग्रन्थ का कलेवर परिवर्तित करते रहे।'**

रामायण का रचना काल—रामायण की रचना काल के सम्बन्ध में विद्वानों से पर्याप्त मतभेद है। परम्परा के अनुसार रामायण की रचना श्री रामचन्द्र के समकालीन लेखक वाल्मीकि ने की थी। यह वाल्मीकि वही थे जिनके आश्रम में

निर्वासित सीता ने आश्रय लिया था। परम्परा के अनुसार वाल्मीकि द्वारा रामायण की रचना के बाद भी रामायण मौखिक रूप में ही रही और लव कुश इस काव्य को कण्ठस्थ कर वर्षों तक उसे गाते रहे। किन्तु अन्त में बाल्मीकि ने ही उसे लिपिबद्ध किया। परन्तु पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि रामायण के रचियता तो वाल्मीकि ही थे किन्तु वे राम के समकालीन नहीं थे क्योंकि वाल्मीकि के राम के समकालीन होने का उल्लेख रामायण के उत्तरकाण्ड में किया गया है जो कि बाद में जोड़ा गया या प्रक्षिप्त अंश है। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि राम कथा का आविर्भाव इक्ष्वाकु वंश द्वारा शासित कौशल देश में हुआ। वाल्मीकि के पूर्व यह रामकथा तात्कालीन समाज में लोक कथाओं के रूप से अनेक रूपों में प्रचलित थी। बाल्मीकि ने उन्हीं कथाओं के छन्दोबद्ध रूप देकर रामायण की रचना की। अधिकांश विद्वान रामायण का रचना काल 600 ई. पू. का मानते हैं। इस कथन के पक्ष में उन्होंने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं—

1. संस्कृत भाषा के इतिहास की दृष्टि से रामायण उत्तर वैदिक काल के बाद की रचना प्रतीत होती है। संस्कृत साहित्य के इतिहास में प्राचीन संस्कृत साहित्य को दो भागों में बांटा गया है—वैदिक साहित्य और लौकिक साहित्य। साहित्य के इतिहास में लौकिक साहित्य का उदय उत्तर वैदिक काल के बाद का माना गया है। कतिपय विद्वानों ने भाषागत आधार पर रामायण का रचना काल निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। रामायण के आर्ष प्रयोग पाणिनि की व्याकरण सम्मत नहीं है। अतः यदि इस ग्रन्थ की रचना पाणिनि के बाद हुई होती तो यह सम्भव था कि वाल्मीकि पाणिनि के व्याकरण नियमों की उपेक्षा नहीं करते। अतः रामायण निश्चय ही पाणिनि से प्राचीन ग्रन्थ रहा होगा। पाणिनि का काल 500 ई. पू. माना जाता है।

2. जिस प्रदेश में रामायण का सृजन हुआ था, बुद्ध और अशोक के समय उस प्रदेश की जनभाषा प्राकृत थी। अतः वाल्मीकि उस समय से काफी पूर्व हुये होंगे जब उस प्रदेश की जनभाषा संस्कृत रही होगी।

3. रामायण का रचनाकाल महाभारत के पूर्व का है। महाभारत में वन पर्व में रामकथा और रामायण के पात्रों का उल्लेख मिलता है तथा राम से सम्बन्धित स्थलों को तीर्थ के रूप में मान्यता दी गई जबकि इसके विपरीत रामायण में महाभारत के लेखक, पात्रों तथा कथाओं आदि का उल्लेख नहीं मिलता है। इसके अतिरिक्त रामायण में जिस भौगोलिक स्थिति व प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन किया है वे भी महाभारत की तुलना में अत्यन्त सीमित है। इससे स्पष्ट है कि रामायण की रचना महाभारत के पूर्व हो चुकी थी।

4. बौद्ध और जैन ग्रन्थों में समान भाव से रामकथा का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। बौद्ध ग्रन्थ **'कल्पनामंडलिता'** तथा **'बुद्धचरित'** (दोनों प्रथम शताब्दी ईस्वी) में रामायण का उल्लेख मिलता है। बौद्धग्रंथ दशरथ जातक तो पूर्णतया रामायण का आख्यान है। जैन कवि विमलसूरि ने रामायण को आदर्श मानकर **'पवृम चरित'** की रचना की थी जबकि रामायण में गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी तथा उस काल की संस्कृति का उल्लेख कहीं भी नहीं है। इससे स्पष्ट है कि रामायण की रचना जैन और बौद्ध धर्म के उदय से पूर्व अर्थात 600 ई. पू. हो चुकी थी।

5. रामायण में कौशल की राजधानी को अयोध्या कहा गया है जबकि बुद्ध और उसके बाद इस नगर का प्रचलित नाम साकेत हो गया था। अतः रामायण निश्चय ही बुद्ध के पूर्व की रचना है।

6. रामायण में पाटलिपुत्र का उल्लेख नहीं है जबकि राम उस प्रदेश से गुजरे थे। पाटलिपुत्र की स्थापना 400 ई. पू. में हुई थी। अतः निश्चय ही यह घटना रामायण के रचना काल के बाद की है।

7. रामायण में अंग को स्वतन्त्र राज्य के रूप में बताया गया है जबकि ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुसार अजातशत्रु ने अंग राज्य पर अधिकार कर उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया था। अतः रामायण का रचना काल अजातशत्रु के पूर्व अर्थात् 600 ई. पू. रहा होगा।

8. रामायण में वर्णित राजनीतिक व्यवस्था में छोटे-छोटे राज्यों का उल्लेख किया गया है जबकि बुद्ध के काल में शक्तिशाली राज्य स्थापित होने लगे थे। अतः रामायण की यह व्यवस्था बुद्ध पूर्व की ही हो सकती है।

9. रामायण में मिथिला और विशाला का दो पृथक स्वतन्त्र राज्यों के रूप में उल्लेख है जबकि बुद्ध के समय वह दोनों राज्य स्वतन्त्र न रहकर वैशाली में सम्मिलित हो गये थे। अतः रामायण को बुद्ध से प्राचीन होना चाहिये।

10. रामायण में भारत के दक्षिणी प्रदेश को अरण्यानी और असभ्य बताया गया है। अतः दक्षिण भारत को आर्य बनाने के पूर्व ही रामायण की रचना हुई होगी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वाल्मीकि रामायण की रचना वैदिक काल के पश्चात् और बौद्ध काल के पूर्व अर्थात् 600 ई.पू. हो चुकी थी। यही समय वाल्मीकि का भी था। सम्भव है इसके प्रक्षिप्त अंश 200 ई. पू. में इसमें सम्मिलित किये गये हों। पाश्चात्य विद्वान विन्टरनित्स और जैकोबी ने भी इसी मत का समर्थन किया है।

रामायण की कथा वस्तु—रामायण शब्द **'राम'** और **'अयण'** दो शब्दों से मिलकर बना है जिसका अर्थ है राम की प्राप्ति या राम का प्रत्यागमन। रामायण

में कोशल देश के इक्ष्वाकु वंशी राजा दशरथ और उनके पुत्र की यशोगाथा का वर्णन है। अयोध्या कोशल राज्य की राजधानी थी। राजा दशरथ के तीन रानियां और चार पुत्र थे जिनमें सबसे बड़ी रानी कौशल्या के पुत्र राम थे। दूसरी रानी सुमित्रा के दो पुत्र—लक्ष्मण और शत्रुघ्न तथा तीसरी रानी कैकयी थी जिनके पुत्र भरत थे। राम का विवाह मिथिला के राजा जनक की पुत्री सीता से हुआ था। वृद्धावस्था में दशरथ अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को कौशल का शासक बनाना चाहते थे किन्तु रानी कैकयी ने इसका विरोध किया और उन्होंने राजा दशरथ से दो वर मांगें। प्रथम अपने पुत्र भरत के लिये राज्य और राम के लिए 14 वर्ष का वनवास। राम एक आज्ञाकारी पुत्र की भाँति अपनी पत्नी सीता और छोटे भाई लक्ष्मण के साथ वन को चले गये। राजा दशरथ ने पुत्र वियोग में प्राण त्याग दिये। जब कैकयी के पुत्र भरत को इस घटना का ज्ञान हुआ तो उन्होंने राजपद ग्रहण नहीं किया और राम को वापस लाने वन में गये किन्तु काफी अनुनय विनय के बाद भी राम वापस नहीं लौटे तो वे उनकी चरण पादुकायें लेकर अयोध्या लौट आये और राम के नाम से शासन करने लगे। उधर वनों में अनेक कष्टों को सहते हुये राम, लक्ष्मण और सीता दक्षिण में विन्ध्याचल पर्वत तक पहुँच गये और वहीं रहने लगे। वहाँ लंका के अनार्य शासक रावण का आतंक था। एक दिन राम और लक्ष्मण की अनुपस्थिति में रावण सीता का अपहरणकर लंका ले गया। राम हनुमान और सुग्रीव और वानर सेना की सहायता से लंकाधिपति रावण पर चढ़ाई करके पृथ्वी पर भार स्वरूप सभी राक्षसों का नाश करके सीता को मुक्त कराते हैं। 14 वर्ष के बाद राम, लक्ष्मण और सीता अयोध्या लौट आते हैं। अयोध्या में वे सम्पूर्ण राजसी सुखों का उपभोग करते हैं परन्तु सीता की पवित्रता सम्बन्धी लोक निन्दा के कारण वे गर्भवती सीता का परित्याग कर देते हैं जो बाल्मीकि ऋषि के आश्रम में रहने लगती है जहाँ वे लव और कुश दो जुड़वाँ पुत्रों को जन्म देती हैं। राम के द्वारा अश्वमेध यज्ञ किये जाने पर लव और कुश अश्वमेध के अश्व को पकड़ लेते हैं। इसके परिणामस्वरूप राम की सेना और लव-कुश के मध्य भीषण संग्राम होता है। अन्त में राम अपने पुत्रों को पहचान कर उन्हें स्वीकार कर लेते हैं और सीता अपनी पतिव्रत सिद्ध करने के लिये भूमि में प्रवेश कर जाती है।

आदिकाव्य—हमारे प्राचीन विशालकाय संस्कृत साहित्य को दो भागों में विभाजित किया गया है—(1) वैदिक संस्कृत, (2) लौकिक संस्कृत साहित्य। इस दूसरे प्रकार के साहित्य में बाल्मीकि कृत रामायण इस वर्ग का सर्वप्रथम ग्रन्थ माना जाता है इसी कारण इस ग्रन्थ को आदिकाव्य और बाल्मीकि को आदिकवि कहा जाता है। बाल्मीकि के सम्बन्ध में कहा जाता है कि करुणा के उद्रेक के फल-

स्वरूप इनके मुख से सर्वप्रथम काव्य का आविर्भाव हुआ। रामायण के बालकाण्ड में कहा गया है कि तमसा नदी के किनारे काम मोहित क्रौंच पक्षियों की जोड़ी में से एक को निषाद (शिकारी) के बाण से मरते हुये देखकर वाल्मीकि का कवि हृदय चीत्कार उठा और उनके मुख से यह शब्द निकल पड़े "हे निषाद ! **तुमने काम मोहित क्रौंच पक्षियों के जोड़े में से एक को मारा है। अतः तुम अनन्त काल तक प्रतिष्ठा नहीं पाओगे।**" कवि का यह शोक श्लोक में परिणत हो गया। कहा जाता है कि यह सुनकर ब्रह्मा जी स्वयं उपस्थित हुये और वाल्मीकि को रामचरित लिखने का आदेश दिया। इसी प्रेरणा को पाकर उन्होंने रामायण की रचना की थी।

रामायण आर्य संस्कृति का प्रतिनिधि ग्रन्थ—रामायण एक इतिहास एवं काव्य ग्रन्थ ही नहीं अपितु हमारे आदर्शों का भी आदर्श है। यदि महाभारत ज्ञान का विश्व कोष है तो रामायण आदर्शों का प्रतीक कोष हैं। यह आर्य संस्कृति का प्रतिनिधि ग्रन्थ है अर्थात् आर्य सभ्यता और संस्कृति से सम्बन्धित सम्पूर्ण आदर्शों का एक साथ यदि कहीं सम्यक् परिपाक देखने को मिलता है तो वह रामायण है। रामायण में दो भिन्न संस्कृतियों के संघर्ष का वर्णन है। राम आर्य संस्कृति के प्रतीक हैं तो रावण अनार्य संस्कृति का। राम और रावण के इस संघर्ष में कवि ने राम की विजय दिखलाई है। वास्तविक अर्थों में तो कवि का लक्ष्य भी यही था—सत्य की असत्य पर विजय, न्याय की अन्याय पर विजय। राम सत्य पक्ष के प्रतीक रहे और रावण असत्य का। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम की विजय आर्यों की ही विजय थी और आर्य जीवन के आदर्शों की प्रतिष्ठा के लिये ही कवि ने इस महाकाव्य की रचना की तथा ऐसे नायक को अपनी रचना का विषय बनाया जो सर्वगुण सम्पन्न हो। मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने सचमुच इस आवश्यकता को पूर्ण किया।

मानव जीवन के पथ प्रदर्शन हेतु बाल्मीकि ने अपने काव्य-ग्रन्थ रामायण को आदर्शों से परिपूर्ण बनाया तथा यह सिद्ध कर दिखाया कि आर्य संस्कृति अनुपम गुणों से युक्त उत्कृष्ट संस्कृति है। रामायण में आर्य संस्कृति के समग्र उच्चतम आदर्शों का निरूपण किया गया है। रामायण का एक-एक पात्र महत्वपूर्ण आदर्शों का कोष है। इस ग्रन्थ में आदर्श पुत्र, भ्राता, पिता, माता, मित्र, पति पत्नी आदि के जो कर्तव्य बताये गये हैं वे आज के युग में भी आदर्श माने जाते हैं। राम आर्य जीवन के उत्कृष्ट आदर्श के प्रतीक हैं। आदर्श पुत्र के रूप में पिता की आज्ञा का पालन करने के लिये उन्होंने 14 वर्ष के वन गमन पर प्रस्थान किया। आदर्श पति के रूप में उन्होंने एकपत्नी व्रत का पालन किया जो कि उस युग में असाधारण बात थी और जो आज भी प्रत्येक पुरुष के लिये अनुकरणीय है। आदर्श शासक के रूप में उन्होंने अपनी प्रिय पत्नी का परित्याग कर दिया। आदर्श भाई के रूप में

भरत अपने ज्येष्ठ भ्राता राम के होते हुये राजपद स्वीकार नहीं करते। आदर्श भ्रातृ प्रेम का अनुपम उदाहरण लक्ष्मण के रूप में देखने को मिलता है जिसने अपने ज्येष्ठ भ्राता के साथ 14 वर्ष वन में बिताये। सीता भारतीय नारी के महान आदर्शों की प्रतीक है। वह आद्योपान्त हर परिस्थिति में पतिव्रत्य धर्म का पालन करने वाली भारतीय नारी का आदर्श प्रस्तुत करती है। अयोध्या के राज वैभव को ठुकराकर जंगलों के कष्टों को हंसते हंसते सहन करना, रावण के द्वारा अपहरण किये जाने पर दिन-रात राम नाम की माला जपना और अन्त में राम द्वारा निर्वासित किये जाने पर भी पति सेवा और पति भक्ति ही जिसका सम्बल रही, वह सीता निश्चय ही पूज्या है। राम और सीता का पारस्परिक प्रेम और त्याग भारतीय गृहस्थ जीवन के लिए एक ज्वलन्त आदर्श है। कवि टैगोर ने ठीक ही कहा है कि—

"रामायण की महिमा राम रावण युद्ध से नहीं है। इस युद्ध की घटना तो राम और सीता की दाम्पत्य प्रीति को उज्जवल बनाने का उपलक्ष मात्र है।"

राम और सीता ही नहीं अपितु रामायण का हर पात्र ही आदर्श है। दशरथ आदर्श पिता का, कौशल्या और सुमित्रा आदर्श माता का, लक्ष्मण और भरत आदर्श भ्राता का, विभीषण और सुग्रीव आदर्श मित्र का तथा हनुमान आदर्श सेवक का अनुपम आदर्श हमारे सम्मुख प्रस्तुत करते हैं।

धर्म की स्थापना—धर्म हमारी संस्कृति का मूल मन्त्र है। धर्म को दूसरे शब्दों में कर्त्तव्य भी कहा जाता है। धर्म ही पशु और मानव में विभेद करता है। धर्म भारतीय संस्कृति का प्राण है। रामायण के अनुसार आर्य जीवन धर्म बन्धन में बंधा हुआ है। भारतीय संस्कृति के अनुसार मानव स्वतन्त्र तो अवश्य है परन्तु समग्र मानव परस्पर धर्म बन्धन में बन्धकर एक दूसरे के हित चिन्तन और हिताचरण में संलग्न है। वह अपने निर्दिष्ट नैतिक मार्ग से तनिक भी नहीं डिगता। हम धर्म के सहारे ही जीवन-यापन करते हैं। हमारे पारस्परिक सम्बन्ध और बल इसी धर्म की देन है। बाल्मीकि ने रामायण के माध्यम से हम में इस धर्म की चेतना फूंकी है। रामायण के अनुसार चरित्र ही धर्म है। राम का सम्पूर्ण चरित्र हमें इसी धर्म की प्रेरणा देता है। राम का चरित्र सब दृष्टिकोणों से धर्म का प्रतिरूप है। किसी मनुष्य के जीवन चरित्र में जिन मूलभूत गुणों की अपेक्षा की जाती है वे सब राम में विद्यमान हैं। वन गमन से लेकर युद्ध काण्ड तक राम के चरित्र की महानता प्रकट होती है। राम के जीवन में विविध विकट परिस्थितियां आई किन्तु उन्होंने लोभ, मोह आदि से वशीभूत होकर धर्म के मार्ग को नहीं छोड़ा। प्रत्येक कसौटी पर वह कुन्दन के समान दमकते रहे। राम सदैव दूसरों के प्रति अपने कर्त्तव्यों के निर्वाह, लोक जीवन की मर्यादा की रक्षा और समाज की व्यवस्था को बनाये

रखने के लिये दृढ़ संकल्प रहे। यही कारण है कि अपने धर्म (कर्त्तव्य) का पालन करने की सबसे अधिक प्रेरणा हमें रामायण से ही प्राप्त होती है। इस सम्बन्ध में डॉ. बुद्ध प्रकाश का कथन है कि "इनके (राम) माध्यम से महर्षि वाल्मीकि ने सन्तुलित, समाज व्यवस्थित राष्ट्र, मर्यादित आचार और संयत व्यवहार की आधारशिला पर धर्म का सुदृढ़ प्रासाद खड़ा किया है।"

आर्य संस्कृति का विजय ध्वज—कतिपय पाश्चात्य विद्वानों और भारतीय इतिहासकारों का मत है कि रामायण वस्तुतः दक्षिण में आर्य संस्कृति की स्थापना का विजय ध्वज है। रामायण में तीन प्रकार की संस्कृति का वर्णन है—आर्य संस्कृति, वानर संस्कृति और राक्षस संस्कृति। प्रथम आर्य संस्कृति है जिसके केन्द्र बिन्दु अयोध्या के इक्ष्वाकु शासक दशरथ, उनकी तीन रानियाँ तथा उनके पुत्र हैं। दूसरी वानर संस्कृति है इसका केन्द्र किष्किन्धा है जो अर्द्ध सभ्य या असभ्य जातियों की है। बाली और सुग्रीव इसके प्रतिनिधि हैं। जिसमें सभ्यता या संस्कृति के आदम रूप के दर्शन होते हैं। तीसरी राक्षस संस्कृति है। इनका केन्द्र लंका है। ये शक्तिशाली किन्तु स्वार्थी और परपीड़क हैं। रावण खरदूषण, मारीच आदि इनके प्रतिनिधि हैं। रामायण में यह बताया गया कि दक्षिण भारत की इन असभ्य और राक्षस संस्कृतियों में राम ने अपनी आर्य संस्कृति का प्रचार और प्रसार किया और वहाँ के निवासियों को अपने आदर्श सिखायें। यही कारण है कि वाल्मीकि रामायण को दक्षिण में आर्य संस्कृति की विजय का ध्वज माना गया है।

सीता एक आदर्श नारी—रामायण में सीता के माध्यम से एक आदर्श स्त्री का रूप चित्रित है। सीता का चरित्र प्रत्येक काल में प्रत्येक समाज की स्त्रियों के लिए अनुकरणीय है। सीता की पवित्रता और पतिव्रत आदर्श है। वह पति-परायण, कर्त्तव्यनिष्ठ और कठिन परिस्थितियों में भी धर्माचरण करने वाली नारी है। राम के वन गमन के समय वह महल के सुख वैभव को छोड़कर उनके साथ वन जाती है और वनवास में असीम कष्ट सहकर भी पति सेवा में तत्पर रहती है। रावण द्वारा अपहरण कर लिए जाने के बाद भी वह उसकी धमकियों व भय से न डरकर अपने सतीत्व की रक्षा करती है। रावण को मारकर जब राम विजयी होते हैं तब सीता स्वयं को पतिव्रता सिद्ध करने के लिए अग्नि परीक्षा देने को सहर्ष तैयार हो जाती है। लोक निन्दा के भय से जब राम उनका परित्याग कर देते हैं तब भी वह अपने मन में पति के प्रति कोई दुर्भावना नहीं लाती और वाल्मीकि के आश्रम में रहकर अपने पुत्रों—लव और कुश का समुचित पालन-पोषण करके मातृत्व के कर्त्तव्य का निर्वाह करती है।

वाल्मीकि की सीता त्याग और सहनशीलता की प्रतिमूर्ति है। वह अपने पति के भाइयों को पुत्रवत् प्रेम करती है। अनुचरों के प्रति उनका व्यवहार दया

और उदारता से परिपूर्ण है। वह ज्ञान, विवेक और चरित्र का अनुपम भण्डार है। सीता और राम का दाम्पत्य जीवन प्रत्येक गृहस्थ का आदर्श है।

रामायण में सौन्दर्य बोध—लौकिक साहित्य का आदिग्रन्थ होने पर भी साहित्यिक दृष्टि से रामायण का बड़ा महत्व है। भाव और भाषा की दृष्टि से रामायण पूर्ण परिष्कृत ग्रन्थ है। भाषा की दृष्टि से छन्दों का विलक्षण प्रयोग, अलंकारों का अलौकिक विन्यास तथा काव्य रसों का प्रयोग इस ग्रन्थ की अनुपम विशेषता है। शृंगार, वीर, शान्त, रौद्र, वात्सल्य, प्रेम, करुणा आदि सभी रसों का संगम इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर हुआ है परन्तु शृंगार, वीर और करूणा इन तीन रसों का उद्रेक है। रामायण में सौन्दर्य चेतना और चरित्र-चित्रण अत्यन्त प्रभावकारी है। विभिन्न परिस्थितियों में उत्पन्न होने वाले भावों को प्रकट करने की दृष्टि से रामायण अद्वितीय ग्रन्थ है। रामायण का सबसे मर्मस्पर्शी भाग उनका अयोध्या काण्ड है। इसमें राम को वन गमन का आदेश देते हुए पिता दशरथ की मनःस्थिति, माता कौशल्या का भाव-विभोर मातृ-प्रेम, राम की निर्लिप्तता आदि भावों का मार्मिक चित्रण किया गया है। इस काण्ड में संयोग और वियोग की अति सुन्दर ढंग से अभिव्यक्ति हुई है। इसीलिए एक विद्वान ने कहा है "अयोध्या काण्ड, जैसा भाव प्रणव साहित्य विश्व साहित्य कोष में दुर्लभ है। इसके बाद अरण्य काण्ड में राम और सीता के वियोग वर्णन में करूण रस अति भावुक बन पड़ा है।"

रामायण की सौन्दर्य अनुभूति इस काव्य की विशिष्टता है। इसमें प्राकृतिक दृश्यों के सौन्दर्य और नारी सौन्दर्य का स्थान-स्थान पर उल्लेख है। अयोध्या काण्ड में गंगा नदी का वर्णन अत्यन्त चित्ताकर्षक है। किष्किन्धा काण्ड में पम्पा सरोवर, पंचवटी और दण्डक वन के मनोरम दृश्यों तथा शरद् और ग्रीष्म ऋतुओं का प्रभावकारी वर्णन है। प्राकृतिक दृश्यों के साथ इस काव्य की सौन्दर्य चेतना में नारी सौन्दर्य का वर्णन भी उत्कृष्ट है। सुन्दरकाण्ड में नारी सौन्दर्य का सर्वाधिक आकर्षक चित्रण किया गया है। इस काण्ड में जब हनुमान सीता की खोज में लंका के राजा रावण के अन्तःपुर में जाते हैं तो वहाँ उन्हें अनेक स्त्रियाँ विभिन्न स्थितियों में मिलती है। कवि ने इन स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग और उनकी चेष्टाओं का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। नारी सौन्दर्य और बाह्य प्राकृतिक सौन्दर्य के यथार्थ और सजीव चित्रण के साथ ही महाकवि ने अपने इस काव्य में मनुष्य की अन्तः प्रकृति और मनोवृत्तियों का भी स्वाभाविक चित्रण किया है। इस प्रकार समग्र दृष्टि से रामायण काव्य कला और काव्य सौन्दर्य का अनुपम उदाहरण है। रामायण को सदियों से हमारा काव्य ग्रन्थ माना जाता है। भारतीय साहित्यकारों के लिए यह सदैव प्रेरणा का स्रोत रहा है। संस्कृत साहित्य एवं भारत की विभिन्न साहित्य कृतियों पर इसका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। संस्कृत के महाकवि

कालीदास, भास, भवभूति, अनंग हर्ष, राजशेखर और तुलसीदास की रचनायें रामायण की कथा से प्रेरित और प्रभावित रही है। रामायण भारत का उत्कृष्ट महाकाव्य है। सम्भवतः इसे ही आदर्श मानकर आचार्यों ने महाकाव्य की परिभाषा निश्चित की है। निश्चय ही रामायण भारतीय राष्ट्र और संस्कृति का जीवन प्राण है, यह हमारे लौकिक साहित्य की प्रेरणा का उद्गम स्थल और हमारी अमूल्य धरोहर है।

रामायण का महत्व व मूल्यांकन—भारतीय संस्कृति में रामायण का महत्व अतुलनीय है। प्राचीनकाल से भारतीय जीवन पर रामायण का प्रभाव परिलक्षित हो रहा है। वस्तुतः इस आदिकाव्य में वर्णित राम का चरित्र भारतीय संस्कृति और जीवन का 'प्रकाश स्तम्भ' है जो प्राचीनकाल से आज तक हमारी संस्कृति के नभमण्डल में देदीप्यमान है। इस ग्रन्थ में बाल्मीकि ने राम के चरित्र का वर्णन कर एक ऐसा नायक प्रदान किया है जो सर्वगुण सम्पन्न मनुष्य थे किन्तु उनकी उच्चता और महानता इस धरातल से इतनी ऊँची उठी हुई थी कि जनमानस को इस काव्य की सृष्टि के कुछ समय बाद ही उनमें देवांश की कल्पना करनी पड़ी। बाल्मीकि ने राम के चरित्र के माध्यम से हमें यह बताया है कि विविध विकट परिस्थितियों में भी व्यक्ति अपने शील के सौन्दर्य की रक्षा कर किस प्रकार मंजुल गुणों में सामंजस्य स्थापित करता है?

रामायण संस्कृत साहित्य का आदिकाव्य और हिन्दुओं का प्रसिद्ध धार्मिक ग्रन्थ है। राम कथा को विश्व प्रसिद्ध बनाने का श्रेय बाल्मीकि को है। रामायण की लोकप्रियता और महत्व इसकी रचनाकाल से लेकर आज तक अनवरत बना रहा है। भारत के प्राचीन कवियों ने अत्यन्त प्राचीनकाल से ही इसके अनन्य महत्व को स्वीकार कर इसकी प्रशंसा में उद्गार प्रकट किये हैं। कवि शार्ङ्गधर ने कहा है कि "मैं कवियों में इन्द्र बाल्मीकि को नमस्कार करता हूँ, जिनकी रामायणी कथा को सज्जन लोग उसी प्रकार ग्रहण करते हैं, जैसे चकोर चन्द्रिका को।" वामन नाग ने 'सुक्ति सुक्तावली' में और त्रिविक्रम भट्ट ने 'नलचम्पू' में भी बाल्मीकि की रामायण के महत्व को स्वीकार किया है। धार्मिक क्षेत्र में भी रामायण हिन्दुओं के जीवन दर्शन और आदर्शों का प्रेरणा पुंज रही है। आधुनिक युग में शायद ही कोई ऐसा हिन्दू हो जो राम की कथा और रामायण से अपरिचित हो। यह शताब्दियों से हमारे धर्म और जीवन का अंग है।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी रामायण का अनुशीलन कर इसके महत्व को स्वीकारा है। पाश्चात्य विद्वान होमर के साहित्य से रामायण की तुलना करते हुए मोनियर विलियम्स ने लिखा है कि "इस भारतीय काव्य की शैली होमर के काव्य

की अपेक्षा अधिक श्लक्ष्ण, नियमित तथा एकत्रित है एवं भाषा भी अधिक उन्नतशील स्थिति में है। इसमें मानव प्रकृति की उन शाश्वत भावनाओं का निरूपण है जो सार्वदेशिक और सार्वकालिक है।"

आधुनिक भारतीय विद्वानों ने भी एकमत से रामायण के महत्व को स्वीकार किया है। डॉ. रामधारीसिंह दिनकर का मत है कि "भारत में संस्कृतियों का जो समन्वय हुआ, रामायण उसका अत्यन्त उज्ज्वल प्रतीक है।" डॉ. कामिल बुल्के की मान्यता है कि "विश्व साहित्य के इतिहास में शायद ही किसी ऐसे कवि का प्रादुर्भाव हुआ हो जिसने भारत के आदि कवि के समान इतने व्यापक रूप से परवर्ती साहित्य को प्रभावित किया हो"। डॉ. व्यास ने रामायण की महत्ता के सम्बन्ध में कहा है कि "रामायण के महान चरित्र संसार के अन्य ऐतिहासिक पुरुषों की अपेक्षा भारत में कहीं अधिक प्राणवान् और वास्तविक है। रामायण की आदर्श भरी उक्तियाँ हमारे देश के सभी लोगों की रसना पर फल फूल रही हैं, क्या ऊंच और नीच, क्या राजा और क्या रंक सर्वत्र उसका सार्वजनीन व्यवहार है।"

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि रामायण एक ऐसा आदर्श ग्रन्थ है, जिसकी तुलना विश्व के किसी अन्य साहित्य से नहीं की जा सकती। यह आदर्शों की ऐसी पाठशाला है जिसमें अध्ययनार्थ प्रवेश कर आज भी मानव जीवन की सफलता के सोपान तक पहुँचा जा सकता है। वाल्मीकि एक भविष्य द्रष्टा कवि और युग द्रष्टा मनीषी थे जिन्होंने समाज को अपनी आँखों से देखा था और अपनी प्रज्ञा से उन्होंने ऐसे ग्रन्थ की रचना की जिसे हम सही अर्थों में आर्य संस्कृति का प्रतिनिधि ग्रन्थ कह सकते हैं। तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्थिति का चित्रण उन्होंने अपनी रचना में किया है। मानव को पूर्ण मानव बनाने का आदर्श प्रस्तुत करने वाली रामायण निश्चय ही श्रद्धा की वस्तु है। लौकिक संस्कृत में लिखित रामायण भारतीय जन समाज का कण्ठहार है और युगों-युगों तक भारतवासी इससे प्रेरणा लेते रहेंगे। अन्त में मैकडोनल्ड महोदय का निम्न कथन उद्धृत करना समीचीन होगा कि "जब तक पर्वत श्रेणियाँ विद्यमान रहेंगी और सरिताएं पृथ्वी पर प्रवाहित होती रहें रहेंगी तब तक रामायण मानव के अधरों पर विद्यमान रहेगी।"

वेद व्यास

भारतीय साहित्यिक परम्परा में कतिपय ऐसे मनीषी हुए हैं जिन्होंने अपनी लेखनी के चमत्कार से अपने साहित्य को अपने परवर्ती साहित्यकारों के लिये स्फूर्ति और प्रेरणा का स्रोत बना दिया। संस्कृत साहित्य में महाभारत को भारतीय संस्कृति के जीवन का प्रकाश स्तम्भ माना जाता है। इस ग्रन्थ में भारतीय संस्कृति समग्र रूप से प्रस्तुत की गई है। इस ग्रन्थ का रचयिता व्यास को माना जाता है। भारतीय परम्परा के अनुसार व्यास को आद्यकवि, वेद व्याख्याता, वेद वर्गयिता (पृथक्करणकर्त्ता) ब्रह्मसूत्रों के प्रणेता, भागवत आदि पुराणों और महाभारत का रचयिता माना गया है। व्यास सर्वज्ञ, सत्यवादी, सांख्य, योग, ऋक् और धर्मशास्त्रों के प्रख्यात मनीषी और दिव्य-दृष्टि रखने वाले तत्व ज्ञानी थे। वैदिक, पौराणिक और लौकिक साहित्य के क्षेत्र में किये गये अभूतपूर्व योगदान के कारण व्यास भारत के श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं।

व्यास परम्परा—भारतीय परम्परा के अनुसार द्वापर युग के अन्त में आकर वेदव्यास वेदों का वर्गीकरण करते हैं। विष्णु पुराण में ऐसे 28 व्यासों का नामोल्लेख है। इनमें कृष्ण द्वैपायन व्यास 28वें व्यास थे। इस आधार पर कतिपय पाश्चात्य विद्वानों यथा—मैक्डानल्ड आदि की मान्यता है कि 'व्यास' किसी व्यक्ति विशेष का नाम न होकर एक प्रतीकात्मक संज्ञा या पदवी है। इस मत का समर्थन करते हुए भारतीय विद्वान डॉ. चतुर्वेदी ने कहा है कि "जब जिस ऋषि ने वेद संहिता का विभाजन किया, वही उस समय व्यास या वेदव्यास कहा जाता था। किसी समय वशिष्ठ पाराशर भी व्यास कहे गये हैं। इस अट्ठाइसवें युग के व्यास कृष्ण द्वैपायन हैं।" महाभारत में भी कृष्ण द्वैपायन को व्यास और वेदों का वर्गीकरण करने वाला कहा गया है। इस प्रकार व्यास एक उपाधि थी जो वेदों एवं पुराणों के वर्गीकरण, विभाजन और सम्पादन के कारण दी जाती थी। किन्तु भारतीय विद्वान इस मत से सहमत नहीं है क्योंकि भारतीय साहित्य में व्यास का नाम अनेक स्थानों पर आदर के साथ लिया गया है। 'अहिर्बुध्न्य संहिता' में व्यास (अपान्तरतमा) को कपिल और हिरण्यगर्भ के साथ वेद व्याख्याता और विभाजनकर्ता माना गया है। यह उल्लेख व्यक्तिवाचक है न कि समूहवाचक। 'वेदान्तसूत्र भाष्य' और महाभारत में भी कृष्ण द्वैपायन व्यास को वेदों का विभाजनकर्त्ता और महाभारत का रचयिता कहा गया है। यह उल्लेख भी व्यक्तिवाचक ही अधिक प्रतीत होते हैं। सम्पूर्ण भारतीय परम्परा और साहित्य वेदव्यास को महाभारत का प्रणेता मानते हैं।

जीवन चरित—वेदव्यास के जीवन के बारे में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध है। इनका मूल नाम कृष्ण द्वैपायन व्यास था। महाभारत के अनुसार वशिष्ठ के पुत्र शक्ति और शक्ति के पुत्र पाराशर थे। कृष्ण द्वैपायन इन्हीं पाराशर के पुत्र थे। अन्य साहित्य में भी इन्हें पाराशर्य कहा गया है। अलबरूनी ने भी इन्हें पाराशर का पुत्र कहा है। इनका एक अन्य नाम बादरायण व्यास भी था क्योंकि इन्होंने अपने समस्त ज्ञान की साधना बदरिकाश्रम में प्राप्त की थी। महाभारत के आदिपर्व में इनके जन्म का विवरण प्राप्त होता है। जिसके अनुसार एक बार ऋषि पाराशर यात्रा करते हुए यमुना नदी के किनारे पहुँचे। वहाँ उस समय धीवर राजा दाशराज की पुत्री सत्यवती नाव खेती थी। ऋषि पाराशर नदी पार करने के उद्देश्य से सत्यवती की नाव में बैठे। नाव में ऋषि सत्यवती के अप्रतिम सौन्दर्य और रूप लावण्य पर मोहित हो गये और उन्होंने उसके साथ रमण की कामना की और अपनी इच्छा सत्यवती के समक्ष प्रकट करदी। सत्यवती धीवर कन्या थी और उसके शरीर से सदैव मछली की गन्ध आती थी। इसीलिये उसे 'मत्स्यगन्धा' भी कहा जाता है। पाराशर के प्रस्ताव पर सत्यवती असमंजस में पड़ गई। अतः उसने महर्षि को टालने के उद्देश्य से कह दिया कि यहाँ नदी के दोनों

ओर स्थित जनों की उपस्थिति में रमण असम्भव है । इस पर पाराशर ने अपनी तपस्या के प्रभाव से नाव के चारों ओर घना कोहरा उत्पन्न कर दिया जिससे उनके चारों ओर घोर अन्धकार छा गया । इस अन्धकार में पाराशर ने सत्यवती के साथ रमण किया और फिर सत्यवती को यह वरदान दिया कि सन्तानोत्पत्ति के बाद वह पुनः अक्षत-योनि कन्या बन जायेगी तथा उसके शरीर से मछली की गन्ध के स्थान पर सदैव एक योजन (6 मील) तक अनुभव की जाने वाली सुवासित गन्ध निकलेगी। इसलिये सत्यवती को **'योजनगन्धा'** भी कहा जाता है । ऋषि पाराशर के रमण के फलस्वरूप सत्यवती ने यमुना के एक द्वीप पर एक पुत्र को जन्म दिया । घने अंधकार में गर्भाधान के कारण बालक कृष्ण वर्ण का हुआ अतः इसका नाम कृष्ण रखा गया और यमुना के द्वीप पर जन्म के कारण इन्हें द्वैपायन कहा जाने लगा । सामविधान ब्राह्मण के अनुसार इन्होंने विष्वक्सेन नामक आचार्य के पास शिक्षा ग्रहण की थी । भारतीय साहित्य में इन्हें एक ऋषि ही नहीं वल्कि एक महान योगी, वेद व्याख्याता ब्रह्मसूत्र प्रेरक और तत्वज्ञानी आदि कहकर विष्णु, शिव और ब्रह्मा का अवतार कहा गया है । अलबरूनी ने इनके चार शिष्यों पैल, वैशम्पायन, जैमिनि तथा सुमंतु का उल्लेख किया है जिन्होंने क्रमशः ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद का अध्ययन किया था । भारतीय परम्परा और साहित्य में कृष्ण द्वैयापन व्यास को चतुर्वेद का वर्गयिता माना है इसलिये इन्हें वेदव्यास भी कहा जाता है ।

पुराणों के अनुसार वेदव्यास एक महान् साहित्यकार, मनीषी, योगी और तत्वचिन्तक थे । उन्हें अनेक विशिष्ट सिद्धियाँ प्राप्त थी । महाभारत की कथा के अनुसार विचित्र वीर्य की असामयिक मृत्यु के बाद उनकी रानियों अम्बा और अम्वालिका के क्रमशः पांडु और धृतराष्ट्र नामक पुत्र वेदव्यास से नियोग से ही उत्पन्न हुए थे । अम्वालिका की दासी का पुत्र विदुर भी वेदव्यास का ही पुत्र था । इसके अलावा घृताची अप्सरा से इन्हें शुक नामक पुत्र प्राप्त हुआ । स्कन्द पुराण में शुक को जावालि ऋषि की कन्या वटिका का पुत्र कहा गया है । महाभारत के अनुसार वेदव्यास दीर्घायु तक जीवित रहें । वे द्रौपदी स्वयंवर में भी उपस्थित थे । महाभारत संग्राम के समय इन्होंने संजय को दिव्य दृष्टि प्रदान की थी । युद्ध में पाण्डवों की विजयश्री के उपरांत इन्होंने युधिष्ठिर को राजधर्म का उपदेश दिया था । महाभारत के वर्णन के अनुसार वेदव्यास कुरुवंश की आठ पीढ़ियों—शांतनु, विचित्रवीर्य, धृतराष्ट्र, कौरव, पाण्डव, अभिमन्यु, जनमेजय और शतानीक से सम्बन्धित रहे हैं ।

भारतीय साहित्य में वेदव्यास का नाम अनेक दार्शनिक और साहित्यिक ग्रंथों के प्रणेता के रूप में प्रसिद्ध है । इन्होंने वेदों का विभाजन कर उनकी स्वतंत्र चार संहितायें वनायी थी । **'वेदान्त सूत्र'** जिसे वादरायण सूत्र भी कहा जाता है । वेदव्यास की रचना थी । पाणिनी कृत अष्टाध्यायी में भी 'भिक्षुसूत्र' के रचयिता पाराशर्य व्यास कहे गये हैं । भारतीय परम्परा और साहित्य में वेदव्यास ब्रह्मसूत्र तथा भागवत आदि पुराणों के प्रणेता के रूप में प्रसिद्ध हैं । हमारे साहित्य के प्रसिद्ध

महाकाव्य महाभारत के प्रणेता भी वेदव्यास ही थे। विद्वानों की मान्यता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से इस देश में कौरव-पाण्डवों की वीरता से सम्बंधित आख्यान प्रचलित थे। वैदिक साहित्य में भी कहीं-कहीं महाभारत के पात्रों का उल्लेख है। अथर्ववेद में तो राजा परीक्षित आख्यान मिलता है। ब्राह्मण ग्रंथों में दुष्यन्त और शकुन्तला के पुत्र भरत का उल्लेख है। वेदव्यास ने इन्हीं आख्यानों और कथाओं को संगठित करके इसे काव्य का रूप दिया जिसे **'महाभारत'** कहते हैं।

महाभारत का अर्थ है भरतवंश वालों के युद्ध का आख्यान। महाभारत एक सम्पूर्ण समग्र साहित्य है। यह भारतीय हिन्दू जनता का जातीय इतिहास है। विन्टिरनित्स ने भी इसे सम्पूर्ण साहित्य माना है। यह ग्रन्थ अपने आप में एक संस्कृति है। भारतीय संस्कृति के महान गुणों से युक्त यह हमारी अमूल्य सांस्कृतिक निधि है। इसमें कवि ने कौरव-पाण्डवों की कथा के माध्यम से हमारी संस्कृति का सर्वांग चित्रण किया है। महाभारत में तत्कालीन युग में दो जीवन मूल्यों धर्म और अधर्म तथा समस्त विचारधारा और युग चेतना को एकीकृत करने का सफल प्रयास किया गया है।

महाभारत को संस्कृत साहित्य का आद्य एवं सर्वश्रेष्ठ इतिहास पुराण ग्रन्थ माना गया है। यद्यपि इससे पूर्व भी आरण्यक और ब्राह्मण साहित्य में इतिहास पुराण का उल्लेख मिलता है किन्तु वे आख्यान अत्यन्त लघु है। व्यास की महत्ता इस बात में है कि उन्होंने सर्वप्रथम तत्कालीन राजनीतिक इतिहास का विस्तृत उल्लेख कर उसे पर्व, उपपर्व आदि से युक्त एक कृति में बांध दिया।

महाभारत में प्रधान रूप से कौरव-पाण्डवों के मध्य हुए युद्ध का वर्णन है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ में 18 भागों में विभक्त है जिन्हें पर्व कहा जाता है। प्रत्येक पर्व अध्यायों में विभक्त है और सम्पूर्ण अध्यायों में एक लाख श्लोक है। महाभारत के 18 पर्व इस प्रकार हैं—**(1) आदि पर्व (2) सभा पर्व (3) वन पर्व (4) विराट पर्व (5) उद्योग पर्व (6) भीष्म पर्व (7) द्रोण पर्व (8) कर्ण पर्व (9) शल्य पर्व (10) सौप्तिक पर्व (11) स्त्री पर्व (12) शान्ति पर्व (13) अनुशासन पर्व (14) अश्वमेध पर्व (15) आश्रमवासी पर्व (16) मौसल पर्व (17) महाप्रस्थानिक पर्व (18) स्वर्गारोहण पर्व।** इसके अतिरिक्त महाभारत में अनेक उपाख्यान भी है जिनमें शकुन्तला, मत्स्य, राम, शिवि, सावित्री व नल आख्यान प्रसिद्ध है।

विषय-वस्तु की विविधता तथा आकार की दृष्टि से महाभारत विश्वका सबसे बड़ा महाकाव्य है। इस ग्रन्थ में इतने विषय मिलते हैं कि इसका मुख्य विषय कौरव-पाण्डवों की कथा गौण हो गई प्रतीत होती है। इनमें से कई कथाओं का तो महाभारत की मूल कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। भारतीय परम्परा के अनुसार वेदव्यास ही सम्पूर्ण महाभारत के रचियता थे किन्तु इस ग्रंथ के विशाल आकार और विविध वर्णनों के आधार पर वेदव्यास को सम्पूर्ण महाभारत का प्रणेता मानना सम्भव नहीं है और न ही यह एक काल की रचना प्रतीत होती है। इस ग्रंथ के

छल के कारण युधिष्ठिर अपना समस्त राज्य हार गया और जुए की एक शर्त के अनुसार उन्हें 13 वर्ष का वनवास दिया गया जिसमें उन्हें 13 वां वर्ष अज्ञातवास में बिताना था। 12 वर्ष तक वन के कष्ट और विपत्तियाँ भोग कर तथा एक वर्ष का अज्ञातवास बिताकर पाण्डव हस्तिनापुर लौटे और दुर्योधन से अपना राज्य वापस मांगा . किन्तु कौरवों ने पाण्डवों को एक भी इन्च भूमि देने से मना कर दिया। पाण्डवों ने यादव वंशी श्रीकृष्ण की मध्यस्थता से कौरवों को समझाने की चेष्टा की किन्तु वे असफल रहे। अतः पाण्डवों को अपना राज्य प्राप्त करने के लिये युद्ध लड़ना पड़ा। यह युद्ध कुरुक्षेत्र के मैदान में 18 दिन तक लड़ा गया। इसी को महाभारत युद्ध कहते हैं। पाण्डव धर्म और न्याय के पक्ष में युद्धरत थे अतः विजयश्री पाण्डवों के हाथ लगी। कौरव पराजित होकर मारे गये। पाण्डवों ने विजय के उपलक्ष में अश्वमेध यज्ञ किया और 36 वर्ष तक सफलतापूर्वक शासन किया। इसके बाद पाण्डव अर्जुन के पौत्र परीक्षित को राज्य सौंप कर द्रौपदी सहित हिमालय पर्वत पर चले गये जहाँ उनकी मृत्यु हो गई।

भारतीय ज्ञान का विश्वकोष—महाभारत एक समग्र साहित्य ग्रन्थ है। यद्यपि इस ग्रन्थ का मूल कथानक कौरव-पाण्डव कथा है तथापि यह ग्रन्थ भारतीय जीवन के लौकिक और धार्मिक ज्ञान का विश्वकोष है। इस ग्रन्थ की समग्रता के बारे में स्वयं वेद व्यास ने महाभारत में कहा है, "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित अर्थात् जो कुछ इस ग्रन्थ में है, वह अन्यत्र है, परन्तु जो इसमें नहीं है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है।" वास्तव में महाभारत तत्कालीन युग के धार्मिक, नैतिक, ऐतिहासिक, पौराणिक और तात्विक चिन्तन का अमूल्य भण्डार है। एक विद्वान के शब्दों में "वास्तव में एक अर्थ में महाभारत एक काव्य कृति है ही नहीं, अपने में पूरा साहित्य है यह काव्य भारतीय सांस्कृतिक चेतना को छिपाये एक महान सांस्कृतिक निधि है। यह स्वयं में एक संस्कृति है।" महाभारत अपने पूर्ववर्ती दर्शनों का निचोड़, स्मृतियों का विवेचन तथा पंचम वेद माना जाता है। इस ग्रन्थ में विभिन्न आख्यानों के द्वारा लोक धर्म के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। मानव जीवन के सभी पक्षों का इस ग्रन्थ में विस्तृत विवेचन किया गया है। आदिपर्व में महाभारत को सिर्फ इतिहास ही नहीं वरन धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा मोक्ष शास्त्र भी कहा गया है।

महाभारत मौलिक रूप से कौरव-पाण्डवों की राजनीतिक प्रतिद्वंदिता का इतिहास होने के साथ ही भारतीय संस्कृति और धर्म के सर्वांगीण विकास की ऐतिहासिक गाथा भी है। यह ग्रन्थ तत्कालीन-युग की धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन की घटनाओं का अनुपम संग्रह है। मूल कथानक के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में अनेक उपाख्यानों—शकुन्तला उपाख्यान, मत्स्योपाख्यान, (मत्स्यावतार कथा) रामोपाख्यान (रामकथा), शिवि उपाख्यान, सावित्री उपाख्यान (सत्यवान-सावित्री कथा) नलोपाख्यान (नल-दमयन्ती कथा) है। इन उपाख्यानों के

माध्यम से ग्रन्थकार ने भारतीय जीवन की वीरता, साहस, शौर्य, और नैतिक आदर्शों को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। महाभारत एक सर्वश्रेष्ठ धर्मशास्त्र भी है जिसमें पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन के विधि-निषेधों तथा धर्म (कर्त्तव्य) का विस्तृत विवेचन किया गया है। महाभारत के शान्तिपर्व में राजधर्म, आपद्धर्म और मोक्ष धर्म का तथा अनुशासन पर्व में दानधर्म का विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ नीतिशास्त्र का भी अनुपम संग्रह है। इसके विभिन्न पर्वों में नीति विषयक सामग्री संकलित है। विदुर नीति और संजय नीति महाभारत का महत्वपूर्ण अंग हैं। इसके अलावा शान्तिपर्व और अनुशासन पर्व में क्रमशः भीष्म और नारद के नीति विषयक प्रवचन संकलित है। महाभारत में आध्यात्म शास्त्र का भी विवेचन है। इसके श्रीमद्भागवत गीता, सनत्सुजातीय, अनुगीता, पाराशर गीता, मोक्ष धर्म आदि महत्वपूर्ण अंश आध्यात्म शास्त्र से सम्बन्धित है। इस विविध विषयक सामग्री को देखते हुये महाभारत को हिन्दू धर्म का बृहद् कोष या भारतीय संस्कृति का विश्वकोष कहना अतिशयोक्ति नहीं है।

जीवन मूल्यों की सार्थकता—महाभारत का कथन है कि **"चतुर्वर्ग अर्थात धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में जो कुछ इस ग्रन्थ में कहा गया है, वही अन्यत्र है और जो इसमें नहीं है वह अन्यत्र कहीं नहीं है।"** महाभारत का महत्व इस बात में भी है कि उसमें मानव जीवन के चार जीवन लक्ष्यों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्रतिष्ठित करके सुख और मोक्ष के मध्य समन्वय स्थापित किया है। इस प्रकार महाभारत ने वैदिककालीन परम्परा पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर दी क्योंकि वैदिक परम्परा में सांसारिक सुख और भोगों को जीवन का परम लक्ष्य माना जाता था। धर्म भारतीय संस्कृति का प्राण है। अतः महाभारत का उपदेश है कि धर्म की मर्यादाओं में रहते हुए ही अर्थ और काम का सेवन करना चाहिये। धर्मपालन महाभारत की शिक्षा का सार है। इस ग्रन्थ का कथन है कि धर्म शाश्वत और नित्य है जबकि सुख और दुःख अनित्य है। अतः भय और लोभ किसी भी अवस्था में धर्म का त्याग नहीं करना चाहिये। शान्तिपर्व में धर्म-तत्व का विस्तृत विवेचन किया गया है। वेदव्यास कर्मवादी आचार्य है अतः उन्होंने स्वधर्म के पालन के उपदेश के माध्यम से मानव को कर्म करने के लिये प्रेरित किया है। उनका कथन है कि **"कर्महीन मानव 'मानव' की पदवी से सदैव वंचित रहता है।"** महाभारत में धर्म चेतना अत्यन्त तीव्र रूप से मुखरित हुई है। यह अर्थ और काम की स्वाभाविक प्रवृत्ति को तब तक बुरा नहीं मानता जब तक वह धर्मानुकूल हो। इसमें स्वधर्म के पालन को मोक्ष का सरलतम मार्ग बताया गया है।

सामाजिक जीवन के आदर्श—महाभारत अपने युग के सामाजिक संगठन और परिस्थितियों का दर्पण है। उत्तर वैदिककाल के बाद हुये सामाजिक परिवर्तनों का उल्लेख इस ग्रन्थ में किया गया है। महाभारत से ज्ञात होता है कि इस युग में वर्ण-व्यवस्था जन्मगत आधार पर दृढ़ होने लगी थी। इसीलिये द्रौपदी ने

स्वयंवर के समय सूतपुत्र कर्ण से विवाह करने से इन्कार कर दिया था . परन्तु फिर भी यह पूर्णरूप से जन्म-जात भी नहीं थी। महाभारत के वनपर्व में यक्ष जब युधिष्ठिर से प्रश्न करते हैं कि ब्राह्मण कौन है ? तो युधिष्ठिर कहते हैं कि जो व्यक्ति सत्य, दान, क्षमा, शील, दया, दान और अहिंसा आदि से युक्त हो वही ब्राह्मण है। इस पर यक्ष ने पूछा कि यदि ये गुण शूद्र में हो तो क्या वह ब्राह्मण है ? इस पर युधिष्ठिर ने कहा कि इन गुणों से युक्त शूद्र ब्राह्मण ही है और इन गुणों से रहित ब्राह्मण शूद्र है। इससे स्पष्ट है कि वर्ण व्यवस्था अभी भी गुण, कर्म और स्वभाव पर टिकी थी और यह पूर्णतया जन्म आधारित नहीं हुई थी। ब्राह्मण द्रोण और परशुराम जन्म से ब्राह्मण होकर क्षत्रिय कर्म में रत थे। युधिष्ठिर क्षत्रिय होकर भी धर्मराज थे। महाभारत में संयुक्त परिवार प्रथा प्रचलित थी। समाज के उच्च वर्ग में बहुपत्नी प्रथा प्रचलित थी। विचित्रवीर्य, कृष्ण. और अर्जुन इसके उदाहरण हैं। नियोग प्रथा का चलन भी था। पाण्डु, धृतराष्ट्र और विदुर का जन्म इसी प्रथा से हुआ था। उस समय स्त्रियों को उच्च शिक्षा दी जाती थी। विवाह प्रायः वयस्क आयु में ही किये जाते थे। महाभारत काल में सदाचार और शील सामाजिक जीवन के आधार थे।

दार्शनिक महत्त्व—भारतीय धार्मिक और दार्शनिक साहित्य की अनमोल कृति 'गीता' भी महाभारत के भीष्मपर्व का ही एक अंश है। भारतीय दर्शनाकाश में गीता एक देदीप्यमान नक्षत्र की भाँति आलोकित है। कुरुक्षेत्र की रणभूमि में अर्जुन के कर्तव्यमूढ़ होने पर उसे सन्मार्ग दिखाने के लिये श्रीकृष्ण ने जो उपदेश अर्जुन को दिया वह भारतीय धर्म और दर्शन का निचोड़ है। वेदों और उपनिषदों की विचारधारा स्फटिक की तरह उज्जवल होकर गीता में प्रकट हुई है। वेदों के प्रवृत्ति और उपनिषदों के निवृत्ति मार्ग दोनों का गीता में समन्वय किया गया है। इसमें अद्वैत, द्वैत और विशिष्टाद्वैतवाद सभी का उचित मानते हुए भारतीय दर्शन का अद्भुत समन्वय प्रस्तुत किया है। गीता में दार्शनिक विवेचना के साथ व्यवहारिक जीवन के आदर्शों का भी निरूपण किया गया है। सांसारिक जीवन में रहते हुए ही ज्ञान, कर्म और भक्ति योग द्वारा मोक्ष की प्राप्ति का सुगम मार्ग गीता की ही देन है। कर्मयोग का सिद्धान्त तो गीता के चिन्तन का प्राण है। गीता के कर्मयोग के अनुसार कर्म में अहंकार और फल प्राप्ति की इच्छा का परित्याग कर अपने वर्ण धर्म का निष्ठापूर्वक पालन ही कर्मयोग है। गीता के दर्शन की प्रशंसा करते हुए डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने कहा है कि "विश्व के साहित्य में कामशास्त्र और मोक्षशास्त्र का ऐसा रहस्यपूर्ण ग्रन्थ कोई दूसरा उपलब्ध नहीं है जिससे गीता की तुलना की जा सके।" डॉ. राधाकृष्णन ने इसकी महत्ता के बारे में कहा है कि "किसी ग्रन्थ का मनुष्य के मन पर कितना अधिकार है, इसे उस ग्रन्थ की कसौटी समझा जाय तो कहना होगा कि गीता भारतीय विचारधारा का सर्वाधिक प्रभावशाली ग्रन्थ है। यह दर्शनशास्त्र का अनूठा ग्रन्थ है।"

महाभारत एक काव्य के रूप में—महाभारत में सौन्दर्य की प्रधानता न होकर कर्म और संघर्ष की प्रधानता है। अतः यह ग्रन्थ विशुद्ध काव्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि विशुद्ध काव्य में ही सौन्दर्य की प्रधानता होती है। महाभारत में सौन्दर्य की अपेक्षा नीति बोध तथा धर्म चर्चा अधिक है। कवि का उद्देश्य महाभारत के नायकों की वीरता और जय-पराजय का चित्रण करना अधिक है। इसीलिये महाभारत में शुद्ध सौन्दर्य और प्राकृतिक वर्णन यदा-कदा ही मिलते हैं।

महाभारत के आदर्श—महाभारत की प्रतिभा बहुमुखी है। यह ग्रन्थ चरित्र-चित्रण की खान है। ग्रन्थ में अनेक पात्र होते हुए भी ग्रन्थकार ने प्रत्येक चरित्र के साथ पूरा न्याय किया है। महाभारत का प्रत्येक पात्र अपने आप में एक आदर्श है जो समाज के प्रत्येक व्यक्ति को कोई ना कोई संदेश देता है। महाभारत के विभिन्न पात्र भारतीय जीवन के विविध रूपों के प्रतीक हैं। भीष्म के चरित्र में हमें दृढ़ता, सत्यनिष्ठा, कर्तव्यपरायणता और कठोर पितृभक्ति देखने को मिलती है। दुर्योधन अनैतिकता और राज्यलिप्सा का मूर्तरूप है। युधिष्ठिर धर्म और नैतिकता के अटूट आदर्श है, अनेक कष्टों के उपरांत भी वे धर्म मार्ग पर अडिग रहते हैं। पाँचों पाण्डव मधुर भ्रातृत्व प्रेम के प्रतीक हैं युधिष्ठिर धर्म, ज्ञान और नैतिकता के, भीम शक्ति के, अर्जुन साहस और कुशलता तथा नकुल और सहदेव आज्ञाकारिता के आदर्श रहे हैं। कुन्ती, गांधारी और सुभद्रा त्याग परायण पत्नी और माता का मूर्त रूप है। कृष्ण न्याय और धर्म के प्रतीक है। कर्ण आदर्श, मैत्रीभाव तथा दानशीलता के प्रतिरुप है।

महाभारत में द्रौपदी का आदर्श नारी चरित्र अत्यन्त विलक्षण है। वह पांच पतियों की पत्नी होते हुये भी पतिव्रता थी। वनपर्व में द्रौपदी के आदर्श चरित्र का विस्तृत विवेचन किया गया है।

महाभारत का साहित्यिक महत्व— यद्यपि महाभारत ज्ञान का विश्व कोष है तथापि साहित्यिक दृष्टि से यह उतना श्रेष्ठ ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता, जितना रामायण। इसमें कवि की दृष्टि सौंदर्य बोध पर इतनी नहीं रही जितनी नीति एवं धर्म विषयक उपदेशों पर, अतः भाव एवं भाषा विषयक उत्कृष्टता इसमें आसमान की गहराईयों को नहीं छू सकी। प्रकृति-चित्रण एवं नारी-चित्रण इसमें शून्य के बराबर है। यह तो समग्र रूप में एक वीर काव्य है, जिसके नायक सदा संघर्ष में व्यस्त रहते हैं। यद्यपि काव्य के दृष्टिकोण से इसे हम रामायण के समकक्ष ग्रंथ नहीं कह सकते तथापि इसके कथानकों ने अनेक कवियों एवं लेखकों को प्रभावित किया। राघव पाण्डवीय, किरातार्जुनीय, नैषधीयचरितम्, शिशुपाल वध, विक्रमोर्वशीय, मध्यम व्यायोग, दूत घटोत्कच, कर्णभार, उरुभंग, पांचरात्र, दूतवाक्य तथा बालचरित आदि रचनाएँ महाभारत पर ही आधारित हैं।

ऐतिहासिक महत्व—महाभारत का ऐतिहासिक महत्व भी कम नहीं आँका जा सकता। यह तत्कालीन कौरव-पाण्डव संघर्ष का वर्णन तो है-ही, परन्तु साथ ही

भारतीय संस्कृति और हिन्दू धर्म के सर्वांगीण विकास की गाथा भी है। इस ग्रन्थ में महाकाव्य युग के धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक, विकास की गाथा और इतिहास के अनेक चरित्रों की प्रामाणिक एवं विश्वसनीय जानकारी मिलती है।

नैतिक महत्व— महाभारत भी रामायण के समान समाज को नैतिक बनाने का आदर्श प्रस्तुत करने वाला उच्चकोटि का ग्रन्थ है। कौरव पाण्डव संघर्ष में पाण्डव पक्ष की विजय उसी सत्य और धर्म की विजय थी जो कि रामायण में राम की थी। अतः महर्षि वेदव्यास ने सत्य, पवित्रता, त्याग, सेवा एवं धर्मपरायणता का जो आदर्श पाण्डवों के रूप में प्रस्तुत किया है, वह निश्चय ही समाज को नैतिक उत्थान की राह दिखा सकता है, बशर्ते मानव समाज उस रास्ते पर चले।

अंततः यह कहना उपयुक्त ही होगा कि "महाभारत एक विशाल ग्रन्थ है, जो कि ज्ञान राशि का अप्रतिम भण्डार है। यह एक विराट कृति तथा परम्पराओं और कथाओं का विशाल कोष है। यह हमारा जातीय इतिहास ही नहीं, अपितु धार्मिक ग्रन्थ भी है। इसका सांस्कृतिक महत्व भी कम नहीं है। यह कालांतर के संस्कृत कवियों, नाटककारों व गद्य काव्यकारों के लिए उपजीव्य है। भगवद्गीता भी इसी का अंग है, जिसमें ज्ञान, कर्म एवं भक्ति की मदाकिनी प्रवाहित है। निःसंदेह महाभारत ज्ञान का विश्व कोष है, विश्व की श्रेष्ठ काव्य रचना है और भारत का महान महाकाव्य है।"

महाकवि कालिदास

विश्व के साहित्य गगन मण्डल में कालिदास सर्वाधिक ज्योतिर्वन्त एवं उज्जवल नक्षत्र के समान आलोकित हैं। महाकवि चूड़ामणि, संस्कृत कवि मण्डलीमण्डल, समृद्ध साम्राज्य के वैभव, ऐश्वर्य, शांति एवं सुव्यवस्था के प्रतीक, भारतीय संस्कृति के महान व्याख्याता, संस्कृत को विश्व साहित्य में मूर्धन्य स्थान दिलाने वाले कालिदास का स्थान महाकाव्यों के रचयिताओं में अग्रगण्य हैं। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। महाकाव्य, नाटक एवं गीति-काव्य सभी क्षेत्रों में वे अपने आप में बेजोड़ हैं। कालिदास भारतीय संस्कृति के उत्कर्ष काल के प्रतिनिधि कवि हैं। तत्कालीन समाज और सांस्कृतिक चेतना की सही तस्वीर उनके साहित्य में दिखायी देती है। उनकी तुलना अंग्रेजी के प्रसिद्ध नाटककार शैक्सपियर से की जाती है। किंतु एक अर्थ में वे शैक्सपियर से भी महान ठहरते हैं क्योंकि शैक्सपियर ने किसी महाकाव्य की रचना नहीं की, जबकि कालिदास ने नाटक के साथ-साथ महाकाव्यों की भी रचना की।

कालिदास का जीवनवृत्त – भारतीय साहित्य जगत की महान विभूति और अनुपम प्रतिभा के धनी कालिदास के जीवन परिचय सम्बन्धी कोई विश्वसनीय और प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। इससम्बन्धमें अधिकांश तथ्य अनुमानित ही हैं। इनके विषय में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार कालिदास उज्जयिनी के रहने वाले शैव धर्मावलम्बी ब्राह्मण थे। कालिदास ने अपने 'मेघ-

दूत' काव्य में उज्जयिनी के प्रति विशेष रुचि प्रदर्शित की है। इससे सम्भव है कि कालिदास उज्जयिनी के निवासी रहे हो। कालिदास के काव्यों और नाटकों में सुरम्य घाटियों, उपत्यकाओं, केसर के मनभावन खेतों आदि का जो वर्णन है उसके आधार पर डॉ. लक्ष्मीधर तथा श्री वैद्य आदि विद्वान काश्मीर को कालिदास की जन्मभूमि मानते हैं। देवी काली से संबंधित होने के कारण कतिपय बंगाली विद्वान कालिदास को बंगाल का निवासी मानते हैं। कुछ विद्वान उनकी वैदर्भी काव्य शैली के कारण उन्हें विदर्भ (बरार) का निवासी मानते हैं। **इतिहासकार विंसेन्ट स्मिथ** कालिदास को मालवा के मन्दसौर का निवासी मानते हैं। किन्तु बहुसंख्यक विद्वान उनके उज्जयिनी के निवासी होने के समर्थक हैं।

कालिदास के जन्म स्थान की भांति उनके प्रारम्भिक जीवन और शिक्षा आदि के सम्बन्ध में भी कोई विश्वसनीय और प्रामाणिक जानकारी प्राप्त नहीं होती है। कालिदास के प्रारम्भिक जीवन के बारे में भारतीय परम्परा में अनेक अनुश्रुतियां प्रचलित है। एक अनुश्रुति के अनुसार कालिदास विवाह के पूर्व महामूर्ख थे। वहां के राजा की पुत्री विद्योत्तमा अत्यंत विदुषी और समस्त कलाओं में निपुण थी। उसने अपने विवाह के लिये यह शर्त रखी कि जो उसे शास्त्रार्थ में परास्त कर देगा वह उसी के साथ विवाह करेगी। उससे विवाह के इच्छुक अनेक विद्वानों ने राजकुमारी से शास्त्रार्थ किया किन्तु वे परास्त होकर लौट गये। एक बार जब ऐसे ही कुछ पण्डित राजकुमारी से शास्त्रार्थ में परास्त होकर निराश वापस लौट रहे थे, तब मार्ग में उन्होंने कालिदास को जिस तने पर बैठे थे उसी को काटते हुये देखा। वे पण्डित राजकुमारी से अपनी पराजय का बदला लेने और उसका मान मर्दन करने के लिये कालिदास को पकड़कर राजदरबार में ले गये और वहाँ उन्होंने इनकी विद्वता की मिथ्या प्रशंसा की। पंडितों की मिथ्या प्रशंसा और षडयंत्र के फलस्वरुप विद्योत्तमा का विवाह कालिदास से हो गया। विवाह के बाद जब विद्योत्तमा को अपने पति की मूर्खता का ज्ञान हुआ तो उसने कालिदास को बहुत बुरा-भला कहा। विद्वानों का यह भी मत है कि एक दिन जब ऊँट की आवाज सुनकर कालिदास ने '**उष्ट्र**' के स्थान पर '**उट्र**' शब्द का उच्चारण किया तो विद्योत्तमा अत्यंत दुःखी हुयी। कवि कालिदास अपनी पत्नी के तीक्ष्ण शब्द बाणों से अपमानित होकर विद्याध्यन को चले गये। कई वर्षो तक व्याकरण और अन्य शास्त्रों का अध्ययन कर ज्ञान के प्रकाण्ड पण्डित बन कालिदास घर लौटे। घर लौटने पर बाहर आकर इनकी पत्नी ने इनसे पूछा, "**अस्ति कश्चित् वाग्विशेष ?**" कहा जाता है कि कालिदास ने अपनी पत्नी के इस स्वागत वाक्य के आधार पर ही '**कुमारसम्भव**', '**मेघदूत**' और '**रघुवंश**' काव्य की रचना की थी।

एक अन्य अनुश्रुति इससे थोड़ी भिन्न है। इसके अनुसार कालिदास अपनी पत्नी द्वारा किये गये अपमान से पीड़ित होकर सीधे देवी काली के मंदिर में पहुँचे और उन्होंने अपनी जीभ काटकर देवी के चरणों में अर्पित करदी। उनकी यह

श्रद्धा और भक्ति देखकर देवी अत्यन्त प्रसन्न हो गयी । देवी की असीम अनुकम्पा से वज्रमूर्ख कालिदास समस्त शास्त्रों के ज्ञाता और महान कवि एवं नाटककार बन गये । ऐसा माना जाता है कि देवी काली की कृपा की अनुकम्पा से प्राप्त ज्ञान के कारण ही उनका नाम कालिदास पड़ा । किन्तु उपर्युक्त किंवदन्तियों की पुष्टि के लिये हमारे पास ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है । फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कालिदास ने विद्योत्तमा से विवाह के उपरांत अनेक वर्षों तक विद्याध्यन करके व्याकरण और अनेक शास्त्रों में महारथ हासिल की थी । तदुपरांत उन्होंने दाम्पत्य जीवन व्यतीत किया और अनेक काव्य ग्रंथों की रचना की। श्रीलंका की एक अनुश्रुति के अनुसार कालिदास की मृत्यु एक वेश्या के घर में हुई थी । एक अन्य अनुश्रुति के अनुसार उनकी मृत्यु धारानगरी में हुई थी ।

कालिदास का का कालनिर्णय—कालिदास के काल या समय का प्रश्न भी उनके जीवन के अन्य पक्षों की भाँति भारतीय साहित्य का अत्यन्त जटिल और विवादास्पद प्रश्न रहा है । इस सम्बन्ध में विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं । इस सम्बन्ध में मुख्यत: दो मत प्रचलित हैं । ये दोनों ही मत उनके **'विक्रमोर्वशीय'** नामक नाटक तथा उनके साहित्य में उल्लेखित **'विक्रम'** शब्द के आधार पर प्रतिपादित है । ये मत निम्नलिखित हैं—

पहला मत—इस मत के अनुसार कालिदास का समय प्रथम शताब्दी ई. पू. था । इस मत के अनुसार परमार वंशीय महेन्द्र गुप्त के पुत्र विक्रमादित्य प्रथम शती ई पू. में उज्जयिनी के राजा हुये, जिन्होंने शकों को हराकर 57 ई. पू. में विजय के उपलक्ष्य में विक्रम सम्वत् चलाया । जैन साहित्य तथा कथासरित्सागर में इसी विक्रमादित्य का उल्लेख हुआ है और कुछ विद्वान इसी विक्रमादित्य को मौलिक विक्रमादित्य मानकर कालिदास को प्रथम शताब्दी ई. पू. का सिद्ध करते हैं । कालिदास के नाटकों में विक्रम शब्द का प्रयोग और उनका विक्रमोर्वशीय नाटक भी इस तथ्य की पुष्टि करते है । किन्तु इस तथ्य में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि अभी तक प्रथम शताब्दी ई. पू. में विक्रमादित्य नामक ऐतिहासिक राजा का होना पूर्णरूपेण सिद्ध नहीं हो पाया है ।

दूसरा मत—यह गुप्तकाल से सम्बद्ध है । भारतीय अनुश्रुतियों के अनुसार कालिदास महान गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय (380 ई. से 413 ई.) जिसने कि शक विजय के उपरान्त विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी, के दरबार के नवरत्नों में से एक थे । विक्रमोर्वशीय के नाम तथा उसमें प्रयुक्त कतिपय उक्तियों द्वारा कालिदास स्पष्टतया अपने आश्रयदाता सम्राट विक्रमादित्य की ओर संकेत करते हैं । जो विद्वान कालिदास को गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन मानते हैं उनकी मान्यता है कि चूँकि प्रथम शताब्दी ई. पू. में विक्रमादित्य नामक किसी शासक के होने के ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है । अत: कालिदास निश्चय ही चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन ही थे । अपने इस मत के समर्थन में वे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(1) कालिदास ने अपने **'कुमारसम्भव'** काव्य की रचना चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पुत्र कुमारगुप्त के जन्म के उपलक्ष्य में की थी।

(2) कालिदास ने अपने महाकाव्य **'रघुवंश'** में रघु की जिस दिग्विजय का वर्णन किया है, वह वर्णन चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पिता समुद्रगुप्त की प्रयास प्रशस्ति में वर्णित दिग्विजय के समान है।

(3) कालिदास की रचनाओं में 'गुप्' (रक्षा करना) धातु का बार-बार प्रयोग उनके गुप्तकाल का होने का सूचक है।

(4) कालिदास ने अपने महाकाव्य **'रघुवंश'** में हूणों का वर्णन किया है। हूण गुप्तकाल में ही भारत में प्रविष्ट हुये थे।

(5) कालिदास और बौद्ध विद्वान अश्वघोष की रचनाओं में उल्लेखनीय समानता है। किन्तु दोनों की रचनाओं में कालिदास की रचनायें अधिक श्रेष्ठ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास ने अश्वघोष का अध्ययन कर अपनी शैली को अधिक परिष्कृत कर लिया था। चूंकि अश्वघोष का समय प्रथम शताब्दी ईस्वी हैं, अतः कालिदास उसके बाद गुप्तकाल में ही हुये होंगे।

(6) मन्दसौर के 473 ई. के गुप्तकालीन अभिलेख में कालिदास की रचनाओं की स्पष्ट झलक मिलती है इससे सिद्ध होता है कि कालिदास 473 ई. से पूर्व चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में ही हुये थे।

(7) कालिदास के साहित्य में परिष्कृत भाषा, सुख, शान्ति, समृद्धि, सम्पन्नता और उल्लासमय वातावरण का जो वर्णन मिलता है। वह गुप्तकाल में ही सम्भव था।

अतः प्राप्त साक्ष्यों से यही मत सर्वमान्य है कि कालिदास गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन और उनके नवरत्नों में एक थे।

कालिदास की रचनाएँ—ज्ञानार्जन के पश्चात् कालिदास ने अनेक साहित्यिक ग्रन्थों की रचना की। **'कृष्णचरित'** नामक ग्रन्थ के अनुसार कालिदास ने पाँच काव्यों तथा चार नाटकों की रचना की थी किन्तु अभी तक उनके चार काव्य—ऋतुसंहार, मेघदूत, कुमारसम्भव और रघुवंश तथा तीन नाटक—विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र और अभिज्ञान शाकुन्तलम ही प्राप्त हुए हैं। क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ **'बृहत्कथामंजरी'** में कालिदास की एक अन्य रचना **'कुन्तलेश्वरदौत्यम'** का एक श्लोक उद्धृत किया है। किन्तु यह ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है।

कालिदास की काव्य रचनाएँ—कालिदास की अभी तक चार काव्य रचनाएँ प्राप्त हुई हैं—ऋतुसंहार, मेघदूत, **कुमारसम्भव और रघुवंश**। इनमें रघुवंश और कुमारसम्भव महाकाव्य है तथा ऋतु संहार और मेघदूत खण्ड काव्य है।

(1) ऋतुसंहार— **'ऋतुसंहार'** का अर्थ है ऋतुओं का चक्र। यह एक गीतिकाव्य है। यह अत्यन्त लघु और सरल सादा काव्य है जिसमें 153 पद्य और छः सर्ग हैं। इस कृति के प्रत्येक सर्ग में भारत की क्रमशः छः ऋतुओं—ग्रीष्म, पावस

(वर्षा), शरद्, हेमन्त, शिशिर और बसन्त का अत्यन्त सरल, रोचक, रमणीय, स्वाभाविक तथा प्रभावशाली विशद् वर्णन किया गया है। इस कृति में कालिदास का सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण तथा प्रकृति प्रेम परिलक्षित होता है।

इस काव्य की रचना में कवि ने ऋतुओं का वर्णन मात्र प्राकृतिक रूप में ही नहीं किया अपितु प्रकृति के साथ मानव का भावनात्मक सम्बन्ध भी कायम किया है। कवि ने अपनी प्रेयसी को सम्बोधित कर प्रत्येक ऋतु की रमणीयता और उसके मानव पर होने वाले प्रभावों का वर्णन किया है। प्रकृति का मानवीयकरण करने में कालिदास की लेखनी अति प्रवीण थी। भावनाओं के निरूपण और भाषा की दृष्टि से यह कवि की प्रथम रचना प्रतीत होती है।

(2) मेघदूत—मेघदूत एक खण्ड काव्य है जो गीतिकाव्य शैली में लिखा गया है। विद्वानों का मत है कि मेघदूत खण्ड काव्य की समता का कोई अन्य खण्ड-काव्य संस्कृत साहित्य में ही नहीं अपितु विश्व साहित्य में उपलब्ध नहीं है। मेघदूत एक लघु खण्ड काव्य है जिसमें 100 से अधिक पद्य है। इस पर लिखी टीकाओं में मल्लिनाथ की टीका में 118 और वल्लभ देव की टीका में 111 पद्य हैं। यह काव्य दो खण्डों में विभक्त है पूर्व मेघ और उत्तर मेघ। इस काव्य की कथा वस्तु नगण्य है किन्तु विषय अत्यन्त रोचक है। यह काव्य एक यक्ष की विरह गाथा है जो कर्त्तव्य प्रमाद के फलस्वरूप अपने स्वामी कुबेर के शाप के कारण अपनी पत्नी को अलकापुरी में छोड़कर एक वर्ष के लिए रामगिरि पर्वत पर निर्वासित होने का दण्ड पाता है। निर्वासित यक्ष आठ माह तो व्यतीत कर देता है किन्तु वर्षा ऋतु आने पर प्रिया वियोग में उन्मत्त होकर उत्तर दिशा की ओर जाते हुये मेघ से अपनी प्रिया तक अपना प्रेम और विरह संदेश पहुंचाने का आग्रह करता है। इस काव्य के पूर्व मेघ खण्ड में प्रकृति के मनोहारी दृश्यों तथा वर्षा की कामोत्पादक विशेषताओं का आकर्षक चित्रण है। इस खण्ड में कालिदास ने रामगिरि पर्वत से लेकर अलकापुरी तक पहुँचने के मार्ग के नदी, पर्वत, ग्राम, नगर, नर-नारी एवं प्राकृतिक दृश्यों का बहुत ही सरस और हृदयग्राही वर्णन किया है। उत्तर मेघ में अलकापुरी के सौन्दर्य, वहाँ के वासियों के ऐश्वर्य और विलासपूर्ण जीवन, यक्ष पत्नी और यक्ष के संदेश का उल्लेख है। इसी कारण यह वियोग और शृंगार का श्रेष्ठ ग्रंथ है। अभिव्यंजना की सूक्ष्मता, कोमल भावना की अभिव्यक्ति और विषय की बहुलता के कारण मेघदूत को कालिदास की सर्वोत्कृष्ट रचना भी मान लिया जाता है। इस काव्य ग्रंथ में भावाभिव्यंजना का एक उदाहरण देखिए जिसमें यक्ष व्याकुल होकर कहता है—"हे प्रिये ! पत्थर के टुकड़े और भिन्न-भिन्न रंगों वाली धातु की खड़िया से जब मैं तुम्हारा चित्र खींचना चाहता हूँ, उस समय आंसू से मेरी आंखें भर जाती है और चित्र में भी मैं तुम्हारे दर्शन से वंचित कर दिया जाता हूँ।" प्रो. कीथ ने तो यह तक कह डाला कि "बादल के आगे बढ़ने के वर्णन का चमत्कार अथवा यक्षी के चित्र की करुणा की जितनी प्रशंसा की जाय उतनी थोड़ी है।" मेघदूत में

कालिदास ने प्रकृति के प्रति चेतनता में विश्वास प्रकट कर उसमें अपने हृदय का अनुराग उँडेल दिया है।

कुमारसम्भव—विश्व साहित्य के क्षेत्र में सांस्कृतिक चेतना जगाने वाले महाकवि कालीदास की लेखनी से दो महाकाव्य प्रकट हुये। इसमें **'कुमारसम्भव'** उनका उत्कृष्ट महाकाव्य है जिसमें कालीदास की काव्य कला का कमनीय दिग्दर्शन हुआ है। कुमारसम्भव की कथावस्तु का आधार शिवपुराण और विष्णु पुराण में वर्णित कथायें हैं किन्तु कालिदास ने अपनी काव्य विधा से इन कथाओं में जो रोचकता और लालित्य उत्पन्न किया उससे यह कथायें मौलिक प्रतीत होती हैं। इस काव्य के 17 सर्गों में शिव पार्वती के विवाह, कार्तिकेय के जन्म तथा तारकासुर के वध की कथा का वर्णन है। कुमार-सम्भव के प्रथम सर्ग में हिमालय के सौन्दर्य का संश्लिष्ट और बिम्बग्राही वर्णन है, दूसरे सर्ग में बसंत के आगमन और वनश्री की आभा, तीसरे सर्ग में शिव की तपस्या और कामदेव दहन, चौथे सर्ग में रति विलाप तथा पाँचवें सर्ग में पार्वती की तपस्या और बटुक वेषधारी शिव और पार्वती का संवाद बहुत ही उत्कृष्ट एवं प्रसादपूर्ण शैली में, अंकित किये गये हैं। आगे के सर्गों में शिव-पार्वती विवाह, कार्तिकेय के जन्म, उनकी बाल क्रिड़ाओं और उनके देव सेनानी नियुक्त होने तथा तारकासुर के वध का वर्णन है।

कुमार-सम्भव में कालिदास की वर्णनाशक्ति मृदुल और मनोहरी रूप से प्रस्फुटित हुई है। इस ग्रन्थ में हिमालय के हृदयग्राही प्राकृतिक सौन्दर्य, रति विलाप में प्रियतम की वियोगजन्य ज्वाला, पार्वती के यौवन जनित रूप सौंदर्य आदि प्रसंगों का अत्यन्त भावपूर्ण, आकर्षक और सुन्दर चित्रण किया गया है। किसी मार्मिक भाव को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करने की अपेक्षा कालिदास उसे अनूठी व्यंजना के सहारे संकेतों में व्यक्त करते हैं। कुमार-सम्भव काव्य कला की दृष्टि से कवि की विद्वता का प्रतीक ग्रंथ है। यह सुन्दरतम महाकाव्य और कवि की प्रौढ़ कृति है।

रघुवंश—कालिदास के काव्यों में ही नहीं अपितु समस्त संस्कृत साहित्य में **'रघुवंश'** का अत्यन्त उत्कृष्ट स्थान है। रघुवंश की कथा का मूल स्रोत वाल्मीकि कृत रामायण है। इसके 19 सर्गों में भारत के सूर्यवंशी राजा दिलीप से लेकर राम तथा राम के वंशजों का चरित्र चित्रण किया गया है। कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य में दिलीप, रघु, अज, दशरथ, राम, कुश आदि 19 सूर्यवंशी शासकों के जीवन चरित और घटनाओं के सहस्रों वर्षों के इतिहास को इस तरह से एकसूत्र में पिरोया है कि घटनाओं के बिखराव के बावजूद कथा के अनवरत प्रवाह में कहीं भी विराम और शिथिलता नहीं आई है। इस महाकाव्य के प्रथम नौ सर्गों में राम के चार पूर्वजों—दिलीप, रघु, अज और दशरथ का वर्णन मिलता है तथा 10वें से 15वें सर्ग तक के छः सर्गों में राम के जीवन वृत का वर्णन है। 16वें सर्ग से 19वें सर्ग तक के चार सर्गों में राम के वंशजों का वर्णन मिलता है।

रघुवंश में कालिदास की पूर्ण प्रगल्भता, परिपक्व प्रज्ञा और प्रौढ़ प्रतिभा का परिचय मिलता है। 19 सर्गों में ऐसे प्रशस्त एवं रुचिकर काव्य की सृष्टि

करना, अनुपम एवं उपयुक्त धारणाओं का स्वाभाविक समावेश करना, आकर्षक चरित्र-चित्रण और विशद् वर्णनों से उसकी श्री सम्पन्नता में वृद्धि करना और समय ग्रन्थ में इस व्यंजना और शैली का उचित समन्वय करना—ये सब कार्य कवि की सर्वातिशोविनी प्रतिभा के ही द्योतक है। इन्दुमति का स्वयंवर, अज का विलाप, राम तथा सीता की विमान यात्रा, निर्वासित होने पर लक्ष्मण द्वारा सीता का संदेश भेजना, शून्य अयोध्या का उसकी अधिष्ठायी देवी द्वारा कुश के स्वप्न में वर्णन—इसमें से प्रत्येक घटना इस ग्रन्थ में इतनी स्वाभाविक और रसास्निग्ध शैली में वर्णित हुई है कि पाठक पर वह अपनी अमिट छाप छोड़ जाती है। आदर्शों की अनुपम सृष्टि तथा रम्य और ललित कथोपकथन और सरस एवं स्पष्ट भावव्यंजना के लिए रघुवंश कालिदास की काव्य प्रतिभा को निरन्तर प्रस्फुटित करता रहेगा।

कालिदास एक नाटककार के रूप में— महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नाटककार भी हैं। कथावस्तु की गठन शैली में रमणीयता और पात्रों के चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता आदि सभी दृष्टिकोण से कालिदास के नाटक अद्वितीय सिद्ध होते हैं। कालिदास ने स्वयं लिखा है कि "**मेरे नाटक तो नये हैं, पुराने कितने ही विद्यमान हैं। किन्तु पुराने होने से कोई नाटक उत्तम नहीं कहा जा सकता और नया होने के कारण किसी नाटक को निन्दनीय भी नहीं माना जा सकता। कृति के गुण-दोष पर विचार करके परीक्षकों को निश्चित करना चाहिए कि कौनसा ग्रन्थ हेय है और कौनसा ग्राह्य।**" भारतीय नाट्यकला का पूर्ण उद्रेक हमें सर्वप्रथम कालिदास की रचनाओं में प्राप्त होता है। अनूठी कल्पना शक्ति और विलक्षण नाट्य नैपुण्य के बल पर कालिदास विश्व के सभी नाटककारों में अग्रगण्य माने जाते हैं। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उनके महाकाव्य जैसे सरस और हृदयग्राही हैं, जैसी नवीन और कमनीय कल्पना शक्ति उनके काव्य ग्रन्थ 'मेघदूत' में दिखायी देती है, वैसी ही रचना चातुरी से उनके नाटक भी देदिप्यमान हो उठे हैं। उनके निम्नलिखित तीन नाटक ग्रन्थ उपलब्ध हैं—

मालविकाग्निमित्र—यह एक ऐतिहासिक नाटक है जिसमें पांच अंक हैं। इसके पांच अंकों में कालिदास ने शुंगवंशीय शासक अग्निमित्र और उसकी रानी इरावती की परिचारिका मालविका के प्रेम का वर्णन किया है। राजमहिषि धारिणी की परिचारिका मालविका अपने अनुपम सौन्दर्य से राजा अग्निमित्र को आकृष्ट कर लेती है। रानी धारिणी को जब इसका पता चलता है तो वह ईर्ष्यावश मालविका को कारागार में डलवा देती है। अन्त में मालविका का यह संवाद की वह जन्म से विदर्भ की राजकुमारी है, तब राजा अग्निमित्र से उसका विवाह हो जाता है।

प्रथम कृति होने पर भी यह कवि की उत्कृष्ट रचना है। कवि की प्रसादपूर्ण मनोहर भाषा, चटकीले एवं सरस उत्तर तथा प्रत्युत्तर सामयिक कथन नाटक में विशेष स्थान रखने हैं। यद्यपि इसमें कुछ नाट्य दोष भी पाये गये हैं तथापि इसमें कालीदास की काव्य कला की प्रचुर झलक विद्यमान है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह

नाटक महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें यूनानियों के भारत से निष्कासन का भी वर्णन है।

विक्रमोर्वशीय—यह कालिदास का दूसरा नाटक है। इसमें पांच अंक हैं। इस नाटक के प्रतिष्ठान का आधार ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण तथा वायु पुराण में उल्लेखित ऐल राजा पुरुरवा और उर्वशी नामक अप्सरा की प्रेम कथा है। यही पुरूरवा और उर्वशी विक्रमोर्वशीय नाटक के नायक और नायिका हैं। जब दानव केशी स्वर्ग जाती हुई अप्सरा उर्वशी का अपहरण कर लेता है तब ऐलराजा पुरूरवा उर्वशी की रक्षा करते हैं। फलतः उर्वशी और पुरुरवा प्रेमवद्ध हो जाते हैं। उर्वशी को भरत मुनि के श्राप के कारण पृथ्वी पर आना पड़ता है। दोनों प्रेमपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। एक वार उर्वशी निषिद्ध कुमारवन में प्रविष्ठ हो जाने पर लता के रूप में परिवर्तित हो जाती है, इस पर राजा पुरुरवा द्वारा विरह-विलाप को कवि द्वारा अपूर्व रूप में अंकित किया गया है। संगमनीय मणि के प्रभाव से उर्वशी अपना वास्तविक रूप पुनः प्राप्त कर लेती है। राजा पुरुरवा के पुत्र के साक्षात्कार से उर्वशी श्राप मुक्त हो जाती है और वह स्वर्ग लौटना चाहती है परन्तु इन्द्र की आज्ञानुसार उर्वशी और पुरुरवा आदर्श दम्पत्ति की भांति जीवन यापन करते हैं।

विक्रमोर्वशीय संभवतः एक गीत काव्यात्मक नाटक है। पुरुरवा के प्रेम को कवि ने बहुत ही सजीव बना दिया है। उर्वशी के पुत्र के प्रति वात्सल्य को भी कवि ने सफलतापूर्वक चित्रित किया है। मालविकाग्निमित्र की अपेक्षा इस नाटक में कालिदास चरित्र-चित्रण व कथा वस्तु को प्रस्तुत करने में अधिक सफल हुए हैं।

अभिज्ञान शाकुन्तलम्—कालिदास की यह नाट्य कृति सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य के नाट्य साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचना है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् की मूल कथा वस्तु महाभारत के आदिपर्व में वर्णित शकुन्तलोपाख्यान पर आधारित है। इस सरस पौराणिक आख्यान को कवि ने अपनी प्रतिभा द्वारा नाटक में एक नवीन रूप प्रदान किया है। इस नाटक में सात अंक हैं जिनमें हस्तिनापुर के शासक दुष्यन्त तथा ऋषि विश्वामित्र की कन्या शकुन्तला के प्रेम, वियोग और पुनर्मिलन की कथा का वर्णन है। प्रथम अंक में ऋषि कण्व के आश्रम के प्राकृतिक वातावरण के मनोरम दृश्य तथा शकुन्तला और उसकी सखियों के आमोद-प्रमोद का सुन्दर वर्णन है; दूसरे अंक में दुष्यन्त और शकुन्तला के मध्य परस्पर अनुराग पैदा होने, तीसरे अंक में दुष्यन्त और शकुन्तला के समागम तथा गान्धर्व विवाह होने, चौथे अंक में शकुन्तला की कण्व ऋषि के आश्रम से बिदाई, पांचवें अंक में शकुन्तला के हस्तिनापुर पहुँचने और ऋषि दुर्वासा के श्राप के कारण दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला को नहीं पहचानने तथा दिव्य ज्योति द्वारा शकुन्तला को उसकी माता मेनका के पास मारीच ऋषि के आश्रम पहुंचाने, छठे अंक में अंगूठी मिलने पर दुष्यन्त को शकुन्तला की याद आने और दुःखी होने तथा सातवें अंक में स्वर्ग से लौटते हुए दुष्यन्त का मारीच ऋषि

के आश्रम में अपने पुत्र तथा शकुन्तला से मिलन होने आदि प्रसंगों का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया गया है।

अभिज्ञान शाकुन्तलम् कालिदास के नाट्य कौशल का अनुपम प्रमाण है। इस नाटक में मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति, चरित्र-चित्रण तथा प्रकृति चित्रण उच्चकोटि के हैं। नाटक की भाषा और संवाद सरस तथा पात्रों के अनुरूप है। इस नाटक में शृंगार और करुण रस का अपूर्व प्रदर्शन हुआ है। शकुन्तला के हृदय में दुष्यन्त के प्रति प्रेम उत्पन्न होने, उनके समागम और गान्धर्व विवाह के दृश्यों में शृंगार रस का प्रदर्शन है। कण्व ऋषि के आश्रम से शकुन्तला की बिदाई का चौथा अंक तो करूणा रस की दृष्टि से समस्त संस्कृत नाटक साहित्य उपवन का अद्वितीय सौरभयुक्त विकसित पुष्प है। इस अंक में शकुन्तला की बिदाई के दृश्य में कालिदास ने मानव और प्रकृति में भावनाओं के आदान-प्रदान और आत्मीयकरण का जो चित्र प्रस्तुत किया है वह अद्वितीय है। पाँचवें अंक में दुष्यन्त द्वारा पहचानने से मना करने पर अपमानित होकर रोती हुई शकुन्तला के गमन का दृश्य भी अत्यन्त करूणाजनक है। शकुन्तला की सुकुमारता, उसकी पवित्र मुग्धता, उसके वियोग और उसकी तपस्या आदि का कवि ने सफलता के साथ निरूपण किया है। इसमें भारतीय आदर्शों को भी दुष्यन्त एवं शकुन्तला के रूप में चित्रित किया गया है। यही कारण है कि भाषा की प्राज्वलता भावों की गहराई, सजीव चित्रण तथा रसों के सही निरूपण के कारण यह नाटक विश्व के साहित्य में विशिष्ट स्थान रखता है।

इस नाटक का अनुवाद संसार की अनेक भाषाओं में हो चुका है। विदेशी विद्वानों ने इस नाटक की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। जर्मन कवि गोरे का कहना है कि **"शकुन्तला विश्व की सर्वश्रेष्ठ कल्पना कृतियों में से एक है, जिसमें यौवन का फूल और प्रौढ़ावस्था का फल एक साथ मिल सके हैं।"** रवीन्द्रनाथ टैगोर का कथन सत्य है कि **"न तो शैक्सपियर का, न अन्य किसी पश्चिमीय अथवा भारतीय लेखक का नाटक कालिदास के इस नाटक की समानता कर सका है।"** वास्तव में अभिज्ञान शाकुन्तलम ने कालिदास की प्रतिभा को चरम एवं सर्वोच्च शिखर तक पहुँचा दिया है।

कविवर कालिदास का नाम अपनी महती उपलब्धियों के कारण आज भी जाज्वल्यमान नक्षत्र के समान जगमगा रहा है और जगमगाता रहेगा। वे सर्वश्रेष्ठ कवि एवं सर्वश्रेष्ठ नाटककार के रूप में सदा अमर रहेंगे। उनकी महान् देन को भारतीय साहित्य कभी नहीं भुला सकता।

कालिदास के साहित्य की विशेषतायें—कालिदास का सम्पूर्ण साहित्य अनुपम विशेषताओं से परिपूर्ण है। वह भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं। उनके पात्र भारतीय आदर्शों की भव्य मूर्ति है। उनके काव्यों में भारतीय समाज और संस्कृति का वास्तविक स्वरूप प्रतिबिम्बित है। कालिदास ने अपने काव्यों के

माध्यम से भारतीय संस्कृति के उच्च आदर्शों, धर्म और अनन्य सांस्कृतिक पक्षों को विशेष बल प्रदान किया है। भारतीय संस्कृति के इतिहास के नभ मण्डल में कालिदास का साहित्य चन्द्रमा के समान आलोकित है। उनके साहित्य की निम्न-लिखित विशेषतायें हैं—

(1) **भाषा और काव्य सौन्दर्य**—कालिदास की भाषा सरल, सरस, स्वाभाविक और सुन्दर है। उनकी भाषा क्लिष्टता और कृत्रिमता के परिहार से मुक्त अनवरत गति से बहती सरिता के समान सरल, सुबोध और मधुर है। उन्होंने सम्पूर्ण साहित्य में कहीं भी अनावश्यक अथवा अनुपयुक्त शब्दावली का प्रयोग नहीं किया। किसी बात को चित्रित करते समय कालिदास उसे वर्णनात्मक शब्दों में कहने की अपेक्षा व्यञ्जना के द्वारा ही प्रकट कर देते हैं। कतिपय चुने हुए शब्दों में किसी दृश्य की एक झाँकी प्रस्तुत कर देना उनकी कला का मर्म है। मन्दाक्राँता के लम्बे समासों में भी कहीं भाषा की शिथिलता और सरसता का अभाव दृष्टिगत नहीं होता है। वैदर्भी शैली के वह अनुपम आचार्य है। भाषा की मधुरता, कोमलता वाक्य विन्यास और भावानुकूल शब्द लाघव कालिदास के साहित्य की मुख्य विशेषता है।

कवि कालिदास छन्दों के प्रयोग के भी प्रवीण आचार्य थे। उन्होंने अपने साहित्य में भाव, रस तथा घटनाओं के अनुरूप इन्द्रवज्रा, वंशस्थ, वसन्त तिलका, मालिनी, शार्दूल विक्रीडित तथा मन्दाक्रान्ता छन्दों का सफल प्रयोग किया है। कालिदास अपनी छन्द योजना के प्रति इतने सचेत थे कि जहाँ कहीं भी रस और भाव में परिवर्तन हुआ, वहीं उन्होंने उसी के अनुरूप छन्द भी बदल दिये। इससे विचारों के प्रवाह के साथ-साथ छन्द, रस और भाव में मंजुल सामंजस्य उत्पन्न हो गया है। कुमार-सम्भव और रघुवंश महाकाव्य में काव्य नियमों के अनुसार एक सर्ग एक छन्द में लिखा गया है तथा सर्ग के अन्त में विभिन्न छन्दों का प्रयोग हुआ है।

कालिदास ने अपनी कविताओं में अलंकारों का प्रयोग बड़ी मर्मज्ञता से किया है। उपमा एवं अनुप्रास का प्रयोग तो उनके काव्य में सर्वत्र देखा जा सकता है किन्तु कहीं भी अलंकारों का प्रयोग भारस्वरूप नहीं है। उनकी उपमाओं में दिव्यता, सुबोधता और सरलता सर्वत्र दिखाई देती है जैसे राजा दिलीप और सुदक्षिणा के बीच में नन्दिनी वैसी ही सुशोभित हो रही है जैसे दिन और रात के मध्य रक्तवर्णा संध्या विराजती है—"**दिन पक्ष मध्य गतेव संध्या।**" क्लिष्टता और भावों का अर्थ बदलने के भय से कवि ने यमक और श्लेष अलंकारों का प्रयोग कम ही किया है।

(2) **उपमाओं का प्रयोग-'उपमा कालिदासस्य'** कहकर भारतीयों ने कालिदास को उपमाओं का अद्वितीय आचार्य स्वीकार किया है। उनका सम्पूर्ण साहित्य नवीन,

अनूठी, असाधारण और अद्वितीय उपमाओं से परिपूर्ण है। इन उपमाओं से उनके साहित्य का आनन्द द्विगुणित हो गया है। कालिदास ने यह उपमायें वहिर्जगत, अन्तर्जगत और जीवन के प्रत्येक अंग से चुनी है। इससे काव्य के सौन्दर्य और सौष्ठव में अपार वृद्धि हुई है। कालिदास के सम्पूर्ण साहित्य में उपमाओं की अनुपम छटा बिखरी पड़ी है। रघुवंश में इन्दुमति की उपमा दीपशिखा और अज की समता अट्ट से की गई है। इसी ग्रन्थ में दिलीप और सुदक्षिणा के बीच बैठी नन्दिनी की उपमा दिन और रात के बीच संध्या से दी गई है। कुमारसम्भव में शिव और पार्वती के विवाह के लिये कामदेव की आवश्यकता की उपमा देते हुये कवि ने कहा है कि उनके विवाह के लिये कामदेव उसी प्रकार आवश्यक है जैसे अंकुर फूटने से पूर्व बीज को जल की अपेक्षा होती है। इसी प्रकार शिव की कृपा से रहित तप से कृश पार्वती की उपमा इन्द्र की कृपा से रहित अनावृष्टि से क्षीण खेत की खूंड से दी गई है। मेघदूत में यक्ष पत्नी की आंसुओं से भरी आधी खुली आँखों की उपमा वर्षाकाल में अधखिली कमलिनी से दी गई है। इस प्रकार कालिदास ने अपनी सरल, स्वाभाविक और सुन्दर उपमाओं से साहित्य में जीवन्तता उत्पन्न करदी है।

(3) विषयों की सरसता—विषयों की सरसता कालिदास के साहित्य की प्रधान विशेषता है। कालिदास ने अपनी सुकुमार कल्पना, भाव व्यंजना, प्रांजल पद विन्यास और वर्णन शक्ति की काव्य प्रतिभा के बल पर नीरस और शुष्क विषयों में भी सरसता और रोचकता उत्पन्न कर दी है। वेद, महाकाव्य तथा पुराण साहित्य में सन्दर्भ रूप में वर्णित कथाओं को आधार बनाकर कालिदास ने अपनी लेखनी की कुशलता के बल पर इन कथानकों को सरस और आकर्षक बना दिया दिया है। ऋतु संहार के ऋतु वर्णन में कालिदास ने ग्रीष्म ऋतु की तपती दोपहरी में भी सौन्दर्य खोज निकाला है। उनके अनुसार ग्रीष्म के मध्यांह में सूर्य की सीधी किरणों के सम्पर्क से झरनों की धाराओं में छोटे-छोटे इन्द्र धनुष की छटा दिखाई देती है।

(4) प्रकृति चित्रण—कालिदास प्रकृति के प्रवीण कवि हैं। उनके काव्य में प्रकृति का अत्यन्त सुन्दर और रमणीय चित्रण प्राप्त होता है। उनकी अन्तरात्मा सदैव प्रकृति में रमती है। उनकी रंगभूमि प्रकृति की गोद ही है जो पियूषवर्षिणी प्रकृति के रस से रसवती है। उन्होने प्रकृति के जो चित्र उपस्थित किये हैं उनमें अपनी लेखनी से मानो प्राण फूंक दिये हैं। उनके प्रकृति वर्णन में निरीक्षण की नवीनता, सहृदयता की सरलता और कल्पना की कमनीयता पायी जाती है। कालिदास का प्राकृतिक वर्णन इतना उज्ज्वल, सजीव और विशद् है कि वर्णित दृश्य हमारी आँखों के सामने स्वतः ही उपस्थित हो जाता है।

रघुवंश, कुमार-सम्भव, मेघदूत, ऋतु संहार इत्यादि में प्रकृति का मनोरम चित्रण प्राप्त होता है। रघुवंश में वशिष्ठ ऋषि के आश्रम तथा त्रिवेणी के प्राकृ-

तिक सौन्दर्य का वर्णन है। कुमार-सम्भव की तो रंगस्थली ही प्रकृति है। इसमें हिमालय पर्वत के सौन्दर्य का वर्णन है। मेघदूत में रामगिरी से अलकापुरी तक के मार्ग का अत्यन्त मनोहारी चित्रण हुआ है। ऋतु संहार में छः ऋतुओं के प्राकृतिक सौन्दर्य का अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन किया गया है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् के प्रथम अंक में कण्व ऋषि के आश्रम के प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण तो अद्वितीय है। प्रकृति का अलंकारिक चित्रण प्रस्तुत करने और प्रकृति के चेतन रूप को स्वीकार करने में कालिदास की लेखनी अद्वितीय है।

संक्षेप में, निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि कालिदास प्रकृति के अनन्य पुजारी हैं। प्रकृति के प्रति उन सा भावुक हृदय अन्यत्र कम पाया जाता है। उन्होंने प्रकृति की विभिन्न अवस्थाओं के, उसके विचित्र रूपों के, उसकी विभिन्न प्रतिक्रियाओं के चित्र खींचने में जो अद्‌भुत सफलता प्राप्त की है, उसके कारण उन्हें निःसंकोच प्रकृति का सर्वश्रेष्ठ चित्रकार कहा जा सकता है।

(5) **मानव और प्रकृति में तादात्म्य**—कालिदास का सम्पूर्ण साहित्य प्राकृतिक दृश्यों के सजीव चित्रण से परिपूर्ण है। उनके प्राकृतिक वर्णन में अनेक विशिष्टतायें हैं। एक ओर जहाँ कवि ने मानव सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिये प्रकृति का आश्रय लिया है वहीं दूसरी ओर प्रकृति के ऊपर मानव की भावनाओं और कार्यों का प्रभाव अभिव्यक्त किया है। कालिदास ने कभी-कभी प्रकृति और मानव स्वभाव के बीच परस्पर प्रगाढ़ मैत्री तथा सहज प्रेम और सहानुभूति के सम्बन्ध स्थापित किये हैं। प्रकृति पर मानव के मनोवैज्ञानिक प्रभाव को व्यक्त करते हुए रघुवंश में कहा गया है कि दिलीप के वन में जाने पर जंगल की अग्नि भी बिना वृष्टि के शान्त हो गई और फल-फूलों की समृद्धि बढ़ गई। वन्य जीवों, प्रकृति और मानव के आत्मीय सम्बन्धों को व्यक्त करते हुये कालिदास ने रघुवंश (सर्ग 14 पद्य 39) में कहा है कि **"मृग सीता के दुःख में मुख से घास गिरा देते हैं, मयूर नाचना छोड़ देते हैं, वृक्षों के ह्रास-रूप पुष्प गिर पड़ते हैं। सीता के रोने पर सारा वन ही रो रहा है।"** प्रकृति और मानव के आत्मीय सम्बन्धों का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाटक का चौथा अंक है। इसमें शकुन्तला के कण्व ऋषि के आश्रम से पतिगृह के लिये विदाई के समय आश्रमवासियों के साथ प्रकृति भी दुःखी दिखाई देती है। इस दृश्य में कहा गया है कि पतिगृह को जा रही शकुन्तला को वृक्ष वस्त्रों, लाक्षारस तथा फूलों के आभूषण के रूप में अनेक उपहार देकर उसके प्रति अपना प्रेम प्रकट करते हैं और कोयल भी ध्वनि द्वारा उसे बिदाई की स्वीकृति देती हैं। शकुन्तला के सम्भावित वियोग से आश्रमवासियों के साथ प्रकृति भी दुःखी है। मृगियों ने तृण खाना छोड़ दिया, मोरों ने नृत्य करना छोड़ दिया और लतायें पत्तों के त्याग के रूप में आंसू बहा रही है। मेघदूत में

यक्ष प्रकृति के सौन्दर्य से अपने सन्तप्त हृदय को शांत करता है। इस प्रकार प्रकृति के साथ मानव के आत्मीय सम्बन्धों की अभिव्यक्ति केवल कालीदास के साहित्य में ही मिलती है।

(6) **चरित्र-चित्रण एवं भाव व्यंजना**—चरित्र-चित्रण की दृष्टि से कालिदास विश्व के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। उनके सभी पात्र आदर्श चरित्र के धनी हैं। कुमार-सम्भव में कालीदास ने हिमालय पुत्री पार्वती की तपस्या और पतिव्रत्य का अपूर्व चित्रण किया है। धीरता की मूर्ति धारणी, चपल प्रेम की प्रतिमा मालविका, उन्मत्त प्रेम की अधिकारिणी उर्वशी, स्वाभाविक ईर्ष्या तथा प्रणय मान की प्रति-विधि इरावती और प्रेम, मैत्री, लज्जा, करुणा और तेज की मूर्ति शकुन्तला आदि समस्त चरित्र कालिदास की लेखनी के दिव्य से प्रकाशित हो उठे हैं। रघुवंश चरित्र चित्रण के सृजन में अद्वितीय है। गुरुवाक्य में अटल विश्वास तथा अतिथि सेवा के व्याकुल दिलीप का चरित्र जितना सुन्दर है; वरतन्तु की इच्छा पूर्ति करने वाले रघु का चरित्र भी उतना ही श्लाघनीय है। मर्यादा के रक्षक और लोकरंजक शासक के रूप में राम के चरित्र को कालिदास ने अतीव कोमल तूलिका से चित्रित किया है। दुष्यन्त एक प्रेमी, पुत्र वत्सल पिता और कर्त्तव्यपरायण राजा के रूप में धीरोदत्त नायक है।

कालिदास के साहित्य में हृदय पक्ष का प्राधान्य है। कवि मानव हृदय की परिवर्तनशील वृत्तियों को समझने तथा उन्हें अभिव्यक्त करने का अद्भुत चातुर्य रखते थे। अतः उनकी रचनाओं में मानव हृदय की कोमल भावनाओं का अत्यन्त सुन्दर वर्णन हुआ है। कालिदास ने मानव जीवन के ऐसे गूढ़तम विषयों का भी सजीव चित्रण किया है जिनकी सामान्यतया साहित्यकार उपेक्षा कर देते हैं। उदाहरणार्थ मेघदूत में यक्ष व्याकुल होकर कहता है **"हे प्रिय पत्थर के टुकड़े के भिन्न-भिन्न रंगों वाली धातु की खड़िया से जब तुम्हारा चित्र खींचना चाहता हूँ, उस समय आंसू से मेरी आंखें भर जाती हैं और चित्र में भी तुम्हारे दर्शन से वंचित** *हो जाता हूँ"*। इसी प्रकार *अभिज्ञान शाकुन्तलम्* नाटक में कण्व ऋषि के आश्रम से विदा होते हुये शकुन्तला की मानसिक स्थिति, संसार से विमुख वीतरागी कण्व की भावाभिव्यक्ति एवं उसकी सखियों के वियोगजन्य दुःख का चित्रण मानवीय भाव-नाओं की अभिव्यक्ति के अनुपम उदाहरण है। इसी प्रकार रघुवंश में अज-इन्दुमती विवाहोत्सव के वर्णन में कवि ने लज्जा की मर्यादा और प्रेम की उच्छृंखलता के संघर्ष के बीच प्रेम भावनाओं का अनुपम चित्रण किया है।

(7) **सौन्दर्य वर्णन**—कालिदास सौन्दर्योपासक कवि थे। वे सौन्दर्य की कोमल भावनाओं के सच्चे पारखी थे। प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ नारी सौन्दर्य के वर्णन में उनकी विशेष रुचि थी। उनके अनुसार अकृत्रिम सौन्दर्य ही सच्चा सौन्दर्य

है। कुमार-सम्भव के आठवें सर्ग में कालिदास ने पार्वती के नख-शिख वर्णन में अंग-अंग में रुचि लेकर उनके प्रत्येक अवयव का प्रत्यक्षीकरण कराया है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में शकुन्तला के सौन्दर्य का वर्णन तो अद्वितीय है। कवि ने उसके सौन्दर्य की तुलना पुष्पित लता से की है—"उसके अधर नये पल्लव की लालिमा लिये हैं, उसकी भुजायें कोमल शाखाओं का अनुकरण करते हुए झुकी है, विकसित फूल के समान लुभावना यौवन अंगों से प्रस्फुटित हो रहा है।" मेघदूत में यक्ष मेघ के समक्ष अपनी पत्नी के सौन्दर्य का वर्णन करता है। परन्तु महाकवि स्त्री के बाह्य या शारीरिक सौन्दर्य को सच्चा सौन्दर्य नहीं मानते उनकी दृष्टि में सच्चा सौन्दर्य चरित्र और शुभ गुण है। कुमार-सम्भव में उल्लेख है कि जब शरीर सौन्दर्य से पार्वती शिव को आकृष्ट नहीं कर सकी तो उन्होंने मन ही मन अपने रूप की निन्दा की और फिर अपने रूप को तपस्या के द्वारा सफल बनाने का प्रयास किया।

कालिदास सौन्दर्य की पूर्णता प्रेम में मानते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि में विषय वासनायुक्त प्रेम सच्चा प्रेम नहीं है। कष्टों और वियोगों की आग में जलने के पश्चात् स्थायी रहने वाला प्रेम ही सच्चा प्रेम है। उनके काव्यों और नाटकों में ऐसे ही प्रेम की भावना प्रधान रही है। कालिदास प्रेम में भ्रमर वृति अथवा स्वच्छन्द प्रेम के समर्थक नहीं है। उनकी दृष्टि में दाम्पत्य प्रेम ही उचित प्रेम है। उनके काव्य के सभी प्रेमी अन्त में दाम्पत्य जीवन में प्रवेश करते हैं।

(8) जीवन के आदर्श—कालिदास का साहित्य मात्र एक साहित्यिक विधा ही नहीं है अपितु उनके साहित्य में लोकोत्तर चरित्रों के माध्यम से मानव की आत्मिक, मानसिक, सामाजिक और शारीरिक उन्नति की प्रेरणा छिपी हुई है। कालिदास महाकवि हैं उनके आदर्श और सन्देश सर्वकालिक है। उनकी मान्यता है कि कर्त्तव्य प्रमाद दण्डनीय है। इसी कारण यक्ष निर्वासित होता है और उर्वशी व शकुन्तला शापग्रस्त होती है। उनके अनुसार कामासक्ति जघन्य है। इसी सिद्धान्त की पुष्टि के लिये उन्होंने अज और इन्दुमती, काम और रति, यक्ष और यक्ष पत्नी तथा दुष्यन्त और शकुन्तला के चरित्र उतारे हैं। कालिदास यौवन के उद्दाम प्रेम को उचित नहीं मानते हैं वे उसमें संयम के पक्षपाती हैं। कालिदास के अनुसार आर्य नारी अपने पति में कोई दोष नहीं देखती है। निर्वासिता सीता कहती है कि उनकी कामना तो यही है कि उन्हें जन्मान्तार में भी यही पति मिले। कालिदास के अनुसार मानव को त्याग के लिये अर्थ संग्रह, सत्य बोलने के लिए मितभाषण, यश के लिए जय कामना और सन्तानोत्पत्ति के लिये विवाह करना चाहिए। मानव जीवन के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि वह बाल्यकाल में विद्या प्राप्त करें, युवावस्था में विषयों का भोग करे और वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति कर योग द्वारा शरीर का त्याग करे।

अभिज्ञान शाकुन्तलम् में दुष्यन्त को एक प्रेमी, पुत्र वत्सल, प्रजा पालक और धीरोदत्त नायक के रूप में तथा शकुन्तला को प्रेम, लज्जा, करुणा, धैर्य, तथा तेज की मूर्ति और कर्त्तव्यपरायण माता के रूप में चित्रित किया गया है। रघुवंश के राम भारतीय जीवन के आदर्शों के प्रतीक है। मर्यादा तथा व्यवस्था की रक्षा के लिए शारीरिक, मानसिक और सामाजिक यन्त्रणा सहने तथा लोकरंजन के लिये प्राण प्रिया भार्या का परित्याग करने वाले चरित्र के माध्यम से कालिदास यह सन्देश देते हैं कि मानव अपने लिये नहीं दूसरों के लिये जीवित रहे। जीवन में धैर्य, श्रद्धा, भक्ति, माता-पिता, गुरु आदि की सेवा, भ्रातृ प्रेम, एक पत्नीव्रत आदि जीवन के आदर्श तथा जगत की मर्यादा है। कालिदास ने दिलीप, रघु, अज और राम में इन आदर्शों को खूब हृदयंगम किया है।

कालिदास ने अपने साहित्य में मानव जीवन के आदर्शों के साथ राजनीतिक जीवन के आदर्शों का भी प्रतिपादन किया है। रघुवंश इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। रघुवंश का प्रत्येक राजा—दिलीप, रघु, दशरथ, राम अपने पुत्रों के युवा होने पर उन्हें राज्य सौंपकर संन्यास ग्रहण करते हैं। प्रजारंजन और प्रजारक्षण राजा के मूल कर्त्तव्य थे। प्रजारंजन के लिये ही राम ने अपनी प्राण प्रिया पत्नी सीता का परित्याग किया था। दुष्यन्त भी प्रजारंजक और प्रजारक्षक शासक थे। कालिदास के अनुसार जिस प्रकार वृक्ष धूप सहकर भी यात्रियों को छाया देते हैं वैसे ही राजा को भी कष्ट सहकर प्रजा का हित करना चाहिए।

कालिदास ने अपने विचारों में अनेक सूक्तियाँ प्रतिपादित की है। उनमें से कुछ तो लोकोक्तियाँ सी बन गई हैं जैसे—किसी को कभी भी नितान्त सुख या दुःख नहीं मिलता है, व्यर्थ का काम करने वाले तिरस्कार के भागी होते हैं, दुष्टों का शासन उपकार से नहीं होता, प्रेम की धारा दोनों ओर से बहने पर ही आनन्ददायक होती है, आदि।

उपर्युक्त काव्यात्मक विशेषताओं के कारण ही कालिदास की कविता विश्व साहित्य में श्रेष्ठता का प्रतीक बन गयी है। इसी कारण अनेक विद्वानों ने कालिदास की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। नवम् शताब्दी में आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक में लिखा है कि "इस संसार में अनेक कवि पैदा होते हैं, फिर भी उनमें से कालिदास के समान दो, तीन या अधिक से अधिक पाँच छः व्यक्तियों को ही महाकवि की उपाधि दी जा सकती है।" टीकाकार मल्लिनाथ ने तो यहाँ तक कह दिया "कालिदास की वाणी के सार को आज तक केवल तीन व्यक्तियों ने ही समझा है, एक तो ब्रह्मा, दूसरे सरस्वती और तीसरे कालिदास स्वयं। मेरे समान पुरुष तो उन्हें ठीक-ठीक समझने में असमर्थ हैं।" कालिदास वास्तव में संसार के सर्वश्रेष्ठ कवियों में से हैं।

सन्त प्रवर तुलसीदास

संत प्रवर तुलसीदास मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं। उन्होंने विधर्मी शासन के अत्याचारों से पीड़ित और निष्क्रिय भारतीय संस्कृति में नवजीवन का संचार किया। मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान में उनका अभूतपूर्व योगदान है।

वस्तुतः तुलसी हिन्दी साहित्याकाश के ज्योतिवन्त नक्षत्र हैं। पं. रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सर्वाधिक विस्तृत अधिकार रखने वाला हिन्दी का सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एकमात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत हृदय, भारतीय कण्ठ, भक्त चूड़ामणि, गोस्वामी तुलसीदास। निःसन्देह तुलसी युगप्रवर्तक थे जिन्होंने अपनी मेधावी शक्ति के द्वारा रामचरितमानस का सृजन कर एक ऐसा पौष्टिक रसायन तैयार किया, जिसे खाकर भारतीय संस्कृति अमर हो गयी। उनकी काव्य रूपी पियूष मन्दाकिनी का पयपान कर भारतीय जनमानस ने शीतलता और तृप्ति का अनुभव किया। समाज के इस दिग्दर्शक को माँ भारती के मन्दिर में समासीन होने के लिए उच्चतम सिंहासन प्राप्त है।

जीवन वृत्त—भारतीय साहित्य परम्परा में कवि अपना परिचय देकर अहंकार प्रकट करना नहीं चाहते थे। अतः उनकी रचनाओं में उनके जीवन वृत के बारे में स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती है। अन्य कवियों और सन्तों की भाँति गोस्वामी तुलसीदास के जीवन के सम्बन्ध में भी निश्चित और प्रमाणिक जानकारी प्राप्त नहीं होती। उनके जन्म के समय के बारे में भी मतभेद है। कहा जाता है कि वे मुगल सम्राट अकबर के समकालीन थे। कतिपय विद्वान तुलसीदास के शिष्य वेणी माधवदास के 'गुसाईं चरित्र' के आधार पर तुलसीदास की जन्म तिथि 1497 ई. (विक्रम संवत 1554) मानते है। परन्तु अधिकांश विद्वान भारतीय जनश्रुति के आधार पर उनकी जन्म तिथि 1532 ई. (विक्रम सं. 1589) की श्रावण शुक्ला सप्तमी मानते हैं।

एक अनुश्रुति के अनुसार गोस्वामी तुलसीदास का जन्म उत्तर प्रदेश के बांदा जिले के राजापुर ग्राम अथवा सोरो नामक स्थान पर हुआ था। उनके पिता सरयूपारीण ब्राह्मण आत्माराम दुबे थे। उनकी माता का नाम हुलसी था। कहा जाता है कि तुलसीदास का जन्म अमुक्त मूल नक्षत्र में हुआ था और जन्म के समय उनके मुँह में बत्तीस दाँत विद्यमान थे। इस अद्भुत बालक को देखकर इनके पिता

अनेक आशंकाओं से भयभीत हो गये । अतः जन्म के तीन दिन बाद उन्होंने बालक को चुनियाँ नामक दासी को सौंप दिया । अगले दिन इनकी माता की मृत्यु हो गई । दासी चुनियाँ ने बालक तुलसीदास का पुत्रवत् पालन-पोषण किया किन्तु तुलसी के साढ़े पाँच वर्ष का होने पर चुनियाँ का देहान्त हो गया । अब तुलसीदास अनाथ होकर इधर-उधर भटकने लगे ।

इस समय तुलसीदास काशी में गुरु नरहरिदास के सम्पर्क में आये । नरहरिदास ने बालक का नाम रामबोला रखा और उनका यज्ञोपवीत किया । काशी में रहते हुये तुलसीदास ने गुरू नरहरिदास के निर्देशन में विद्याध्ययन आरम्भ किया । इसके बाद पन्द्रह वर्ष तक उन्होंने शेषसनातन जी के पास वेद, वेदांग और पुराण आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया । शिक्षा समाप्ति के बाद उनका विवाह भारद्वाज गोत्रीय दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ । कहा जाता है कि तुलसीदास अपनी पत्नी रत्नावली से अत्यधिक प्रेम करते थे और एक पल भी उसका वियोग सहन नहीं कर सकते थे । एक दिन इनकी पत्नी उनकी अनुपस्थिति में उनसे पूछे बिना अपने भाई के साथ अपने पीहर चली गई । पत्नी का वियोग सहन न कर सकने वाले तुलसीदास रात को उफनती नदी पार कर अपने ससुराल जा पहुँचे । तुलसीदास की इस कामासक्ति को देखकर रुष्ट हुई रत्नावली ने उनसे कहा कि—

"अस्थि चरम मय देह में, ता में ऐसी प्रीति ।
तैसी जो श्रीराम मेह होती, न भव भीति ।।"

अर्थात् 'मेरे इस हाड़-मांस के शरीर में तुम्हारी जितनी आसक्ति है उससे आधी भी यदि श्रीराम में होती तो तुम्हारा बेड़ा पार हो गया होता ।' पत्नी के ये शब्द तुलसीदास को लग गये और वे तुरन्त वहाँ से चल दिये । उनका वासनामय अनुराग वैराग्य में बदल गया । उन्होंने गृहस्थ जीवन त्यागकर साधुवेश धारण कर लिया । इसके पश्चात् प्रयाग, अयोध्या, मानसरोवर आदि स्थानों का भ्रमण करते हुये वे काशी पहुँचे और वहीं बस गये । कहा जाता है कि यहाँ रहकर तुलसीदास ने भगवान शंकर की आज्ञा से जनसाधारण में प्रचलित राम कथा को जनभाषा में 'रामचरितमानस' के रूप में ग्रन्थ बद्ध किया । कहा जाता है कि इस ग्रन्थ की रचना में तुलसीदास को दो वर्ष, सात माह और छब्बीस दिन लगे थे । इसके बाद उन्होंने अन्य ग्रन्थों की रचना की । काशी में शान्तिपूर्वक राम स्तुति का गान करते हुये असीघाट पर श्रावण शुक्ला सप्तमी को 1623 ई. (वि. सं. 1680) में तुलसीदास की मृत्यु हो गयी।

सन्त कवि—तुलसीदास एक महान कवि ही नहीं वरन् महान सन्त भी थे । वे भारतीय संस्कृति के प्रथम महाकवि हैं जिनमें सन्त और कवि दोनों के गुण विद्यमान थे । उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से भारतीय धर्म, जीवन, साहित्य और संस्कृति में नवजीवन का संचार किया । उन्होंने लोक धर्म और संस्कृति की

बिखरी कड़ियों को एकसूत्र में पिरोया। इसीलिए आज भी करोड़ों हिन्दू उन्हें श्रद्धा और सम्मानपूर्वक स्मरण करते हैं।

तुलसी महाकवि के रूप में—तुलसी हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। **डॉ. रामचन्द्र शुक्ल** के अनुसार **"तुलसी जैसी काव्य प्रतिमा लेकर दूसरा कोई इस संसार में जन्मा ही नहीं। वे काव्य के प्रत्येक क्षेत्र में उस स्थान पर हैं जिस स्थान पर उस क्षेत्र का सबसे बड़ा कवि है।"** उन्होंने हिन्दी साहित्य के चरम उत्कर्ष काल में हिन्दी में प्रचलित सभी शैलियों में साहित्य रचना की है। उनका साहित्य विशाल है। उन्होंने 'प्रबन्ध' और 'मुक्तक' दोनों प्रकार की साहित्य रचना की है। कहा जाता है कि उन्होंने 25 श्रेष्ठ साहित्यिक ग्रन्थों की रचना की थी किन्तु नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने तुलसी के बारह ग्रन्थों को प्रामाणिक माना है— **(1) रामचरितमानस (2) विनय-पत्रिका (3) कवितावली (4) दोहावली (5) गीतावली (6) बरवै रामायण (7) रामाज्ञाप्रश्न (8) रामलला नहछू (9) कृष्ण गीतावली (10) वैराग्य संदीपनी (11) पार्वती मंगल (12) जानकी मंगल।**

(1) रामचरितमानस—रामचरितमानस तुलसीदास की सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसने तुलसी को अमर बना दिया है। भाषा, भाव, प्रबन्ध कौशल, छन्द और अलंकार योजना तथा रचना कौशल आदि दृष्टियों से रामचरितमानस हिन्दी साहित्य की अनुपम और अद्वितीय रचना है।

रामचरितमानस सात काण्डों में विभक्त है—बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, लंका और उत्तरकाण्ड। इसमें त्रेतायुग के विष्णु अवतार मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र का विस्तृत वर्णन किया गया है। रामचरितमानस राम की कीर्ति का अनन्त भण्डार ही नहीं अपितु हमारे आदर्शों का आदर्श है। इस ग्रन्थ में तुलसी ने पात्रों के सजीव और स्वाभाविक चरित्र-चित्रण के माध्यम से विभिन्न आदर्श प्रस्तुत किये हैं। राम इस काव्य के धीरोदत्त नायक हैं। तुलसी ने उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम और लोक रक्षक के रूप में चित्रित किया है। इसके अतिरिक्त इसमें आदर्श राजा के रूप में दशरथ और जनक, आदर्श माता के रूप में सुमित्रा और कौशल्या, आदर्श पुत्र के रूप में राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न, आदर्श भ्राता के रूप में लक्ष्मण और भरत, आदर्श पतिव्रता पत्नी के रूप में सीता, आदर्श मित्र के रूप में सुग्रीव, आदर्श शत्रु के रूप में रावण, आदर्श सेवक के रूप में हनुमान तथा देशद्रोही के रूप विभीषण का चरित्र-चित्रण हुआ है। आदर्शों का ऐसा अनुपम और उदात्त चित्रण विश्व साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। तुलसीदास ने इन चरित्रों के माध्यम से भारतीय संस्कृति के महान आदर्शों को मूर्तरूप दिया है। इसी आदर्श प्रधान अर्चना के कारण उन्हें भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधि कवि माना जाता है।

रामचरितमानस साहित्यिक दृष्टि से प्रबन्ध काव्य का आदर्श है। इसमें महाकाव्य के समस्त शास्त्रीय लक्षणों का भली प्रकार पालन हुआ है। सौन्दर्य वर्णन के अन्तर्गत अयोध्या, जनकपुरी और लंकापुरी के सौन्दर्य तथा चित्रकूट, पंचवटी आदि वनों के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन अत्यन्त चित्ताकर्षक है। इस काव्य में तीन प्रधान रसों—शृंगार, वीर और शान्त रस का भली प्रकार निर्वहन हुआ है जिसमें शान्त रस की प्रधानता है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी तुलसी ने अद्भुत योग्यता प्रदर्शित की है। महाकाव्य में भाव और भाषा का मंजुल समन्वय है।

चरित्र-चित्रण और काव्यात्मक दृष्टि से आदर्श ग्रन्थ होने के साथ समन्वय की दृष्टि से भी यह एक महान ग्रन्थ है। तुलसीदास ने अपने युग में प्रचलित परस्पर विरोधी धार्मिक परम्पराओं और सम्प्रदायों में समन्वय करने का प्रयास किया था। उन्होंने शिव पार्वती तथा राम की स्तुति कर शैव और वैष्णव मतों में एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार उन्होंने निर्गुण और सगुण भक्ति, भक्ति और ज्ञान, गृहस्थ और वैराग्य तथा ब्राह्मण और शूद्र का अपने ग्रन्थ के चरित्रों के माध्यम से सुन्दर समन्वय किया है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार तुलसी का सम्पूर्ण काव्य **'समन्वय की विराट चेष्टा'** है।

इस प्रकार रामचरितमानस एक सम्पूर्ण काव्य है जिसके अक्षय भण्डार में हमारी संस्कृति के उच्च आदर्श और परम्परायें सन्निहित हैं। इसमें हमारी संस्कृति का जीवन्त स्वरूप परिलक्षित होता है। यह समग्र रूप से भारतीय संस्कृति का आदर्श धार्मिक ग्रन्थ है। प्रत्येक हिन्दू के लिए यह ग्रन्थ उतना ही सम्मानीय है जितनी ईसाइयों के लिए बाइबिल और मुस्लिम धर्मावलम्बियों के लिए कुरान है।

(2) विनय पत्रिका—विनय पत्रिका तुलसी का उत्कृष्ट गीतिकाव्य है। ब्रजभाषा में रचित इस मुक्तक काव्य में विनय सम्बन्धी पद हैं। राम भक्ति इस ग्रन्थ का आदर्श है। इसमें आध्यात्मिकता पर विशेष बल दिया गया है। भक्ति रस की यह उत्कृष्ट रचना है जिसमें भक्त मुक्ति और उद्धार के लिए अपने आराध्य देव राम की अभ्यर्थना और अर्चना कर रहा है। इस काव्य के गीत भावना तथा संगीत प्रधान हैं। इसके गीतों में शान्त रस और कहीं-कहीं ओज की प्रधानता है। इसमें ज्ञान, भक्ति और वैराग्य सम्बन्धी विचारों का सुन्दर वर्णन है।

(3) कवितावली—कवितावली भी मुक्तक काव्य है जिसमें तुलसीदास ने मनोहर और कवित्त सवैयों में अपने आराध्य देव राम का स्तुतिगान किया है। इस काव्य की भाषा अत्यन्त भाव प्रवण है। इसमें विभिन्न रसों—वात्सल्य, शृंगार, वीर और वीभत्स आदि का सुन्दर निर्वाह हुआ है। इसके केवट-प्रसंग, लंका दहन तथा हनुमान के युद्ध कौशल का वर्णन उल्लेखनीय है। इसके पद रागबद्ध और गेय हैं।

(4) **दोहावली**—इसमें दोहों के रूप में राम का स्तुति गान किया गया है इसमें कुल 573 दोहे हैं जिनमें से 85 दोहे रामचरितमानस से उद्धृत किये गये हैं।

(5) **गीतावली**—यह तुलसीदास का एक अन्य गीति काव्य है। इसके ब्रज भाषा के गेय पदों में रामचरित का सुन्दर वर्णन किया गया है। यह एक सरल और लीला प्रधान रचना है जिसमें वात्सल्य रस का सजीव और हृदयग्राही वर्णन है। तुलसी की इस रचना पर कृष्ण काव्य का प्रभाव दिखाई देता है क्योंकि इसके कई छन्द सूरदास के छन्दों के समान हैं।

(6) **बरवै रामायण**—इसमें बरवै छन्द में राम के जीवन से सम्बन्धित विभिन्न घटनाओं का वर्णन किया गया है।

(7) **रामाज्ञाप्रश्न**—यह अवधी भाषा में लिखी गई रचना है जिसमें सात सर्ग हैं। इसके दोहों में प्रश्नोत्तर रूप में राम-कथा समाहित है।

(8) **रामललानहछू**—यह पूर्वी अवधी भाषा में सोहर छन्द में लिखा खण्ड काव्य है जिसमें शृंगार रस में राम-कथा से सम्बन्धित कुछ छन्द हैं।

(9) **कृष्ण गीतावली**—यह भी गीति काव्य है जिसमें ब्रज भाषा में कृष्ण चरित्र का स्फुटपदों में वर्णन किया गया है।

(10) **वैराग्य-संदीपनी**—इसमें दोहा, चौपाई और सोरठा छन्दों के माध्यम से धर्म और ज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है।

(11) **पार्वती मंगल**—इस खण्ड काव्य में शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन है।

(12) **जानकी मंगल**—अवधी भाषा के इस खण्ड काव्य में राम और सीता के विवाह का वर्णन है।

तुलसी की काव्यात्मक विशेषतायें—तुलसीदास हिन्दी साहित्य की अमूल्य और सर्वोत्तम निधि है। उनका आविर्भाव हिन्दी साहित्य के लिए अत्यन्त कल्याणकारी सिद्ध हुआ। जिस युग में निवृत्तिमूलक विचारधारा के कारण रागात्मक प्रवृत्ति की धारा शुष्क हो रही थी। उस युग में तुलसी ने रागात्मक प्रवृत्ति को पुनःपल्लवित किया। उनकी रचनाओं में विविधता पूर्ण भावों की व्यंजना है। उनका ब्रज, अवधी और संस्कृत तीनों भाषाओं पर असाधारण अधिकार था। रामचरितमानस की भाषा अवधी है। विनय पत्रिका, कवितावली और दोहावली की भाषा संस्कृत प्रधान ब्रज भाषा है। उनकी भाषा में लौकिक और शास्त्रीय गुणों का सामंजस्य है। तुलसी की भाषा साधु, परिमार्जित तथा प्रसाद गुण युक्त है। तुलसी के काव्य में सभी रसों का पूर्ण परिपाक है जिनमें मुख्य रूप से भक्ति, वीर और शृंगार रसों की प्रधानता है।

तुलसी ने अपने युग में प्रचलित सभी काव्य शैलियों का अपनी रचनाओं में सफल प्रयोग किया गया था। युद्ध प्रसंगों में वीर गाथा की छप्पय शैली, भक्ति पदों में गीति शैली, नीति वाक्यों में सूक्ति शैली तथा अन्य स्थानों पर सवैया कवित्त और दोहा-चौपाई शैलियों का तुलसी ने सफल प्रयोग किया है।

तुलसी काव्यशास्त्र के पण्डित थे। उन्हें छन्द और अलंकार के भेदोपभेद का पूर्ण ज्ञान था अतः उन्होंने अपनी कृतियों में दोहा, चौपाई, सोरठा, गीतिका, सवैया, छप्पय और बरवै छन्दों का सफल प्रयोग किया है। अलंकारों की दृष्टि से तुलसी का काव्य सम्पन्न है। उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा उनके प्रिय अलंकार थे। अलंकारों का प्रयोग भाव और रसों के अनुरूप तथा काव्य की शोभा बढ़ाने वाला हैं। तुलसीदास की काव्यात्मक श्रेष्ठता के सम्बन्ध में **डॉ. रामचन्द्र शुक्ल** ने लिखा है कि **"तुलसी जैसी काव्य प्रतिभा लेकर दूसरा कोई इस संसार में जन्मा ही नहीं। वे काव्य के प्रत्येक क्षेत्र में उस स्थान पर हैं जिस स्थान पर उस क्षेत्र का सबसे बड़ा कवि है।"**

लोक कवि—तुलसीदास सम्भवतः प्रथम कवि थे जिन्होंने देव भाषा संस्कृत का मोह त्याग कर लोक भाषा में अपने काव्य की रचना की। उन्होंने अपनी सभी कृतियां जनसाधारण की बोलचाल की भाषा हिन्दी में लिखकर वास्तविक अर्थों में लोक कवि का पद ग्रहण किया। उन्होंने अपनी रचनाओं में जन भाषा अवधी और ब्रज को अपनाया जिसके फलस्वरूप उनके आदर्श और भावनायें जनता सरलता से समझ सकी। जन भाषा के प्रयोग के कारण ही तुलसी का काव्य रामचरितमानस शीघ्र ही हिन्दुओं की प्रेरणा का स्रोत और मार्गदर्शक बन गया।

भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि—तुलसीदास भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में भारतीय संस्कृति की उद्दात्त परंपराओं और महान आदर्शों का निरूपण किया है। हिन्दू धर्म और संस्कृति उनके साहित्य में एकाकार हो गये हैं। उनकी रचना रामचरितमानस में हिन्दू संस्कृति का समग्र चित्रण हुआ है। वैदिक काल से लेकर मध्य काल तक का सम्पूर्ण हिन्दू चिन्तन इस ग्रन्थ में समाहित है। रामचरितमानस सच्चे अर्थों में हिन्दू धर्म की सांस्कृतिक रचना है। आज भी मध्य और उत्तरी भारत के हिन्दू नैतिक विषयों पर तुलसी के मत को ही प्रमाण मानते हैं। तुलसी भारतीय संस्कृति के सूर्य हैं। **डॉ. रामचन्द्र शुक्ल** के अनुसार **"भारत हृदय, भक्त शिरोमणि तुलसीदास जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखने वाले हिन्दी के सबसे बड़े कवि हैं।"**

तुलसी का लोकनायकत्व—जब समाज में विशृंखलता उत्पन्न होकर उसकी गति अवरुद्ध हो जाती है, उस समय किसी ऐसे महापुरुष का आविर्भाव होता है, जो प्रकृति के सम्पूर्ण विरोधी तत्वों एवं गतिरुद्धता के कारणों का परिष्कार कर

समाज में परस्पर सहयोग और समानता की भावना उत्पन्न करता है । इसका इतिहास साक्षी है । महाभारत काल में राम युग की मर्यादा नष्ट होने पर भारतीय संस्कृति के लिए भयंकर संकट उत्पन्न हो गया था, ऐसे समय योगिराज कृष्ण ने प्रतिकूल शक्तियों का उन्मूलन कर ज्ञान, कर्म एवं भक्ति की एकता स्थापित की । कालान्तर में पुनः कर्मकाण्ड की प्रधानता होने के कारण सामाजिक गतिरोध उत्पन्न होने पर गौतम बुद्ध सामने आये । आगे चलकर तुलसीदास ने इस प्रक्रिया को पूर्ण किया तथा समस्त समाज को मर्यादा के बन्धन में बांध दिया ।

डॉ. ग्रियर्सन के अनुसार, "तुलसी मध्य युग के सबसे बड़े लोकनायक थे ।" उन्होंने मध्यकाल में विधर्मी शासन के प्रभुत्व से निराश और पद दलित हिन्दू समाज और अस्ताचल को जा रही हिन्दू संस्कृति का मार्गदर्शन कर उसकी रक्षा की । तुलसी के युग में हिन्दू स्वतन्त्रता का दीपक बुझ चुका था । शताब्दियों के विधर्मी प्रभुत्व के कारण हिन्दुओं का चरित्र और मनोबल नष्ट हो गया था तथा हिन्दू समाज निराश और निष्प्राण-सा हो गया था । समाज में विश्रृंखलता, कूपमण्डूकता और जड़ता व्याप्त थी । उसके सामने कोई निश्चित आदर्श या लक्ष्य नहीं था । भारतीय संस्कृति के नभ का सूर्य अस्ताचल की ओर प्रयाण कर रहा था । देश की धार्मिक दशा भी अत्यन्त शोचनीय थी । हिन्दू धर्म की उदात्त भावना तथा लोकहित का आदर्श लुप्त हो चुका था । विभिन्न सम्प्रदायों के साधु और सन्तजन वेद और पुराणों की निन्दा कर सामाजिक तथा धार्मिक मर्यादाओं पर प्रहार कर रहे थे । इन सन्तों और सम्प्रदायों के प्रभाव से लोगों का मूर्तिपूजा और पौराणिक धर्म से विश्वास उठ गया था । इससे हिन्दू धार्मिक परम्परा निर्बल पड़ रही थी । ऐसे समय एक ऐसे महापुरुष की आवश्यकता थी जो ऐसे संकट काल में निराशा और हीनता से पीड़ित और अपने परम्परागत आदर्शों से विमुख हुये हिन्दू समाज का दिशा निर्देशन कर सके । गोस्वामी तुलसीदास ने युग की इस मांग को पूरा किया । उन्होंने भय और निराशा से ग्रस्त हिन्दू समाज को अपनी रचनाओं के माध्यम से उसकी बुराइयों से अवगत कराया तथा भक्ति और प्रेम के मार्ग का अवलम्बन का उपदेश दिया । उनकी मान्यता थी कि समाज को इस स्थिति से उबारने के लिये किसी उच्च कोटि के चरित्र का दिग्दर्शन आवश्यक है । अतः उन्होंने भगवान राम को दीन प्रतिपालक, लोकरक्षक तथा मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में प्रतिष्ठित किया । उन्होंने राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप को जनता के समक्ष रखा । उनकी 'स्वान्त सुखाय' साधना 'सर्वान्तः सुखाय' बन गई । उनके अनुसार राम हिन्दू संस्कृति के रक्षक थे । राम के इस लोक रक्षक रूप ने हिन्दू जनता को आश्वस्त किया । पतनोन्मुख हिन्दुत्व को राम का दृढ़ आलम्बन प्राप्त हो गया । तुलसी द्वारा स्थापित लोक धर्म आज भी हिन्दू धर्म का अविकृत रूप माना जाता है । उनके द्वारा रचित रामचरितमानस हिन्दू धर्म और संस्कृति का प्रमाण ग्रन्थ है ।

समन्वयकारी कवि—तुलसीदास लोकनायक थे और लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके । डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार "भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर आया हो। भारतीय जनता में नाना प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियां, साधनाएँ, जातियां, आचार-विचार और पद्धतियाँ प्रचलित हैं । तुलसीदास स्वयं नाना प्रकार के सामाजिक स्तरों में रह चुके थे । उन्हें समस्त शास्त्रों और लोक जीवन का अगाध ज्ञान था । उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है ।" डॉ. द्विवेदी ने आगे कहा है कि "बुद्धदेव समन्वयकारी थे। गीता में समन्वय की चेष्टा है। तुलसी भी समन्वयकारी थे। बाल्मीकि की तुलना में तुलसी का कार्य अधिक कठिन था, बाल्मीकि ने तो केवल आर्य संस्कृति का ही आदर्श प्रस्तुत किया था। किन्तु तुलसी को अपने युग में प्रचलित विभिन्न परस्पर विरोधी सम्प्रदायों तथा विचार-पद्धतियों में समन्वय करना था।" उन्होंने अपने समन्वय का आधार रामचरितमानस को बनाया। तुलसी ने इस ग्रन्थ में लोक और शास्त्र का, गृहस्थ और वैराग्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और संस्कृति का, निर्गुण और सगुण का, कथा और तत्वज्ञान का, ब्राह्मण और चाण्डाल का तथा पाण्डित्य और अपाण्डित्य का समन्वय किया है । रामचरितमानस शुरू से अन्त तक समन्वय का काव्य है ।

तुलसीदास ने तत्कालीन समाज में प्रचलित धार्मिक, परम्पराओं, सम्प्रदायों और जातियों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया । उन्होंने तत्कालीन युग में शैव और वैष्णव सम्प्रदायों में व्याप्त द्वेषभाव को मिटाने तथा दोनों सम्प्रदायों में समन्वय करने के लिये रामचरितमानस में राम के मुख से कहलवाया—

शिव द्रोही मम दास कहावा । सो नर सपने हुं मोहि न पावा ।
शंकर विमुख भगति चह मोरी । ते नारकी योरि मति भोरी ।।

अर्थात् शिवद्रोही कभी राम-भक्त नहीं हो सकता, राम की भक्ति के लिए शिव-भक्ति आवश्यक है । इसके साथ ही शिव के मुख से कहलवाया कि राम से बढ़कर मेरा कोई भक्त नहीं है । इस प्रकार उन्होंने दोनों सम्प्रदायों में समन्वय करने का प्रयास किया । इसी प्रकार तुलसी ने सीता को आदि शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित कर शाक्त सम्प्रदाय से भी समन्वय का प्रयास किया । यद्यपि तुलसी सगुण ब्रह्म के उपासक थे किन्तु उन्होंने सगुण और निर्गुण विचारधारा में भी समन्वय का प्रयत्न किया । उन्होंने कहा—

अगुन सगुन दोउ ब्रह्म सरूपा । सगुनहिं, अगुनहि नहि कुछ भेदा ।
अगुन, अरूप, अलख, अज जोई । भगत प्रेम दस सगुण सो होई ।।

अर्थात् सगुण और निर्गुण ब्रह्म के दो रूप हैं । यह अभेद हैं । भक्त के अनन्य प्रेम से वशीभूत हो भगवान सगुण रूप में प्रकट हो जाते हैं । उनके अनुसार जिस

तरह वर्फ और जल में कोई अन्तर नहीं है उसी तरह सगुण और निर्गुण भी पृथक् नहीं है केवल नामरूप का अन्तर है उन्होंने ज्ञान, भक्ति और कर्म की विचारधाराओं में भी समन्वय का प्रयत्न किया। उनके अनुसार—

ज्ञानहिं भगतहिं नहिं कुछ भेदा।
उभय हरहिं भव सम्भव खेदा॥

तुलसी ने वैराग्य और गृहस्थ में भी समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की है। उन्होने रामचरितमानस में कहा है कि साधक घर में रहे या वन प्रान्तर में इसमे कोई अन्तर नहीं पड़ता। मुक्ति के लिये विषय-विमुखता आवश्यक है। उनके अनुसार—

जो जन रूखे विषय रस, चिकने राम सनेह।
तुलसी ते प्रिय राम के, कानन वसहिं कि गेह॥

तुलसी का युग सामाजिक असमानता का काल था। उच्च वर्ग निम्न वर्ग वालों को घृणा की दृष्टि से देखता था। अतः तुलसी ने ब्राह्मणों और शूद्रों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। इसलिये अपने रामचरितमानस में उन्होंने ब्राह्मण वशिष्ठ को निषादराज से मिलते हुये दिखाया है। राम द्वारा सुग्रीव, गुह तथा विभीषण आदि राक्षस कुलोत्पन्न प्राणियों से प्रेम-पूर्ण व्यवहार तथा राम-शवरी प्रसंग में राम द्वारा शवरी के झूठे बेर खाना इसी सामाजिक समन्वय का प्रमाण है।

धर्म और संस्कृति के रक्षक—तुलसीदास एक कवि, संत और लोकनायक होने के साथ हिन्दू धर्म और संस्कृति के रक्षक भी थे। धर्म और संस्कृति उनके व्यक्तित्व में एकाकार हो गये थे। भारतीय धर्म और संस्कृति के उदात्त जीवन-मूल्यों और आदर्शों का समग्र चित्रण उनकी रचना रामचरितमानस में हुआ है। उन्होंने हिन्दू धर्म में व्याप्त आडम्बर और पाखण्ड का खण्डन करते हुये धर्म की व्यापकता पर वल दिया। उन्होंने दया, परोपकार और अहिंसा के गुणों को धर्म का आधार वताया तथा अभिमान, परपीड़ा और हिंसा जैसे दुर्गुणों की आलोचना की। उनके अनुसार—

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये, जब लग घट में प्राण॥

× × × ×

परहित सरस धरम नहीं भाई, पर पीड़ा सम नहीं अध भाई।

इसी प्रकार उन्होंने हनुमान, भरत आदि सेवकों का आदर्श उपस्थित कर 'आत्म निवेदन' तथा 'शरणागति' भक्ति पर विशेष वल दिया। तुलसी हिन्दू धर्म

के परम रक्षक थे। विधर्मी शासनकाल में जब हिन्दू मन्दिर सुरक्षित नहीं थे और हिन्दुओं की मूर्तिपूजा की आलोचना हो रही थी। उस काल में उन्होंने राम की सगुण और साकार उपासना का प्रतिपादन कर पतनोन्मुख हिन्दू धर्म में नवजीवन का संचार किया।

समाज सुधारक—गोस्वामी तुलसीदास हिन्दू धर्म के रक्षक ही नहीं अपितु महान् समाज सुधारक भी थे। उनके रामचरितमानस के प्रणयन का उद्देश्य राम की लीला दर्शाना ही नहीं अपितु समाज का सुधार करना भी था। उनका काल मुगल सभ्यता और संस्कृति के चरम विकास का काल था। किन्तु हिन्दू समाज और संस्कृति अपने अधःपतन की ओर अग्रसर थी। यद्यपि तुलसीदास से पूर्व कबीर की वाणी ने धर्म और समाज में व्याप्त बुराइयों के फोड़े पर गहरा आघात किया था किन्तु इससे चिरस्थायी शांति नहीं मिल सकी ऐसे समय में आवश्यकता थी इस मर्ज की शल्य क्रिया करने की। तुलसी ऐसे ही समय में अवतरित हुये। लेखनी के धनी इस कुशल सर्जन ने बड़ी कुशलता से समाज में व्याप्त बुराइयों के नासूर की शल्यक्रिया कर डाली। उन्होंने अपनी लेखनी के द्वारा हिन्दुओं के हृदय में व्याप्त निराशा के घने अन्धकार के स्थान पर ज्ञान और आशा की नवज्योति जलाई।

तुलसीदास ने एक स्वच्छ समाज निर्माण का आदर्श हमारे समक्ष रखा। उन्होंने अपनी रचना रामचरितमानस के विभिन्न पात्रों के चरित्र-चित्रण के माध्यम से या तो भारतीय समाज और संस्कृति के किसी आदर्श का प्रतिपादन किया या फिर किसी सामाजिक बुराई पर प्रहार किया। उन्होंने समाज में जिन बुराइयों को देखा उन्हें कलियुग में दिखाया तथा अच्छाइयों और आदर्शों को रामराज्य में दिखाया ' जिससे जनसाधारण उचित और अनुचित में अन्तर कर सके। व्यवस्थित और आदर्श समाज को उन्होंने मर्यादा की सीमा-रेखा में बांधा। उन्होंने राम के चरित्र के माध्यम से संयम, अनुशासन, न्याय, कर्त्तव्यपरायणता, धैर्य, शील तथा पूज्यजनों के सम्मान की शिक्षा देकर समाज का नैतिक उत्थान करने का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने रामचरितमानस में आदर्श माता, पिता, पुत्र, भ्राता, पति, पत्नी, मित्र, राजा और सेवक आदि के स्वर्णिम आदर्श प्रस्तुत किये हैं। तुलसीदास सच्चे समाज सुधारक थे। उन्होंने समाज में व्याप्त भेदभाव, ऊँच-नीच, जांत-पांत आदि का डटकर विरोध किया। रामचरितमानस में निषादराज, शबरी, गुह आदि के प्रसंग इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। तुलसी परम्परागत वर्ण-व्यवस्था में विश्वास रखते थे। वे कबीर और दादू की तरह सामाजिक व्यवस्था को नष्ट नहीं करना चाहते थे। उनका विश्वास था कि भक्त निम्न जाति का होने पर भी प्रशंसनीय है।

तुलसीदास की एक उक्ति **"ढोल गंवार शूद्र, पशु, नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी"** के आधार पर कतिपय विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि तुलसी निम्न वर्ग और नारी जाति के विरोधी और उन्हें प्रताड़ित करने के पक्षपाती थे। परन्तु यह मत भ्रांतिपूर्ण है क्योंकि रामचरितमानस के उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि उन्होंने ईश्वर-भक्त शूद्रों को भी सम्माननीय माना है। तुलसी परम्परागत वर्ण-व्यवस्था के समर्थक थे। उनकी मान्यता थी कि निम्न और उच्च दोनों वर्णों को अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुये परस्पर एक दूसरे की रक्षा और सम्मान करना चाहिये। उन्होंने वर्ण कर्म से च्युत शूद्र को ही प्रताड़ना का अधिकारी माना है। इसी प्रकार तुलसी द्वारा कौशल्या, सुमित्रा, सीता, मन्दोदरी तथा तारा आदि के चरित्र-चित्रण से स्पष्ट है कि वे नारी के प्रति अपार श्रद्धा रखते थे। उन्होंने नारी के अमर्यादित और उच्छृंखल रूप को जो समाज के लिये हानिप्रद था, की ही आलोचना की है।

धर्म-सहिष्णु कवि और सन्त—हिन्दू धर्म और संस्कृति के रक्षक तथा उद्धारक होने के बावजूद तुलसी धर्म के क्षेत्र में अत्यन्त सहिष्णु थे। वे पूर्णतया असाम्प्रदायिक थे। उनकी रचनाओं में कहीं भी इस्लाम धर्म की आलोचना अथवा इस्लाम धर्मावलम्वियों के प्रति आक्रोश भाव नहीं मिलता। उनकी भाषा भी साम्प्रदायिकता से कोसों दूर है। उन्होंने अपनी रचनाओं में उदारतापूर्वक अरबी और फारसी शब्दों का प्रयोग किया है जैसे—गरीव, लायक, फौज, जमात, बाजारु आदि।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि गोस्वामी तुलसीदास मां भारती के महान् सुपुत्र थे जिन्होंने हिन्दू धर्म, हिन्दू समाज और हिंदू संस्कृति का पुनरुद्धार किया। भारतीय संस्कृति के आदर्शों की स्थापना कर हिन्दू जनता का महान् कल्याण किया। वस्तुतः जव तक राम-कथा जीवित है, तब तक मानस और उसका प्रणेता तुलसी दोनों ही अमर हैं।

तुलसीदास एक महान भक्त, महान संत, लोकनायक, लोक कवि, समाज सुधारक, पथ प्रदर्शक तथा युग द्रष्टा थे। यद्यपि उन्होंने महावीर, बुद्ध, कबीर और दादू की भांति कोई नया मत या सम्प्रदाय नहीं चलाया फिर भी हिन्दू धर्म में आज तक उनका कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं है। उनके द्वारा प्रतिपादित हिंदू धर्म के आदर्श और स्वरूप सार्वभौम हैं। डॉ. वलदेव प्रसाद मिश्र के अनुसार **"तुलसी मत न केवल मानव धर्म और भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठ बातों को ही समेटे हुये हैं, वरन् वह गीता से लेकर गांधीवाद तक समग्र धर्म प्रवर्तकों के सत् सिद्धान्तों को भी अपनी गोद में खिला रहा है।"**

रवीन्द्रनाथ टैगोर

कवि, दार्शनिक, शिक्षाशास्त्री, देशभक्त, मानवतावादी तथा अंतर्राष्ट्रवादी रवीन्द्रनाथ टैगोर भारतीय संस्कृति के महान् अधिवक्ता थे। उन्होंने आठ दशकों (1861 से 1941) तक भारतीय सांस्कृतिक जागरण में अभूतपूर्व योगदान दिया। विवेकानन्द यदि पाश्चात्य जगत में भारत के दार्शनिक संदेशवाहक थे तो टैगोर पाश्चात्य जगत में भारतीय संस्कृति के संदेशवाहक और प्रसारक थे। पश्चिमी जगत ने उनका भारत के सांस्कृतिक दूत के रूप में अभिनंदन किया। टैगोर भारतीय पुनर्जागरण और स्वतंत्रता के महान् कवि थे। उन्होंने आधुनिक भारत के आदर्शों, भावनाओं तथा आकांक्षाओं को मूर्त रूप प्रदान किया। उन्हें भारत के अतीत पर गर्व था। उनकी मान्यता थी कि भारत के अरण्यों और ग्रामों में जीवन के श्रेष्ठतम आदर्शों का निरूपण हुआ है। यद्यपि उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग नहीं लिया किन्तु उनके गीतों और संदेशों ने राष्ट्रवादियों को प्रेरणा प्रदान की। अतः वे भारतीय राष्ट्रवाद के बौद्धिक नेता या ऋषि बन गये।

टैगोर एशिया की अग्रणी विभूति थे। कवि और साहित्यकार के रूप में उन्हें अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता मिली। कुछ विद्वान उन्हें बंगला साहित्य का 'गेटे' कहते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में उनके प्रयोगों से आकर्षित होकर यूरोप के कई विद्वान विश्वभारती में आये। इस प्रकार टैगोर आधुनिक भारत के एक महान् सांस्कृतिक पुरुष थे।

जीवन-चरित—कविवर रविन्द्रनाथ टैगोर का जन्म 6 मई, 1861 को बंगाल के एक संभ्रांत ठाकुर परिवार में हुआ था। 'ठाकुर' इनके पूर्वजों की उपाधि थी। इनके पिता का नाम देवेन्द्रनाथ ठाकुर तथा माता का नाम शारदा देवी था। इनके पिता भारतीय संस्कृति के कट्टर अनुयायी और उपनिषदों के महान ज्ञाता थे। वे ब्रह्म समाज के प्रमुख नेताओं में एक थे। इनके पिता प्रायः दौरे पर रहते थे और माता प्रायः अस्वस्थ रहती थी इसलिये उनका पालन-पोषण नौकरों की देख-रेख में हुआ था। रवीन्द्रनाथ के व्यक्तित्व निर्माण में उनके पारिवारिक वातावरण का महत्वपूर्ण योगदान था। उनका बचपन एक उद्यान के मध्य स्थित सुन्दर घर में व्यतीत हुआ। इस वातावरण में उद्यान की प्राकृतिक छटा और पक्षियों की किलोल तथा सुमधुर ध्वनि ने सदैव उन्हें प्रेरणा प्रदान की अतः बचपन से ही उनके हृदय में जगत के सौन्दर्य के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो गया था। युवावस्था में प्रकृति सौन्दर्य के प्रति उनका यह अनुराग प्रकृति प्रेम में परिणित हो गया। उनके घर में धर्म, कला और विज्ञान की त्रिवेणी प्रवाहित होती थी जिसमें चित्रकला, संगीतकला, काव्य, धर्म तथा संस्कृत, फारसी बंगला और आंग्ल भाषा का अद्भुत समन्वय था।

रवीन्द्र की प्रारम्भिक शिक्षा ओरियण्टल, नार्मल और बंगाली अकादमी जैसे प्रतिष्ठित विद्यालयों में हुई किन्तु उनके विद्यालय के अनुभव सुखद नहीं थे। अतः सुयोग्य शिक्षकों की देखरेख में उन्हें घर पर ही संस्कृत, बंगला, अंग्रेजी, गणित, इतिहास, भूगोल आदि के साथ संगीत की भी शिक्षा दी गई। काव्य, दर्शन नक्षत्र विद्या तथा संगीत में इनकी विशेष रुचि थी। इसके अलावा उन्होंने अपने सुशिक्षित भाइयों, विशेष रूप से बड़े भाई द्विजेन्द्रनाथ से काफी कुछ सीखा। कुछ वर्षों तक उन्होंने सेंट जेवियर कॉलेज में शिक्षा प्राप्त की। तदन्तर 1878 ई. में वे इंगलैंड चले गये। वहां लन्दन विश्वविद्यालय में अंग्रेजी साहित्य का विशेष अध्ययन किया। वहां उन्हें अंग्रेजी साहित्यकारों से सम्पर्क का अवसर प्राप्त हुआ। 1880 ई. में वे भारत लौट आये। 1881 ई. में उन्होंने सार्वजनिक वक्ता के रूप में अपना प्रथम भाषण कलकत्ता मेडिकल कॉलेज में **'संगीत और वेदना'** विषय पर दिया। दिसम्बर 1883 ई. में उनका विवाह मृणालिनी देवी से हुआ। 1888 ई. में वे अपनी जमींदारी की देखभाल करने लगे। इस काल में उन्हें ग्रामीण जीवन के विविध पक्षों का ज्ञान प्राप्त करने का सुअवसर मिला। यह ज्ञान उनके भावी साहित्यिक जीवन के लिये उपयोगी साबित हुआ। इस समय तक रवीन्द्रनाथ की लेखनी काफी परिपक्व हो चुकी थी और उनके अनेक काव्य-संग्रह, गीत, निबन्ध, उपन्यास, नाटक आदि प्रकाशित हो चुके थे।

टैगोर स्वभावतः राजनीति में रुचि नहीं लेते थे परन्तु एक संवेदनशील व्यक्ति होने के नाते वे समकालीन राजनीतिक घटनाओं के प्रभाव से अछूते नहीं रह सके। 1905 ई. में लार्ड कर्जन द्वारा बंगाल विभाजन किये जाने के विरोध में जो बंग-भंग विरोधी आंदोलन हुआ। रवीन्द्रनाथ ने कुछ समय तक उसमें सक्रिय रूप से भाग लिया। उन्होंने अंग्रेजों के समक्ष कांग्रेस की भिक्षा प्रवृत्ति की कटु आलोचना की। उन्होंने देश भक्ति से ओत-प्रोत अनेक प्रेरक गीत लिखे। उनके द्वारा रचित गीत 'आमार सोनार बांगला' सम्पूर्ण बंगाल में गुंजित हो गया। 1908 ई. में बंगाल प्रांतीय राजनीतिक सम्मेलन में दिये गये अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा तथा ग्राम आधारित आत्मनिर्भर सामुदायिक जीवन के रचनात्मक कार्यक्रम और हिन्दू-मुस्लिम एकता पर विशेष बल दिया। राष्ट्रीय शिक्षा के लिये उन्होंने 1909 ई. में शांति निकेतन में एक विद्यालय की स्थापना की। देश में जब राष्ट्रीय आंदोलन हिंसात्मक होने लगा तो वे धीरे-धीरे राष्ट्रीय आंदोलन तथा राजनीति के प्रति उदासीन हो गये। किंतु इस उदासीनता के उपरांत भी वे साहित्य-सृजन द्वारा देशवासियों में राष्ट्रीय भावनायें जागृत करते रहे। हमारा राष्ट्रीय गान 'जन-गण-मन' उन्हीं की रचना है। इस बीच उनकी पत्नी और तीन बच्चों का असामयिक निधन हो गया जिससे उनके जीवन पर विषाद की गहरी रेखायें खिच गयीं। इस विषाद ने उनकी सृजनात्मक शक्ति को अंतर्मुखी बना दिया किन्तु उनकी काव्य साधना अनवरत चलती रही।

मई, 1912 ई. में टैगोर यूरोप के दौरे पर गये जहाँ उन्होंने भारतीय संस्कृति पर अनेक विद्वत्तापूर्ण भाषण दिये, जिनका उद्देश्य भारतीय संस्कृति के सर्वोत्तम रूप को प्रस्तुत करना था। लगभग इसी समय उनकी 'गीताञ्जलि' का अंग्रेजी संस्करण प्रकाशित हुआ। अक्टूबर, 1913 में वे पुनः भारत लौटे और 15 नवम्बर, 1913 को उन्हें 'गीताञ्जलि' पर साहित्य का नोवल पुरस्कार देने की घोषणा की गई। इससे साहित्यिक जगत में उनके नाम की धूम मच गई। 1915 ई. में सरकार ने उन्हें 'सर' की उपाधि से सम्मानित किया। 1916 ई. में टैगोर ने जापान की यात्रा की वहाँ उन्होंने संकीर्ण राष्ट्रवाद की प्रवृत्ति की आलोचना करते हुये उदार मानवीय दृष्टिकोण अपनाने के सम्बन्ध में अनेक भाषण दिये। 1919 ई. में जब रोलेक्ट एक्ट के विरुद्ध देश में जन आंदोलन हुआ और सरकार ने दमनकारी नीति अपनायी तो टैगोर ने विरोध स्वरूप अपनी 'सर' की उपाधि लौटाते हुये गवर्नर जनरल को लिखा कि सरकार ने जो पाशविक दमन चक्र चलाया है उसका उदाहरण सभ्य शासन के इतिहास में अन्यत्र नहीं मिलता।

सन् 1920 ई. में टैगोर ने पुनः विदेश यात्रा की। वहाँ उन्होंने अपने भाषणों में एक ओर जहाँ 'पूर्व का संदेश' व्यक्त किया वहीं दूसरी ओर 'पूर्व और पश्चिम के मिलन' पर भी प्रकाश डाला। यद्यपि टैगोर पाश्चात्य विचारों से अत्यन्त प्रभावित थे किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद पाश्चात्य देशों पर से उनकी आस्था समाप्त हो गयी। उनके भौतिकवाद और राष्ट्रीयता को वे मानवता के लिये अभिशाप मानने लगे। इसके साथ ही भारतीय धर्म दर्शन में निहित मानवतावादी सिद्धांतों की ओर उनका झुकाव अधिक हो गया।

टैगोर ने अपनी राष्ट्रीय शिक्षा योजना के लिये स्थापित संस्था शांतिनिकेतन को विकसित कर दिसम्बर, 1921 में विश्वभारती विश्वविद्यालय में परिवर्तित कर दिया। कालांतर में यह संस्था कला, साहित्य और संस्कृति का विश्व प्रसिद्ध केन्द्र बन गई. जिसमें अनेक विदेशी भारतीय संस्कृति का अध्ययन करने आते हैं। टैगोर ने ग्रामोत्थान के लिये 'श्रीनिकेतन' नामक एक अन्य संस्था की भी स्थापना की थी।

इसके बाद टैगोर ने अमेरिका, यूरोप, चीन, जापान तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया और सोवियत संघ आदि देशों की यात्रायें कीं और भारतीय कला, साहित्य और संस्कृति पर अपने विद्वत्तापूर्ण भाषण दिये। इसके साथ ही उनकी काव्य साधना भी जारी रही। निरन्तर घोर परिश्रम के कारण उनका स्वास्थ्य बिगड़ता चला गया और 7 अगस्त 1941 को उनका देहांत हो गया। इस प्रकार एक दिव्य ज्योति जो आधी शताब्दी से भी अधिक समय तक सम्पूर्ण विश्व को आलोकित करती रही, सदा के लिये बुझ गई।

टैगोर की साहित्यिक देन

टैगोर साहित्य की सम्पूर्ण विधा थे । वे एक महान् कवि, नाटककार, उपन्यासकार, कहानीकार, समालोचक, राष्ट्रीय लेखक और अभिनेता थे । उनको अपने काव्य सृजन के लिये उपनिषद्, संस्कृत काव्य साहित्य तथा प्राचीन और मध्यकालीन वैष्णव गीतों से विशेष प्रेरणा मिली थी । उनकी काव्य रचनाओं पर हिन्दी के संत साहित्य तथा बंगला के बाउल गीतों एवं बंगाल के महान् साहित्यकार बंकिमचन्द्र चटर्जी का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है । टैगोर को पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति का भी पूर्ण ज्ञान था । अतः इन विविध प्रेरणाओं के फलस्वरूप उनका साहित्य अत्यन्त समृद्ध और अनुपम गुणयुक्त हो गया । साहित्य के प्रत्येक पक्ष पर उनकी लेखनी चली । उन्होंने अपने युग में प्रचलित साहित्य की समस्त प्रवृत्तियों और शैलियों को अपनी विविध रचनाओं में समाविष्ट किया । बंगला साहित्य के लिये तो वे एक व्यक्तित्व ही नहीं अपितु एक युगपुरुष थे । उनकी महान् साहित्य साधना के फलस्वरूप ही प्रांतीय बंगला साहित्य अपनी कीर्ति के चरम शिखर पर पहुँचा । उन्होंने बंगला की आदर्श भाषा का परित्याग कर जन भाषा को अपनाया और उसमें अद्भुत नवीनता, सरलता और सौन्दर्य की स्थापना की ।

टैगोर एक महान् साहित्यकार थे । उन्होंने सात दशाब्दियों तक साहित्य की अनुपम साधना की थी । उन्होंने साहित्य की समस्त विधाओं—काव्य, उपन्यास, नाटक, कहानियों, निबन्ध आदि सभी पर अपनी लेखनी चलाई । साहित्य की समस्त विधाओं पर उनकी बहुमुखी प्रतिभा की छाप परिलक्षित होती है ।

रवीन्द्रनाथ कवि के रूप में—साहित्य की विविध विधाओं में एक कवि के रूप में टैगोर का सर्वाधिक महत्व है । उन्होंने आठ वर्ष की आयु से कवितायें लिखना आरम्भ कर दिया था । प्रारम्भ में उनकी रचनाएँ **'भानुसिंह'** उपनाम से **'भारती'** नामक पत्रिका में प्रकाशित होती थी । 18 वर्ष की आयु में प्रकाशित काव्य ग्रंथ **'वनफूल'** और **'कथा ओ काहिनी'** उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ थीं । इसके बाद **'कडि ओ कोमल'**, **'मानसी'**, **'सोनार तारी'**, **'चित्रा'**, **'प्रेम का अभिषेक'**, **'उर्वशी'**, **'स्वर्ग की विदाई'**, **'जीवन देवता'**, **'कणिका'**, **'खेया'** **'गीतिमाल्य'**, **'वर्षा मंगल'**, **'ऋतु रंग'** आदि कविता संग्रह प्रकाशित हुये । 1909 ई में उनका प्रसिद्ध काव्य संग्रह 'गीताञ्जलि' प्रकाशित हुआ । तत्पश्चात् **'बलाका'**, **'पूरबी'**, **'शिशु'**, **'भोलानाथ'**, **'महुआ'** तथा **'आरोग्य'** आदि कविता संग्रह प्रकाशित हुये । भाव ऐश्वर्य तथा शिल्प निपुणता की दृष्टि से **'बलाका'** श्रेष्ठ रचना है ।

गीताञ्जलि—टैगोर का सर्वाधिक प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ गीताञ्जलि है । यह सर्वप्रथम 1909 ई. में बंगला में प्रकाशित हुआ जिसका 1912 ई. में अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ । इस काव्य कृति ने टैगोर को विश्वविख्यात कर दिया । नवम्बर 1913 को उन्हें इसी कृति पर साहित्य का सर्वोच्च नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया । यह भक्ति से परिपूर्ण गीति-काव्य है जिसमें कवि की उच्च आध्यात्मिक

भावना और रहस्यवादी कल्पना की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। प्रसिद्ध साहित्यकार डब्लू. बी. यीट्स ने इसकी भूमिका में प्रशंसा करते हुये लिखा है कि "इन कविताओं के विचारों में मैंने ऐसा संसार पाया, जिसका स्वप्न मैं जीवन पर्यन्त देखता रहा। निःसन्देह यह एक महान् साहित्यिक ग्रन्थ है जिसे समझने के लिये बुद्धि की अपेक्षा हृदय की अधिक आवश्यकता है।"

टैगोर का काव्य साहित्य अत्यन्त वृहद् है। उनके काव्य में प्रकृति, प्रेम और आध्यात्मिकता की प्रधानता है। उनकी कविताओं में भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति का मंजुल समन्वय हुआ है। उनका समूचा काव्य गीतिकाव्य है। टैगोर की कई कविताओं में उच्चकोटि के रहस्यवाद की कल्पना विद्यमान है। भारतीय साहित्य साधना के तीन आदर्शों—सत्यं, शिवं और सुन्दरम् में से टैगोर सुन्दर तथा सत्, चित् और आनन्द में से आनन्द के उपासक थे। श्री हंस कुमार तिवारी ने उनके काव्य की तीन प्रवृत्तियाँ बताई हैं–अन्तर्मुखी, वहिर्मुखी और उर्ध्वमुखी। उनके अनुसार टैगोर की 'बनफूल' से लेकर 'छवि ओ गान' तक की रचनाएँ अन्तर्मुखी प्रवृति की प्रतीक हैं इनमें कवि के भाव तथा आवेग, जो स्पष्ट होने को आतुर थे अस्पष्ट ही रह गये। 'कड़ि ओ कोमल' से 'खेया' तक की रचनाओं में वहिर्मुखी प्रवृति दिखाई देती है। खेया के बाद लिखी गई रचनाओं में कवि की प्रवृति उर्ध्वमुखी हो गई है और उसमें आध्यात्मिकता की स्पष्ट छाप दिखाई देती है।

रवीन्द्रनाथ नाटककार के रूप में—रवीन्द्रनाथ ने काव्य की भांति बाल्यकाल से ही गद्य की रचना भी आरम्भ कर दी थी। उन्होंने अनेक नाटक और प्रहसन लिखे। यद्यपि कविवर अत्यन्त भावुक कवि थे किन्तु साथ ही वे तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों, भावनाओं एवं आवश्यकताओं के प्रति भी पूर्ण जागरुक थे। इसीलिए उनके नाटकों में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों, धार्मिक जीवन तथा मानव जीवन के विविध पक्षों की अभिव्यक्ति हुई है। उन्होंने **'चांडालिका'**, **'चित्रांगदा'**, **'नटीर पूजा'**, **'विसर्जन'**, **'डाक घर'**; **'राजा'** तथा **'रक्त करबी'** आदि नाटक-नाटिकायें लिखीं। 'चित्रांगदा' नामक नाटक में नारी जीवन की समस्याओं का सुन्दर विश्लेषण हुआ है। 'डाक घर' और 'रक्त करबी' सांकेतिक नाटक हैं। 'नटीर पूजा' एक नृत्य नाटक है जिसमें काव्य, स्वर, नाटक और नृत्य इन चार विधाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। मानव के जीवन पर पड़ने वाले प्रकृति के प्रभाव को उन्होंने अपने **'शारदोत्सव'**, **'अचलायतन'** तथा **'फाल्गुनी'** आदि नाटकों में दर्शाया है। स्वर के धागे में हृदयावेग को पिरो देना ही इन नाटकों का उद्देश्य है।

रवीन्द्रनाथ उपन्यासकार तथा कहानीकार के रूप में—रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अनेक उपन्यास एवं कहानियों की भी रचना की। उनके उपन्यास मुख्यतः सामाजिक हैं, हालांकि इनके प्रारम्भिक दो उपन्यास ऐतिहासिक थे। इन उपन्यासों के पात्र मुख्यतः मध्यवर्गीय बंगाली हैं। इनमें स्त्री-पुरुषों के मानसिक द्वन्द्वों का मार्मिक चित्रण है। साथ ही साथ उनकी मनोदशा, सामाजिक स्थिति आदि का

मनोवैज्ञानिक रूप से सुन्दर चित्रण इनके उपन्यासों में मिलता है। इन्होंने राष्ट्रीय समस्याओं पर भी उपन्यासों की रचना की। 'घर-बाइरे' नामक उपन्यास में उन्होंने राष्ट्रीय भावनाओं का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। 'गोरा' इसी कोटि का एक अन्य प्रसिद्ध उपन्यास है जिसकी गणना बंगला साहित्य में ही नहीं अपितु विश्व साहित्य की श्रेष्ठतम कृतियों में की जाती है। रवीन्द्र के 'करुणा', 'बहु ठकरानी का हार', 'राजर्षि' 'चार अध्याय', 'आँख की किरकरी', 'नौकाडूबी' आदि प्रमुख उपन्यास हैं।

कहानियों के क्षेत्र में भी कवि को अत्यधिक निपुणता प्राप्त थी। इन्होंने सर्वप्रथम बंगला साहित्य में छोटी-छोटी कहानियाँ लिखना प्रारम्भ किया। इनकी कहानियों में भारतीय जीवन का बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है। इनकी कहानियाँ मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी बहुत सुन्दर है। इनकी प्रसिद्ध रचना 'काबुली वाला' में इन विशेषताओं का समावेश है। 'दी होम कमिंग' नामक कहानी में इन्होंने एक 14 वर्षीय बालक की मनोदशा का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। इसके अतिरिक्त टैगोर ने अनेक निबन्ध, संस्मरण, समालोचना लेख, विदेश यात्रा वृत्तान्त, साहित्यिक पत्र तथा बालोपयोगी साहित्य का भी सृजन किया। उनके सम्पूर्ण साहित्य में उनकी प्रतिभा की गहनता, व्यापकता एवं विविधता का परिचय मिलता है।

रवीन्द्रनाथ का दार्शनिक दृष्टिकोण—रवीन्द्रनाथ समन्वय के पोषक थे। ईश्वर में उनकी अटूट श्रद्धा थी। उनके अनुसार ईश्वर एक अमूर्त परिकल्पना नहीं बल्कि एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व है जो निरन्तर विविध अभिव्यक्तियों द्वारा सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है। ईश्वर ही जगत में विविधता का कारण है। वह सत्, चित् और आनन्द में आनन्द तथा सत्यं, शिवं और सुन्दरम् में सुन्दर है। रवीन्द्रनाथ अद्वैत और द्वैत दोनों में विश्वास करते थे। उनके अनुसार जीवन में सदैव द्वैतवाद रहता है जो मृत्यु पर अद्वैत हो जाता है। रवीन्द्र अनेकता में एकता के समर्थक थे। उनके अनुसार अनेकता ही एकता का कारण है। रवीन्द्र ने अपने साहित्य में 'ब्रह्म' के लिये 'चिन्मय पुरुष' या 'अमर' और 'पूर्ण' शब्दों का प्रयोग किया है।

ससीम (सीमित) में असीम (अनन्त) की लीला का साक्षात्कार करना टैगोर की काव्य-साधना का परम लक्ष्य रहा है। उन्होंने अपनी रचना 'जीवन-स्मृति' में स्वयं कहा है कि "मेरी काव्य रचना की मुख्य रूप से एक ही दिशा है उसको नाम दिया जा सकता है—ससीम में असीम की साधना। अपने इस लक्ष्य को उन्होंने अपने साहित्य में दर्शाया भी है। गीतांजलि में एक स्थान पर कहा है—

> 'सीमार माझे असीम तुमि बजाओ आपन सुर;
> आमार मध्ये तोमार लीला ताई एतो मधुर।

अर्थात् 'हे असीम, तुम सीमा में अपना सुर छेड़ा करते हो। इसीलिए मुझमें तुम्हारी लीला इतनी मधुर लगती है।' उन्होंने अपनी अन्य काव्य रचना 'रूप और भाव की एकात्मकता' में भी ससीम और असीम के मिलन की बात कही

है। असीम ससीम के निर्विघ्न संग का इच्छुक है और ससीम असीम में एकाकार होना चाहता है।

टैगोर की आध्यात्मिक मूल्यों की श्रेष्ठता में अपार श्रद्धा थी। उनकी मान्यता थी कि सभ्यता का वास्तविक मापदण्ड धन और सत्ता नहीं वरन् आध्यात्मिक गौरव और कष्ट सहने की क्षमता है। 'मानव के धर्म' विषय पर दिए गये भाषणों में उन्होंने कहा कि धन, सत्ता और बौद्धिक योग्यता ही जीवन का उद्देश्य नहीं है वरन् श्रेष्ठ जीवन के लिए आध्यात्मिक साधना अनिवार्य है। आत्मा सत्य है; वह शरीर, मन और बुद्धि से पूर्णतया पृथक् है। धर्म का चरम लक्ष्य इस आत्मा को सत्यं, शिवं और सुन्दरम् से एकाकार करना है। ईश्वर सर्वव्यापक है, सत्य का आचरण करने वाले उसकी सत्ता की अनुभूति कर सकते हैं। धर्म, दर्शन और कला हमारी आध्यात्मिक चेतना को तीव्र करते हैं। परन्तु हमने हमारे आध्यात्मिक मूल्यों के महत्व की उपेक्षा कर दी है इसीलिए बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक विकास के उपरान्त भी विश्व में अराजकता, संघर्ष और अस्थिरता व्याप्त है। वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास ने अनैतिकता और शोषण को बढ़ावा दिया है। मानव के सर्वांगीण विकास के लिए बौद्धिक तथा मानसिक विकास के साथ आत्मिक विकास भी अनिवार्य है। आध्यात्मिकता में अटूट श्रद्धा होने पर भी टैगोर जीव और जगत में भी आस्था रखते थे। उनकी आध्यात्मिकता का अर्थ जीव और जगत की उपेक्षा नहीं है। उनके अनुसार जगत सत्य है और उससे पलायन मूर्खता है। हमें स्वर्ग पृथ्वी पर लाकर यहीं ईश्वर से साक्षात्कार करना चाहिए। जगत को मिथ्या तथा बुरा मानना अनुचित है। टैगोर ने अपने 'संन्यासी' नामक नाटक में उस संन्यासी का उपहास किया है जो जगत से पलायन कर सच्चा ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। उनकी मान्यता थी कि शरीर आत्मा का मन्दिर तथा आध्यात्मिक विकास का साधन है। मनुष्य को प्रेम, भ्रातृत्व भावना तथा करुणा जैसे मानवीय गुणों का विकास करना चाहिए जिससे पृथ्वी स्वर्ग बन सके।

सौन्दर्य के उपासक—टैगोर सौन्दर्य के उपासक थे। उनका बचपन प्राकृतिक वातावरण में व्यतीत हुआ था, अतः वे प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर अभिभूत हो जाते थे। सत्यं, शिवम् और सुन्दरम् के जीवन आदर्शों में से वह सुन्दर के उपासक थे। उनके लिए सौन्दर्यमयी दुनिया परम आनन्द का स्रोत थी। **'कड़ि ओ कोमल'** नामक काव्य ग्रन्थ में उन्होंने कहा है कि "मैं इस सुन्दर जगत में मरना नहीं चाहता, मैं तो मनुष्यों के बीच जीना चाहता हूँ, अगर मुझे सूर्य की किरणों से आप्लावित और पुष्पों से मण्डित वन के जीवित हृदय में स्थान मिल जाए।" टैगोर पृथ्वी के प्राकृतिक सौन्दर्य के कारण ही उसे स्वर्ग से श्रेष्ठ मानते थे।

पूर्व और पश्चिम का समन्वय—टैगोर महान् समन्वयकारी थे। उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य विचारों में समन्वय करने का प्रयास किया। उन्होंने पूर्व की भाव परायणता तथा पश्चिम की रूप व्याकुलता का समन्वय

कर भारतीय साहित्य में रहस्यवाद की एक नई विधा को जन्म दिया। उनके रहस्यवाद में रूप और भाव का अद्भुत समन्वय था। उनके सम्पूर्ण साहित्य में भारतीय आध्यात्मवाद तथा पाश्चात्य भोगवाद का समन्वय परिलक्षित होता है। टैगोर प्राचीन भारतीय आदर्शों के साथ आधुनिक प्रगतिवाद के समन्वय के समर्थक थे। उन्होंने अपनी 'सृजनात्मक एकता' नामक रचना में पूर्व और पश्चिम के पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या की है। उनकी मान्यता थी कि स्वतन्त्रता का विचार यूरोप की पूर्व को एक महत्वपूर्ण देन है। परन्तु पाश्चात्य देशों का भोगवाद, शक्ति पूजा और लोलुपता उनकी दृष्टि में अभिशाप था जिससे पूर्व को बचना है। टैगोर भारतीय राष्ट्रीय चरित्र में निहित विशिष्टताओं को बनाये रखते हुए पश्चिम के स्वतन्त्रता के विचारों को स्वीकार करने को तैयार थे। इस प्रकार टैगोर ने पूर्व की विशेषताओं को बनाये रखते हुए पश्चिम के विचारों के साथ समन्वय करने का प्रयत्न किया।

टैगोर का सामाजिक दर्शन :

टैगोर के सामाजिक चिन्तन पर महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं, उपनिषद् के दर्शन, वैष्णव धर्म और कबीर की शिक्षाओं का काफी प्रभाव पड़ा। राजा राममोहन राय और ब्रह्म समाज ने भी उन्हें प्रभावित किया। उन्होंने सामाजिक क्षेत्र में एक ऐसे समाज की कल्पना की जिसमें समाज के सदस्यों में धन, शक्ति और सामाजिक-पद सम्बन्धी कोई विषमता नहीं हो। टैगोर ने कहा कि एक सभ्य और सुसंस्कृत समाज में असमानतायें बहुत कम अथवा नहीं के बराबर होनी चाहिये और समाज में व्यक्ति को महत्व मिलना चाहिये। व्यक्तियों का कर्तव्य है कि वे अपने समाज की उन्नति के लिए कार्य करें।

टैगोर ने कहा कि मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व प्रेम, सामंजस्य और सहानुभूति है। प्रेम से ही विश्व का जन्म हुआ है, प्रेम से ही वह जीवित है, और प्रेम से ही उसमें गति है। व्यक्ति जीना चाहता है क्योंकि वह संसार से प्यार करता है। इस प्रकार प्रेम सामाजिक प्राणी का सर्वोत्तम गुण है। रवीन्द्र एक ऐसे समाज के निर्माण के आकांक्षी थे जो समन्वित आधार पर संगठित हो। उन्हें इस बात से कष्ट होता था कि नगरों का तो विकास होता जाए और गांव उपेक्षित होते रहें। उनका कहना था कि अगर भारत का वास्तविक कल्याण चाहते हो तो पहले गाँवों का कल्याण होना चाहिए क्योंकि गाँव भारत के प्राण केन्द्र हैं। अतः गाँवों की उपेक्षा करके हम देश को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर नहीं कर सकते।

रवीन्द्र को भारत में व्याप्त अज्ञानता, दरिद्रता, सामाजिक पतन और राजनीतिक पराधीनता से गहरी पीड़ा होती थी, लेकिन वे इस उद्देश्य पर पहुँचे कि मात्र भाषणबाजी से हम इसे दूर नहीं कर सकते, इसके लिए तो जनसाधारण के बीच में रहकर रचनात्मक कार्य करना होगा। सामाजिक बुराइयों का प्रभावशाली निरा-

करण तभी सम्भव है, जब देश की ग्रामीण अर्थव्यवस्था का पुनरुद्धार किया जावे। समुचित शिक्षा और ग्रामीण जीवन के पुनर्निर्माण से ही देश में फैला हुआ अज्ञान और अन्धविश्वास दूर हो सकेगा। अतः टैगोर की मान्यता थी कि समाज-सुधार के लिए कर्म-क्षेत्र में घुसना होगा, कोरे भाषणों या उपदेशों से काम नहीं चल सकता। समाज के बीच घुल-मिलकर और जनता के साथ घनिष्ठता स्थापित करके ही समाज-सुधार के कार्यों को हम सफल कर सकते हैं। रवीन्द्र ने चेतावनी दी कि भारतीय समाज का पुनर्निर्माण केवल नये विचारों की ओर दौड़ने से नहीं होगा वरन् इसके लिए प्राचीन भारतीय संस्कृति में आस्था रखनी होगी।

टैगोर ने जाति प्रथा, अस्पृश्यता आदि को भारत के लिए कलंक माना। उन्होंने कहा कि मुख्यतः इन्हीं बुराइयों के कारण भारतवासी अपने आपको एक संगठित राष्ट्र के रूप में विकसित नहीं कर पा रहे हैं। रवीन्द्र ने कहा कि इन्हीं बुराइयों के कारण ही भारत भूतकाल में अपमानित हुआ था और अब भी हो रहा है।

भारतीय समाज में स्त्रियों की दुर्दशा ने भी महाकवि को बड़ा पीड़ित किया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि स्त्रियों को महत्व और स्थिति की दृष्टि से पुरुषों से कम आंकना गलत है एवं स्त्रियों का विकास पुरुषों पर आश्रित नहीं होना चाहिये। कवि की मान्यता थी कि नारियां पुरुषों की पूरक हैं दासी नहीं।

टैगोर के शिक्षा सम्बन्धी विचार :

टैगोर एक साहित्यकार थे, अतः शिक्षा के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण अतिव्यापक था। उनकी मान्यता थी कि "शिक्षा का सम्बन्ध हमारे सम्पूर्ण जीवन अर्थात् आर्थिक, बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन से होना चाहिए।" उनके विचार में वर्तमान शिक्षा पद्धति भारतीय आदर्शों के प्रतिकूल है। उनके विचार में यह शिक्षा पद्धति मानव की संस्कृति और उसकी आत्मा का हनन करती है। वे शिक्षा के प्राचीन भारतीय आदर्शों को पाश्चात्य शिक्षा के गुणों के साथ पुनःस्थापित करना चाहते थे।

अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के कारण संस्कृत और अन्य प्रादेशिक भाषाओं की अवहेलना हो रही थी। टैगोर तक्षशिला और नालन्दा जैसे प्राचीन विश्वविद्यालयों के प्रशंसक थे। अतः इन दोषों को दूर करने के लिए उन्होंने 1906 ई. में शांति निकेतन नामक विद्यालय की स्थापना की। इस विद्यालय की स्थापना के समय उनके मस्तिष्क में भारतीय तपोवन तथा आश्रमों के विचार मौजूद थे। इस विद्यालय की स्थापना का उद्देश्य "विद्यार्थियों को प्रकृति के सानिध्य में रखकर मनुष्य की सेवा द्वारा भगवान की झांकी कराना था।" इस विद्यालय में शिक्षा का माध्यम मातृ भाषा थी। यहाँ परीक्षा को कम महत्व दिया जाता था और अध्यापन में कण्ठस्थ करने की विधि के स्थान पर विद्यार्थी की रचनात्मक प्रतिभा और व्यक्तित्व

के विकास पर विशेष ध्यान दिया जाता था। शांति निकेतन की शिक्षा का आदर्श विद्यार्थी के दैनिक जीवन और शिक्षा को इस तरह आवद्ध कर देना था जिससे की विद्यार्थी स्वावलम्बी और संयमी बनकर अपने चरित्र का निर्माण कर सके। इस विद्यालय में अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति के आदर्शों तीन **R's—Reading-Writing Arithmetic** के स्थान पर तीन **H's—Heart, Head and Hand** अर्थात् हृदय, मस्तिष्क और हाथ की एकरूपता स्थापित की गई। अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति में शिक्षा का समस्त भार मस्तिष्क पर डाला जाता था। उसमें हृदय और कर्म (हाथ) के विकास का कोई स्थान नहीं था।

टैगोर की मान्यता थी कि भारतीय संस्कृति मुख्य रूप से धार्मिक संस्थाओं में विकसित हुई है और वेदों, उपनिषदों, महाकाव्यों तथा अन्य धार्मिक साहित्य ने इसके निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। अतः उन्होंने इन विचारधाराओं का अध्ययन भारतीय पाठ्यक्रम में अनिवार्य करने पर बल दिया। टैगोर भारत के वैज्ञानिक पिछड़ेपन से परिचित थे। अतः उन्होंने पश्चिम के वैज्ञानिक विकास को पूर्व के आदर्शों के साथ समन्वित करने का प्रयास किया।

टैगोर शिक्षा के क्षेत्र में संकीर्णता, कट्टरता और रूढ़िवादिता के घोर विरोधी थे। वे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय आदर्शों के प्रेरित शिक्षा पद्धति के समर्थक थे। इसी उद्देश्य से उन्होंने 1921 ई. में 'विश्वभारती' नामक संस्था की स्थापना की जो आज विश्व की विभिन्न संस्कृतियों का केन्द्र बनी हुई है। शिक्षा के इन आदर्श विचारों और संस्थाओं की स्थापना के कारण ही उन्हें 'गुरुदेव' कहा जाता है।

भारतीय संस्कृति के आदर्शों में आस्था—टैगोर संस्कृति के आदर्शों के प्रति अगाध श्रद्धा रखते थे। उन्होंने भारतीय संस्कृति के महान् आदर्शों का विश्लेषण किया। उनकी मान्यता है कि भारतीय संस्कृति अत्यन्त विशाल और उदार है। उसकी समन्वयात्मक शक्ति अद्भुत है। इस क्षेत्र में विश्व की अन्य कोई संस्कृति इसका मुकाबला नहीं कर सकती। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति अपनी सहिष्णुता के कारण ही अनेक संस्कृतियों का मिलन स्थल रही है। इसमें अनेकता में एकता विद्यमान है। टैगोर ने अपने साहित्य के माध्यम से भारतीय संस्कृति के उदात्त और महान आदर्शों को विश्व के समक्ष रखा तथा भारतीयों के हृदय में अपनी संस्कृति के लिये प्रेम और आस्था उत्पन्न की। उनकी मान्यता थी कि विश्व-शान्ति और एकता के महान् आदर्श की प्राप्ति की दिशा में नेतृत्व करने की क्षमता सिर्फ भारत में ही है।

महान् मानवतावादी—टैगोर महान् मानवतावादी थे। उन्होंने अपने साहित्य को जाति, देश या समुदाय में नहीं बांधा बल्कि उसे सम्पूर्ण मानवता के साथ संयुक्त कर दिया। उन्होंने हमारे दृष्टिकोण को व्यापक, उदार और गम्भीर बनाकर हमें प्रेम, बन्धुत्व और सहयोग की प्रेरणा दी। उन्होंने प्रत्येक प्रकार की संकीर्णता का

विरोध कर विशुद्ध मानववाद की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया जिससे उन्होंने देश-विदेश के मानव हृदयों को जीत लिया। टैगोर ने अपने सम्पूर्ण साहित्य में मानव का गौरवगान किया है। उन्होंने मानव में देवत्व के दर्शन किये। वे मानव को नर देवता मानते थे। उनकी दृष्टि में मानव पृथ्वी और प्रकृति से श्रेष्ठ है क्योंकि पृथ्वी का शृंगार और जगत की अभिव्यक्ति मानव ही है। मानव का गौरवगान करते हुये उन्होंने कहा है "सवार उपरे मनुष्य सत्य ताहार उपरे नाई" अर्थात् सबसे बढ़कर मनुष्य है, उससे ऊपर कुछ नहीं है। इसी प्रकार उन्होंने अपनी रचना 'दी रिलीजन ऑफ मैन' में कहा है। "मेरा धर्म मानव धर्म है जिसमें अनन्त की व्याख्या मनुष्य के रूप में की जाती है।" टैगोर की मान्यता थी कि मानव स्वार्थ और अहंकार से रहित तथा आत्म चेतना, कर्मण्यता तथा प्रगतिशीलता के देव गुणों से युक्त है उसे नीच या पतित समझना और घृणा करना ईश्वर का अपमान करना है। टैगोर ने मानवतावाद के सही रूप को अभिव्यक्त किया। उनकी मान्यता थी कि मानव मात्र से प्रेम करना और उसके कष्ट और दुःख को अपना कष्ट और दुःख समझना ही सच्ची मानवता है।

टैगोर के राष्ट्रीयता सम्बन्धी विचार—

टैगोर कवि हृदय होने के कारण अत्यन्त संवेदनशील व्यक्ति थे। अतः वे अपनी समकालीन राजनीतिक घटनाओं से प्रभावित हुये बिना नहीं रह सके। 1905 ई. में बंगाल विभाजन के फलस्वरूप जो वंग-भंग विरोधी आन्दोलन हुआ उसमें उन्होंने कुछ समय तक भाग लिया किन्तु आन्दोलन के हिंसक होने पर वे उसके प्रति उदासीन हो गये। इसके बाद वे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के बौद्धिक नेता बन गये। उन्होंने अपने गीतों और सन्देशों के माध्यम से राष्ट्रवादियों को प्रेरणा दी। टैगोर के राष्ट्रीयता सम्बन्धी विचारों पर भारतीय राष्ट्रवादियों ने आपत्ति की थी। उनका कहना था कि टैगोर अपनी 'सर' की उपाधि के कारण ही ब्रिटिश सरकार के समर्थक थे। किन्तु यह मत भ्रान्तिपूर्ण है क्योंकि टैगोर के राष्ट्रीयता सम्बन्धी विचारों को संकीर्ण अर्थों में गलत समझा गया है। उनके राष्ट्रीयता सम्बन्धी विचार व्यापक और स्पष्ट थे। उन्होंने भारतमाता को **'विश्व मोहिनी'** कह कर अभिनन्दित किया। वे आध्यात्मिक मानववाद के समर्थक थे। उन्होंने मानव जाति के महान् संघ की कल्पना की थी। अतः वे राष्ट्र को देवता मानकर पूजने के विरुद्ध थे। उनकी मान्यता थी कि रक्त, जाति अथवा भू-भाग पर आधारित राष्ट्रीयता संकीर्ण अहंकार है, जो पृथकता का पोषण करती है। इसलिये वे जनता के पक्षधर थे राष्ट्र के नहीं। उनकी मान्यता थी कि संगठित राष्ट्रवाद जीवन के वास्तविक मूल्यों—प्रेम, नैतिकता तथा आध्यात्मिकता का नाश कर देता है। वे भारतीय राष्ट्रवाद के सन्दर्भ में प्राचीन भारतीय संस्कृति का पुनरुत्थान चाहते थे। उनकी मान्यता थी कि भारत एक

आध्यात्मिक शक्ति था और यह सार्वभौमवाद भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है। अतः केवल राजनीतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता से ही राष्ट्रीयता के ध्येय की प्राप्ति नहीं हो सकती है। उनके विचार में मानव का सर्वांगीण विकास ही राष्ट्रीयता का साकार रूप है। अतः उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता के लिये ग्राम पुनर्गठन-और जन शिक्षा पर विशेष बल दिया। गाँधी के असहयोग आन्दोलन की भी उन्होंने इसीलिये आलोचना की थी क्योंकि उन्हें भय था कि इससे संकीर्ण दृष्टिकोण की उत्पत्ति होगी।

मूल्यांकन—टैगोर एक महापुरुष थे जिन्होंने अपनी प्रतिभा से भारत के साहित्यिक और सांस्कृतिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उनकी ख्याति भारत में नहीं वरन् विश्व में एक महान् कवि, नाटककार, कथा साहित्यकार, दार्शनिक, शिक्षा शास्त्री एवं समाज-सुधारक के रूप में है। यद्यपि वे प्रधानतः एक कवि के रूप में ही प्रसिद्ध हैं किन्तु सच तो यह है कि उनकी प्रतिभा एवं व्यक्तित्व इतना महान् था कि उन्हें 'युगपुरुष' कहना ज्यादा उपयुक्त होगा। टैगोर ने भारत का मस्तक विश्व में ऊँचा किया और अपनी साहित्यिक रचनाओं द्वारा भारतवासियों में नव जागरण की भावना उत्पन्न की। उन्होंने भारतीय समाज को रचनात्मक आधार पर पुनः व्यवस्थित करने का सन्देश दिया। उन्होंने अपनी रचनाओं में प्रेम, न्याय, सहानुभूति, उदारता और सहिष्णुता को महत्व दिया। टैगोर ने संकीर्णता से ऊपर उठकर विश्व बन्धुत्व का पाठ पढ़ाया। उनकी रचनाएँ मानवतावादी भावनाओं से ओत-प्रोत थी। उनका राष्ट्रवाद उदार था जिसमें अन्तर्राष्ट्रीयता के बीज निहित थे। उनकी प्रतिभा के सम्बन्ध में डॉ. राधाकृष्णन ने कहा है कि—

"रवीन्द्रनाथ आधुनिक भारत के नव जागरण के सबसे बड़े व्यक्ति थे। कई पीढ़ियों से हमें उनके जैसा कवि नहीं मिला। वह एक बड़े पैगम्बर, सुमुपदेष्टा तथा हमारे भावी भाग्य के पथ-प्रदर्शक थे। उनकी रचनाओं के कारण ही भारत के बाहर के देशों के लाखों मनुष्य हमारे देश और उसकी संस्कृति का आदर करते हैं। उन्होंने हमारे देश में जन्म लिया, इसका अर्थ यह होता है कि ईश्वर हमसे निराश नहीं है।" उनकी साहित्यिक प्रतिभा के सम्बन्ध में डॉ. किशोरीलाल मश्रूवाला ने कहा है कि "व्यास, बाल्मीकि वशिष्ठ, विश्वामित्र, पाराशर आदि वैदिक ऋषि सर्वकालीन मान्य पुरुष हो गये हैं। अगर लिखित इतिहास का लोप हो जाय तो रवीन्द्र की गणना उन्हीं के समान होगी।" उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए 1946 ई. में महात्मा गांधी ने कहा था कि "गुरुदेव की देह खाक में मिल चुकी है, लेकिन उनके अन्दर जो ज्योति थी, जो उजाला था, वह सूरज के समान था जो तब तक बना रहेगा जब तक धरती पर जानदार रहेंगे……वे एक कवि और प्रथम श्रेणी के साहित्यकार थे। उनकी प्रवृत्तियाँ व्यापक और लोकोपकारी थी। हमारे एक वायसराय ने उन्हें एशिया का कवि कहा है। वस्तुतः वे तो सम्पूर्ण विश्व के कवि थे।"

———

10

भारतीय कला का सर्वेक्षण-बौद्ध स्थापत्य कला

(Survey of Indian Art–Budhhist Architecture)

कला का इतिहास उतना ही पुराना है जितना मानव का। मानव ने जिस समय प्रकृति की गोद में आँखें खोली उसी समय से उसने अपने कृतित्व से ऐसी कृतियों का सृजन किया जो उनके जीवन को सुखद और सुचारु बना सके। इसी समय से मानव की ललित भावना जागृत हुई। मानव ने अपने जीवन को सुखद बनाने तथा अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए पत्थर के औजारों तथा अन्य माध्यमों का सहारा लिया। आदिकाल से आज तक मानव की समस्त प्रवृत्तियाँ इसी दिशा में प्रयत्नशील हैं।

ललित का आकलन ही कला है। डॉ. भगवत शरण उपाध्याय ने कला की परिभाषा करता हुये कहा है कि "अभिराम अंकन चाहे वह वाग्विलास के क्षेत्र में हो, चाहे राग-रेखाओं में, चाहे वास्तु शिल्प में, वह कला ही है।" भारतीय कला का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है जिसका आरम्भ प्रागैतिहासिक काल से होता है। सिन्धु सभ्यता के उत्खनन से भारतीय कला के उत्कृष्ट नमूने प्राप्त हुये हैं किन्तु वैदिक काल में यह परम्परा टूट गई। उसके बाद लम्बे अन्तराल के बाद मौर्यकाल में भारतीय कला में नव जीवन का संचार होता है। मौर्यकाल में जो कला-साधना आरम्भ हुई वह अनवरत चलती रही। इस दीर्घकाल में इसके स्वरूप, उद्देश्य तथा भावों में अनेक परिवर्तन हुये। कला के अनन्य पक्ष हैं, जैसे—स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत, नृत्य कला आदि। यहाँ हम भारत की स्थापत्य कला के कतिपय रूपों का विवेचन करेंगें।

स्थापत्य का अर्थ—स्थापत्य कला को वास्तु कला भी कहा जाता है। 'वास्तु' शब्द 'वस्' धातु में 'तुम्रन्' प्रत्यय लग कर बना है। 'वस्' का अर्थ है किसी एक स्थान पर निवास करना। इस प्रकार वास्तु का अर्थ हुआ वह भवन जिसमें मनुष्य या देवता निवास करते हैं। कौटिल्य ने वास्तु के अन्तर्गत केवल भवन को ही नहीं बल्कि

वाटिका, बन्ध, सेतु, तड़ाग, पुष्करणी तथा प्रत्येक प्रकार के भवन को सम्मिलित किया है। भारतीय वास्तु में नगर विन्यास, भवन, स्तूप, गुफा, मन्दिर तथा स्तम्भों को सम्मिलित किया जाता है। भवन मानव के निवास के साथ उसके विविध प्रकार के उद्देश्यों तथा आनन्द का स्रोत हैं। अतः भवन निर्माण को एक विशिष्ट प्रकार की कला अर्थात् वास्तुकला या स्थापत्य कला की संज्ञा प्रदान की गई है। हमारे अनेक प्राचीन ग्रन्थों में इस कला के विधि नियमों का विस्तृत उल्लेख किया गया है।

स्थापत्य कला का उद्भव—भारत में स्थापत्य कला के प्राचीनतम अवशेष सिन्धु सभ्यता से प्राप्त हुये हैं। वास्तु कला या स्थापत्य कला का उद्भव कैसे हुआ? यह जटिल प्रश्न है। वैदिक साहित्य में वास्तु विधान का तो वर्णन है किन्तु इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है। परवर्ती साहित्य में इसकी उत्पत्ति की विवेचना की गई है, परन्तु दीर्घकाल की वास्तु परम्परा के बाद रचित इन ग्रन्थों का विवरण कहाँ तक सत्य है? यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। वृहद् संहिता के अनुसार वास्तु शास्त्र ब्रह्मा से उत्पन्न कलाकारों द्वारा विकसित हुआ है। वास्तुकला के उपलब्ध अवशेष इस कला के विकसित रूप के प्रतीक हैं। अतः इसके प्रारम्भिक रूप का अनुमान लगाने के लिए वैदिक साहित्य के विवरण को ही आधार बनाना पड़ता है। ऋग्वेद में भवन निर्माण के लिये वास्तु देवता (वास्तोस्पति=इन्द्र) का आह्वान किया गया है। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक गृह ऐसे थे जो वायु और वर्षा से विनष्ट हो जाते थे। गृह्यसूत्रों में यज्ञशाला के निर्माण का स्पष्ट उल्लेख है। शांखायन गृह्यसूत्र में भवन निर्माण के विभिन्न पक्षों का वर्णन किया गया है। ऐतरेय तथा शतपथ ब्राह्मणों में भी वास्तु कला सम्बन्धी अनेक उल्लेख मिलते हैं।

यह सार्वभौम सत्य है कि किसी कार्य को करने के लिए जब कोई अन्य आदर्श हमारे समक्ष नहीं होता तो प्रकृति ही सरल आदर्श बनती है। अतः जब मानव पर्वतों और गुफाओं तथा वृक्षों की छाया से अलग आवास की खोज कर रहा था तो प्रकृति ही उसका आदर्श बनी। इसी तथ्य के आधार पर अनेक विद्वानों ने स्थापत्य की उद्भव का आधार वृक्षों के आकार को माना है। उनकी मान्यता है कि वृक्ष ही मानव के प्रथम आवास थे। अतः जब उसने घास, फूस तथा काष्ठ से अपने प्रारम्भिक आवासों का निर्माण किया तो वृक्षों का आकार उसकी स्मृति में अवश्य रहा होगा। 'समरांगणसूत्र' से भी इसी मत की पुष्टि होती है। पुराणों तथा वास्तु ग्रन्थों में भी वृक्षों को ही स्थापत्य के उद्भव का आधार माना गया है। कतिपय विद्वान पर्वत तथा गुफाओं को भी स्थापत्य के उद्भव का आधार मानते हैं। उनकी मान्यता है कि भवनों की गज पृष्ठाकार छतें तथा मन्दिरों के उच्च शिखर इस बात का प्रमाण हैं कि इनके निर्माण के समय मानव के मस्तिष्क में पर्वत तथा गुफायें आवास के आदर्श के रूप में विद्यमान थीं। इस प्रकार स्पष्ट है कि स्थापत्य कला का उद्भव प्राकृतिक आश्रय स्थलों के आदर्श पर निर्मित कृत्रिम रूप में हुआ।

बौद्ध स्थापत्य

बौद्ध धर्म के प्रचार और प्रसार में ललित-कलाओं का महत्वपूर्ण योगदान था। बौद्ध धर्म प्रचारक भिक्षुओं और शासकों ने विविध ललित-कलाओं यथा—स्थापत्य कला, मूर्तिकला, चित्रकला आदि के माध्यम से बौद्ध धर्म को जनसाधारण के लिये आकर्षक बनाया। वस्तुतः कला को बौद्ध धर्म से प्रेरणा मिली और वह धर्म की चेरी बन गई। अशोक द्वारा बौद्ध धर्म को राजकीय संरक्षण देने से लेकर तीसरी और चौथी शताब्दी ईस्वी तक बौद्ध कला का आश्चर्यजनक रूप से विकास हुआ। इस काल में बौद्ध आध्यात्मिकता कला के माध्यम से अभिव्यक्त हुई। वी. ए. स्मिथ का मत है कि "भारतीय कला का इतिहास अशोक से आरम्भ होता है और प्रारम्भिक भारतीय कला प्रायः बौद्ध कला है।" एक अन्य विद्वान का मत है कि "यद्यपि भारतीय कला की परम्परा काफी प्राचीन है तथापि हमें सिन्धुघाटी की कला को छोड़कर भारत में कला के जो नमूने प्राप्त होते हैं उनमें से अधिकांश बौद्ध कला के ही नमूने हैं। मूर्तिकला और शिल्पकला का तो उद्भव ही सम्भवतः बौद्ध धर्म द्वारा हुआ था।" बौद्धयुगीन कला के सम्बन्ध में प्रोफेसर कोहन ने लिखा है कि "बौद्ध कला का अनुभव हम सब के लिए एक गम्भीर अनुभव होना चाहिए। स्थापत्य, चित्रकला, मूर्तिकला आदि में बौद्ध धर्म ने ऐसी कला कृतियों का निर्माण किया है जिन्हें पाश्चात्य कला की श्रेष्ठतम कृतियों के समक्ष रखा जा सकता है।" सात शताब्दियों के सुदीर्घकाल में बौद्ध कला के अन्तर्गत कला के अन्यान्य पक्षों का सर्वांगीण विकास हुआ। इस काल में बौद्ध स्थापत्य कला के रूप में स्तूप, चैत्य, विहार, गुफायें आदि का निर्माण हुआ।

बौद्ध स्तूप स्थापत्य

भारतीय कला के प्राचीन साहित्यिक विवरणों और पुरातात्विक साक्ष्यों से यह निर्विवाद रूप से प्रमाणित होता है कि भारतीय स्थापत्य कला के इतिहास में स्तूपों के निर्माण का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर 'स्तूप' का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में वृत्ताकार असुर श्मशानों को स्तूप कहा गया है। महाभारत में भी स्तूप का उल्लेख किया गया है। लौरिया नन्दनगढ़ में अनेक श्मशान स्तूप प्राप्त हुए हैं जिन्हें कनिघम महोदय ने 1500 ई० पू० से 600 ई. पू. के मध्य का माना है। इन विवरणों से स्पष्ट है कि महापुरुषों के अवशेषों पर स्तूप बनाने की परम्परा भारत में ऋग्वेदिक काल से प्रचलित थी।

बौद्ध धर्म में स्तूप निर्माण के उद्गम के सम्बन्ध में बौद्ध साहित्य में उल्लेख मिलता है। परिनिर्वाण के अवसर पर मृत्यु शैय्या पर पड़े हुए महात्मा बुद्ध से उनके प्रिय शिष्य आनन्द ने पूछा कि "हम किस प्रकार तथागत के शरीर और उनकी अन्य वस्तुओं का सम्मान करें?" तो महात्मा बुद्ध ने उत्तर दिया, "जिस प्रकार चतुष्महापथों पर चक्रवर्ती सम्राट के लिए स्तूप बनाये जाते हैं, उसी प्रकार तथागत के लिए स्तूप बनवाना चाहिये।" अतः महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद

उनका दाह संस्कार करके उनके अस्थि अवशेषों को आठ भागों में विभाजित कर उन पर राजगृह, कपिलवस्तु, वैशाली, पावा, कुशीनगर, रामग्राम, अल्लकप्प और वेठद्वीप नामक स्थानों पर आठ स्तूप बनवाये गये। बौद्ध परम्परा के अनुसार अशोक ने इन आठ स्तूपों से अस्थि अवशेष निकलवा कर उन्हें 84 हजार स्तूपों में सुरक्षित करवाया। इस प्रकार अशोक के काल से स्तूप कला बौद्ध कला का अभिन्न अंग बन गई और स्तूप बुद्ध के प्रतीक रूप में मान्य हो गये। बुद्ध के अलावा अन्य अर्हतों के अवशेषों पर भी अनेक स्तूप बनाये गये। इस प्रकार महात्मा बुद्ध और बौद्ध धर्म के अन्य महापुरुषों की अस्थि अवशेषों पर बनी समाधियों को स्तूप कहा जाने लगा।

प्रारम्भ में स्तूप मिट्टी के थूहे होते थे। इसीलिए पालि बौद्ध साहित्य में इन्हें 'थूह' या 'थूप' कहा गया है। मौर्यकाल में इसके निर्माण में ईंटों का प्रयोग आरम्भ हुआ। स्तूप के आधार सामान्यतया वृत्ताकार अथवा वर्गाकार हैं। स्तूपों के आधार को 'मेधि' कहा जाता है। मेधि के ठोस मध्य भाग पर बुलबुले की भांति अण्डाकार भाग को 'अण्ड' अथवा 'गर्भ' कहा जाता है। इस 'अण्ड' की ऊंचाई में समय के साथ उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई जिसे 'महाबुद्बुल' कहा जाता है। अण्ड का शीर्ष भाग चपटा होता है। इसके ऊपर मंजूषा रूपी भाग में बुद्ध के अवशेष धातु मंजुषा में रखकर ढके जाते थे। यह स्तूप का सर्वाधिक पवित्र और महत्वपूर्ण भाग है जिसे 'हर्मिका' (मन्दिर) कहा जाता है। हर्मिका के ऊपर गर्भ का स्पर्श करती हुई धातुवेष्टि बनाई जाती है। वेष्टि के शीर्ष पर छत्र बनाये जाते थे। प्रारम्भ में एक ही छत्र बनाया जाता था किन्तु बाद में तीन छत्र की परम्परा विकसित हुई और सातवाहनकालीन स्तूपों में तो सात छत्र तक के अवशेष मिले हैं। छत्रों के शीर्ष पर कलश अंकित किया जाता था जिसे 'वर्षस्थल' कहा जाता है।

स्तूप के आधार 'मेधि' के चारों ओर वेदिका का निर्माण किया जाता था जो प्रदक्षिणा पथ का काम देती है। वेदिका के चतुर्दिक पत्थर की वेष्टनियाँ (Railing) बनाई गई हैं। वेष्टनियों का निर्माण परम्परागत ढंग से किया गया है। वेदिका के किनारे-किनारे स्तम्भ खड़े किये गये हैं। इन स्तम्भों का आधार पाषाण खण्डों में धंसा हुआ है जिन्हें 'आलम्बन पिण्डिका' कहा जाता है। इन स्तम्भों के शीर्ष भी पाषाण खण्डों में धंसे हैं जिन्हें 'ऊष्णीश' (पगड़ी) कहा जाता है। इन स्तम्भों में चूल काटकर तीन आड़े पाषाण दण्ड लगाये गये हैं।

इन वेष्टनियों (Railing) की चारों दिशाओं में चार तोरणद्वार बने होते हैं जो दिग्पालों के रूप में प्रतीत होते हैं। कतिपय तोरणद्वार अत्यन्त आकर्षक हैं। तोरणद्वार की रचना की भी विशिष्ठ शैली थी। दो विशाल स्तम्भों को प्रवेश-द्वार के दोनों किनारे खड़ा किया गया है। उनके उर्ध्व भाग में चूल काटकर समान दूरी पर तीन आड़े पाषाण दण्ड (धरने) इस प्रकार डाले गये हैं कि उनके दोनों सिरे कुछ बाहर निकले हों। इन बाहर निकले सिरों पर चक्र का निर्माण किया

जाता है। इन तीन आड़ पाषाण खण्डों को तीन-तीन लम्बवत् स्तम्भों से जोड़ा गया है। इस प्रकार यह तोरणद्वार अलंकरण पट्ट के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। कुछ तोरणद्वार मूर्ति अलंकारों से अलंकृत हैं।

सबसे प्राचीन स्तूप के अवशेष नेपाल की सीमा के निकट पिप्रहवा में मिले हैं। यह स्तूप महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण के कुछ काल बाद का है। इस स्तूप के आधार का व्यास 116 फीट तथा ऊंचाई 22 फीट है। इसके निर्माण में 35 सेमी.× 25 सेमी.× 8 सेमी. नाप की ईंटों का प्रयोग किया गया है।

मौर्यकाल भारतीय इतिहास में राजनीतिक एकता, शान्ति, सुव्यवस्था तथा आर्थिक सम्पन्नता का युग था। इस युग ने कला के विकास और सृजन के लिये उपयुक्त परिस्थितियाँ प्रदान कीं। मौर्य सम्राट अशोक स्वयं बौद्ध धर्मावलम्बी था। अतः उसने बौद्ध धर्म को राजकीय संरक्षण प्रदान कर उसके प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया था। भारतीय बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अशोक ने बुद्ध के आठ स्तूपों में से उनकी अस्थि अवशेषों को निकाल कर 84 हजार बौद्ध स्तूपों में स्थापित किया था। बौद्ध ग्रन्थ 'दिव्यावदान' और 'महावंश' में भी अशोक द्वारा 84 हजार स्तूप बनवाने का उल्लेख है। 7वीं शताब्दी के चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी इस अनुश्रुति की पुष्टि की है। ह्वेनसांग ने तो अपने ग्रन्थ में कपिशा, नगरहार, पुरुषपुर (पेशावर), तक्षशिला, कश्मीर, मथुरा, प्रयाग, कौशाम्बी, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वैशाली, पाटलिपुत्र आदि स्थानों पर अशोक द्वारा निर्मित स्तूपों का उल्लेख किया है, जिन्हें उसने स्वयं देखा था। कल्हण ने अपने ग्रन्थ 'राजतरंगिणी' में भी अशोक द्वारा निर्मित स्तूपों का उल्लेख किया है। यद्यपि अशोक द्वारा बनवाये गये सभी स्तूप अब मौजूद नहीं हैं फिर भी कुछ स्तूपों के अवशेष जीर्ण-शीर्ण अवस्था में पाये जाते हैं।

विद्वानों की मान्यता है कि सारनाथ, सांची, भरहुत और अमरावती के प्रख्यात स्तूपों का प्रथम निर्माण अशोक ने ही करवाया था। अशोकयुगीन स्तूप मिट्टी के थूहे थे जिन्हें ईंटों और गारे से ढँका गया था। पर्सी ब्राउन के अनुसार इन स्तूपों का व्यास 70 फीट और ऊँचाई 35 इन्च होती थी। स्तूप के 'अण्ड' के शीर्ष पर काष्ठ यष्टि और छत्र होता था तथा स्तूप के आधार के चारों ओर (परिक्रमा के लिए) काष्ट की वेदिका बनाई जाती थीं। इस वेदिका की चारों दिशाओं में चार द्वार होते थे। वह युग स्तूप निर्माण का प्रथम काल था जिसका पूर्ण विकास शुंग-सातवाहन और कुषाण शासकों के काल में हुआ।

शुंग सातवाहन युग स्तूप-स्थापत्य का स्वर्ण काल था। शुंगों ने उत्तर भारत में और सातवाहनों ने दक्षिण भारत में अशोक द्वारा ईंटों और गारे से बनवाये स्तूपों को शिला खण्डों से आच्छादित कर उन्हें नवीन और अलंकृत रूप प्रदान किया। स्तूपों में पाषाण वेदिका, वेष्टनियाँ, यष्टि, छत्र और तोरणद्वार इसी काल की रचना है। इसी काल में तोरणद्वारों और वेदिकाओं पर महात्मा बुद्ध

के जीवन की घटनायें अंकित की गयीं। शुंगकालीन स्तूपों में भरहुत और सांची के स्तूप इस काल की कला के प्रतिनिधि स्तूप कहे जा सकते हैं।

कुषाण शासक कनिष्क भी बौद्ध धर्मावलम्बी था। उसने भी अनेक स्तूपों का निर्माण करवाया। उसके द्वारा अपनी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) में बनवाया गया स्तूप अपनी भव्यता, ऊँचाई और कला के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है। कनिष्क के बाद दूसरी शताब्दी ईस्वी से लेकर पाँचवीं शताब्दी ईस्वी तक भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग में अनेक स्तूप बने। ये स्तूप गांधार शैली में निर्मित हैं। गुप्त युग में उत्तर मध्य भारत में अनेक स्तूप बने जिनमें सारनाथ, राजगिरि (पटना), साँची आदि प्रमुख हैं। कालान्तर में बौद्ध तीर्थ यात्रियों ने भी अपने भ्रमण की स्मृति में स्तूपों का निर्माण करवाना आरम्भ कर दिया और दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक ऐसे कई स्तूप निर्मित किये जाते रहे।

बौद्ध स्थापत्य के प्रमुख स्तूप

भारतीय परम्परागत शैली में निर्मित स्तूप—(1) भरहुत स्तूप—भरहुत (वर्तमान भौरोपुर) ग्राम, वर्तमान मध्यप्रदेश के सतना जिले से 9 मील दक्षिण में स्थित है। सन् 1873–74 में कनिंघम ने यहाँ एक बौद्ध स्तूप की खोज की। यद्यपि स्तूप पूर्णतया विनष्ट हो गया था किन्तु इसके अवशेषों को कलकत्ता के राष्ट्रीय संग्रहालय में सुरक्षित कर दिया है। कनिंघम, बरुआ और श्री बी. एम. व्यास आदि विद्वानों ने अवशेषों के आधार पर इस स्तूप की स्थापत्य की विशेषताओं का अनुमान लगाया है। इन विद्वानों का विचार है कि इस स्तूप का निर्माण अशोक ने किया था। शुंग काल में इसे पाषाणों से आच्छादित किया गया और इसके चारों ओर वेदिका तथा तोरणद्वारों का निर्माण हुआ। स्तूप का आधार 68 फीट था तथा इसका अण्ड भाग पक्की ईंटों से बना था। स्तूप के आधार के चारों ओर वर्गाकार वेदिका थी। स्तूप व वेदिका के मध्य 10 फीट 4 इञ्च का मार्ग था जो प्रदक्षिणापथ (परिक्रमा मार्ग) का कार्य करता था। वेदिका में 80 स्तम्भ थे जिनकी ऊँचाई उष्णीश सहित 9 फीट थी। इस वेदिका के चारों ओर दीप जलाने के लिए 120 आले (ताक) बने हुए थे। वेदिका का निर्माण सामान्य शैली अर्थात् प्रत्येक दो स्तम्भों में चूल काट कर तीन आड़े पाषाण-दण्डों के द्वारा हुआ था। वेदिका की चार दिशाओं में बने तोरणद्वार उल्लेखनीय है। अन्य स्तूपों में प्रायः पूर्वी तोरणद्वार मुख्य होता है किन्तु भरहुत में दक्षिणी तोरणद्वार प्रमुख है। डॉ. एल.ए. वैडेल के अनुसार भरहुत में दक्षिणी तोरणद्वार ही मुख्य प्रवेश द्वार था। इसका निर्माण दो ऊँचे स्तम्भों को चार छोटे स्तम्भों से जोड़कर किया गया है। इन स्तम्भों को तीन आड़ी पट्टिकाओं से आबद्ध किया गया है। इन पट्टिकाओं के सिरों पर मुख फैलाये मगरमच्छ की आकृतियाँ बनी हुई हैं। सबसे ऊपर वाली आड़ी पट्टी पर मध्य में धर्मचक्र तथा दोनों ओर त्रिरत्न चिन्ह अंकित हैं। स्तूप के चारों

ओर की मुख्य वेदिका के अतिरिक्त एक कम ऊँची वेदिका के अवशेष भी मिले हैं। यह वेदिका 3 फीट 3 इन्च ऊँची थी जिसमें लगभग 240 स्तम्भ लगे थे। विद्वानों के अनुसार यह वेदिका शुंग काल के बाद सम्भवत: कुषाण युग में बनी थी। इस प्रकार भरहुत का स्तूप खण्डित होने पर भी बौद्ध स्थापत्य कला का बेजोड़ और आदर्शात्मक उदाहरण है।

(2) सांची का स्तूप—मध्य प्रदेश के विदिशा (भिलसा) से 5 मील की दूरी पर स्थित साँची का बौद्ध धर्म के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। अशोक के काल में साँची बौद्ध धर्म का मुख्य केन्द्र था। यहीं के एक श्रेष्ठी के पुत्री से अशोक का विवाह हुआ था जिसने अशोक के हृदय में बौद्ध धर्म का बीज आरोपित किया था। अशोक ने यहाँ एक स्तूप का निर्माण करवाया था। साँची का यह स्तूप बौद्ध स्थापत्य कला में विशिष्ठ स्थान रखता है।

अशोक ने यहाँ एक लघु स्तूप की स्थापना की थी जिसके चारों ओर काष्ट वेदिका बनी थी। शुंग काल में इसके आकार का विस्तार कर इसे पाषाण कवच प्रदान किया गया। शुंग काल में परिवर्द्धित इस स्तूप का व्यास 120 फीट है। यह 54 फीट ऊँचा है। इसके अण्ड भाग को साधारण पाषाण खण्डों से ढ़का गया है। इसके बाद इसे 4 इन्च मोटी रोड़ी (कंक्रीट) से आच्छादित कर उस पर सुनहरा प्लास्टर किया गया है। इस स्तूप के शीर्ष भाग की हर्मिका (मन्दिर) भी वेदिका युक्त है तथा हर्मिका पर धातु वेष्टियुक्त तीन छत्र लगे हैं। साँची का स्तूप त्रिमेधि अर्थात् तीन वेदिका युक्त हैं। प्रथम वेदिका भूतल पर, दूसरी वेदिका भूतल से 16 फीट ऊपर तथा तीसरी वेदिका हर्मिका (मन्दिर) के चतुर्दिक बनी हुई है। मध्य की वेदिका पर पहुँचने के लिए सीढ़ियों की व्यवस्था है। भूतल की वेदिका महावेदिका कही जाती है। अशोकयुगीन काष्ट वेदिका को शुंग काल में पाषाण रूप प्रदान किया गया। यह वेदिका भी परम्परागत शैली पर बनी है। इसके चारों ओर 2-2 फीट के अन्तर पर स्तम्भ खड़े हैं। प्रत्येक दो स्तम्भों को तीन क्षैतिज पाषाणों (Bars) से जोड़ा गया है जिनके ऊपर लम्बा पाषाण उष्णीश रखा है जिसका ऊपरी भाग गोलाकार है। उष्णीश सहित स्तम्भों की ऊँचाई 11 फीट है। साँची के तोरणद्वार भी शुंग काल के बने हुए हैं। यहाँ से 5 तोरणद्वार मिले हैं इनमें से चार तो महावेदिका के चारों दिशाओं में निर्मित हैं एक तोरणद्वार अलग से है जो शायद अन्य स्तूप का रहा होगा। महावेदिका के चार तोरणद्वारों के सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम के तोरणद्वारों का निर्माण भिन्न-भिन्न कालों में हुआ था। तोरणद्वार 34 फीट ऊँचे और 20 फीट चौड़े हैं। द्वारों का निर्माण दो विशाल स्तम्भों से किया गया है। इन स्तम्भों के शीर्ष पर पीठ मिलाये हुए चार हाथी, बौने और शेर अंकित हैं। इन स्तम्भों के उर्ध्व भाग पर तीन क्षैतिज पाषाण पट्टिकायें लगी हैं। इनके सिरे स्तम्भों के बाहर निकले हैं जो आवर्ताकार हैं। ये तीन क्षैतिज पट्टिकायें चार लम्बवत् शिला खण्डों से सम्पृक्त

हैं जिन पर गजारोही और अश्वारोही मानव आकृतियाँ अंकित हैं। सबसे ऊपर के क्षैतिज पर धर्म चक्र और त्रिरत्न प्रतीक अंकित हैं। सबसे नीचे की पट्टिका पर दो स्त्री-मूर्तियाँ अलंकृत हैं। तोरणद्वारों के अन्य भागों पर बुद्ध के जीवन की लौकिक और पारलौकिक घटनायें अंकित हैं। साँची के तोरणद्वार बौद्ध कला की सर्वमान्य अनुकृति है। वह स्तूप बौद्ध स्थापत्य के सौन्दर्य, व्यंजना तथा प्रतीकात्मक व्याख्या का अनुपम उदाहरण है। यद्यपि यह स्तूप दीर्घ काल तक परिवर्द्धित होता रहा किन्तु इसके मुख्य अंश शुंग काल में पूर्ण हो चुके थे।

(3) अमरावती स्तूप—विन्ध्य के दक्षिण भारत में स्तूप स्थापत्य की परम्परा दूसरी शताब्दी ई. पू. में सातवाहनों के राज्यकाल में विकसित हुई। मद्रास के गून्टूर जिले में कृष्णा नदी के दक्षिणी तट पर स्थित अमरावती कस्बा दक्षिण भारतीय स्तूप स्थापत्य का प्रमुख केन्द्र था। 1797 ई. में कर्नल मैकेन्जी को यहाँ से एक स्तूप के अवशेष उपलब्ध हुये, जिन्हें कलकत्ता और मद्रास संग्रहालयों में सुरक्षित रखा गया है। विद्वानों का मत है कि अमरावती के स्तूप का प्रारम्भिक निर्माण 200 ई. पू. में हुआ जो दूसरी और तीसरी शताब्दी ईस्वी में महायान परम्परा में पूर्ण हुआ था क्योंकि इस स्तूप पर दो प्रकार की नक्काशी प्राप्त होती है जो विभिन्न कालों से सम्बद्ध हैं। पहले प्रकार की नक्काशी में बुद्ध की प्रतिमा दिखाई नहीं देती जबकि बाद की नक्काशी में बुद्ध की प्रतिमा उत्कीर्ण है। इस स्तूप के पदों पर वाशिष्ठिपुत्र पुलमावी, यज्ञश्री सातकर्णि आदि के लेख अंकित हैं। अवशेषों के आधार पर अनुमान लगाया गया है कि अमरावती स्तूप के अण्ड भाग का व्यास 163 फीट तथा ऊंचाई 60 से 100 फीट रही होगी। प्राप्त शिला खण्डों से ज्ञात होता है कि यह अण्ड भाग संगमरमर के शिला खण्डों से आच्छादित था। स्तूप के शीर्ष पर दो फीट की वर्गाकार हर्मिका (मन्दिर) थी जिसके मध्य में मोटी वेष्टि और छत्र था। स्तूप के आधार की चारों दिशाओं में चार आयातकार मंच बने हुये थे जिन्हें आयक मंच कहा जाता है। इन मंचों पर 5-5 स्तम्भ खड़े थे जिन्हें आयक स्तम्भ कहा जाता है। कर्नल मैकेन्जी के अनुसार आयक मंच 20 फीट ऊंचे, 32 फीट लम्बे और 6 फीट चौड़े थे। आयक स्तम्भ 10-15 फीट ऊंचे थे। आयक मंच दक्षिण भारतीय स्तूप स्थापत्य का अनिवार्य अंग था। स्तूप के आधार के चारों ओर 193 फीट का व्यास और 600 फीट परिधि की वेदिका (Railing) थी। यह वेदिका सांची परम्परा के अनुरूप स्तम्भों, क्षैतिज पट्टिकाओं और उष्णीश से बनी है। वेदिका में 9 फीट ऊंचे 136 स्तम्भ थे। दो स्तम्भों के मध्य तीन-तीन आड़ी पट्टिकायें लगी है। स्तम्भों के नीचे और शीर्ष पर पाषाण के उष्णीश बने हैं। अमरावती की सम्पूर्ण वेदिका जातक कथाओं के चित्रण से परिपूर्ण है। आधार वेदिका के अलावा भूमि से 20 फीट ऊपर एक अन्य वेदिका भी थी। वेदिका की चारों दिशाओं में चार तोरणद्वार हैं जो सांची और भरहुत परम्परा से भिन्न हैं। ये तोरणद्वार 26 फीट चौड़े थे। इनके दोनों सिरों के 16 फीट हिस्से बाहर निकले हुये हैं। ये पुनः समकोण बनाते हुये $6\frac{1}{2}$ फीट अन्दर की ओर तथा

पुन: 8 फीट बाहर की ओर निकले हुये हैं। इन तोरणद्वारों के स्तम्भों के शीर्ष सादा हैं। फर्ग्युसन के अनुसार, "अमरावती शैली की स्थापत्य कला भारत की स्थापत्य कला का चरमोत्कर्ष था।"

अमरावती में इस मुख्य स्तूप के अतिरिक्त अनेक छोटे स्तूप के अवशेष भी मिले हैं जो मुख्य स्तूप की शैली में ही निर्मित हैं। अमरावती के अतिरिक्त गोली, भट्टिप्रोलु, गुडविडा, जग्गयपेट्ट तथा नागार्जुनी कोण्डा में दक्षिण भारतीय शैली के बौद्ध स्तूप मिले हैं जो अमरावती स्थापत्य शैली में ही निर्मित है। इन स्तूपों में ईंटों और स्तम्भ दीवारों के मध्य मिट्टी या कंकड भर कर अण्डाकार भाग तैयार करके संगमरमर से उसे आच्छादित कर दिया जाता था। नागार्जुन कोण्डा का स्तूप भी साधारण शैली का है।

गान्धार शैली में निर्मित स्तूप

छठी शताब्दी ई. पू. से ही भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर विदेशी आक्रमण आरम्भ हो गये थे। हखमानी शासकों के पश्चात् सिकन्दर ने भारत की व्यास नदी तक आक्रमण कर पश्चिमोत्तर भारत तक एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया था। इस क्षेत्र में जिस संस्कृति का विकास हुआ उसे हेलेनिस्टिक संस्कृति कहा जाता है। हेलेनिस्टिक संस्कृति के प्रभाव में भारत के गान्धार क्षेत्र में एक नवीन सांस्कृतिक परम्परा का उदय हुआ जिसे गान्धार परम्परा या शैली कहा जाता है। प्राचीन गान्धार क्षेत्र में आजकल का पेशावर जिला, काबुल नदी की घाटी, स्वात, बुनेर तथा सिन्ध और झेलम नदी के मध्य के पंजाब का पश्चिमी भाग सम्मिलित था।

गान्धार परम्परा या कला की देह यवन-ईरानी है किन्तु इसकी आत्मा और वर्ण्य विषय पूर्णतया भारतीय हैं। इसके वर्ण्य विषय में बौद्ध धर्म का अत्यधिक प्रभाव है। इसलिये गान्धार कला को यवन-बौद्ध कला भी कहा जाता है। इस प्रकार गान्धार कला बौद्ध कला का ही अंग है। इस सम्बन्ध में एम. फाउचर ने कहा है कि "गान्धार कला में बुद्ध प्रत्येक स्थान पर हैं; उसने चाहे कोई भी रूप धारण किया हो, चाहे राजकुमार, त्यागी, तपस्वी, आदर्श बौद्ध भिक्षु हो या उसे किसी भी नाम से पुकारा जाये, सिद्धार्थ, श्रमण, गौतम, बुद्ध, शाक्य मुनि, गान्धार कला के प्रत्येक निर्माण कार्य में बुद्ध प्रभावी हैं।"

गान्धार क्षेत्र की इस परम्परा में बौद्ध कला के स्तूप स्थापत्य का भी विकास हुआ। यह स्तूप-स्थापत्य भारत की परम्परागत स्थापत्य कला से पूर्णतया भिन्न है। गान्धार स्तूप स्थापत्य की निम्नलिखित विशेषतायें हैं—(1) स्तूप के साथ विहार अथवा संघाराम अनिवार्य रूप से बने हुये हैं। (2) गान्धार कला में स्तूप की ऊँचाई को विशेष महत्व दिया गया है। (3) स्तूप के अण्डभाग की ऊंचाई दिखाने के लिये सीढ़ियों का प्रयोग किया गया है। (4) स्तूपों के तोरण त्रिकोणात्मक है तथा उनमें आलें और ईरानी वेदिका बनी हुई हैं। (5) स्तूपों की ऊंचाई बढ़ाने के लिये उन्हें

ऊंचे आधारों पर प्रतिष्ठित किया गया है ये आधार ही प्रदक्षिणा (परिक्रमा) पथ का कार्य करते थे। (6)ऊंचाई को आभासित करने के लिए स्तूप की हर्मिका (मन्दिर) पर 6 छत्र बनाये गये हैं। (7) स्तूप के आलों (ताकों) और तोरणों में बुद्ध की मूर्तियां स्थापित हैं। (8) वेदिका तथा तोरणों के स्तम्भ कोरिन्थ और आयोनियन शैली में बने हैं। (9) स्तूप के मध्य भाग में वेदिका का अभाव है। इस प्रकार गान्धार स्तूप स्थापत्य अन्य क्षेत्रों से पूर्णतया भिन्न है।

गान्धार शैली के प्रमुख बौद्ध स्तूप—तक्षशिला, पुष्कलावती (पेशावर), नगरहार, स्नातघाटी, कपिशा, वाल्हीक, जमालगढ़ी, सहर-ए-वहलोल तथा तख्ते-ए-वाही आदि स्थान गान्धार कला के प्रमुख केन्द्र थे। तक्षशिला प्राचीन काल से ही शिक्षा का प्रमुख केन्द्र रहा है। यहाँ के सिरकप नामक स्थान से अनेक स्तूपों के अवशेष मिले हैं। बौद्ध ग्रन्थ **दिव्यावदान** का कथन है कि यहाँ के चन्द्रप्रभ नामक शासक ने अपना सिर तक बौद्ध धर्म के लिए दान कर दिया था। इस दान की स्मृति में सिरकप में एक स्तूप का निर्माण कराया गया था। अशोक के काल से ही गान्धार में स्तूप निर्माण आरम्भ हो गया था। अशोक के पुत्र कुणाल के **चक्षुदान** की स्मृति में यहां कुणाल स्तूप का निर्माण किया गया था। प्रारम्भिक स्तूपों का निर्माण भारतीय परम्परा में ही हुआ था जैसे **'माणिक्याल स्तूप'**। किन्तु कालान्तर में स्तूप स्थापत्य पर यवन कला का प्रभाव होने लगा और बाद के स्तूप यवन-भारतीय शैली के सम्मिश्रण गान्धार कला में निर्मित हुये। गान्धार शैली में निर्मित प्रमुख बौद्ध स्तूप निम्नलिखित है—

(1) पुरुषपुर स्तूप—कुषाण शासक कनिष्क बौद्ध धर्मावलम्बी था। उसने अनेक स्तूपों का निर्माण करवाया। उसके द्वारा अपनी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) में बनवाया गया स्तूप अपने विशाल आकार, ऊंचाई और कला के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध था। यह स्तूप 150 फीट ऊंची पांच मन्जिली आधार पीठिका पर बना था। स्तूप के चारों ओर 150 फीट की वेदिका (Railing) बनी हुई थी। स्तूप की कुल परिधि 3750 फीट और ऊंचाई 638 फीट थी। इसी स्तूप के निकट कुछ अन्य छोटे स्तूप भी मिले हैं जिनकी ऊंचाई 3 से 4½ फीट तक है। कनिष्क ने अशोककालीन कुणाल स्तूप का भी विकास किया था।

(2) धर्मराजिका स्तूप—तक्षशिला का धर्मराजिका स्तूप गान्धार शैली के बौद्ध स्तूप स्थापत्य का श्रेष्ठ उदाहरण है। इसके शीर्ष भाग में दरार होने के कारण इसे चीर स्तूप भी कहा जाता है। धर्मराजिका स्तूप का प्रारम्भिक निर्माण अशोक के काल में हुआ था। कुषाण काल में इसका पुनर्वर्धन तथा चौथी शताब्दी ईस्वी में इसका पुनर्निर्माण हुआ। यह उच्च आधार पर बना वृत्ताकार स्तूप है। इसका आधार ही प्रदक्षिणा (परिक्रमा) पथ का कार्य करता है जिसे पर चढ़ने के लिये चारों दिशाओं में सीढ़ियां बनाई गई हैं। स्तूप का अण्ड भाग अनगढ़ पाषाणों से आच्छादित था। कनिष्क के काल में इसे तराशे हुये पाषाण खण्डों से आच्छादित किया

गया। स्तूप के चारों ओर आले बने हैं तथा कोरिन्थ शैली में तोरणद्वारों का निर्माण किया गया है। कनिष्क के बाद भी यह स्तूप पांचवीं शताब्दी ईस्वीं तक परिवर्तित होता रहा।

(3) तख्त-ए-बाही स्तूप—तख्त-ए-बाही के अधिकांश बौद्ध स्तूप नष्ट हो चुके हैं किन्तु शेष अवशेषों के आधार पर सम्पूर्ण रचना का अनुमान लगाया जा सकता है। यहां का स्तूप सम्पूर्ण गान्धार स्तूप स्थापत्य का प्रतिनिधि है। यहाँ एक आयत के दक्षिण की ओर प्रांगण में 8 फीट ऊंचे आधार पर 50 फीट ऊंचा एक स्तूप निर्मित है जो क्रमशः ऊपर पतला होता गया है। स्तूप के शीर्ष पर 6 छत्र हैं। आधार ही इसका प्रदक्षिणा पथ था जिस पर चढ़ने के लिए उत्तर की ओर सीढ़ियां बनी हुई हैं। ह्वेनसांग ने इसे पैगोड़ा कहा है।

गान्धार शैली के अन्य स्तूप रावलपिण्डी,मणिक्याल, और चारसद्दा आदि स्थानों पर मिले हैं। मीरपुर से मिले स्तूप के आधार में तीन कमरे बने हैं जिनमें बुद्ध की मूर्तियां स्थापित हैं।

बौद्ध गुफा स्थापत्य

पर्वत गुफायें आदिकाल से ऋषियों के लिए आकर्षण का केन्द्र रही है। जहां साधक मानवीय कोलाहल से दूर अपनी साधना में मग्न रहता था। बौद्ध साधकों ने भी इसी परम्परा का अनुसरण कर गुफाओं को अपना आवास बनाया। उन्होंने अपने धर्म के आध्यात्मिक रूप को स्थायित्व प्रदान करने के लिये स्थायी भौतिक तत्वों को माध्यम बनाया। शुंग काल में बौद्ध धर्म के विरुद्ध हुई ब्राह्मण प्रतिक्रिया की धार्मिक असहिष्णुता से बौद्ध धर्म की रक्षा ने भी बौद्धों को गुफाओं में शरण लेने को बाध्य किया था।

पहाड़ों को काट कर गुफाओं के निर्माण की परम्परा का उद्भव भारत में मौर्ययुग में हुआ था। बराबर और नागार्जुनी की पहाड़ियों में मौर्यकालीन गुफायें प्राप्त हुई हैं। यह गुफा स्थापत्य सभी धर्मों में प्रचलित था। शुंग-सातवाहन काल में बौद्ध अनुयायियों ने इस स्थापत्य को अपना लिया तो गुफा स्थापत्य बौद्ध कला की अनिवार्य परम्परा बन गई। सांची, भरहुत और अमरावती के स्तूपों के निर्माण के युग में ही बौद्ध गुफा स्थापत्य का भी सृजन हुआ। इस कला के सम्बन्ध में पर्सी ब्राउन ने कहा है कि "भारतीय कलाकारों ने गुफा स्थापत्य के क्षेत्र में जिस कल्पनात्मक मौलिक, प्रतिभा, अदम्य शक्ति एवं उत्कृष्ट कौशल का परिचय दिया, वह अन्यत्र दुर्लभ है।" पहाड़ों को काट कर कन्दराओं का निर्माण करने के कारण इसे गुफा तथा इस कला को 'गुफा स्थापत्य' कहा जाता है।

बौद्धों ने मौर्यकाल से लेकर आठवीं शताब्दी ईस्वी तक गुफा स्थापत्य की परम्परा का संवहन किया। इस कला में दो प्रकार के वास्तुविन्यास का विकास हुआ।

(A) चैत्य-गृह
(B) विहार

(A) चैत्यगृह—बौद्ध धर्म में स्तूप बुद्ध के प्रतीक के रूप में पूजनीय थे। बौद्ध साहित्य में स्तूप को चैत्य भी कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि स्तूप और चैत्य परस्पर पर्याय ही थे। आरम्भ में चैत्य भी स्तूप के समान महापुरुषों के अस्थि अवशेषों की समाधि के प्रतीक ही थे किन्तु कालान्तर में चैत्य शब्द का प्रयोग उस स्थान के लिए किया जाने लगा जहाँ बुद्ध के प्रतीक स्तूप या बुद्ध की प्रतिमा की पूजा तथा आराधना होती थी। अतः चैत्य (स्तूप) की पूजा के निमित्त जिन गुफाओं का निर्माण किया गया उन्हें चैत्यगृह कहा जाता है।

समूचा चैत्यगृह पर्वत की चट्टानों को काटकर बनाया जाता था। चैत्य प्रायः आयताकार होते है जिनकी लम्बाई अधिक होती थी। चैत्य का अन्तिम छोर अर्धचन्द्राकार होता था जहाँ स्तूप की स्थापना की जाती थी। महायान परम्परा के चैत्यों में स्तूप के स्थान पर बुद्ध प्रतिमा स्थापित की जाती थी। स्तूप के सामने विस्तृत प्रांगण होता था जिसमें बौद्ध भिक्षु तथा उपासक एकत्रित होते थे। चैत्य की लम्बाई में प्रांगण के दोनों ओर किनारे-किनारे सुन्दर अलंकरण युक्त पाषाण स्तम्भ होते थे। चैत्य की भित्ति और स्तम्भों के मध्य का भाग प्रदक्षिणा (परिक्रमा) पथ का काम करता था। चैत्य के आन्तरिक भाग की छत गजपृष्ठाकार अथवा ढोल के आकार की होती थी। चैत्य का प्रवेशद्वार अत्यन्त विशाल और अनेक अलंकरणों से युक्त होता था। चैत्य में वायु और प्रकाश के प्रवेश के लिये गवाक्ष बनाये जाते थे। बौद्ध गुफा स्थापत्य के अन्तर्गत ऐसे अनेक चैत्यगृह दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से आठवीं शताब्दी ईस्वी तक निर्मित होते रहे जिनमें से अधिकांश महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश में स्थित हैं।

प्रमुख चैत्यगृह—चैत्यगृह बौद्ध गुफा स्थापत्य के महत्त्वपूर्ण भाग हैं। चैत्यगृहों के निर्माण में अन्तर्निहित विशेषताओं के आधार पर इन्हे दो भागों में विभक्त किया जा सकता हैं—

(1) हीनयानयुगीन चैत्यगृह—इन चैत्यगृहों में बुद्ध के प्रतीक स्तूप की स्थापना की जाती थी। इस प्रकार के चैत्यगृह द्वितीय शताब्दी ई. पू. से द्वितीय शताब्दी ईस्वी के मध्य निर्मित हुये थे।

(2) **महायानयुगीन चैत्यगृह**—इन चैत्यों में बुद्ध के प्रतीक स्तूप के स्थान पर बुद्ध की मूर्ति स्थापित की जाती थी। इस प्रकार के चैत्यगृह पांचवीं शताब्दी ईस्वी से आठवीं शताब्दी ईस्वी के मध्य निर्मित हुये थे।

(1) हीनयानयुगीन चैत्यगृह—बौद्ध स्थापत्य कला के हीनयानयुगीन चैत्य स्थापत्य कला का उदय द्वितीय शताब्दी ई. पू. में पश्चिमी भारत में हुआ। इस काल में बौद्ध भिक्षुओं ने महाराष्ट्र के पश्चिमी घाट की सुरम्य घाटियों को अपना साधना-स्थल बनाया। इस क्षेत्र से अनेक मानव निर्मित गुफा चैत्यगृह प्राप्त हुये हैं जिनमें भाजा, नासिक, बेदसा, कोण्डाने तथा अजन्ता के चैत्यगृह प्रमुख है। ये

चैत्यगृह नासिक के लगभग 300 मील की परिधि में फैले हुये हैं। इन गुफाओं के निर्माण में कला की दृष्टि से क्रमिक विकास दृष्टिगत होता है। विकास की दृष्टि से इनका क्रम इस प्रकार है—भाजा, कोण्डाने, पीतलखोरा, अजन्ता (गुफा संख्या-10) बेदसा, अजन्ता (गुफा संख्या-9), नासिक तथा कार्ले चैत्यगृह। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

भाजा चैत्यगृह - बौद्ध हीनयानयुगीन चैत्यगृहों में भाजा (पूना के निकट) का चैत्यगृह प्राचीनतम है। इसका निर्माण लगभग 200 ई. पू. में हुआ था। इसके निर्माण में काष्ठ और पाषाण का प्रयोग हुआ है। प्रवेश द्वार तथा मुख्य प्रांगण के काष्ठ अंश अब नष्ट हो चुके हैं। चैत्यगृह का आन्तरिक भाग 55 फीट लम्बा तथा 26 फीट चौड़ा है। चैत्य की ढोलाकार छत मध्य भाग में 29 फीट ऊँची है। चैत्यगृह का अन्तिम छोर अर्वचन्द्राकार है, जिसके समक्ष वृत्ताकार आधार पर बना गुम्बदाकार स्तूप है। सम्भव है इस स्तूप पर काष्ठ की हर्मिका और छत्र होंगे जो अब नष्ट हो गये। स्तूप पूर्णतया अलंकरण विहीन है। चैत्यगृह की लम्बाई वाले भाग में स्तूप के सामने वाले मण्डप (प्रांगण) में दोनों ओर 27 स्तम्भ हैं। स्तम्भों की ऊँचाई 11 फीट है जो ऊपर की ओर 5 इञ्च अन्दर झुकी है। चैत्य की मूल भित्ति और स्तम्भों के मध्य 2½ फीट का प्रदक्षिणा पथ है। चैत्य के मध्य भाग की छत 29 फीट ऊँची है।

भाजा चैत्यगृह के प्रवेश द्वार में पाषाण और काष्ठ दोनों का प्रयोग हुआ है। यह प्रवेश द्वार दो स्तम्भों से बना है। इन स्तम्भों के मध्य एक आडी पाषाण-पट्टिका उसे अंग्रेजी भाषा के अक्षर 'H' की आकृति प्रदान करती थी। इस आड़ी पट्टिका के नीचे तीन प्रवेश द्वार, एक मध्य में व दो दोनों किनारों पर बने थे। आड़ी पट्टिका के सामने बरसाती (पोर्टिका) निकली हुई है जो चार स्तम्भों पर टिकी है। इस पट्टिका का ऊपरी भाग चैत्य के भीतर प्रकाश जाने का मार्ग था।

भाजा चैत्यगृह में काष्ठ के अधिक प्रयोग के कारण ही इसे सबसे प्राचीन माना जाता है। यद्यपि स्थापत्य कला की दृष्टि से यह चैत्यगृह महत्वपूर्ण नहीं है किन्तु सौन्दर्य की दृष्टि से यह बौद्ध स्थापत्य कला की अनुपम कृति है।

कोण्डाने चैत्यगृह—कोण्डाने चैत्यगृह भाजा के चैत्यगृह का विकसित रूप हैं। इस चैत्यगृह में काष्ठ का प्रयोग भाजा की अपेक्षा कम हुआ है। प्रवेश द्वार का निर्माण पाषाण स्तम्भों से हुआ है। आन्तरिक प्रांगण के स्तम्भ भी झुके हुये होने के स्थान पर सीधे है। यह चैत्यगृह 66 फीट लम्बा, 26½ फीट चौड़ा तथा 28 फीट ऊँचा है।

पीतल खोरा तथा अजन्ता (गुफा संख्या-10,) चैत्यगृह—पीतलखोरा का चैत्यगृह कोण्डाने चैत्यगृह का विकसित रूप है। इसमें पाषाण का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया गया है। यह चैत्यगृह 50 फीट लम्बा, 34½ फीट चौड़ा तथा 11 फीट

ऊँचा है। अजन्ता की गुफा संख्या-10 का चैत्यगृह अति विशाल है। यह $96\frac{1}{2}$ फीट लम्बा, $41\frac{1}{2}$ फीट चौड़ा तथा 36 फीट ऊँचा है। इस चैत्यगृह के आन्तरिक प्रांगण में दोनों ओर 59 स्तम्भों की पंक्ति बनी है। स्तम्भों तथा भित्ति के मध्य का भाग प्रदक्षिणा पथ का कार्य करता है। इसका स्तूप भी द्विखण्डीय आधार पर बना है।

नासिक चैत्यगृह—नासिक चैत्यगृह गुफा स्थापत्य का विकसित रूप है। इस चैत्यगृह को पाण्डु चैत्यगृह भी कहा जाता है। इस चैत्यगृह में काष्ठ तथा काष्ठ-कला का प्रयोग अत्यल्प है। इसके प्रांगण के स्तम्भ समानान्तर झुकाव रहित लम्बवत् है। स्तम्भों को घड़े (कुम्भ) से निकलता हुआ दिखाया गया है। स्तम्भ अलंकरण युक्त है। इसका प्रवेश द्वार दो मंजिला है। प्रवेश द्वार के स्तम्भ छरहरे हैं तथा उनके शीर्ष पर पशु अलंकरण है।

जुन्नार के चैत्यगृह—हीनयानयुगीन बौद्ध चैत्य स्थापत्य कला में जुन्नार के चैत्यगृह अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। यह चैत्यगृह बौद्ध स्थापत्य की विशेष विद्या के प्रतिनिधि है। इनका निर्माण 200 ई. पू. से 200 ईस्वी के मध्य हुआ था। यहाँ से प्राप्त **तुलजालेन चैत्यगृह** विशिष्ट महत्व का है। यह 20 फीट व्यास का वर्गाकार चैत्यगृह है। इसकी 20 फीट ऊँची छत 12 सादे अष्टकोणीय स्तम्भों पर बनी है। चैत्यगृह के मध्य भाग में स्तूप बना है। जुन्नार से कुछ आयताकार चैत्यगृह भी मिले हैं किन्तु उनमें स्तम्भों का अभाव है तथा चैत्य का कोई छोर अर्ध-चन्द्राकार नहीं है। चैत्य के एक किनारे पर स्तूप तराशा गया है। इन चैत्यों में प्रकाश के लिये गवाक्ष भी नहीं है। आयताकार चैत्यगृहों में **'गणेश लेन चैत्यगृह'** अपवाद है। यह 45 फीट लम्बा है जिसके प्रांगण के दोनों ओर 5-5 स्तम्भ है। स्तम्भों के शीर्ष पर हस्ति और सिंह के युग्म तराशे गये हैं। अनुपात और सन्तुलन की दृष्टि से जुन्नार का चैत्यगृह अद्वितीय है।

वेदसा चैत्यगृह—यह चैत्यगृह बौद्ध चैत्य स्थापत्य का दर्शनीय उदाहरण है। इनका निर्माण परम्परागत शैली में हुआ है। इसका सम्पूर्ण प्रवेश द्वार पाषाण-निर्मित है। स्तम्भों का आधार कुम्भ-पुष्प-पत्र शैली में बना है तथा शीर्ष भाग पर पशु-आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं।

कार्ले चैत्यगृह—बम्बई और पूना के मध्य पश्चिमी घाट की पहाड़ियों में कार्ले का सुन्दर चैत्यगृह स्थित है। हीनयानयुगीन चैत्य स्थापत्य की पूर्ण परिणति कार्ले के चैत्यगृह में दृष्टिगत होती है। यह भारत का सर्वोत्तम चैत्यगृह है जिसमें मूर्तिकला तथा स्थापत्य कला का अनुपम संगम है। कार्ले चैत्यगृह 124 फीट लम्बा, $46\frac{1}{2}$ फीट चौड़ा तथा 45 फीट ऊँचा है। इसके प्रांगण में 37 स्तम्भ उत्कीर्ण हैं। इनमें 15-15 स्तम्भ दोनों किनारे तथा 7 स्तम्भ स्तूप के चतुर्दिक हैं। स्तम्भों और चैत्यगृह की भित्ति के मध्य 10 फीट चौड़ा प्रदक्षिणा पथ है। स्तम्भ अत्यन्त कलात्मक है। स्तम्भों का आधार चौकोर है। उसके ऊपर कुम्भ है जिससे आठ

पहलू के स्तम्भ निकल रहे हैं । स्तम्भों के शीर्ष पर उल्टा पद्म घट है जिसमें पंखुड़ियाँ निकली हैं । इसके बाद गज पर आरूढ़ युग्म मूर्तियाँ हैं । चैत्य का अन्तिम छोर अर्धचन्द्राकार है जहाँ स्तूप बनाया गया है । स्तूप का आधार द्विखण्डीय है जिनके ऊपर सादा अण्ड भाग है । इसके ऊपर वर्गाकार वेदिका युक्त हर्मिका (मन्दिर) है । हर्मिका में विशाल काष्ठ यष्टि पर पद्माकार छत्र बने हैं । चैत्य की छत ढोलाकार है ।

चैत्यगृह के मुख मण्डल (प्रवेश द्वार) के सामने 50 फीट ऊँचें सोलह पहलू के दो स्तम्भ हैं जिनके शीर्ष पर क्रमशः उल्टा पद्मकोश, तीन स्तरों की पीठिका तथा चारों दिशाओं में मुख किये पीठ जोड़े चार विशाल सिंह की मूर्तियाँ हैं। इस चैत्यगृह का प्रवेश द्वार द्विमंजिला है । प्रथम मंजिल पर तीन प्रवेश द्वार हैं जिनमें मध्य का द्वार चैत्य मण्डप (प्रांगण) में तथा अन्य दो द्वार प्रदक्षिणा पथ में खुलते हैं । शायद मध्य का द्वार बौद्ध संघ के सदस्यों के लिये था तथा दोनों ओर के द्वार गृहस्थ उपासकों के लिये थे ताकि वे एक द्वार से प्रवेश कर संघ के कार्य में विघ्न डाले बिना चैत्य तथा स्तूप की प्रदक्षिणा (परिक्रमा) कर दूसरे द्वार से बाहर निकल जाये । दूसरी मंजिल में एक ही प्रवेश द्वार था । मुख मण्डल के ऊपरी भाग में विशाल गवाक्ष है जिसमें से मण्डप तथा प्रदक्षिणा पथ में प्रकाश आता है ।

इस प्रकार विशाल आकार, अलंकृत स्तम्भों, प्रकाश की उत्तम व्यवस्था तथा मुख मण्डप के समक्ष बने दो विशाल स्तम्भों के कारण कार्ले चैत्यगृह हीनयानयुगीन चैत्य स्थापत्य कला का सर्वोत्तम परिष्कृत रूप प्रस्तुत करता है ।

हीनयानयुगीन परम्परा का अन्तिम चैत्यगृह कन्हेरी में निर्मित है जिसका निर्माण 180 ई. में हुआ था । इस चैत्यगृह का अधिकांश भाग कार्ले जैसा ही है किन्तु इसके सामने छोटी दीवारों का प्रांगण बना है तथा प्रवेश द्वार पर एक ही पंक्ति में पाँच झरोखे बने हैं । चैत्यगृह में प्रवेश के लिये सीढ़ियां बनी हुई हैं । इसके बाद से महायान परम्परा के चैत्यगृहों का निर्माण आरम्भ हो गया था ।

(2) महायान परम्परा के चैत्यगृह—हीनयान परम्परा के चैत्यगृहों के युग की समाप्ति के दो शताब्दी बाद महायान परम्परा के चैत्यगृहों के निर्माण का युग आरम्भ हुआ । इस नवीन परम्परा में स्थापत्य कला की दृष्टि से कोई विशेष प्रगति नहीं हुई । इन चैत्यगृहों में भी हीनयान परम्परा की भाँति मण्डप, स्तूप, प्रदक्षिणा-पथ, अर्धवृत्ताकार पृष्ठभाग एवं ढोल के आकार की छतों का निर्माण किया गया है किन्तु महायान परम्परा में स्तूप के साथ बुद्ध की मूर्ति भी प्रतिष्ठित की गई है । महायान परम्परा के चैत्यगृहों में अजन्ता एलोरा तथा औरंगाबाद के चैत्यगृह प्रमुख हैं ।

अजन्ता—महाराष्ट्र के औरंगाबाद से 15 मील दूर उत्तर-पश्चिम में पहाड़ियों को काटकर अनेक गुफायें बनाई गई हैं । यहाँ से हीनयान और महायान

दोनों परम्पराओं की गुफायें प्राप्त हुई हैं। यहाँ से कुल 62 गुफायें प्राप्त हुई हैं जिनमें गुफा संख्या 19 तथा 26 महायान परम्परा के चैत्यगृह हैं। इन चैत्यगृहों का निर्माण 550 ई. से 600 ईस्वी के मध्य हुआ था। गुफा संख्या 19 एक लघु और सुन्दर चैत्यगृह है। यह चैत्यगृह 46 फीट लम्बा, 32 फीट चौड़ा तथा 38 फीट ऊँचा है। चैत्यगृह के आन्तरिक मण्डप के दोनों ओर 15-15 स्तम्भ उत्कीर्ण हैं तथा दो स्तम्भ सामने की ओर हैं। स्तम्भों के शीर्ष पर पूर्णघट और आला है। स्तम्भों तक की छत ढोलाकार है किन्तु स्तम्भों तथा भित्ति के मध्य के प्रदक्षिणा पथ की छत सपाट है। चैत्यगृह का पृष्ठभाग अर्धवृत्ताकार है जिसके समक्ष तीन खण्डीय ऊँचे आधार पर 22 फीट ऊँचा स्तूप बना हुआ है। स्तूप के किनारे के स्तम्भों पर दिग्पालों की मूर्तियाँ बनी हैं। स्तूप के शीर्ष पर हर्मिका (मन्दिर) तथा यष्टि सहित तीन छत्र बने हैं। स्तूप के अण्ड भाग के सामने की ओर ताखें की भाँति छज्जा निकला हुआ है जिसमें भगवान बुद्ध की विशाल मूर्ति उत्कीर्ण की गई है।

अजन्ता की गुफा संख्या 26 का चैत्यगृह छठी शताब्दी ईस्वी के प्रारम्भ की रचना है। यह 68 फीट लम्बा, 36 फीट चौड़ा तथा 31 फीट ऊँचा है। इसके आन्तरिक मण्डप में 12 फीट ऊँचे 26 स्तम्भ बने हैं। इस चैत्यगृह में प्रवेश करने के लिये दो द्वार बने हैं। इस चैत्यगृह की स्थापत्य शैली गुफा संख्या 19 के चैत्य के समान है किन्तु इसका अलंकरण तथा सौन्दर्य उसकी तुलना में श्रेष्ठ है।

एलोरा के चैत्यगृह—एलोरा की गुफायें अजन्ता की गुफाओं के निकट ही स्थित हैं। यहाँ 450 ई. से 650 ई. के मध्य 12 गुफायें निर्मित हुई। इनके दो वर्ग समूह हैं—प्रथम वर्ग समूह में गुफा संख्या 1 से 5 हैं जिसे ढेड़वाडा समूह कहा जाता है इसमें से गुफा संख्या 5 को महानवाडा कहा जाता है। द्वितीय समूह में गुफा संख्या 6 से 12 तक हैं, जिनमें चैत्यगृह और विहार दोनों हैं। गुफा संख्या 10 द्वितीय वर्ग की प्रमुख गुफा है जिसे विश्वकर्मा गुफा कहा जाता है। महानवाडा तथा विश्वकर्मा गुफा चैत्यगृह है।

महानवाडा चैत्यगृह की लम्बाई 117 फीट तथा चौड़ाई 58½ फीट है। इसके आन्तरिक मण्डप में दो पंक्तियों में 24 स्तम्भ है जो दोहरे प्रदक्षिणा पथ का निर्माण करते हैं। इसके अन्तिम छोर पर अर्धवृत्ताकार भाग में एक वर्गाकार कक्ष बना हुआ है जिसमें आसन मुद्रा में महात्मा बुद्ध की मूर्ति उत्कीर्ण हैं। चैत्य के मध्य मण्डप में दो छोटे मंच बने हुये हैं।

विश्वकर्मा गुफा का चैत्यगृह अजन्ता शैली में उत्कीर्ण हैं। यह चैत्यगृह 85 फीट लम्बा, 44 फीट चौड़ा तथा 34 फीट ऊँचा है। इसके कुम्भ पत्र शैली में 28 स्तम्भ बने हैं। स्तम्भों और भित्ति के मध्य प्रदक्षिणा पथ हैं। यहाँ का स्तूप भी काफी ऊँचा है जिसमें चारों ओर ताखें बने हुये हैं जिनमें भगवान बुद्ध की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इस चैत्यगृह का बाहरी भाग भी अत्यन्त विशाल है। मुखमण्डप के

स्थान पर विशाल प्रांगण है जिसके अग्र तथा पृष्ठ भाग में बरामदे बने हुये हैं। अग्रभाग के बरामदे पर दो मंजिला मुखमण्डप बना है जिसमें अश्वखुर की भाँति कीर्ति स्तम्भ बने हैं। इन स्तम्भों के शीर्ष पर छज्जे बने हुये हैं। इन छज्जों के दक्षिणी भाग में नागर शैली तथा उत्तरी भाग में द्राविड़ शैली के झरोखे बने हुये हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि विश्वकर्मा गुफा की स्थापत्य कला में नवीन तत्वों का समावेश होना आरम्भ हो गया था।

औरंगाबाद चैत्यगृह—औरंगाबाद से एक मील उत्तर की ओर एक पहाड़ी पर एक चैत्यगृह मिला है जो 40 फीट लम्बा तथा 32 फीट चौड़ा है। इसके स्थापत्य में हीनयान तथा महायान दोनों परम्पराओं की विशेषतायें निहित हैं। इसके पृष्ठ भाग में स्तूप तथा स्तूप के चतुर्दिक कीर्ति तोरण विद्यमान हैं। सम्भव है इसका निर्माण हीनयान युग में हुआ होगा किन्तु महायान युग में इसका विस्तार किया गया होगा।

(B) बौद्ध विहार स्थापत्य—चैत्यगृह बौद्ध धर्म के देवालय थे। इन चैत्यगृहों के समीप बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिये जो गुफायें बनाई जाती थीं उन्हें विहार कहा जाता है। इस प्रकार विहार चैत्यगृहों का ही एक भाग है। चैत्यों की भाँति विहार भी गुफाओं को काटकर ही बनाये गये हैं। विहार के मध्य में सभा भवन के रूप में एक विशाल कक्ष होता है। इस कक्ष की भित्ति में अनेक छोटे कक्ष होते हैं जो सामान्यत: 9 फीट वर्ग के हैं। इनमें बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। ये छोटे कक्ष विशाल कक्ष में खुलते थे तथा इनका द्वार कक्ष के बीच न होकर दीवार से सटकर बनाया जाता था। प्रत्येक कक्ष में पाषाण निर्मित शयन मंच होता है। विशाल कक्ष में प्रवेश के लिये द्वार, बरामदा तथा बरसाती का निर्माण किया गया है।

चैत्यगृहों की भाँति विहारों को भी उनकी निर्माण शैली तथा अन्तर्निहित विशेषताओं के आधार पर दो वर्गों में विभाजित किया गया है—

(1) हीनयान परम्परा के बौद्ध विहार (200 ई. पू. से 200 ई. तक)

(2) महायान परम्परा के बौद्ध विहार (500 ई. से 800 ई. तक)

(1) हीनयान परम्परा के बौद्ध विहार—हीनयानयुगीन चैत्यगृहों के निर्माण के साथ विहारों का भी निर्माण किया गया। स्थापत्य कला की दृष्टि से विहार चैत्यगृहों की भाँति महत्वपूर्ण नहीं हैं फिर भी इनका निर्माण संरचनात्मक स्थापत्य के आधार पर हुआ है। हीनयान परम्परा के अनुरूप निर्मित प्रमुख बौद्ध विहार निम्नलिखित है—

भाजा विहार—पूना के निकट भाजा के दरी विहार का सभा मण्डप का प्रांगण आयताकार है जो 17½ फीट लम्बा तथा 16½ फीट चौड़ा है। सभा मण्डप के तीन ओर अनेक कक्ष बने हुये हैं, इन कक्षों में पाषाण निर्मित शयन मंच बने हैं।

सभा मण्डप की दीवारें मूर्तियों से अलंकृत हैं तथा सभा मण्डप में प्रवेश के लिये दो द्वार हैं।

कोण्डाने विहार—कोण्डाने विहार का विशाल सभा मण्डप स्तम्भों पर आधारित है। इसकी छत भी ढोलाकार है। सभा मण्डप के तीन ओर लघु कक्ष बने हैं। सभा मण्डप के तीन प्रवेश द्वार स्तम्भों पर टिके हैं।

अजन्ता विहार—बौद्ध विहार स्थापत्य में अजन्ता की गुफाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ की गुफा संख्या 8, 12 तथा 13 हीनयान परम्परा के विहार हैं। गुफा संख्या 8 प्राकृतिक गुफा थी जिसे काटकर विहार का रूप दिया गया है। यह एक लघु विहार है। गुफा संख्या 12 साधारण एक मंजिला विहार है जिसके सभा मण्डप के दोनों ओर पीछे झुकती हुई स्तम्भ पंक्ति है। सभा मण्डप के तीन ओर 11 लघुकक्ष हैं जिनके द्वार दीवारों से सटे हैं। गुफा संख्या 13 भी 12 के समान ही है।

नासिक विहार—नासिक से प्राप्त बौद्ध विहार हीनयान परम्परा के प्रमुख विहार हैं। यहाँ से प्राप्त विहारों में तीन प्रमुख हैं, जिनका नामकरण उन पर उत्कीर्ण लेखों के शासकों के आधार पर किया गया है। ये विहार हैं—**(1) नहपान विहार, (2) गोतमीपुत्र शातकर्णि विहार, (3) यज्ञश्री शातकर्णि विहार।**

इन विहारों के स्थापत्य में काफी समानतायें हैं। तीनों विहारों के प्रारम्भ में स्तम्भयुक्त मुखमण्डप, उसके बाद स्तम्भरहित सभा मण्डप है जिसके तीन ओर पाषाण शयन मंच सहित छोटे कक्ष हैं। किन्तु इनके मुखमण्डप के अलंकरणों में काफी भिन्नता है। **'नहपान विहार'** का मुख मण्डल चार स्तम्भ युक्त है। सभा मण्डप के चारों कोनों में सटे चार अर्धस्तम्भ बने हैं। इनका आधार पद्म कुम्भ से पंखुड़ी सहित निकला है तथा शीर्ष पर फलक तथा पशु आकृतियां उत्कीर्ण हैं।

'गौतमीपुत्र विहार' का सभा मण्डप 46 फीट लम्बा तथा 41 फीट चौड़ा है जिसके तीन ओर बैठने के पाषाण मंच बने हैं तथा इनके पीछे भिक्षुओं के निवास के लिये लघु कक्ष बने हैं। सभा मण्डप के प्रवेश द्वार पर बरामदा बना है जिसके सामने 6 स्तम्भ हैं। इनके शीर्ष पर तोरण बना है। तोरण तथा स्तम्भ शीर्षों पर हस्ति, वृषभ तथा सिंह के अलंकरण उत्कीर्ण हैं। **'यज्ञश्री शातकर्णि विहार'** भी इसी शैली में उत्कीर्ण है।

इसी परम्परा में उड़ीसा में कटक की पहाड़ियों में भी विहारों का निर्माण किया गया जिनमें बाघ तथा रानी की गुफायें उल्लेखनीय हैं। कतिपय स्थानीय विशेषताओं के अतिरिक्त इनकी स्थापत्य कला भी पश्चिमी भारत के समान ही थी।

(2) महायान परम्परा के बौद्ध विहार—महायान परम्परा में विहार स्थापत्य कला का विकास 5वीं शताब्दी ईस्वी में हुआ। इस परम्परा में उपयोगितावादी

दृष्टिकोण से अनेक परिवर्तन किये गये। विहार के अनावश्यक स्तम्भों को हटाकर उन्हें देवालय का रूप प्रदान किया गया। इस परम्परा के विहारों में बुद्ध की मूर्तियां स्थापित की गई। इस परम्परा के प्रमुख विहार अधोलिखित हैं—

अजन्ता विहार—अजन्ता की अनेक गुफायें महायान परम्परा के विहार हैं। गुफा संख्या 11 के विहार के सभामण्डप में मात्र 4 स्तम्भ हैं। यहां से प्राप्त गुफा संख्या 6 का विहार दो मंजिला है। इसकी प्रथम मंजिल के सभामण्डप में भी चार स्तम्भ हैं तथा किनारे की ओर स्तम्भ पंक्तियां हैं। इसका बरामदा भी स्तम्भों पर आधारित है। द्वितीय मंजिल में केवल किनारे की ओर ही स्तम्भ बने हैं। इस गुफा का प्रवेश द्वार खण्डित हो चुका है। अजन्ता की गुफा संख्या 1 का विहार, विहार स्थापत्य का श्रेष्ठ उदाहरण है। इसका सभामण्डप 65 × 65 फीट माप का है जिसके किनारे 20 स्तम्भ उत्कीर्ण हैं। सभामण्डप के सामने विशाल बरामदा है जिसके चारों ओर वर्गाकार छोटे कक्ष बने हैं। पृष्ठ भाग की भित्ति के मध्य एक विशाल कक्ष है जिसमें महात्मा बुद्ध की प्रतिमा स्थापित है।

एलोरा विहार—एलोरा के भी अनेक विहार महायान परम्परा के अनुरूप हैं। यहां के महानवाड़ा विहार के सभामण्डप में 24 स्तम्भ बने हैं। इसके पृष्ठ भाग के अंतराल में बने एक वर्गाकार कक्ष में बुद्ध की प्रतिमा उत्कीर्ण है। सभामण्डप के चारों ओर मण्डप में खुलते 23 वर्गाकार कक्ष हैं। गुफा संख्या दो के विहार का सभामंडप 48 वर्ग फीट का है जिसके किनारे स्तम्भ पंक्ति बनी है। मंडप के मध्य भाग में चार स्तम्भों के द्वारा प्रदक्षिणापथ बनाया गया है। सभामण्डप में अनेक आले बने हैं। इस विहार के सभामण्डप की भित्ति में छोटे कक्ष नहीं बने हैं।

एलोरा से प्राप्त दो विहार तीन मंजिल के हैं। इनकी ऊँचाई 50 फीट है। विहार संख्या 12 की लम्बाई 108 फीट तथा चौड़ाई 60 फीट है। इसमें 40 लघु-कक्ष बने हैं। विहार का त्रिभूमिक मुखमण्डप सादा है। सभामण्डप के 24 स्तम्भ तीन प्रदक्षिणा पथों का निर्माण करते हैं। सभामण्डप के एक ओर स्तम्भयुक्त बरामदा है। सभा मण्डप के पृष्ठभाग में 25 फीट लम्बा तथा 15 फीट चौड़ा कक्ष है जिसमें बुद्ध की मूर्ति स्थापित है। मण्डप के चारों ओर 12 कक्ष हैं। एक कक्ष में दूसरी मंजिल पर जाने के लिये सीढ़ियां बनी हैं। विहार की दूसरी मंजिल 112 फीट लम्बी, 72 फीट चौड़ी तथा 11½ फीट ऊँची है। इसमें 8-8 स्तम्भों की पांच पंक्तियों से 5 प्रदक्षिणापथों का निर्माण हुआ है। इस मंजिल के पृष्ठ भाग में 38 × 16 फीट का एक आयताकार मण्डप है जिसके 20 फीट वर्ग के गर्भ गृह में बुद्ध की प्रतिमा स्थापित है। मंडप में बने अनेक आलों में बुद्ध की मूर्तियां स्थापित हैं। सभा मंडप के दोनों किनारों पर ऊपर जाने के लिये सीढ़ियां बनी हैं। तीसरी मंजिल पर 8 स्तम्भों से बना विशाल बरामदा है जिसके पीछे 5-5 स्तम्भों की

पंक्ति क्रास (+) के आकार में बनी है। इसके किनारे 18 छोटे कक्ष बने हैं। एलोरा की गुफा संख्या 11 का विहार भी तीन मंजिला है। इसकी प्रथम मंजिल भूमिगत प्रतीत होती है।

ओरंगाबाद विहार—ओरंगाबाद की गुफा संख्या 3 तथा 7 महायान परम्परा के विहार हैं ये अजंता की स्थापत्य शैली पर बने हैं। गुफा संख्या 7 की शैली थोड़ी भिन्न है। इसके मुख्य मंडप के अलावा बरामदों में भी कक्ष बने हैं। मुख्य मंडप के मध्य में भगवान बुद्ध की विशाल प्रतिमा उत्कीर्ण है।

अन्य विहार—प्रारम्भ में बौद्ध विहार निवास स्थान तथा देवालय थे किन्तु कालान्तर में वह शिक्षा केन्द्र के रूप में विकसित हो गये। चीनी यात्रियों में ईंट तथा पत्थरों से निर्मित अनेक विहारों का उल्लेख किया है। सातवीं शताब्दी ईस्वी में भारत आये चीनी यात्री ह्वेनसांग ने नालन्दा बौद्ध विहार (नालन्दा विश्वविद्यालय) का उल्लेख किया है। यह विहार पटना (बिहार) के निकट राजगीर से 7 मील उत्तर में बड़ गाँव के पास स्थित है। यहाँ के उत्खनन में छः मंजिलें भवन प्राप्त हुए हैं। इनकी छतें जीर्ण-शीर्ण हो गई हैं किन्तु दीवारों के अवशेष सुरक्षित हैं। मामल्लपुर में चार मंजिला गुप्त विहार मिला है। यहीं पर एक दो मंजिला विहार भी मिला है। यह दोनों विहार 7वीं शताब्दी ईस्वी में निर्मित हुये थे।

बौद्ध स्तम्भ स्थापत्य

स्थापत्य कला में स्तम्भ प्राचीनकाल से ही भारत के धार्मिक जीवन का अंग रहे हैं। वैदिक साहित्य में धार्मिक प्रयोजनार्थ स्तम्भों (यूप) का उल्लेख मिलता है। वैदिक काल में यज्ञों की प्रधानता थी। यज्ञों में दी जाने वाली पशु-बलि के पशु को स्तम्भ या यूप से बांधा जाता था। यह स्तम्भ या यूप भी आर्यों के लिए आस्था का प्रतीक था। कालान्तर में इन्हीं यूपों ने स्तम्भों का रूप ग्रहण कर लिया। प्राचीन काल के अवशेषों में मुख्यतया दो प्रकार के स्तम्भ मिले हैं—धार्मिक तथा राजनीतिक। धार्मिक स्तम्भ वे हैं जो किसी विशिष्ट देवता का महत्व प्रदर्शित करने के लिए स्थापित किये गए थे। दूसरे वर्ग में वे स्तम्भ आते हैं जो किसी राजनीतिक घटना से सम्बन्धित थे, जैसे—कीर्तिस्तम्भ, मीनारें तथा लाटें आदि। स्तम्भों का प्रयोग मंदिरों, आवासों तथा राज-प्रासादों के निर्माण में भी हुआ।

सिन्धु सभ्यता के काल के भवन स्थापत्य में स्तम्भों का प्रयोग किया जाता था। मोहनजोदड़ो की गढ़ी में प्राप्त एक भवन की विशाल छत 20 स्तम्भों पर टिकी है। वैदिक काल से तीसरी शताब्दी ई. पू. तक सम्भवतः काष्ठ स्तम्भों का प्रयोग होता था। अतः उनके नष्ट हो जाने के कारण उनके अवशेष नहीं मिलते। मौर्य सम्राट अशोक ने स्तम्भों को पाषाण रूप प्रदान कर उन्हें अमरत्व प्रदान किया। इसीलिए अब तक प्राप्त स्तम्भों में अशोक के स्तम्भ सबसे प्राचीनतम हैं। बौद्ध धर्म का प्रचार अशोक के जीवन का परम लक्ष्य था। इसके लिए उसने स्थापत्य कला को

अपने प्रचार माध्यम का अभिन्न अंग बनाया। उसके काल में बौद्ध कला का जो सृजन हुआ वह गुप्त काल तक अनवरत चलता रहा। अशोक द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए बनवाये गए स्तम्भ मौर्य तथा बौद्ध स्थापत्य कला के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। अशोक ने ऐसे 20 स्तम्भों की स्थापना की थी। उनमें से पुरातत्व-विदों को अब तक 15 स्तम्भ प्राप्त हुए हैं। इनमें 10 स्तम्भ लेखयुक्त और शेष लेखरहित हैं।

अशोक द्वारा बनवाये गए स्तम्भ एकात्मक (monolith) हैं अर्थात् समूचा स्तम्भ एक ही पत्थर से बना है। उसमें कहीं जोड़ नहीं है। ये स्तम्भ चुनार के बलुआ पत्थर के बने हैं। इनका आकार गोल है। चुनार की चट्टानों से पत्थरों को काटकर निकालना, उन्हें स्तम्भों का आकार देना तथा इन विशाल स्तम्भों को बिना क्षति देश के विभिन्न भागों में पहुँचाना निस्संदेह शिल्पकार के धैर्य, उत्साह तथा कठोर परिश्रम तथा उच्च तकनीक का अनुपम उदाहरण है। इस सम्बन्ध में डो. वी. ए. स्मिथ ने लिखा है **"इन स्तम्भों का निर्माण, स्थानान्तरण और स्थापना मौर्ययुगीन शिल्प आचार्यों तथा शिलातक्षकों की बुद्धि और कुशलता का अद्भुत प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।"** 50 फीट तक ऊँचे यह स्तम्भ पृथ्वी पर बिना चौकी या मंच के खड़े हैं। अशोककालीन इन स्तम्भों पर अत्यन्त चमकीली पालिश की गई है जो शताब्दियों के काल-प्रहार के बाद भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। वैज्ञानिक परीक्षणों से अभी तक यह सिद्ध नहीं हो सका है कि यह चमक कैसे उत्पन्न हुई? इनकी चमक के कारण अनेक विद्वानों ने इन स्तम्भों को धातु का बना हुआ समझा। **टोम कोरयट** तथा **विटेकर** ने इन स्तम्भों को पीतल के; **चेपलिन फेरी** ने संगमरमर के तथा **विशप हीवर** ने धातु का माना है। इस सम्बन्ध में भण्डारकर ने लिखा है कि **"ऐसे विशालकाय पाषाण खण्डों को कच्चा काट कर साफ करके, उनके सुन्दर गोल स्तम्भ बनाना और उसे दर्पण की तरह ऐसा चमका देना कि आधुनिक मिस्त्री भी उस पर विस्मय-विमुग्ध रह जाये, कठिन और नाजुक कार्य था।"** प्रत्येक स्तम्भ के मुख्यतया तीन भाग थे—

(1) मुख्य स्तम्भ
(2) घण्टाकृति
(3) शीर्ष भाग तथा पशु-आकृतियाँ।

स्तम्भों का कुछ भाग जमीन में गड़ा हुआ है जिस पर मोर बने हुए हैं। पृथ्वी के ऊपर का भाग मोटा और गोल है तथा मोटाई ऊपर की ओर क्रमशः कम होती गई है। स्तम्भों की औसत ऊँचाई 40 फीट तथा व्यास 2 फीट 7 इन्च है।

स्तम्भों के ऊपरी भाग पर एक घण्टाकृति है जो अखमीनी स्तम्भों के आधार के घण्टों के जैसी दिखाई देती है किन्तु भारतीय विद्वान इसे उल्टे कमल की आकृति मानते हैं। इस कमल की पंखुड़ियाँ अत्यन्त कलात्मक ढंग से अलंकृत हैं। इसके किनारे पर अनेक आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं।

घण्टाकृति के ऊपर गोल अथवा चौकोर चौकी है जो स्तम्भ के शीर्ष पर बने पशु अंकन के आधार का काम करती है। शीर्ष पर एक या अधिक पशुओं—सिंह, हाथी, बैल, घोड़ा आदि की आकृतियाँ बनी हैं। गोल या चौकोर चौकी के मोटाई वाले चारों ओर के भाग पर भी वृषभ, सिंह, घोड़ा तथा भाँति भाँति की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं।

स्तम्भ निर्माण का क्रमिक विकास—अशोक द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए बनवाये गए स्तम्भों में कला का क्रमिक विकास परिलक्षित होता है। स्तम्भों में अन्तर्निहित कलात्मक विशेषताओं के आधार पर इनके विकास क्रम को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) प्रारम्भिक कृतियों में बखिरा का सिंह शीर्ष, संकिसा का गज शीर्ष तथा धौली का शैल-हस्ति शीर्ष स्तम्भ है।

(2) विकास क्रम के दूसरे चरण की कृतियों में रामपुरवा का वृषभ शीर्ष स्तम्भ तथा लौरिया नन्दनगढ़ का सिंह शीर्ष स्तम्भ प्रमुख है।

(3) विकास क्रम का अन्तिम चरण रामपुरवा, साँची तथा सारनाथ के सिंह शीर्ष स्तम्भों में दृष्टिगत होता है।

प्रमुख बौद्ध स्तम्भ—अशोक ने बौद्ध धर्म का सम्पूर्ण भारत में प्रचार करने के लिए लगभग 20 स्तम्भों का निर्माण करवाया था जिनमें से पुरातत्वविदों को अब तक 15 स्तम्भ मिल चुके हैं। इनमें से प्रमुख स्तम्भ निम्नलिखित हैं----

बखिरा सिंह शीर्ष स्तम्भ—यह मुजफ्फरपुर (विहार) के निकट बखिरा नामक स्थान पर स्थित है। कलात्मक दृष्टि से यह अशोक का प्राचीनतम ज्ञात स्तम्भ है। इस स्तम्भ के शीर्ष पर उत्कीर्ण सिंह अस्थिर मुद्रा में बैठा है। सिंह की मूर्ति भी सुन्दर नहीं है तथा स्तम्भ अधिक मोटा तथा छोटा है। स्तम्भ के शीर्ष की चौकी तथा उल्टा कमल भी साधारण है। यह लेखरहित स्तम्भ है।

संकिसा हस्ति शीर्ष स्तम्भ—कलात्मक दृष्टि से यह स्तम्भ भी बखिरा स्तम्भ के समान ही है। स्तम्भ के शीर्ष पर उत्कीर्ण हस्ति की मूर्ति में कोई लय तथा गति नहीं है। उसके आगे के दोनों पैर तने के समान बने हैं। शीर्ष के नीचे की चौकी भी साधारण है। चौकी के नीचे पद्म पुष्प (उल्टे कमल) को मधुमक्खी के छत्ते के समान बनाया गया है।

रामपुरवा का वृषभ शीर्ष स्तम्भ—यह स्तम्भ विहार के रामपुरवा में स्थित है। उपर्युक्त स्तम्भों की अपेक्षा यह श्रेष्ठ है। इसके शीर्ष पर बनी वृषभ-मूर्ति सजीवता के निकट है। किन्तु उसके उदर के नीचे के भाग में अंकित रेखाओं तथा उसकी चौकी और पद्म कमल के आकार में सन्तुलन नहीं है।

लौरिया नन्दनगढ़ सिंह शीर्ष स्तम्भ—यह बिहार के चम्पारन जिले में स्थित है। यह 32 फीट ऊँचा एवं 9½ इंच मोटा है आधार पर इसका व्यास 35½ इंच तथा शीर्ष पर 22½ इंच है। यह स्तम्भ कलात्मक दृष्टि से अधिक सन्तुलित है। इसके शीर्ष पर बनी सिंह मूर्ति परिष्कृत और सुन्दर है किन्तु सिंह की मुख मुद्रा, पैरों की स्थिति तथा शरीर के अन्य भागों के अंकन में स्वाभाविकता दृष्टिगत नहीं होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन स्तम्भों के निर्माण काल तक शिल्पकार ने स्तम्भों तथा पशुओं की विशालता तथा मांसलता पर ही अधिक ध्यान दिया था। लौरिया-नन्दनगढ़ में सर्वप्रथम शारीरिक लय, गति और प्रवाह प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है।

रामपुरवा सिंह शीर्ष स्तम्भ—बौद्ध स्तम्भ स्थापत्य का परिपक्व रूप रामपुरवा के सिंह शीर्ष स्तम्भ में दृष्टिगत होता है। इस स्तम्भ के भी तीन भाग हैं—मुख्य स्तम्भ, उल्टा पद्म कमल तथा हंस पंक्तियुक्त वृत्ताकार चौकी और उस पर आसीन सिंह। इसके शीर्ष पर बना सिंह वास्तविक रूप और गतिशील मुद्रा में उत्कीर्ण है। शारीरिक सन्तुलन की दृष्टि से तो यह सारनाथ के सिंह से भी सुन्दर है।

सांची सिंह शीर्ष स्तम्भ—बौद्ध स्थापत्यकार स्तम्भों के निर्माण में नवीन विद्या को जन्म दे रहे थे। धीरे-धीरे स्तम्भों के शीर्ष पर एक पशु आकृति के स्थान पर चार-चार पशु आकृतियां उत्कीर्ण की जाने लगी। सांची के स्तम्भ के शीर्ष पर चार सिंहों की आकृतियां उत्कीर्ण की गई हैं। सांची के सिंह शीर्ष के अंकन में योजनाबद्धता तथा शरीर के अंगों में सन्तुलन विद्यमान है। शारीरिक लोच तथा गति की दृष्टि से सिंह सजीव प्रतीत होते हैं। सौन्दर्य और शिष्टता की दृष्टि से सांची का सिंह शीर्ष सारनाथ के शीर्ष के समकक्ष है। इसी प्रकार का चार वृषभ शीर्ष वाला स्तम्भ सलेमपुर में भी मिला है।

सारनाथ सिंह शीर्ष स्तम्भ—बौद्ध स्तम्भ स्थापत्य कला की चरम परिणति सारनाथ सिंह शीर्ष स्तम्भ में परिलक्षित होती है। यह वाराणसी (उ. प्र.) में स्थित है। सारनाथ स्तम्भ का शेष भाग अन्य स्तम्भों के समान है किन्तु इसका शीर्ष भाग परिष्कार, लालित्य, सौन्दर्य तथा शिल्प चातुर्य की दृष्टि से विश्व की अनुपम कृति है। इसकी प्रशंसा में श्री जे. ए. मार्शल ने लिखा है "सारनाथ की शीर्ष मूर्ति यद्यपि अद्वितीय तो नहीं तथापि ई. पू. की तृतीय शताब्दी में विश्व में कला का जितना विकास हुआ था, उनमें यह सर्वाधिक विकसित कृति है।"

सारनाथ स्तम्भ की ऊँचाई 50 फीट के लगभग रही होगी अब यह खण्डित हो चुका है किन्तु इसके सभी अंग सुरक्षित हैं। इन अंशों के आधार पर इसकी कलात्मकता तथा स्वरूप का आकलन किया गया है। मूल स्तम्भ का आधार

चौकोर है तथा सम्पूर्ण स्तम्भ गोलाकार तथा चमकीली पालिश युक्त है। इसके ऊपर उल्टा कमल पुष्प अंकित है। इसके ऊपर वृत्ताकार चौकी की मोटाई वाली पट्टिका पर चार पशु और चार चक्र उत्कीर्ण हैं। स्तम्भ के शीर्ष और चौकी के ऊपर चार सिंह पीठ सटाये श्वान मुद्रा में ऊकड़ू बैठे हैं। इनके ऊपर दो फीट 9 इंच व्यास का महाचक्र उत्कीर्ण था जो अब खण्डित हो गया है। सारनाथ के शीर्ष की कला, पशुओं की सजीवता तथा उनका विन्यास आदि दर्शकों के मन को छू लेता है। **कुमारस्वामी** के अनुसार **"सारनाथ शीर्ष के तराशने एवं कोरों की बनावट में जो एकरसता है, वह असाधारण कला प्रतिभा की देन है।" भगवत शरण उपाध्याय** के अनुसार **"सारनाथ स्तम्भ शीर्ष के सिंह न केवल इस देश में बल्कि समस्त संसार के मूर्ति विन्यास में अप्रतिम है।"** सारनाथ के शीर्ष के सिंहों में सजीवता, स्वाभाविकता, लय तथा गति का मंजुल सामंजस्य है। उसके नीचे उत्कीर्ण की गई वृषभ, हस्ति, सिंह आदि की आकृतियां अत्यन्त प्राणवान हैं। **पर्सीब्राउन** ने अशोक के स्तम्भों में उत्कीर्ण पशु शीर्षों तथा पशु अलंकरण को बौद्ध स्तम्भ कला का **'सौन्दर्य धन'** कहा है। इसके अतिरिक्त प्रयाग, रुम्मनदेई (लुम्बिनी वन), कौशाम्बी (इलाहाबाद), अम्बाला तथा मेरठ में भी बौद्ध कला के स्तम्भ मिले हैं जो इन्हीं की शैली पर निर्मित हैं।

विदेशी प्रभाव—अशोक द्वारा बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए बनवाये गये स्तम्भों में स्थापत्य कला का उत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। उनकी निर्माण कला विशेषतः उसकी चमकीली पालिश अत्यन्त उत्कृष्ट है। इन स्तम्भों में कला का जो उत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है वह एक शासनकाल के युग की उपलब्धि न होकर दीर्घ अनुभव का परिणाम थी। कला का यह रूप शताब्दियों की निष्ठा, प्रयोग और अभ्यास की परिणिति था, किन्तु अशोक के पूर्व तो पाषाण स्तम्भों के निर्माण का प्रचलन ही नहीं था। अशोक द्वारा पाषाण स्तम्भों के निर्माण की तकनीक इस देश में पूर्णतया नवीन थी। अतः विद्वानों का यह मत है कि अशोक की स्तम्भ निर्माण कला पर विदेशी प्रभाव व्याप्त था। कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि अशोक के पिता तथा पितामह के शासन काल से ही भारत के ईरान, यूनान, मिस्र आदि अनेक विदेशी राज्यों से राजनीतिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध थे। इनमें से ईरान में पशु शीर्षयुक्त स्तम्भों के निर्माण की परम्परा विद्यमान थी। सिन्ध तथा पश्चिमी पंजाब का एक बड़ा भाग 150 वर्षों तक ईरानी शासकों के प्रभाव के अन्तर्गत था। अतः उनकी मान्यता है कि अशोककालीन स्तम्भ कला पर ईरानी कला का प्रभाव था। **बेन्जामिन रोलां** का मत है कि अशोक के स्तम्भ मेसोपोटामिया क्षेत्र के स्तम्भों की अनुकृति है। **जे. ए. मार्शल** अशोक के स्तम्भों को पर्सीपोलिस के स्तम्भों का अनुकरण मानते हैं। **पर्सीब्राउन** अशोक के स्तम्भों के शीर्ष अलंकरण

पर यूनान, मिस्र तथा ईरान का प्रभाव मानते हैं। डॉ. स्पूनर भी बौद्ध स्तम्भों की पालिश को ईरानी स्तम्भों की अनुकृति मानते हैं। इस प्रकार अधिकांश पाश्चात्य विद्वान बौद्ध स्तम्भ स्थापत्य कला पर विदेशी कला के प्रभाव को स्वीकार करते हैं किन्तु भारतीय विद्वान डॉ. यू. एस. अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'भारतीय कला' में बौद्ध स्थापत्य कला पर विदेशी प्रभाव के मत का खण्डन किया है। उनकी मान्यता है कि भारत में प्राचीन वैदिक काल से स्तम्भ निर्माण की परम्परा विद्यमान थी जो काष्ठ पर आधारित होने के कारण नष्ट हो गई। बौद्ध स्तम्भ स्थापत्य के प्रारम्भिक उदाहरण भी मूलतः काष्ठ-कला पर आधारित थे। यह प्राचीन काष्ठ स्तम्भ कला ही मौर्य काल में पाषाण में परिवर्तित हो गई थी। स्तम्भों को चमकाने की कला को भी वे पूर्णतया भारतीय मानते हैं। उनका मत है कि मौर्यकाल से पहले ही भारत में चमक उत्पन्न करने की कला ज्ञात थी। चित्रितधूसर मृद्भाण्ड तथा उत्तरी कृष्ण मृदभाण्ड इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं जो शताब्दियों तक जमीन में दबे रहने पर भी पूर्णतः चमत्कृत हैं। उनके अनुसार बौद्ध स्तम्भों पर भी वही चमक थी जो इन मृदभाण्डों पर है। अशोक के स्तम्भों पर उत्कीर्ण घण्टाकृति पर भी वे ईरानी प्रभाव नहीं मानते हैं उनका मत है कि अशोक के स्तम्भों पर उत्कीर्ण तथाकथित घण्टाकृति वास्तव में घण्टा है ही नहीं बल्कि वह अवाङ्मुख पद्म पुष्प है जो कलश से निकल रहा है। इस प्रकार के मंगल कलश की अवधारणा तो भारत में वैदिककाल से विद्यमान थी। अतः मौर्ययुगीन बौद्ध स्तम्भों की स्थापत्य कला स्वतन्त्र रूपेण भारतीय कला थी। ईरानी स्तम्भों तथा बौद्ध स्तम्भों की कला में जो समानता दृष्टिगत होती है उसके कारण के सम्बन्ध में डॉ. **आनन्द कुमारस्वामी** ने कहा है कि भारतीय और ईरानी आर्य मूलतः एक ही स्थान से सम्बद्ध थे। इसलिए उनकी परम्पराओं में अनेक समानतायें उपलब्ध होती हैं। कला के क्षेत्र में भी यही तथ्य दृष्टिगत होता है अन्यथा मौर्यकाल की बौद्ध कला पूर्णतः भारतीय थी।

इस प्रकार अशोक द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए बनवाये गए स्तम्भ, मौर्य तथा बौद्ध कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। यह स्तम्भ निर्माण कला की निपुणता के स्मारक होने के साथ ही शिल्पकारों के श्रेष्ठ कौशल के निष्कलंक उदाहरण तथा ललित कला के भव्य प्रदर्शन के माध्यम भी हैं। अशोक के स्तम्भों पर चमकीली पालिश करने की कला तो उसी के साथ आरम्भ होकर उसी के साथ समाप्त हो गई। उपर्युक्त वर्णित स्वतन्त्र स्तम्भों के अतिरिक्त बौद्ध स्थापत्य कला के अन्य अंगों में भी स्तम्भों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। वे स्तम्भ भी कला तथा अलंकरण की दृष्टि से अनुपम हैं। स्थापत्य कला के अन्य अंगों के वर्णन में उनका यथास्थान वर्णन कर दिया गया है।

11
हिन्दू मन्दिर स्थापत्य
(Hindu Temple Architecture)

भारत में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व में धर्म विभिन्न कलाओं का आधार रहा है। मूर्तिकला धर्म का अविभाज्य अंग है। मानव के भ्रमित मन को एकाग्र करने के लिए उपास्य देवों की मूर्तियों की कल्पना की गई है। इन्हीं उपास्य देवों की मूर्ति स्थापना के लिए मन्दिर स्थापत्य का उदय हुआ। प्राचीन भारतीय आर्यों ने भी प्राकृतिक शक्तियों में मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा कर उन्हें देवत्व प्रदान किया था। अतः उनकी मूर्तियों को मानव के समान आवासों (मन्दिरों) में स्थापित किया गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि मन्दिर भी मूर्तिपूजा जितने ही प्राचीन हैं।

भारत में मूर्ति पूजा का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। सिन्धु सभ्यता के उत्खनन में असंख्य मूर्तियों के अवशेष मिले हैं किन्तु यहां से इनके अधिष्ठान के मन्दिरों के अवशेष प्राप्त नहीं होते हैं। वैदिक काल में मूर्तिपूजा के प्रचलन के बारे में विद्वानों में मतभेद हैं। **मैक्समूलर,** विल्सन, मैकडानल्ड, कीथ, ब्लूमफील्ड तथा राथ आदि विद्वानों की मान्यता है कि ऋग्वेदिक आर्य एक विचारशील दार्शनिक था जिसके लिए मूर्तिपूजा का कोई महत्व नहीं था। इनके अनुसार वैदिक साहित्य में प्राप्त मूर्ति पूजा के उल्लेख काल्पनिक, अस्वाभाविक तथा अलंकारिक हैं। इसके विपरीत बोलन्सेन, वेंकटेश्वर तथा बनर्जी आदि विद्वानों ने वैदिक साक्ष्यों के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि वैदिक आर्यों में मूर्तिपूजा का प्रचलन था। ऋग्वेद में एक स्थान पर मरुत् देवता की मूर्ति तथा मंदिर का उल्लेख मिलता है। **प्रो.** जे. एन. बनर्जी ने अपनी पुस्तक '**डवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्राफी**' में इस विषय

पर व्यापक प्रकाश डाला है। अतः यही मत सत्यता के निकट प्रतीत होता है क्योंकि सिन्धु सभ्यता के मूर्तिपूजक वैदिक सभ्यता में अवश्य विद्यमान रहे होंगे तथा आर्यों तथा अनार्यों में जो सांस्कृतिक समन्वय हुआ उसमें आर्यों ने अनार्यों की मूर्ति पूजा को अवश्य स्वीकार किया होगा। उनके पुरातात्विक साक्ष्य तो इसलिए नहीं मिलते कि शायद उनकी निर्माण सामग्री विनाशशील रही हो। आनन्दकुमार स्वामी ने भी इसी मत का समर्थन किया है। **कौषितकी उपनिषद** में आत्मा की मूर्ति का निर्माण निषेध किया गया है। इससे संकेत मिलता है कि अन्य प्रकार की मूर्तियां बनाई जाती थीं। षडविंश ब्राह्मण में मूर्ति की विविध मुद्राओं का उल्लेख मिलता है। गृह्यसूत्रों में अनेक स्थानों पर देवगृह, देवायतन, देवप्रासाद, देवसदन तथा देवहर्म्य शब्दों का उल्लेख मिलता है जो निश्चय ही मन्दिर के लिए प्रयुक्त हुए होंगे। 500 ई. पू. में यास्क ने भी देव प्रतिमाओं का उल्लेख किया है। पतंजलि ने भी पाणिनि के एक सूत्र की व्याख्या करते हुए पूजा के लिए शिव, स्कन्द तथा विशाख आदि की मूर्तियों का उल्लेख किया है। तीसरी शताब्दी ई. पू. में कौटिल्य ने अपने *अर्थशास्त्र* के दुर्गनिवेश के सम्बन्ध में विभिन्न देव मूर्तियों की स्थापना का उल्लेख किया है जो मन्दिरों के प्रतीक हैं। अशोक के अभिलेखों में भी दिव्यरूपों के दर्शन का उल्लेख मिलता है।

द्वितीय शताब्दी ई. पू. से मूर्तियों तथा मन्दिरों के साक्ष्य उपलब्ध होने लगते हैं। द्वितीय शताब्दी ई. पू. के घोसुण्डी वेदिका लेख में वासुदेव-संकर्षण की मूर्ति की पूजा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। द्वितीय शताब्दी ई. पू. के हेलियोडोरस के बेसनगर के लेख में भी वासुदेव के गरूड़ध्वज की स्थापना का उल्लेख है। यहाँ से प्राप्त एक अन्य लेख में गौतमीपुत्र द्वारा भागवत मन्दिर के समक्ष गरूड़ध्वज की स्थापना का उल्लेख किया गया है। शक महाक्षत्रप षोडाश के मोराकूप लेख में पञ्चवीरों की प्रतिमा और उनके मन्दिर का उल्लेख मिलता है। ईस्वी संवत् के पूर्व के आदुम्बर गणराज्य के सिक्कों पर उत्कीर्ण शिखर आकृतियों से भी मन्दिरों के स्थापत्य का ज्ञान होता है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ईसा से दो शताब्दी पूर्व भारत में मूर्ति निर्माण तथा मन्दिर स्थापत्य की परम्परा विद्यमान थी। स्पष्टतः स्थापत्य कला के गुणों से युक्त मन्दिरों के अवशेष गुप्तकाल से मिलना आरम्भ होते हैं किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि गुप्तयुग के पूर्व मन्दिरों का निर्माण ही नहीं होता था। अनेक साहित्यिक साक्ष्यों में इनका उल्लेख मिलता है। बहुत सम्भव है उनके निर्माण में ऐसी सामग्री का प्रयोग किया जाता हो जो विनाशशील रही हो। अतः उनके अवशेष नहीं मिल पाये हैं। इस सम्बन्ध में डॉ. आर. पी. यादव ने लिखा है कि **"ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर वैदिक युग में भक्ति सम्प्रदाय के विकास के साथ देवगृहों का निर्माण किया गया** किन्तु घास-फूस

और काष्ठ से निर्मित ये मन्दिर साहित्य में तो सुरक्षित हैं किन्तु उनका भौतिक रूप काल के कराल गाल में समाहित हो गया।"

हिन्दू मन्दिर स्थापत्य की अवधारणा—हिन्दू मन्दिर के स्थापत्य की अवधारणा वैदिक धर्म में निहित हैं। वैदिक आर्यों ने प्राकृतिक शक्तियों का दैवीयकरण करके उनमें मानवीय गुणों को प्रतिष्ठित किया। कालान्तर में उसने इन अदृश्य देवताओं के मानवीय स्वरूप की कल्पना की और उनकी मूर्तियों का निर्माण किया। अपने देवता की उपासना के लिए उन्होंने मानव की भांति देवताओं के लिए भी आवास का निर्माण किया। इस प्रकार मन्दिर स्थापत्य का विकास पूजा स्थापत्य के रूप में हुआ। उपास्य देवता के प्रति आस्था से शनैः शनैः मन्दिर की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। मन्दिर स्वयं उपास्य बन गया। मन्दिर मानव शरीर और उसमें स्थापित मूर्ति मानव आत्मा के प्रतीक बन गए। मानव शरीर से मन्दिर स्थापत्य की अवधारणा के उल्लेख प्राचीन साहित्य में भी प्राप्त होते हैं। अग्निपुराण में शिव मन्दिर के विभिन्न भागों को विभिन्न मानव अंगों का प्रतीक बताया गया है। **'हरिभक्ति विलास', 'हृशीर्ष पांचरात्रम्', 'शिल्परत्नम्'** तथा **'ईशानशिवगुरुदेव पद्धति'** आदि ग्रन्थों में भी मन्दिर स्थापत्य को मानव अथवा देव शरीर का प्रतिरूप माना गया है। प्रो. एम. एम. **गांगुली** तथा **रामराज** ने भी इसी मत की पुष्टि की है।

हिन्दू मन्दिर स्थापत्य का उद्भव—प्राचीन भारतीय साहित्य में मन्दिर के लिए देवालय, देवकुल, देवायतन, देवसदन तथा देवगृह आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। प्रारम्भिक कला साहित्य तथा गुहालेखों में मन्दिर को **'प्रासाद'** कहा गया है। अन्य ग्रन्थों में इसे हर्म्य, विमान एवं सौध भी कहा गया है। **'मन्दिर'** शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सातवीं शताब्दी ईस्वी में **'मयमत'** तथा **'मानसार'** जैसे कला साहित्य में हुआ है। कालान्तर में यह शब्द समस्त पवित्र भवनों की संज्ञा बन गया। प्राचीन साहित्य में मन्दिर के लिए विभिन्न नामों के साथ इनकी भिन्न-भिन्न स्थापत्य विशेषताओं का भी उल्लेख हुआ है। उत्तरी तथा दक्षिणी भारत में हिन्दू मंदिर स्थापत्य की भिन्न विशेषतायें प्राप्त होती हैं। इन्हीं विशेषताओं के आधार पर डॉ. आर. पी. चन्दा, आनन्द कुमारस्वामी, रामन्नय, सरस्वती, लांग्हर्स्ट तथा भट्टाचार्य आदि विद्वानों ने हिन्दू मंदिर-स्थापत्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विविध मत व्यक्त किये हैं।

प्राचीन भारतीय साहित्य में मानवगृहों तथा देवगृहों के लिए प्रायः समान शब्दों का प्रयोग हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि मानव ने देवगृहों की कल्पना अपने गृहों के अनुरूप ही की होगी। चूंकि सामान्य स्थापत्य का उद्भव प्राकृतिक तत्वों—पहाड़, कन्दराओं तथा वृक्षों के आदर्श पर हुआ था अतः मंदिर

स्थापत्य के उद्भव का मूल आधार भी यही तत्व रहे होंगे। महाकाव्यों, जातक-कथाओं तथा कलाग्रन्थों में बहुमंजिलें भवनों को प्रासाद कहा गया है। 'महाभाष्य', 'मत्स्यपुराण' तथा '**विश्वकर्मा प्रकाश**' आदि ग्रन्थों में अनेक मंजिलों वाले शिखर युक्त मंदिर को प्रासाद कहा गया है। भारत के दक्षिण और उत्तर दोनों ही क्षेत्रों से प्राप्त मंदिरों पर शिखर दिखाई देते हैं। उत्तरी भारत के मंदिरों के शिखर के ऊपर आमलक प्राप्त होते हैं। अनेक मंजिलों से युक्त भवन के लिए प्रासाद के अतिरिक्त 'हर्म्य' शब्द का भी उल्लेख किया गया है। बुद्धघोष के अनुसार हर्म्य के शीर्ष पर 'कूट' होता है। दक्षिण भारत में कूट को '**विमान**' कहा जाता है। रामायण की टीका के अनुसार विमान का तात्पर्य रथ अथवा सात मंजिलों से युक्त भवन से है। इन विवरणों के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि अनेक मंजिलों वाले आमलक युक्त शिखर वाले प्रासादों से उत्तर भारतीय मंदिरों तथा अनेक मंजिलों वाले कूटयुक्त शीर्ष वाले '**हर्म्य**' से दक्षिण भारतीय मंदिरों की उत्पत्ति हुई।

'**समरांगणसूत्रधार**' में मंदिर की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि ब्रह्मा ने आकाश का भ्रमण करने के लिए पांच रथों का निर्माण किया तथा रथों की अनुकृति की भाँति ही पृथ्वी पर पाषाण, ईंट तथा काष्ठ प्रासादों का निर्माण किया जिससे नगरों के सौन्दर्य में वृद्धि हो। इस आधार पर ई. बी. हैवेल तथा आनन्द कुमारस्वामी आदि विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि इन्हीं रथों के आधार पर भारत में मंदिरों के स्थापत्य की उत्पत्ति हुई। किन्तु **डॉ. बी. भट्टाचार्य** इस मत को नहीं मानते। उनकी मान्यता है कि मानव ने पहले आवास का निर्माण किया होगा उसके बाद ही उसने रथों का निर्माण किया होगा। यदि मन्दिरों के शिखर के उद्भव का आधार रथों को मान लिया जाय तो भारत के उत्तरी और दक्षिणी क्षेत्र के मन्दिरों के शिखरों में अन्तर न होकर वे एक समान होते। अतः यह माना जा सकता है कि प्रारम्भ में मन्दिर और रथ दोनों ही सामान्य आवासगृहों के आदर्श पर निर्मित हुए थे। सम्भव है कालान्तर में परवर्ती मन्दिर रथों की अनुकृति से प्रभावित हुए हों।

डॉ. रामाश्रय ने बौद्ध स्तूपों, चैत्यगृहों तथा विहारों से मन्दिर स्थापत्य की उत्पत्ति का मत प्रतिपादित किया है। उनकी मान्यता है कि बौद्ध स्थापत्य की उपर्युक्त परम्परा हिन्दू मन्दिर स्थापत्य से प्राचीन है। अतः बौद्ध स्थापत्यकला हिन्दू मन्दिरों के स्थापत्य के उद्भव के लिए प्रेरक तत्व रही होगी। चैत्य एवं विहार प्रकार के हिन्दू मन्दिर तथा द्राविड़ मन्दिर का स्थापत्य इस मत की पुष्टि करते हैं।

शिखर मंदिर का अविभाज्य अंग है, यही अंग उसे सामान्य आवास गृहों से पृथक करता है। उत्तर भारतीय मन्दिरों में आमलक युक्त रेखा शिखर तथा

दक्षिण भारतीय मन्दिरों में कूट युक्त पिरामिड आकार के शिखर, मन्दिर स्थापत्य की प्रमुख विशेषता है। इन शिखरों के उद्भव के सम्बन्ध में भी विद्वानों ने विभिन्न मत व्यक्त किये हैं। **स्टेलाक्रैमिश** का मत है कि उत्तर भारत के आमलक युक्त शिखरों का विकास काष्ठ भवनों के मध्य में स्थित स्तम्भ के अनुकरण पर हुआ है। **'समरांगण सूत्र'** में ब्रह्मा द्वारा आकाश भ्रमण के लिए स्वयं, शिव, कुबेर, वरुण तथा इन्द्र के लिए बनवाये गये रथों क्रमशः—वैराज, कैलाश, पुष्पक, माणिक तथा त्रिविष्टप का उल्लेख मिलता है। उत्तर भारत के कई मन्दिरों का नाम भी इन रथों के नाम के अनुरूप है। अतः कतिपय विद्वानों का मत है कि शिखरों की उत्पत्ति इन रथों के शीर्ष आकार के आधार पर हुई है। इसी प्रकार दक्षिणी भारत के अनेक मन्दिरों के नाम पर्वतों के नामों के अनुरूप है। अतः विद्वानों का मत है कि दक्षिण भारतीय मन्दिरों के पिरामिडाकार शिखरों की उत्पत्ति पर्वतों की उतुंग चोटियों की अनुकृति पर हुई है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मंदिरों के स्थापत्य का उद्भव मानव आवास गृहों के अनुकरण पर तथा शिखरों का उद्भव काष्ठ भवनों के मध्य स्तम्भ, रथों तथा पर्वतों की ऊँची चोटियों के अनुकरण पर हुआ। जब बौद्ध कला के अन्तर्गत स्तूप, चैत्य तथा विहार स्थापत्य का विकास हुआ तो हिन्दू मन्दिर स्थापत्य कला भी इससे प्रभावित हुए विना नहीं रह सकी।

हिन्दू मंदिर स्थापत्य के अवशेष गुप्तकाल से मिलना आरम्भ होते हैं। गुप्तकाल के अवशेष हिन्दू मंदिर स्थापत्य के शैशवकाल के प्रतीक हैं। पक्की ईंटों तथा पाषाण से निर्मित गुप्तकालीन मंदिर स्थापत्य के विकास के विविध चरणों के द्योतक हैं। इन मंदिरों के अवशेषों से ज्ञात होता है कि मंदिर निर्माण की परम्परा गुप्तों से पूर्व भी प्रचलित थी। गुप्तों के काल में उसे निश्चित दिशा और स्थायित्व प्रदान किया गया। गुप्तकाल में मंदिरों पर शिखरों का निर्माण आरम्भ हो गया था। मंदिर के जिस भाग में देव मूर्ति स्थापित की जाती थी वह गर्भगृह प्रायः वर्गाकार होता था। गर्भगृह के सामने स्तम्भों पर आधारित मण्डप (बरामदा) होता था। कालान्तर में मण्डप के सामने आयताकार बरामदा बनाया जाने लगा जिसे अर्धमण्डप कहा जाता है। स्थापत्य के विकास के अगले चरण में गर्भगृह तथा मण्डप को जोड़ने वाला एक नवीन अंश निर्मित हुआ जिसे अन्तराल कहा जाता है। तदन्तर गर्भगृह के चारों ओर परिक्रमा के लिए बरामदे का निर्माण किया जाने लगा जिसे प्रदक्षिणा पथ कहा जाता है। इस प्रकार गुप्तकाल में गर्भगृह, अन्तराल, मण्डप, अर्धमण्डप तथा प्रदक्षिणापथ हिन्दू मंदिर स्थापत्य के प्रमुख अंग थे।

स्थापत्य की विशेषताओं के आधार पर गुप्तकालीन मंदिरों को पाँच वर्गों में बांटा गया है—

(1) प्रथम वर्ग के मंदिर स्थापत्य के विकास के प्रारम्भिक चरण के प्रतीक हैं। इस वर्ग के मंदिरों में एक वर्गाकार गर्भगृह तथा उसके समक्ष स्तम्भों पर आधारित बरामदा बनाया गया है। इनकी छत पूर्णतया सपाट है। सांची का मंदिर संख्या-17 इसका प्राचीनतम उदाहरण है। इस मंदिर में साधारण वर्गाकार गर्भगृह तथा उसके समक्ष चार स्तम्भों पर आधारित बरामदा बना है। गर्भगृह तथा मण्डप दोनों की छतें सपाट हैं। इस वर्ग के मन्दिरों का थोड़ा विकसित रूप तिगावा के कंकाली देवी के मंदिर में दिखाई देता है। स्मिथ के अनुसार यह मंदिर समुद्रगुप्त के काल में निर्मित हुआ था। इस मंदिर का गर्भगृह 8 फीट वर्गाकार में निर्मित है जिसके समक्ष स्तम्भों पर आधारित 7 फीट का मण्डप बना है। इस मंदिर के स्तम्भों को गुप्त मूर्तिकला की शैली में अलंकृत किया गया है। स्तम्भ के शीर्ष पर कलश तथा कलश के ऊपर सिंह अंकित है। इसके प्रवेशद्वार का तोरण भी अलंकृत है। तोरण पर कच्छप आरुढ़ यमुना तथा मकर आरुढ़ गंगा की मूर्तियां अंकित हैं एरण से प्राप्त विष्णु और वराह के मंदिर भी इसी वर्ग के हैं। इन मंदिरों के गर्भगृह आयताकार हैं जिनके समक्ष चार स्तम्भों पर आधारित मण्डप हैं। इन स्तम्भों के शीर्ष तोरण का निर्माण करते हैं। मण्डप के समक्ष सीढ़ियां बनी हैं। मंदिर की दीवारें सादा हैं किन्तु स्तम्भ तथा तोरण अलंकरण युक्त हैं।

(2) द्वितीय वर्ग के मन्दिर प्रथम वर्ग के मंदिर की विशेषताओं से युक्त हैं किन्तु इस वर्ग के मन्दिर दो मंजिलें हैं तथा गर्भगृह के चारों ओर ढ़का हुआ प्रदक्षिणापथ बना है। इस वर्ग के मन्दिरों में नाचना-कुठार के पार्वती मंदिर, भूमरा के शिव मन्दिर तथा ऐहोल के लाड़खान, कोन्नगुडी एवं मेगूती मन्दिर प्रमुख हैं! नाचना का पार्वती मन्दिर दो मंजिला है जो उच्च वर्गाकार अधिष्ठान पर आधारित है। गर्भगृह के चारों ओर प्रदक्षिणापथ बना है। गर्भगृह तथा प्रदक्षिणापथ में प्रवेश के लिए सीढ़ियां तथा तीन प्रवेश द्वार बने हैं। भूमरा के शिव मंदिर की शैली थोड़ी भिन्न है। इस मन्दिर में प्रवेश की सीढ़ियों के समीप दोनों कोनों पर दो लघु मन्दिर मुख्य मन्दिर की शैली के अनुरूप बने हैं। यह मंदिर भी दो मंजिला है। इसके स्तम्भ स्थूल और सादा हैं। मंदिर की दीवारें प्रारम्भिक गुप्त शैली की मूर्तिकला से अलंकृत हैं।

(3) तृतीय वर्ग के मन्दिरों की स्थापत्य कला भी अन्य वर्ग के मन्दिरों का विकसित रूप है। इस वर्ग के मन्दिरों में गर्भगृह के ऊपर लघु शिखर का निर्माण किया गया है। देवगढ़ (झांसी) का दशावतार, कानपुर के भीतरगांव तथा बोधगया का महाबोधि मन्दिर इस वर्ग के प्रमुख उदाहरण हैं। झांसी के देवगढ़ के दशावतार मन्दिर का शीर्ष भाग खण्डित हो चुका है किन्तु उसके शेषभाग के आधार पर विद्वानों ने उसके पूर्ण स्थापत्य का अनुमान लगाया है। सम्भवतः शिखर सहित यह

मन्दिर 40 फीट ऊँचा था। सम्पूर्ण मन्दिर पांच फीट ऊँचे आधार पर 18 फीट वर्ग में निर्मित है। आधार पर चढ़ने के लिए चारों दिशाओं में सीढ़ियां बनी हुई हैं। गर्भगृह की दीवार के तीन ओर आले तथा सामने द्वार बना है। इन आलों में मूर्तियां स्थापित हैं। आधार पर मण्डप होने के अवशेष मिले हैं। इस मन्दिर का प्रवेश द्वार अत्यन्त आकर्षक है। कानपुर के पास स्थित भीतरगांव का मंदिर ईंटों से निर्मित है। **प्रो. सरस्वती** इसे गुप्तकाल की कृति मानते हैं। यह मंदिर वर्गाकार *गर्भगृह, मण्डप तथा अन्तराल से युक्त है। गर्भगृह और अन्तराल की छत गुम्बदाकार* है किन्तु मण्डप की छत उभड़ी हुई है। गर्भगृह की दीवारें तीन ओर से उभरी हुई हैं। दीवारों के शीर्ष पर छत और शिखर को अलग करते हुए दोहरे छज्जे बने हैं। गर्भगृह का शिखर ऊपर की ओर क्रमशः पतला होता गया है। बोधगया का महाबोधि मन्दिर द्वितीय शताब्दी ई. पू. की कृति है। मध्यकाल तक यह मन्दिर अनेक बार परिवर्धित हुआ। **श्री आनन्द कुमारस्वामी** के अनुसार गुप्त सम्राट नरसिंह गुप्त बालादित्य के काल में इस मन्दिर को नया रूप दिया गया था। इस मंदिर के गर्भगृह पर नौ खण्डीय पिरामिडाकार शिखर है। शिखर के प्रत्येक खण्ड और शीर्ष पर आमलक बने हुए हैं। गर्भगृह के चारों कोनों पर मुख्य मन्दिर के अनुरूप चार लघु मंदिर बने हैं। गर्भगृह की पूर्व दिशा में मण्डप बना है। सम्भव है महाबोधि मंदिर का गुप्तकालीन स्थापत्य देवगढ़ तथा भीतरगांव के मन्दिरों के अनुरूप रहा होगा।

गुप्तकाल के द्वितीय तथा तृतीय वर्ग के मन्दिरों के स्थापत्य से प्रतीत होता है कि इस काल में स्थापत्यकार मंदिरों की ऊँचाई पर विशेष बल देते थे। इसीलिए बहुमंजिलें मन्दिरों का निर्माण किया तथा मन्दिरों की ऊर्ध्वाकार ऊँचाई में वृद्धि के लिए द्राविड़ शैली के पिरामिडाकार तथा नागर शैली के लघुरेखा शिखरों का निर्माण किया गया।

(4)–(5) गुप्तकाल के चतुर्थ और पंचम वर्ग के मन्दिर शैली विभिन्नता के प्रतीक हैं चौथे वर्ग के मंदिर चैत्यगृहों के अनुकरण पर बने हैं। चौथी और पांचवीं शताब्दी ईस्वी में बना शोलापुर का तेर मंदिर, दक्षिण भारत के कृष्णा जिले का कपोतेश्वर मन्दिर तथा ऐहोल का दुर्गा मंदिर इस वर्ग के मन्दिरों के प्रमुख उदाहरण हैं। कपोतेश्वर मन्दिर द्विमंजिला है। प्रथम मंज़िल में स्तम्भ आधारित मण्डप है तथा दूसरी मंजिल का पिछला भाग अर्धवृत्ताकार है। ऐहोल का दुर्गा मन्दिर आयताकार है। यह ऊँचे आधार पर प्रतिष्ठित है। आधार के चारों ओर स्तम्भों पर आधारित बरामदा है। इसका गर्भगृह अर्धवृत्ताकार है जिस पर शिखर बना है।

पांचवें वर्ग के मन्दिर स्तूप की भांति हैं। इस वर्ग का प्रमुख उदाहरण राजगृह का **'मणियार मठ'** है। यह मंदिर वृत्ताकार है इसमें एक वृत्ताकार चौकी

पर विशाल शिवलिंग स्थापित है। इसकी दीवारों पर बने आलों में शिव के विविध रूपों की मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं। इस वर्ग के अन्य मंदिर फतेहपुर (उ. प्र.), कश्मीर तथा दक्षिणी भारत में भी मिले हैं।

गुप्तकाल के चौथे और पांचवें वर्ग के मंदिरों पर बौद्ध स्थापत्य का साहित्य स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इसी आधार पर कई विद्वानों ने हिन्दू मन्दिर स्थापत्य की उत्पत्ति बौद्ध कला से प्रतिपादित की है। किन्तु यह मत मान्य नहीं है। गुप्तकाल के प्रारम्भिक तीन वर्गों के मन्दिर ही हिन्दू मन्दिर स्थापत्य के जनक थे। इन्हीं गुप्त मन्दिरों के स्थापत्य ने परवर्ती काल में हिन्दू मन्दिर स्थापत्य की नागर और द्राविड़ शैलियों को आधार प्रदान किया।

हिन्दू मन्दिर स्थापत्य का विकास एवं वर्गीकरण

गुप्तकाल हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान का काल था। इस पुनरुत्थान के फलस्वरूप वैदिक धर्म में अनेक नवीन सम्प्रदायों, मान्यताओं तथा विचारधाराओं का उदय हुआ तथा जनसामान्य में धर्म के प्रति श्रद्धा जागृत हुई। इस धार्मिक वातावरण ने मन्दिरों के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान दिया। गुप्तकाल के बाद मन्दिर स्थापत्य में अभूतपूर्व विकास हुआ। भारतीय इतिहास का पूर्व मध्य युग मन्दिर स्थापत्य का स्वर्ण युग था। इस युग में सम्पूर्ण भारत में मन्दिरों के निर्माण का ऐसा क्रम शुरू हुआ कि सम्पूर्ण भारत मन्दिरमय हो गया। किन्तु दुर्भाग्य से मध्यकाल में विधर्मी मुस्लिम आक्रान्ताओं ने अपनी धर्मान्धता के कारण उत्तर भारत के अनेक मन्दिरों को अपने अपवित्र हाथों से विनष्ट कर दिया। सौभाग्य से उनकी नृशंस दृष्टि से दूर पर्वत श्रेणियों तथा गहन वनों में कुछ मन्दिर शेष बच गये जो हिन्दू मन्दिर स्थापत्य कला के सजीव प्रमाण हैं। दक्षिण भारत इन आक्रान्ताओं के सतत् प्रयासों के बाद भी शताब्दियों तक इनके शिकंजे में पूर्ण रूप से कभी नहीं आ पाया। फलतः यहां के मन्दिर मूलरूप में आज भी अपनी गौरव गाथा गा रहे हैं।

पूर्व मध्यकाल में मन्दिर स्थापत्य में विशिष्ट स्थापत्य कला का विकास हुआ क्योंकि भारत जैसे विशाल भू-भाग, अपार जनसंख्या तथा विविध मत-मतान्तरों वाले देश में दीर्घकाल में बने असंख्य मन्दिरों में शैली विभिन्नता आ जाना स्वाभाविक था। देश, काल, सम्प्रदाय, विचार तथा रुचि की भिन्नताओं ने स्थापत्य की शैली में भिन्नता उत्पन्न की। अतः इस काल में हिन्दू मन्दिर स्थापत्य की अनेक शैलियां विकसित हुईं। इस काल में निर्मित मन्दिरों की स्थापत्य शैलियों को प्राचीन स्थापत्यशास्त्रों तथा कलामर्मज्ञ आधुनिक विद्वानों ने भौगोलिक स्थापत्य योजना तथा स्थापत्य में अन्तर्निहित विशेषताओं के आधार पर स्थूल रूप से तीन वर्गों में विभाजित किया है—

(1) नागर शैली (2) द्राविड़ शैली (3) वेसर शैली

नागर शैली

मन्दिर स्थापत्य की 'नागर' शैली का नामकरण सम्भवतः नगर शब्द से हुआ है। 'समरांगण सूत्र' में नगरों की शोभा में वृद्धि के लिये ब्रह्मा द्वारा मन्दिरों की उत्पत्ति किये जाने का उल्लेख है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में भी नगर और दुर्ग-निर्माण के अन्तर्गत विशिष्ट स्थानों पर मन्दिरों की स्थापना का उल्लेख किया है। सम्भव है कि इस शैली के मन्दिरों का निर्माण सर्वप्रथम नगरों में होने के कारण इसका नाम 'नागर शैली' रखा गया हो।

नागर शैली के अधिकांश मन्दिर ऊंचे चबूतरे पर बने हैं। इस वर्ग के मन्दिरों का गर्भगृह वर्गाकार होता है। गर्भगृह के बाहर का आधार (चबूतरा) ही प्रायः प्रदक्षिणा पथ का कार्य करता था। इस शैली के मन्दिरों में स्वतन्त्र प्रदक्षिणा पथ कुछ ही मन्दिरों में मिले हैं। इनके गर्भगृह की दीवारों के बाहरी अंश बाहर की ओर निकले हुये हैं जिन्हें रथ कहा जाता है। रथों की संख्या एक से लेकर नौ तक होती है नागर शैली के विकसित मन्दिरों में गर्भगृह और उसके समक्ष क्रमशः अन्तराल, मण्डप तथा अर्धमण्डप संलग्न रूप मे बने हैं। नागर शैली के मन्दिरों की विशिष्टता का आधार उसका शिखर है। इस शैली के मन्दिरों का शिखर गर्भगृह का क्रमशः ऊंचाई की ओर घटता हुआ रूप होता है। इसे रेखा शिखर कहा जाता है। कई मन्दिरों में मुख्य शिखर से सटी हुई लघु शिखर आकृतियां भी बनी हुई हैं जिन्हें अंग शिखर कहा जाता है। इन शिखरों पर आमलक बना होता है। इस शैली के कुछ शिखरों में छोटे आले भी बने हुए हैं जिनमें मूर्ति-मुख बने हुये हैं। इनके प्रवेशद्वार आयताकार, अलंकृत तथा तोरणविहीन हैं। प्रवेश द्वार के ऊपर मध्य में गजलक्ष्मी तथा दोनों ओर गंगा-यमुना की मूर्तियाँ बनी हुई हैं। ये नागर शैली के मन्दिरों की स्थूल विशेषताये हैं। मन्दिरों की नागर शैली का विस्तार काफी विस्तृत है। मध्य देश इस शैली का प्रमुख केन्द्र रहा है। किन्तु यह हिमालय के चम्बा, कांगड़ा से लेकर दक्षिण में तुंगभद्रा तक और उड़ीसा, बंगाल तथा गुजरात तक में फैली हुई है। इस विस्तार के कारण इस शैली के स्थापत्य में स्थानीय विशेषतायें तथा नाम हो गये। हिमालय क्षेत्र में इस शैली को 'पर्वतीय', उड़ीसा में 'कलिंग' तथा गुजरात और महाराष्ट्र में 'लाट' कहा जाता है। प्राचीन वास्तु ग्रन्थों में इस शैली के उप प्रकारों की विभिन्न संख्यायें बताई गई हैं। विश्वकर्मा प्रकाश तथा मत्स्यपुराण में इनकी संख्या 20, भविष्यपुराण में 19 तथा समरांगणसूत्रधार में इनकी संख्या 14 से 36 तक बताई गई है।

नागर शैली का मन्दिर स्थापत्य अपनी क्षेत्रिय विशेषताओं के साथ मुख्य रूप से हिमालय और विन्ध्यांचल के मध्य विकसित हुआ। गुप्तकाल के बाद से लेकर

1300 ई. के मध्य पंजाब, कश्मीर, राजस्थान, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, गुजरात, दक्षिणी भारत, गंगा की घाटी तथा बंगाल में इस शैली के हजारों मन्दिर बने जिनमें से अधोलिखित प्रमुख हैं—

मध्य भारत—मध्य भारत नागर शैली के मन्दिरों का प्रमुख क्षेत्र है। पांचवीं तथा छठी शताब्दी में इस क्षेत्र में नाचना-कुठार तथा ग्वालियर में पठारी के जिन मेहराबदार मन्दिरों का विकास हुआ वे 8वीं शताब्दी के बाद नागर शैली के मन्दिरों के रूप में प्रतिष्ठित हुये। गर्भगृह, मण्डप तथा अन्तराल एवं रथ युक्त मन्दिरों में मध्यप्रदेश के रींवा से छः मील दूर बैजनाथ महादेव मन्दिर प्रमुख है। इस क्षेत्र के विकास की अगली शृंखला में 9वीं शताब्दी का बरोही मन्दिर मुख्य है। इस मन्दिर के शिखर पर दो आमलक बने हैं। मध्य भारत के कई मन्दिरों पर उड़ीसा की नागर शैली 'कलिंग' का प्रभाव दिखाई देता है। इस वर्ग में 10वीं शताब्दी में बना रींवा का विश्वनाथ मन्दिर प्रथम है। यह मन्दिर गर्भगृह, मण्डप तथा अन्तराल युक्त है। इसकी भित्ति में शिखर तक पंचरथ बने हैं। शिखर के शीर्ष पर दो आमलक बने हैं। पातालेश्वर मन्दिर भी इसी शैली का परिचायक है। रींवा के समीप सोहागपुर का विराटेश्वर मन्दिर इस शैली के विकास की चरम अवस्था है। इसमें गर्भगृह, अन्तराल और मण्डप के साथ अर्धमण्डप भी बना है। इसमें शिखर तक पहुँचे सप्तरथ बने हैं तथा शिखर शीर्ष तीन आमलक युक्त है।

नागर शैली के मन्दिरों के सर्वोत्तम उदाहरण मध्य प्रदेश के छतरपुर जिले के निकट खजुराहो ग्राम मे मिले मन्दिरों में प्राप्त होते हैं। यह क्षेत्र चन्देलों की धार्मिक राजधानी था। पर्वतीय प्रदेश होने के कारण यहां के मन्दिर विधर्मी आक्रान्ताओं के ध्वंसक हाथों से बचे रहे। इसीलिए यहां के 30 मन्दिर अपनी मूल अवस्था में प्राप्त हुये हैं। इन मन्दिरों के निर्माण काल के सम्बन्ध में मतभेद है। सामान्यतः इन्हें 950-1050 ईस्वी के मध्य की रचना माना जाता है। खुजराहो के मन्दिर मध्य भारत की नागर शैली के प्रतिनिधि मन्दिर है। यहां से शैव, वैष्णव तथा जैन मन्दिर मिले हैं किन्तु इनकी रचना-शैली में भिन्नता नहीं है। ऊँचे अधिष्ठान पर बने ये मन्दिर सौन्दर्य के क्षेत्र में अद्वितीय हैं। सभी मन्दिर गर्भगृह, अन्तराल, मण्डप तथा अर्धमण्डप युक्त हैं। इनके सभी भागों की छतें अलग हैं। गर्भगृह के अतिरिक्त अन्य भागों की छतें गुम्बदाकार हैं। अर्धमण्डप का शिखर लघु तथा गर्भगृह का शिखर सबसे ऊँचा है। इस सम्बन्ध में बेन्जामिन रोलौं ने कहा है कि "नागर वास्तुकला की परिणति खुजराहो के शिखरों में निहित है। उन शिखरों का सौन्दर्य मुख्यतः उनके स्वरूप तथा अंग शिखरों के विभाजन में दृष्टिगत होता है।" शिखरों के आधार पर खुजराहो के मन्दिरों को दो भागों में बांटा गया है—(1) अंग शिखरविहीन मन्दिर तथा (2) अंग शिखरयुक्त मन्दिर। प्रदक्षिणा पथ के

आधार पर भी खुजराहो के मन्दिर दो भागों में विभाजित किये गये हैं—(1) सान्धार मन्दिर अर्थात् प्रदक्षिणापथ युक्त मन्दिर, (2) निरन्धार मन्दिर अर्थात् प्रदक्षिणापथ-रहित मन्दिर। विद्वानों का अनुमान है कि विकास क्रम की दृष्टि से अंग शिखर-विहीन तथा निरन्धार मन्दिर प्राचीन हैं। अंग शिखर विहीन मन्दिरों में आदिनाथ तथा वामन मन्दिर तथा निरन्धार मन्दिरों में जगदम्बा और कुंवरमठ मन्दिर मुख्य हैं। इसी प्रकार शिखरयुक्त मन्दिरों में कन्दरिया महादेव का मन्दिर तथा सान्धार मन्दिरों में चतुर्भुज का मन्दिर प्रमुख है।

खुजराहो के वामन तथा आदिनाथ मन्दिर सप्तरथ योजना पर निर्मित हैं। ये मन्दिर अंग शिखरविहीन है; इनके स्थान पर इनके शिखरों में चैत्य, झरोखे बने हैं। इनमें गर्भगृह, अन्तराल, मण्डप तथा अर्धमण्डप बने है जिनकी छतें पृथक्-पृथक् है। इनका शिखर शीर्ष दो आमलक युक्त हैं। खुजराहों के अधिकतर मन्दिर अंग शिखर युक्त हैं जिनमें चित्रगुप्त, देवी जगदम्बा, कुंवरमठ, चतुर्भुज, पार्श्वनाथ, विश्वनाथ तथा कन्दरिया महादेव का मन्दिर प्रमुख हैं। इन सभी मन्दिरों की स्थापत्य शैली में स्थूलतः समानता है किन्तु प्रदक्षिणापथ के कारण थोड़ी भिन्नता है। देवी जगदम्बा तथा कुंवरमठ मन्दिर प्रदक्षिणापथ रहित हैं किन्तु पार्श्वनाथ, विश्वनाथ तथा कन्दरिया महादेव का मन्दिर प्रदक्षिणापथ युक्त है। ये सभी मन्दिर पंचरथ अथवा सप्तरथ युक्त हैं। प्रत्येक के अर्धमण्डप, मण्डप, महामण्डप, अन्तराल तथा गर्भगृह पर क्रमशः बढ़ती हुई ऊँचाई में पृथक्-पृथक् कोणिक शिखर बने हैं। प्रवेशद्वार, मण्डप, महामण्डप तथा अन्तराल अलंकृत हैं। इस प्रकार मध्य भारत में नागर शैली के वर्गाकार, गर्भगृह, अन्तराल, मण्डप तथा अर्धमण्डप एवं अंग शिखर युक्त विधा के अनेक मन्दिर प्राप्त हुये हैं।

उड़ीसा—नागर शैली मन्दिर स्थापत्य के विकास में उड़ीसा का स्थान महत्वपूर्ण है। यह प्रदेश भी मुस्लिम आक्रमणों से मुक्त रहा था। अतः यह मन्दिर-स्थापत्य के मूल प्रतीकों का केन्द्र रहा है। राजकीय संरक्षण में बने उड़ीसा के मन्दिर नागर शैली की विशेषताओं से युक्त हैं। डॉ. आर. पी. यादव के अनुसार **"उड़ीसा के मन्दिर, नागर मन्दिर वास्तु कला के वास्तविक एवं मूल परिचायक हैं।"** फर्गुसन ने भी उड़ीसा के मन्दिरों को **"भारत की पूर्ण तथा मौलिक वास्तुकला"** कहा है।

उड़ीसा के नागर शैली के मन्दिर समुद्रतट के समानान्तर 400 मील के क्षेत्र में विस्तृत हैं। इन मन्दिरों का निर्माण तथा विकास आठवीं से तेहरवीं शताब्दी ईस्वी के मध्य हुआ था। भुवनेश्वर इनका प्रमुख केन्द्र है जहां इस दीर्घकाल में 100 से भी अधिक मन्दिर बने थे जिनमें से 30 आज भी अपने मूल रूप में विद्यमान हैं। इस शैली के विकसित मन्दिरों का केन्द्र मुखलिगम था। पुरी तथा कोणार्क के मन्दिरों में इस शैली का विकसित रूप प्राप्त होता है। उड़ीसा के स्थापत्यकारों ने मंदिर तथा उसके

विविध अंशों को विविध नवीन संज्ञायें भी प्रदान की थी । वहां मंदिर को देउल,गर्भगृह को श्रीमन्दिर, मण्डप को जगमोहन, गर्भगृह के शिखर को रेखा देउल तथा मण्डप के शिखर को पीठा देउल कहा जाता है । इसी प्रकार मंदिर के अधिष्ठान को पिष्ट, अधिष्ठान के ऊपर की दीवार को बाड़, शिखर को गण्डी तथा शिखर के शीर्ष भाग को मस्तक कहा जाता है । उड़ीसा के कई मंदिरों में मण्डप के समक्ष दो लघु मण्डप बनाये गये हैं जिन्हें नाट मन्दिर (नृत्य मंदिर) तथा भोग मन्दिर कहा जाता है ।

उड़ीसा के मन्दिरों का गर्भगृह तथा मण्डप वर्गाकार हैं किन्तु बाहरी भाग पर बाहर की ओर निकले अंशों के कारण उसकी आकृति क्रास (+) सी प्रतीत होती है । अन्तःभित्ति पर निकले भागों को रथ कहा जाता था । अंतःभाग में यदि एक रथ है तो बाहरी भाग में उससे दो अंश अधिक बाहर निकले होते हैं । इस प्रकार पंचरथ, सप्तरथ तथा नवरथ मंदिरों का निर्माण होता है । रथों के बाह्य अंश शिखर तक जाते हैं । मुख्य मण्डप तथा नाट व भोग मंदिर के ऊपर पिरामिडाकार शिखर होते हैं जिन पर उल्टे घण्टे की आकृति तथा उस पर कलश होता है । इस प्रकार उड़ीसा के मंदिर विचित्र किन्तु नागर शैली के सुनियोजित स्थापत्य के प्रतीक है ।

उड़ीसा के नागर मंदिरों का निर्माणकाल आठवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी ईस्वी के मध्य है । पर्सी ब्राउन ने स्थापत्य के विकास तथा अभिलेखीय आधार पर उड़ीसा के विभिन्न नागर मन्दिरों के निर्माण को तीन चरणों में विभाजित किया है । उनके अनुसार प्रथम चरण 750 ई. से 900 ई. के मध्य है । इस चरण में परशुरामेश्वर, बेताल मन्दिर, भरतेश्वर मन्दिर तथा लक्ष्मणेश्वर आदि मंदिरों का निर्माण हुआ । द्वितीय चरण 900 ई. से 1100 ईस्वी के मध्य था इसमें मुक्तेश्वर, लिंगराज, ब्रह्मेश्वर, रामेश्वर तथा जगन्नाथ आदि मन्दिर बने तथा तृतीय चरण 1000 से 1150 ईस्वी के मध्य था । इसमें अनन्त वासुदेव, सिद्धेश्वर, केदारेश्वर, श्री राजरानी तथा सूर्य आदि मन्दिर बने ।

उड़ीसा के नागर शैली के मन्दिरों में 8वीं शताब्दी में बना परशुरामेश्वर मन्दिर प्राचीनतम है । यह मन्दिर 48 फीट लम्बा तथा 20 फीट चौड़ा है । इसका गर्भगृह 20 वर्ग फीट पर निर्मित है । गर्भगृह के समक्ष 28 फीट × 20 फीट का मण्डप बना है । सम्पूर्ण मन्दिर शिला खण्डों को आबद्ध कर बनाया गया है । उड़ीसा के मन्दिर स्थापत्य के विकास का द्वितीय चरण 'मुक्तेश्वरमन्दिर' में दृष्टिगत होता है । यह मंदिर $7\frac{1}{2}$ वर्ग फीट पर बना है । इस मंदिर का स्थापत्य परशुरामेश्वर मंदिर के समान है । गर्भगृह सहित शिखर की ऊँचाई 35 फीट है । मंदिर के प्रांगण पर दो स्तम्भों पर आधारित तोरण बना है । तोरण के स्तम्भ के नीचे वर्गाकार

आधार है। उसके ऊपर क्रमशः सोलह कोणीय स्तम्भ, आमलक तथा वेदिका बने हैं। तोरण के अर्धवृत्ताकार भाग के दोनों सिरों पर मकर अंकित है। अर्धवृत्त के दोनों भागों में दो झुकी हुई स्त्री की मूर्तियां अंकित हैं। उड़ीसा के किसी अन्य मन्दिर में ऐसा अलंकरण नहीं मिलता। इसीलिये फर्गुसन ने इसे **'उड़ीसा मन्दिर वास्तु का रत्न'** कहा है। आर. एल. मित्र ने इसे **'उड़ीसा वास्तु का पूर्ण परिपक्व एवं सर्वोत्तम दृष्टान्त'** माना है।

उड़ीसा के नागर शैली के वास्तुकार ने अपनी कला में नवीन परिवर्तन जारी रखे। विकास के क्रम में उसने स्थापत्य में अनेक परिवर्तन किये। मन्दिरों के शिखरों की लम्बाई बढ़ती गई तथा मण्डप के अक्ष पर ही नाट मन्दिर तथा भोग मन्दिर के नाम से दो लघु मण्डप बनाये जाने लगे। मन्दिरों के अलंकरण में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। इस वर्ग के मन्दिरों में लिंगराज का मन्दिर प्रमुख है। यह मन्दिर 520 फीट लम्बे और 465 फीट चौड़े प्रांगण में स्थित है। इस प्रांगण में अनेक लघु मन्दिर भी बने हैं। लिंगराज मन्दिर में गर्भगृह तथा मण्डप के अतिरिक्त उसी अक्ष पर दो लघु मण्डप भी बने हैं, जिन्हें नाट मन्दिर तथा भोग मन्दिर कहा जाता है। मन्दिर पंचरथ योजना पर बना है। गर्भगृह का शिखर जमीन से 160 फीट ऊँचा है जिस पर आमलक, खपूरी, कलश तथा त्रिशूल हैं। मन्दिर का मण्डप 72 फीट लम्बा तथा 56 फीट चौड़ा है जिस पर 100 फीट ऊँचा दो खण्डीय शिखर बना है। नाट मन्दिर तथा भोग मण्डप स्तम्भों पर आधारित है। इस मन्दिर का स्थापत्य परवर्ती स्थापत्य के विकास के लिए अनुगामी सिद्ध हुआ।

उड़ीसा के पुरी में स्थित **'जगन्नाथ का मन्दिर'** अत्यन्त विशाल और पवित्र है। इसका निर्माण कार्य 1100 ईस्वी में पूर्ण हुआ था। यह मन्दिर 440 फीट लम्बे तथा 350 फीट चौड़े प्रांगण में स्थित है। मन्दिर के भवन की कुल लम्बाई 310 फीट तथा चौड़ाई 80 फीट है। मन्दिर में गर्भगृह, मण्डप तथा इससे संलग्न दो लघु मण्डप, नाट मन्दिर तथा भोग मन्दिर बने हैं। मन्दिर का शिखर जमीन से 200 फीट ऊँचा है। मन्दिर के बाहर एक और विशाल प्रांगण है जिसकी नाप 665 फीट × 640 फीट है। इस प्रांगण में अनेक छोटे-छोटे मन्दिर बने हैं। प्रांगण की चारों दीवारों के मध्य चार प्रवेश द्वार हैं।

उड़ीसा मन्दिरों के स्थापत्य की चरम परिणति तृतीय चरण के मन्दिरों में परिलक्षित होती है। इस वर्ग का प्रारम्भिक मन्दिर **'अनन्त वासुदेव का मन्दिर'**, अपने सौंदर्य तथा कलात्मकता के लिए प्रसिद्ध है। इसकी ऊँचाई मात्र 65 फीट है। **राजा-रानी मन्दिर'** इस वर्ग की श्रेष्ठ कृति है। इस मन्दिर में अनेक अंग शिखर बने हैं।

पुरी से 20 मील उत्तर-पूर्व में कोणार्क में स्थित 'सूर्यमन्दिर' अपनी विशालता तथा भव्यता के कारण प्रसिद्ध है। यह मन्दिर उड़ीसा के मन्दिर स्थापत्य की अद्वितीय कृति है। गंगनरेश नरसिंह ने 1238–1264 के मध्य इसका निर्माण करवाया था। इस मन्दिर के गर्भगृह तथा मण्डप का निर्माण सूर्य रथ की शैली पर किया गया है। इसके आधार पर 10 फीट व्यास के 12 चक्र बने हैं जो रथ के पहिये प्रतीत होते हैं। आधार पर ही हाथी अंकित हैं। सामने की ओर अनेक अश्व बने हैं जो रथ को खींचते हुए प्रतीत होते हैं। मन्दिर का गर्भ गृह 100 फीट वर्ग में बना है। इसकी छत पिरामिडाकार है तथा दीवारें मूर्तियों से अलंकृत हैं। गर्भ गृह के समक्ष नाट मन्दिर तथा भोग मन्दिर बने हैं। प्रधान मन्दिर के समीप तीन लघु सूर्य मन्दिर बने हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि उड़ीसा के स्थापत्यकारों ने अपनी कलात्मक प्रतिभा तथा समर्पित भावना से अपने क्षेत्र में नागर स्थापत्य शैली को एक नवीन रूप प्रदान किया।

पश्चिमी भारत—भारत के पश्चिमी क्षेत्र में नागर शैली के मन्दिरों का विकास उन्नत दशा में प्राप्त होता है। यद्यपि यह क्षेत्र प्रायः बाह्य आक्रमणों से आक्रांत रहा तथा विधर्मी मूर्तिभंजक आक्रमणकारी यहाँ के मंदिरों को विनष्ट करते रहे। फिर भी जब भी यहाँ शांति और सुव्यवस्था हुई यहाँ के कलाकारों ने अपनी प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया। गुजरात के चालुक्य शासकों का इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान रहा था।

यहाँ पर नागर शैली अपनी क्षेत्रीय विशेषताओं के साथ विकसित हुई। बर्धा की पहाड़ियों से प्राप्त गोप मन्दिर इसका प्राचीनतम उदाहरण है। यह मन्दिर छठी शताब्दी ईस्वी की रचना है। यह मंदिर दोहरे अधिष्ठान (चबूतरों) पर निर्मित है। ऊपर का अधिष्ठान नीचे की तुलना में छोटा है। सम्भव है यह प्रदक्षिणापथ का कार्य करता हो। मंदिर के गर्भगृह की दीवार सादा है। उसके शीर्ष पर दोहरे छज्जे बने हैं तथा गर्भ गृह पर द्वि-खण्डीय शिखर बना हुआ है। इसके प्रत्येक खण्ड पर चैत्य तोरण बने हैं। थान, विसवाङ, हर्षमत, पिण्डारा, बिल्लेश्वर आदि स्थानों से गोप मंदिर शैली के अनुरूप ही अन्य मंदिर प्राप्त हुए हैं। इस वर्ग के मंदिरों का विकसित रूप 'बिल्लेश्वर का शिवमन्दिर' है। इस मंदिर में ढ़का हुआ प्रदक्षिणापथ तथा छः खण्डीय शिखर बना है। मंदिर के गर्भ गृह की दीवारों के शीर्ष पर दोहरे छज्जे बने हैं। इसी प्रकार सूत्रपद का सूर्य मंदिर भी गोप मंदिर की अनुकृति है किन्तु इसका शिखर पूर्णतया नागर शैली के अनुरूप है।

गुजरात के नागर शैली के मंदिरों का उत्कृष्ट रूप चालुक्य शासकों के काल में बने मंदिरों में दृष्टिगत होता है। चालुक्य शासक कला के आश्रयदाता थे।

यद्यपि इस युग में बने अनेक मंदिर विधर्मी मुस्लिम आक्रांताओं द्वारा नष्ट कर दिये गए हैं किन्तु जो शेष है वह उत्कृष्ट स्थापत्य कला के प्रतिनिधि हैं। इस काल में बने मंदिर परम्परागत नागर शैली के अनुरूप हैं। मंदिर प्रायः समानांतर चतुर्भुज तथा आयताकार आधारों पर बने हैं। गर्भगृह चतुर्भुजाकार हैं तथा उनके समक्ष स्तम्भों पर आधारित मण्डप बना है। दीवारों पर छज्जे तथा रेखायें बनी हैं। रथों की संख्या काफी अधिक है। ऊँचाई की ओर मंदिर के तीन भाग हैं—(1) आधार, (2) सीधी दीवार, (3) शिखर। गर्भगृह पर रेखीय शिखर तथा मण्डप पर पिरामिडाकार लघु छत बनी हुई है। कई मंदिरों पर अंग शिखर भी बने हैं। स्तम्भों का आधार छज्जानुमा है। प्रवेशद्वार के स्तम्भ तोरण का निर्माण करते हैं। स्तम्भ अलंकृत तथा सुरुचिपूर्ण हैं। नागर शैली के मंदिरों का यह आंतरिक स्वरूप अन्यत्र प्राप्त नहीं है। सुनक का **'नीलकण्ठ महादेव का मन्दिर'** इस परम्परा के प्रारम्भिक रूप का द्योतक है। इसमें एक अक्ष पर गर्भगृह, मण्डप तथा अर्धमण्डप बने हैं। गर्भगृह के शीर्ष पर अंग शिखर सहित सर्वोच्च शिखर विद्यमान है। शिखर के शीर्ष पर आमलक तथा कलश बने हैं। मण्डप के स्तम्भ मूर्तियों से अलंकृत हैं। इस शैली की चरम परिणति भी मोढ़ेरा के **'सूर्य मन्दिर'** में दिखाई देती है। यद्यपि यह मंदिर खण्डित हो चुका है किन्तु उसके अवशेष उसके सौंदर्य के परिचायक हैं। ग्यारहवीं शताब्दी में बना यह मंदिर 145 फीट लम्बा है। सम्पूर्ण मंदिर एक ऊँचे आधार पर बना है। मंदिर का गर्भगृह, मण्डप एवं सभामण्डप एक ही सीध पर बने हैं। यहाँ एक आयताकार जलकुण्ड भी बना है। गर्भगृह तथा मण्डप संयुक्त है किन्तु सभामण्डप कुछ दूरी पर बना है। गर्भगृह के चतुर्दिक ढ़का हुआ प्रदक्षिणा पथ है। गर्भगृह के समक्ष चार अलंकृत स्तम्भों का प्रवेश द्वार है। गर्भ गृह तथा मण्डप अनेक मूर्तियों से अलंकृत है। मोढ़ेरा के सूर्य मंदिर का सभा मण्डप अत्यन्त आकर्षक है। इसके चारों दिशाओं में स्तम्भों पर आधारित चार तोरण द्वार बने हैं। मण्डप के किनारे-किनारे स्तम्भ बने हैं जिनके शीर्ष पर तोरण बने हैं। सभा मण्डप की छत तथा गुम्बद भी स्तम्भों पर आधृत है। इस मंदिर के स्थापत्य से ऐसा प्रतीत होता है कि यह किसी कुशल स्थापत्यकार की कृति है।

गुजरात के घुमली एवं सेजाकपुर के मंदिर भी नागर शैली के हैं। सेजाकपुर का मंदिर वर्गाकार है। घूमली का मण्डप दो मंजिला है। इसी प्रकार के दो मंजिले मण्डप ग्वालियर के **सास-बहु** तथा सिद्धपुर के **'रूद्रमाल मन्दिर'** में प्राप्त होते हैं।

राजस्थान—राजस्थान सदैव से वीरों की भूमि रहा है। कला के विकास में भी राजस्थान का योगदान अविस्मरणीय है। यहाँ के स्थापत्यकारों ने अपने दुस्साध्य श्रम एवं कलात्मक कुशलता से अत्यन्त प्राचीन काल में ही शिखर मंदिरों का स्वरूप निर्धारित कर लिया था। चित्तौड़ के निकट मिले पाँचवीं शताब्दी के

शिखर एवं आमलक नागर शैली के विकसित रूप प्रतीत होते हैं। प्राचीन काल में राजस्थान में अनेक मंदिरों का निर्माण हुआ था किन्तु उनमें से अधिकांश मध्यकाल में विधर्मी मुस्लिम आक्रांताओं द्वारा विनष्ट कर दिये गए। इनका उदाहरण अजमेर का अढ़ाई दिन का झोंपड़ा तथा दिल्ली की कुतुब मस्जिद है। इन दोनों भवनों का निर्माण राजस्थान के तोड़े गये मंदिरों के प्रस्तर अवशेषों से हुआ है। परम्परा के अनुसार कुतुब मस्जिद में 26 मंदिरों के तथा अढ़ाई दिन के झोंपड़े में 50 मंदिरों के तोड़े हुए अवशेष लगे हैं। इस काल में वही मंदिर विनष्ट होने से बचे हैं जो दुर्गम पहाड़ियों के कारण मुस्लिम आक्रांताओं की पहुँच से दूर रहे। ऐसा ही छठी शताब्दी का एक वैष्णव मंदिर धमनोर में मिला है जिसके स्तम्भ अनुपम नक्काशी तथा खुदाई से अलंकृत हैं। इन मंदिरों में ओसियां के मंदिर मुख्य हैं जो नागर शैली की राजपूताना विशेषताओं से परिपूर्ण हैं।

ओसियां जोधपुर के उत्तर-पश्चिम में 32 मील दूर एक गांव है। यहाँ से 16 मंदिरों के अवशेष मिले हैं जिनमें कुछ मंदिर जैन सम्प्रदाय के हैं। यहाँ हम सिर्फ हिन्दू मंदिरों की चर्चा करेंगे। ओसियां के प्रारम्भिक मंदिर आठवीं तथा नवीं शताब्दी में बने थे। ये मंदिर पंचायतन तथा हरिहर दोनों प्रकार के हैं। यहाँ के प्रत्येक मंदिर का अलंकरण पृथक्-पृथक् है। ओसियां के हरिहर मंदिर संख्या 2 तथा 3 में गर्भगृह तथा उसके समक्ष स्तम्भों पर आधारित खुला मण्डप बना है। मण्डप के किनारे दो कक्ष तथा सामने अर्धमण्डप बना है। मंदिर संख्या 7 सूर्य मंदिर है जो पंचायतन योजना पर बना है। इसका शिखर खजुराहो के मंदिरों की शैली पर बना है। मंदिर संख्या 3 आयताकार क्षेत्रफल में बना है। इसकी छत गजपृष्ठाकार है।

द्राविड़ शैली

भारत का दक्षिणी भाग प्रायः मुस्लिम आक्रमणों से अक्षुण्ण रहा। इसीलिए दक्षिण भारत आज भी अपनी अतीत की धरोहर को संजोये हुए है। दक्षिणी भारत के विविध राजवंशों ने कला के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया था। दक्षिण के धर्मानुरागी शासकों ने अपनी विजय के उपलक्ष्य में अनेक मंदिरों का निर्माण करवाया। गुप्तकालीन दो मंजिलें मंदिरों के आधार पर दक्षिण के स्थापत्यकारों ने मंदिर स्थापत्य की एक नवीन शैली का विकास किया जिसे 'द्राविड़' स्थापत्य शैली कहा जाता है। सौभाग्य से स्थापत्य से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों की रचना भी दक्षिण में ही हुई। दक्षिण के अधिकांश मंदिर स्थापत्य शास्त्रों के सिद्धांतों के अनुरूप ही बने हैं।

द्राविड़ शैली के मंदिर स्थापत्य की दृष्टि से नागर मंदिरों से पूर्णतया भिन्न हैं। द्राविड़ शैली के मंदिर विशाल प्रांगण के मध्य में बनाये गये हैं। द्राविड़ मंदिरों

में उच्च अधिष्ठान आवश्यक नहीं है। इनके गर्भगृह प्रायः वर्गाकार होते हैं तथा गर्भगृह के चारों ओर ढ़का हुआ प्रदक्षिणा पथ बना होता है। इन मंदिरों के गर्भ-गृह की दीवारें सपाट तथा सीधी होती हैं। द्राविड़ मंदिरों के गर्भगृह, मण्डप, नाट मण्डप तथा भोग मण्डप संयुक्त रूप से एक ही अक्ष पर या पृथक् रूप से निर्मित है। द्राविड़ मंदिरों में सीढ़ियों वाले जलाशय भी मिलते हैं। द्राविड़ मंदिर का शिखर इस शैली की मुख्य विशेषता है। द्राविड़ मंदिर का शिखर आधार खण्ड का क्रमशः ऊपर की ओर घटता हुआ रूप है जो पृथक् खण्डों में बना होता है। इन खण्डों को भूमि कहा जाता है। **काश्यप शिल्प ग्रन्थ** में 16 भूमियों वाले शिखर के निर्माण का विधान है। ऊपर की ओर क्रमशः घटते हुए सीढ़ीनुमा शिखर को पिरामिडाकार शिखर कहा जाता है। इसके सबसे ऊपर का खण्ड सबसे छोटा होता है जिसके ऊपर क्रमशः एक घण्टाकृति (स्तूपी), कलश तथा देवलांछन होते हैं। द्राविड़ मंदिरों के प्रवेश द्वार का तोरण गाय के सींग की आकृति का होता है। सम्भवतः इसीलिए इसे **'गोपुरम'** कहा जाता है। शिल्पशास्त्रों में इन्हें अनेक मंजिला बताया गया है। द्राविड़ शैली के मन्दिर कृष्णा, तुंगभद्रा तथा कुमारी अन्तरीप के मध्य बने हैं। हम्पी, मदुरा, काँची, तन्जौर, विजयनगर आदि इनके प्रमुख केन्द्र हैं। पल्लव, राष्ट्रकूट, चोल तथा पाण्ड्य शासकों ने इस शैली के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इसीलिए इन राजवंशों के आधार पर ही द्राविड़ शैली का विकासक्रम निर्धारित किया गया है जो निम्न प्रकार है—

(1) पल्लव युग (600 से 900 ई.)

(2) राष्ट्रकूट युग (750 से 950 ई.)

(3) चोल युग (900 से 1150 ई.)

(4) पाण्ड्य युग (1100 से 1350 ई.)

(1) पल्लव युग—दक्षिण भारतीय लोग द्राविड़ शैली के मन्दिर स्थापत्य के जन्मदाता थे। पल्लव शासकों ने ही सर्वप्रथम उस वास्तु परम्परा का आरम्भ किया जो कालान्तर में विकसित होकर द्राविड़ शैली में परिवर्तित हुई। वर्तमान तमिलनाडु के अधिकांश क्षेत्र पर सातवीं से नवीं शताब्दी तक पल्लवों ने शासन किया था। उनकी राजधानी काँची थी। यहीं से उनकी अधिकांश कलाकृतियाँ प्राप्त होती हैं। तीन शताब्दियों में विकसित पल्लव स्थापत्य कला के विकास को दो चरणों में विभाजित किया जा सकता है। **प्रथम चरण** (610 से 690 ई.) में मंदिर स्थापत्य का आधार शैलोत्कीर्ण कला था। **द्वितीय चरण** (690 से 900 ई.) में मंदिर स्थापत्य के अन्तर्गत पूर्णतया संरचनात्मक मन्दिरों का निर्माण किया गया।

प्रथम चरण के मंदिर पहाड़ियों को काटकर अत्यन्त साधारण ढंग की गुफाओं के आधार पर बनाये गये। इनमें स्तम्भों पर आधारित अर्धमण्डप व मण्डप

बनाये गये हैं। मण्डप की भीतरी दीवार में एक या दो कक्ष बनाये गये हैं। स्तम्भ प्रायः 7 फीट ऊँचे और 2 फीट व्यास के हैं। स्तम्भों का आधार वर्गाकार है किन्तु मध्य भाग में ये अष्ठकोणीय है। यह समस्त रचना अलंकरणविहीन है। ऐसे अनेक मंदिर मण्डगपत्तु तथा त्रिचनापल्ली में प्राप्त हुए हैं। इस वर्ग के परवर्ती काल के उन्दवल्लि से प्राप्त अनन्तशयन तथा भैरवकोण्ड मंदिर थोड़ी विकसित शैली के हैं। अनन्तशयन मंदिर चार मंजिल का है जिसकी कुल ऊँचाई 50 फीट है। इस मंदिर के स्तम्भ परम्परागत हैं। भैरवकोण्ड से प्राप्त मण्डपों के स्तम्भों में अलंकरण प्राप्त होता है। स्तम्भों के आधार तथा शीर्ष को सिंह आकार का बनाया गया है। अलंकृत स्तम्भों का विकसित रूप मामुल्ल युग के **धर्मराज, कोटिकल, महिषासुर, कृष्ण, वराह, पंच पांडव** तथा **शैव मन्दिरों** में दिखाई देता है। यद्यपि मंदिरों का आधार शैलोत्कीर्ण है किन्तु इनके मण्डप तथा अन्तराल अलंकृत हैं। इन मंदिरों का मुख मण्डप 25 फीट चौड़ा तथा 15 से 22 फीट ऊँचा है। इनके आन्तरिक कक्ष 5 × 10 फीट के आयताकार हैं। मण्डप के स्तम्भ 9 फीट ऊँचे तथा एक से दो फीट व्यास के हैं। मण्डप की दीवारें मूर्तियों से अलंकृत हैं। वराह मण्डप के स्तम्भ कुछ अधिक पतले हैं।

पल्लव स्थापत्य कला के विकास के अन्तर्गत मामुल्ल युग में रथ परम्परा का विकास हुआ। मद्रास से 32 मील दक्षिण की ओर पलार नदी के समुद्र के संगम पर पल्लव शासक नरसिंह वर्मा ने मामुल्लपुरम (महाबलीपुरम्) में अनेक अनुपम स्थापत्य कृतियों की स्थापना की। यहाँ शिलाखण्डों को काट कर मंदिरों का निर्माण किया गया है जिन्हें रथ कहा जाता है। महाबलीपुरम् में आठ रथों का निर्माण किया गया है जिनमें सात प्रधान हैं। इसलिए इसे 'सप्त पगोड़ा' भी कहा जाता है। ये सात रथ इस प्रकार हैं—(1) भीम, (2) सहदेव, (3) गणेश, (4) अर्जुन, (5) धर्मराज, (6) पिडारी तथा (7) द्रौपदी रथ। सभी रथ आकार में छोटे हैं। सबसे बड़े रथ की ऊँचाई 40 फीट है। यह रथ एक साधारण कक्ष के रूप में बने हैं। इनके आधार पर सिंह, हस्ति आदि इस तरह काट कर बनाये गए हैं जैसे मंदिर उनके पृष्ठ पर आधृत हो। गर्भगृह के समक्ष स्तम्भयुक्त बरामदा है। गर्भगृह पर पिरामिडाकार शिखर बना है। स्थापत्य के आधार पर इन रथों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(1) चैत्य प्रकार के रथ और (2) विहार प्रकार के रथ। भीम, सहदेव तथा गणेश रथ चैत्य प्रकार वर्ग के रथ हैं। भीम एवं नकुल रथ आयताकार हैं। इनका पृष्ठ भाग अर्धवृत्ताकार तथा छत ढोलाकार है। गणेश रथ की छत गजपृष्ठाकार तथा प्रवेश द्वार (गोपुरम्) तोरणयुक्त है। शेष रथ विहार प्रकार वर्ग के हैं। ये सभी वर्गाकार हैं जिनके गर्भगृह पर पिरामिडाकार शिखर है। इनमें धर्मराज का रथ प्रमुख है। प्रायः सभी रथ मंदिर शैव धर्म से सम्बन्धित हैं।

पल्लव स्थापत्य कला के विकास के द्वितीय चरण में पल्लव नरेश राजसिंह के शासनकाल के दौरान क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। इस काल में शिलाखण्डों के रथों के स्थान पर संरचनात्मक मंदिरों का निर्माण हुआ। ये मंदिर पहाड़ों को काटने के स्थान पर पाषाण खण्डों को जोड़कर बनाये गए हैं। राजसिंह के शासन काल में बने महाबलीपुरम् का **शोर मन्दिर, ईश्वर मन्दिर** तथा **मुकुन्दपुर मन्दिर,** अर्काट का **पनमल मन्दिर** तथा कांची के **कैलाशनाथ और वैकुण्ठ मन्दिर** अपनी स्थापत्य कला के लिए प्रसिद्ध हैं। ये मंदिर पल्लवयुगीन द्राविड़ शैली के विकास के अनुपम प्रतीक हैं। **शोर मन्दिर** समुद्र के किनारे विशाल प्रांगण में स्थित है जिसके पश्चिम में प्रवेश द्वार हैं। मन्दिर अनेक शिलाखण्डों को तराश कर बनाया है। मंदिर के गर्भ गृह पर पिरामिडाकार शिखर है जिस पर स्तूपी तथा कोणदार शीर्ष है। इस मन्दिर के पास शिव तथा विष्णु के मन्दिर बने हैं। मुख्य मन्दिर के स्तम्भ तथा प्रवेश द्वार भी पूर्वकाल की अपेक्षा परिष्कृत हैं।

कांची का **कैलाशनाथ मन्दिर** द्राविड़ शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसके निर्माण का प्रारम्भ राजसिंह के समय हुआ जो उसके पुत्र महेन्द्र वर्मा द्वितीय के काल में पूर्ण हुआ। इस मंदिर में शोर मन्दिर की स्थापत्य की त्रुटियों को दूर किया गया। इसका शेष स्थापत्य शोर मन्दिर के अनुरूप है। इस मन्दिर के लगभग 10 वर्ष बाद **वैकुण्ठ पेरुमाल मन्दिर** का निर्माण हुआ जो पल्लवयुगीन द्राविड़ मंदिर स्थापत्य कला की पूर्णता का प्रतीक है। यह मन्दिर पूर्व मन्दिरों की तुलना में विशालतर है। इसका शिखर गर्भगृह सहित 60 फीट ऊँचा है। इस मन्दिर का आन्तरिक अलंकरण तथा सौन्दर्य सुरुचीपूर्ण है। इसके पश्चात् भी पल्लव शासकों के काल में अनेक मंदिर बने किन्तु उनमें स्थापत्य कला की दृष्टि से कोई नवीनता नहीं है।

राष्ट्रकूट युग—महाराष्ट्र में बादामी के चालुक्यों के राजनीतिक उत्तराधिकारी राष्ट्रकूट थे। राष्ट्रकूटों के शासन काल में इस क्षेत्र में एक ऐसे अद्वितीय मंदिर का निर्माण हुआ जो द्राविड़ शैली की शैलोत्कीर्ण स्थापत्य कला की चरम परिणति कहा जा सकता है। ये मंदिर एलोरा का **'कैलाश मन्दिर'** है जो एक ही पहाड़ी को काटकर बनाया गया है। यह मंदिर राष्ट्रकूटयुगीन द्राविड़ मंदिर स्थापत्य कला का अनुपम दृष्टांत है। इस मंदिर के निर्माण का आरम्भ राष्ट्रकूट नरेश दंतिदुर्ग के काल में हुआ जो कृष्ण प्रथम (758–783 ई.) के काल में पूर्ण हुआ। यह मंदिर 300 फीट लम्बे तथा 200 फीट चौड़े प्रांगण में स्थित है। मंदिर का गर्भगृह मण्डप, अन्तराल, नंदिमण्डप तथा प्रवेश द्वार (गोपुरम्) एक ही अक्ष पर बने हैं। सम्पूर्ण मंदिर 25 फीट ऊँचे आधार पर बना है जिन पर गज और सिंह पंक्तियाँ उत्कीर्ण हैं। गर्भगृह पर चार खण्डों में बना पिरामिडाकार शिखर है जो गर्भ गृह

सहित 95 फीट ऊँचा है। गर्भगृह के सामने 16 स्तम्भों पर आधारित मण्डप बना है जिसकी छत सपाट है। मण्डप पर पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं। गर्भगृह और मण्डप को जोड़ता हुआ अन्तराल बना है। गर्भगृह और मण्डप के चारों ओर खाई बनी है जो प्रदक्षिणापथ का कार्य देती है। मुख्य मण्डप के सामने एक पृथक् मण्डप बना है जिसमें नन्दि की विशाल मूर्ति स्थापित है। इसके दोनों ओर एक-एक स्तम्भ है जिनके शीर्ष पर त्रिशूल उत्कीर्ण है। मन्दिर के प्रांगण के पश्चिम की ओर दो मंजिला प्रवेश द्वार है। कैलाश मन्दिर के सभी अंग मूर्तियों तथा उप-मन्दिरों से अलंकृत हैं। स्तम्भ पूर्णतया द्राविड़ शैली के अनुरूप है। इनका आधार वर्गाकार या बहुकोणीय है। उसके ऊपर अष्ठ कोणीय स्तम्भ है जिसके शीर्ष पर कण्ठ और फलक बने हैं। विभिन्न अंगों के सन्तुलन, सामंजस्य तथा सौन्दर्य के कारण यह मन्दिर राष्ट्रकूटयुगीन द्राविड़ मन्दिर स्थापत्य कला की अनुपम कृति है। एक विद्वान ने इसे "विश्व का महानतम पाषाण काव्य" कहा है।

चोलयुग—दक्षिण भारत में पल्लवों, चोलों, राष्ट्रकूटों तथा चालुक्यों के पारस्परिक राजनीतिक संघर्ष के कारण द्राविड़ मन्दिर स्थापत्य के विकास में कुछ समय के लिये व्यवधान उत्पन्न हुआ। किन्तु 10वीं से 12वीं शताब्दी के मध्य चोलों ने दक्षिण भारत में अपना आधिपत्य बनाये रखा। राजनीतिक आधिपत्य के बाद उन्होंने सांस्कृतिक उत्थान की ओर ध्यान दिया। विजयों के उपलक्ष में मन्दिर-निर्माण की परम्परा चोल शासकों में विशेष रूप से प्रचलित थी। इस वंश के प्रथम प्रमुख शासक विजयालय ने अपनी विजयों के उपलक्ष में **चोलेश्वर** मन्दिर का निर्माण करवाया। यह मन्दिर द्राविड़ शैली का प्रतीक है। इस मन्दिर का गर्भगृह वृत्ताकार है जिसके समक्ष स्तम्भों पर टिका मण्डप बना है। गर्भगृह के चारों ओर वर्गाकार प्रदक्षिणापथ तथा गर्भगृह के ऊपर पिरामिडाकार शिखर बना है। इसके बाद पूदूकोट्टे, तंजोर, तिरूमत्तलै तथा कन्ननूर में अनेक चोल मन्दिर बने जो द्राविड़ शैली के मन्दिरों के अनुरूप है। इन सभी मन्दिरों पर पल्लव स्थापत्य कला का प्रभाव दृष्टिगत होता है।

चोल शासक परान्तक प्रथम (907-949 ई.) ने मन्दिर स्थापत्य की नवीन परम्परा की शुरूआत की जो चालुक्य मन्दिर स्थापत्य कला की अनुकृति है। इस नवीन परम्परा का प्रारम्भिक रूप परान्तक प्रथम द्वारा त्रिचनापल्ली में बनवाये **कोरंग नाथ मन्दिर** में दिखाई देता है। इस मन्दिर का गर्भगृह (विमान) 25 फीट के वर्ग पर तथा अन्तराल 12 फीट वर्ग पर बना है। गर्भगृह की ऊँचाई 50 फीट है। अन्तराल 4 स्तम्भों से बना है। आयताकार मण्डप 25 फीट लम्बा तथा 20 फीट चौड़ा है जिसकी ऊँचाई 16 फीट है। स्तम्भ पल्लव कला से भिन्न है। स्तम्भों के शीर्ष पर क्रमशः पुष्प अलंकृत कलश तथा पट्टबन्धन बना है। गर्भगृह की दीवारें देवताओं तथा मानव मूर्तियों से अलंकृत हैं जो लावण्य व सौन्दर्य से परिपूर्ण हैं।

चोल शासकों के संरक्षण में द्राविड़ मन्दिर स्थापत्य कला का निरन्तर विकास होता रहा। कोरंगनाथ मन्दिर के एक शताब्दी बाद तंजोर तथा गंगकोण्ड में दो भव्य मन्दिरों का निर्माण हुआ जो द्राविड़ शैली के पूर्ण विकास के प्रतीक हैं। चोल वंश के प्रतापी शासक राजराज प्रथम (985-1014 ई.) ने तंजोर में वृहदेश्वर मन्दिर का निर्माण करवाया। ग्रेनाईट पत्थर से बना यह मन्दिर 500 फीट लम्बे तथा 250 फीट चौड़े प्रांगण में स्थित है। गर्भगृह, मण्डप अर्धमण्डप तथा नन्दि मण्डप सहित सम्पूर्ण मन्दिर की लम्बाई 180 फीट है। मन्दिर का गर्भगृह 82 फीट वर्ग पर बना है जो 50 फीट ऊँचा है। गर्भगृह पर 13 खण्डों में बना पिरामिडाकार शिखर है जो गर्भगृह सहित 190 फीट ऊँचा है। सौन्दर्य तथा स्थापत्य की दृष्टि से यह मन्दिर द्राविड़ शैली का महत्वपूर्ण उदाहरण है। राजराज प्रथम के बाद उनके पुत्र राजेन्द्र प्रथम ने गंगा विजय के उपलक्ष में तंजोर से 38 मील दूर गंगकोण्ड चोलपुरम नामक नगर की स्थापना कर उसे अपनी राजधानी बनाया। यहां उसने एक विशाल मन्दिर बनवाया जो द्राविड़ मन्दिर स्थापत्य का श्रेष्ठ उदाहरण है। मन्दिर का मूल स्थापत्य तंजोर मन्दिर के अनुरूप है किन्तु इसमें सौन्दर्य की दृष्टि से अनेक परिवर्तन भी किये गये हैं। यह मन्दिर दुर्गीकृत प्रांगण के मध्य 340 फीट लम्बे तथा 100 फीट चौड़े आयत पर बना है। प्रवेशद्वार से प्रवेश करने पर सर्वप्रथम 175 × 95 फीट का आयताकार मण्डप है जो 150 स्तम्भों पर आधृत है इन स्तम्भों का आधार 4 फीट ऊँचा है। मण्डप की छत सीधी और सपाट है। मण्डप तथा गर्भगृह को जोड़ता हुआ अन्तराल हैं जिसकी छत सपाट है। अन्तराल में 4-4 स्तम्भों की दो पंक्तियां बनी हैं। अन्तराल के उत्तर तथा दक्षिण दिशा में दो प्रवेश द्वार हैं जिन पर द्वारपालों की मूर्तियां अंकित हैं। मन्दिर का नन्दि मण्डप 100 फीट वर्ग पर निर्मित है जिस पर 8 खण्डों का पिरामिडाकार शिखर बना है। मण्डप सहित इसकी ऊँचाई 160 फीट है। पर्सीब्राउन ने इस मन्दिर को 'पाषाण गीत' की संज्ञा दी है

इस प्रकार राजराज प्रथम तथा राजेन्द्र प्रथम के काल में द्राविड़ मन्दिर स्थापत्य की अभूतपूर्व वृद्धि हुई किन्तु जिस प्रकार राजेन्द्र प्रथम के बाद चोल राजनीतिक शक्ति का पतन हुआ उसी प्रकार द्राविड़ मन्दिर वास्तु कला भी पतन की ओर अग्रसर हो गयी। राजेन्द्र प्रथम के बाद राजराज द्वितीय तथा पाण्ड्य शासकों के काल में द्राविड़ मन्दिर स्थापत्य के अनेक अंगों का विकास तथा शैली में परिवर्तन तो हुये किन्तु इससे स्थापत्य के सौन्दर्य तथा सन्तुलन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

वेसर शैली

नागर तथा द्राविड़ शैली के मिश्रण से जिस नवीन शैली का जन्म हुआ उसे **वेसर शैली** कहा जाता है। वेसर शब्द का **अर्थ है—'खच्चर' अर्थात् दो भिन्न** जातियों से उत्पन्न। वेसर शैली भी नागर तथा द्राविड़ शैलियों का संकर (मिश्रित)

रूप है। 'बृहच्छिल्पशास्त्र' में भी इस शैली को मिश्रक कहा गया है। वेसर शैली के मन्दिरों की निर्माण योजना द्राविड़ शैली की है किन्तु उनका क्रियात्मक रूप एवं अलंकरण नागर शैली का है। एच. कन्जिस ने इस सम्बन्ध में कहा है कि "वेसर शैली कोई स्वतन्त्र शैली न थी वरन् प्रारम्भिक द्राविड़ मन्दिरों का पश्चिमी वास्तुकारों द्वारा परिष्कृत रूप है। इसमें यत्रतत्र नागर शैली की रेखायें तथा अलंकरण प्रयुक्त किये गये हैं।" इस शैली के अधिकांश मन्दिर चालुक्यों की साम्राज्य सीमाओं में प्राप्त हुये हैं। चालुक्यों द्वारा प्रोत्साहित किये जाने के कारण इस शैली को कुछ विद्वानों ने चालुक्य शैली भी कहा है। वास्तुशास्त्र ग्रन्थों में इस शैली को विन्ध्य तथा कृष्णा नदी के मध्य प्रचलित शैली बताया गया है। प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर ज्ञात होता है कि महाराष्ट्र तथा कर्नाटक इसके प्रमुख केन्द्र थे। चालुक्य तथा होयसल शासकों ने इस शैली को संरक्षण तथा प्रोत्साहन दिया।

वेसर शैली के उद्‌भव का श्रेय चालुक्यों को दिया जाता है। प्रारम्भिक चालुक्यों ने ऐहोल, बादामी तथा पट्टदकल में नागर तथा द्राविड़ दोनों शैलियों के मन्दिरों का निर्माण करवाया। कालान्तर में दक्षिण भारत में द्राविड़ शैली ही अधिक प्रचलित हुई किन्तु परवर्ती चालुक्य शासकों ने द्राविड़ शैली में नागर शैली की अनेक विशेषताओं को सम्मिलित किया। इन दोनों शैलियों की विशेषताओं के संयोग से वेसर शैली का उदय हुआ।

वेसर शैली, द्राविड़ तथा नागर दोनों शैलियों का समन्वित रूप है। अतः इस शैली में इन दोनों शैलियों की विशेषतायें विद्यमान हैं। वेसर शैली के मन्दिरों में गर्भगृह के समक्ष स्तम्भों पर टिका सपाट छत युक्त मण्डप बना है। कहीं-कहीं अर्ध मण्डप भी प्राप्त होता है। गर्भगृह के ऊपर का शिखर पिरामिडाकार है जिसका शीर्ष भाग गुम्वदाकार है। शिखरों की ऊँचाई प्रायः कम होती है। मण्डप का क्षेत्रफल गर्भगृह से अधिक है। मन्दिरों की दीवारें नागर शैली के रथों से युक्त हैं किन्तु उनके पट्टालंकरण द्राविड़ शैली के समान हैं। होयसल शासकों ने वेसर शैली में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। इनके काल में निर्मित मन्दिरों का गर्भगृह घूमता हुआ है तथा मन्दिर का आकार तारे के समान है। इस शैली के मन्दिर अलंकरणों से पूर्ण हैं।

हैदराबाद के कुक्कनूर से प्राप्त कल्लेश्वर मन्दिर वेसर शैली के प्रारम्भिक रूप का प्रतीक है। इस मन्दिर के गर्भगृह तथा मण्डप को जोड़ता हुआ अन्तराल बना है। मण्डप के सामने नन्दिमण्डप है। गर्भगृह पर गुम्बद युक्त पिरामिडाकार शिखर है जिसकी ऊँचाई काफी कम है। गर्भगृह की बाहरी दीवार पर अनेक स्थानों पर सम्पूर्ण मन्दिर की अनुकृतियाँ बनी हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि द्राविड़ मन्दिरों में नागर शैली की विशेषतायें धीरे-धीरे सम्मिलित होने लगी थीं। इस शैली के विकास का अगला चरण धारवाड़ के लोककुण्डी के जैन मन्दिर तथा मोहमदपुर के मुक्तेश्वर मन्दिर में दिखाई पड़ता है। इन मन्दिरों में द्राविड़ शैली में नागर शैली की अधिक विशेषताओं को समायोजित किया गया है।

बारहवीं शताब्दी में वेसर शैली को परिपक्व रूप प्राप्त हुआ। चालुक्यों द्वारा इस काल में निर्मित अनेक मन्दिर प्राप्त होते हैं जिनमें लोककुण्डि का **विश्वेश्वर मन्दिर** प्रसिद्ध है। इस मन्दिर में एक ही अक्ष पर दो गर्भगृह बने हैं। गर्भगृह पर मूर्तियों से अलंकृत पिरामिडाकार शिखर है। शिखर के आले नागर शैली की रेखाओं के समान प्रतीत होते हैं। मन्दिर का प्रवेश द्वार अलंकृत एवं सुरुचिपूर्ण है। 1112 ई. में बना हैदराबाद का **महादेव मन्दिर** भी इसी वर्ग का है। यह मन्दिर उच्च आधार पर निर्मित है जिसके गर्भगृह, अन्तराल, मण्डप तथा अर्धमण्डप एक ही अक्ष पर बने हैं। अर्धमण्डप 6 स्तम्भों पर आधारित है। मण्डप तथा अर्धमण्डप के अन्तराल में नन्दि की मूर्ति स्थापित है। चोलारी का **मल्लिकार्जुन** तथा गडक का **सरस्वती मन्दिर** भी इसी वर्ग के हैं। चालुक्यों ने वेसर शैली के विकास के अगले चरण में **ताराकार मन्दिर** स्थापत्य का विकास किया जिसका प्रमुख उदाहरण धारवाड़ के डम्वल नामक स्थान से प्राप्त **दोड्ड वासव मन्दिर** है। इस मन्दिर का वर्गाकार गर्भगृह एक केन्द्र पर घूमता हुआ बनाया गया है। मन्दिर का मण्डप भी ताराकृति में बना है। सम्भवतः यही मन्दिर कालान्तर में होयसल शासकों का प्रेरणा स्रोत रहा हो जिसे परिष्कृत और परिवर्द्धित कर उन्होंने वेसर शैली को नवीन रूप प्रदान किया।

वेसर शैली अपने विकास की चरम सीमा पर द्वारसमुद्र के होयसल शासकों द्वारा पहुँची। होयसल साम्राज्य की सीमा में वेसर शैली के 80 मन्दिर प्राप्त होते हैं। ये मन्दिर 8 से 10 फीट ऊँचे आधार पर स्थापित हैं। मन्दिरों में एक से अधिक ताराकार गर्भगृह बनाये गये हैं। गर्भगृह के बाहर का शेष भाग प्रदक्षिणा पथ के रूप में काम आता है। आधार पीठिका में अनेक क्षैतिज पट्टियाँ बनी हैं जो पशु एवं वानस्पति अलंकरणों से युक्त है। मण्डप में अनेक कक्ष बने हैं। गर्भगृह का शिखर पिरामिडाकार है जिसके शीर्ष पर छत्राकार स्तूपिका तथा गुम्बद बने हैं। हलेवीड़ का **होयसलेश्वर मन्दिर** इसका मुख्य प्रमाण है। यह मन्दिर 700 फीट लम्बे आधार पर अधिष्ठित है। आधार की नौ क्षैतिज पट्टियों में विभिन्न मुद्राओं में 2000 हस्ति मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। मन्दिर का गर्भगृह, स्तम्भ, कक्ष आदि सभी मूर्तियों से अलंकृत हैं। **पर्सी ब्राउन** के अनुसार **"हलेवीड़ु मन्दिर निश्चय ही भारतीय मन्दिर वास्तु कला की चरम परिणति है।"** 1268 ई. में सोमनाथपुरी में निर्मित **केशव मन्दिर** भी इसी वर्ग का है। यह मन्दिर ऊँचे आधार पर बना है जिसके मध्य में मण्डप तथा तीन ओर तीन ताराकार गर्भगृह बने हैं। मण्डप के सामने एक **सभामण्डप** बना है। **गर्भगृहों** पर पृथक् पृथक् ताराकार शिखर बने हैं जिनकी ऊँचाई 30 फीट है। इस प्रकार होयसलों के अपार वैभव तथा उनके द्वारा स्थापत्य को दिये गये संरक्षण तथा प्रोत्साहन के कारण वेसर शैली तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई

12
मुगल स्थापत्य
(Mughal Architecture)

भारत में स्थापत्य कला का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। भारत में आदिकाल से यह कला विविध रूपों तथा विशेषताओं के साथ विकसित और पल्लवित होती रही है। कलाओं के विकास में परिस्थितियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। 16वीं शताब्दी में भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई। मुगल काल सम्पन्नता, वैभव तथा विलासिता का युग था। मुगल शासक कला के शौकीन थे इसीलिये उनके काल में कलाओं का अत्यधिक विकास हुआ। कलाओं में भी स्थापत्य कला में उनकी अधिक रुचि थी।

मुगल शासकों के पूर्व तुर्की शासकों ने भी स्थापत्य कला को प्रोत्साहन दिया था। उस काल में अनेक मस्जिदों तथा मकबरों का निर्माण हुआ जिनमें हिन्दू मुस्लिम कला का समन्वय दृष्टिगत होता है। मुगल शासक भी स्थापत्य के प्रेमी थे। उनके शासन काल में अनेक कलापूर्ण भवनों का निर्माण हुआ। मुगल भवन निर्माण कला की शैली के विषय में विद्वानों में मतभेद है। इस सम्बन्ध में सर जॉन मार्शल ने कहा है कि "मुगल शैली के विषय में यह निश्चित करना कठिन है कि इस पर किन तत्वों का अधिक प्रभाव है? भारत में अनेक विभिन्नताओं के कारण शैलियों में विभिन्नता रही है; अतः मुगल शैली के आधार का ठीक-ठीक पता लगाना कठिन है।" फर्ग्युसन का मत है कि मुगल स्थापत्य कला पर विदेशी प्रभाव अधिक था परन्तु हैवेल की मान्यता है कि मुगल काल में मुगल शिल्पकारों की संख्या अत्यल्प थी। अतः मुगल शासकों को पूर्णतया भारतीय शिल्पकारों पर निर्भर रहना पड़ता था। अतः मुगल स्थापत्य कला पूर्णतया भारतीय हो गई थी। परन्तु यह दोनों मत एक पक्षीय हैं। अतः इस सम्बन्ध में डॉ. ईश्वरी प्रसाद का मत सही प्रतीत होता है। उनकी मान्यता है कि "मुगलकालीन कारीगरों ने विदेशी कला के सिद्धान्तों को इस प्रकार परिवर्तित तथा संशोधित रूप में अपनाया कि भारतीय कला के साथ मिलकर वे देशीय प्रतीत होने लगे। विदेशी कला जिसका अकबर के पूर्व स्थापत्य कला पर विशेष प्रभाव पड़ा, फारसी, अरबी तथा मध्य एशियाई शैलियों का सम्मिश्रण है।" इस विषय में उन्होंने आगे लिखा है कि "इस कला पर फारसी तथा हिन्दू बौद्धिक शैलियों का विशेष प्रभाव है। फारसी शैली का प्रभाव मुगल ईमारतों की सजावट, उच्चकोटि की नक्काशी और सुन्दर बेल-बूटों के काम

में झलकता है..............हिन्दू बौद्धिक शैली का प्रभाव मुगल इमारतों की दृढ़ता और भव्यता में स्पष्ट है।" मुगल स्थापत्य कला पर फारसी तथा भारतीय दोनों शैलियों के प्रभाव को स्वीकार करते हुये श्री रामधारी सिंह दिनकर ने लिखा है कि "भारतीय स्थापत्य में प्राणवत्ता, पौरुष तथा वैराट्य था। ईरानी कला के लालित्य तथा सूक्ष्मता का जब उसके साथ मिश्रण हुआ, तो एक नई कला का जन्म हो गया जो अत्यन्त मनोहर और अपूर्व थी।........ "मदुरा, तंजौर, भुवनेश्वर और बोधगया में हिन्दू स्थापत्य का जो पौरुष, प्राणवत्ता और वैराट्य साकार हैं, फतेहपुर-सीकरी, दिल्ली और आगरा में वही ईरानी लालित्य और प्रगतिमयता को अपनी गोद में उठाये हुये हैं। कहते हैं मुगल निर्माता निर्माण तो विश्वकर्मा की तरह करते थे, किन्तु समाप्ति उनकी जौहरियों की तरह होती थी। किन्तु यह विश्वकर्मा भारत का ही था केवल जौहरी को ही हम ईरानी कह सकते हैं। अतएव इस कहावत को बदलकर इस प्रकार ऐसे रखना चाहिये कि विश्वकर्मा के समान विराट निर्माण करने की क्षमता हिन्दुओं में थी और जौहरियों की तरह समाप्त करने की कला में मुसलमान प्रवीण थे। मुगल स्थापत्य में हम जो चमत्कार देखते हैं वह इसी विश्वकर्मा और जौहरी के मिलन का चमत्कार है।"

मुगल कालीन स्थापत्य की विशेषतायें:—

प्रत्येक युग की कला की कुछ अन्तर्निहित विशेषतायें होती हैं। मुगल स्थापत्य की आधारभूत विशेषता समन्वय है। उसमें हिन्दू तथा ईरानी शैली का गहरा समन्वय दिखाई देता है। मुगल काल में बनी इमारतों में विशाल गुम्बद दिखाई देते हैं यद्यपि मुगलों से पूर्व भी इमारतों पर गुम्बद बनाने की परम्परा प्रचलित थी किन्तु वे गुम्बद इतने विशाल तथा आकर्षक नहीं थे। मुगल काल में बने गुम्बद कलात्मक ढंग से बाहर की ओर उभारे गये है तथा इनकी मेहरावें विविध प्रकार से अलंकृत हैं। इस युग की अधिकांश इमारतों के निर्माण में लाल पत्थर का प्रयोग किया गया है। आगे चलकर इमारतों को सुन्दर और आकर्षक बनाने के लिये सफेद संगमरमर का प्रयोग किया जाने लगा। मुगलकालीन इमारतों में मीनारों के साथ छोटी-छोटी बुर्जियाँ भी बनाई जाती थी तथा भवनों के दरवाजे आकर्षक खुदाई और पच्चीकारी से अलंकृत किये जाते थे।

मुगलकाल के अन्तर्गत 16वीं शताब्दी से लेकर 18वीं शताब्दी ई. के आरम्भ तक स्थापत्य कला का विकास हुआ। उसे विभिन्न शासकों के सन्दर्भ में निम्नलिखित प्रकार से रखा जा सकता है—

(1) बाबरयुगीन स्थापत्य कला
(2) हुमायूँ युगीन स्थापत्य कला
(3) शेरशाह युगीन स्थापत्य कला
(4) अकबरयुगीन स्थापत्य कला
(5) जहाँगीरयुगीन स्थापत्य कला

(6) शाहजहांयुगीन स्थापत्य कला

(7) औरंगजेबयुगीन स्थापत्य कला

(8) परवर्ती मुगल स्थापत्य कला

बाबरयुगीन स्थापत्य कला—बाबर भारत में मुगल साम्राज्य का संस्थापक था। उसे भारत में बनी हिन्दू तथा तुर्क एवं अफगान इमारतों में कोई आकर्षण नहीं लगा। उसके विचार में भारतीय स्थापत्य कला निम्न कोटि की थी किन्तु फिर भी ग्वालियर के मानसिंह तथा विक्रमाजीत द्वारा बनवाये गये महलों से वह काफी प्रभावित हुआ था। अतः जब उसने अपने लिये महल बनवाये तो वह महल उसके लिये आदर्श के प्रतीक बन गये। किन्तु घटिया निर्माण सामग्री के कारण यह समय के आघातों को सहन नहीं कर सके और नष्ट हो गये। अपने अल्प शासन काल में बाबर अधिक भवनों का निर्माण नहीं करवा पाया। अतः उस द्वारा बनवाई गई इमारतों में अब दो मस्जिदें ही शेष हैं—प्रथम पानीपत की 'काबुली बाग मस्जिद' और द्वितीय रुहेलखण्ड में सम्भल की 'जामा मस्जिद'। इसके अतिरिक्त उसने एक और मस्जिद अयोध्या में बनवाई थी। इन तीनों मस्जिदों में आकार की विशालता के अलावा स्थापत्य की दृष्टि से अन्य कोई आकर्षण तथा विशेषता नहीं है।

हुमायूँयुगीन स्थापत्य कला—हुमायूँ कला प्रेमी शासक था। किन्तु उसका अधिकांश जीवन अत्यन्त विषम परिस्थितियों तथा युद्धों में व्यतीत हुआ था। इस कारण वह अधिक नवीन इमारतों का निर्माण नहीं करवा सका। हुमायूँ द्वारा बनवाई दो इमारतों के अवशेष मिलते हैं। प्रथम उसने दिल्ली में 'दीनपनाह' महल का निर्माण करवाया था। यह महल शीघ्रता में बनवाया प्रतीत होता है। सम्भवतः शेरशाह ने इसे नष्ट कर दिया था। आगरा तथा फतेहाबाद (हिसार) में उसने दो मस्जिदों का निर्माण करवाया था जिनके अब केवल खण्डहर मिलते हैं। फतेहाबाद की मस्जिद ईरानी शैली में निर्मित है। इसकी ईंटों पर पच्चीकारी की गई है। यह इमारतें न तो सुन्दर हैं और न ही टिकाऊ। अतः स्थापत्य की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण नहीं हैं।

शेरशाहयुगीन स्थापत्य कला—मुगल साम्राज्य के सूर्य को अपूर्व आवरण से आच्छादित कर कुछ काल के लिये विलुप्त कर देने वाला अफगान शासक शेरशाह एक कुशल विजेता और प्रशासक होने के साथ महान् निर्माता भी था। उसने अनेक भवनों का निर्माण करवाया जिसमें पंजाब, रोहतास तथा मकोत के किले उल्लेखनीय हैं। शेरशाह द्वारा बनवाई गई इमारतों में दो विशेष प्रसिद्ध है। प्रथम दिल्ली के निकट बनवाई गई मस्जिद 'कला-ए-कुहन' अपनी स्थापत्य सम्बन्धी विशेषताओं के कारण उत्तरी भारत की प्रमुख इमारतों में मानी जाती है। इसके गुम्बद, प्रवेशद्वार तथा मीनारों में ईरानी प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगत होता है। इमारत का शेष भाग भारतीय स्थापत्य शैली का प्रतीक है। इस प्रकार यह मस्जिद ईरानी-भारतीय

कला के समन्वय का प्रमुख उदाहरण है। द्वितीय 'सहसराम का मकबरा' है। यह अत्यन्त प्रभावशाली और आकर्षक है। इसका निर्माण एक कृत्रिम झील के मध्य किया गया है। फर्ग्युसन के अनुसार इस पर फारसी शैली का प्रभाव अधिक है। इसका बाहरी भाग मुस्लिम शैली से प्रभावित है किन्तु आन्तरिक भाग हिन्दू शैली के स्तम्भों से अलंकृत है। इस मकबरे के बारे में इतिहासकारों का मत है कि "शेरशाह का मकबरा स्थापत्यकला के विकास के इतिहास में तुगलक सुल्तानों के समय की भारी तथा भद्दी इमारतों और शाहजहाँ की बनवाई हुई सुन्दर इमारतों के बीच की कड़ी है।" इस मकबरे के बारे में वी. ए. स्मिथ का कथन है कि "सहसराम में शेरशाह का मकबरा..........भारत की श्रेष्ठ इमारतों में से एक है। अपनी शोभाश्री के लिए उत्तर भारत की प्राथमिक इमारतों में यह मकबरा अपनी सानी नहीं रखता।" कनिंघम ने तो इसे ताजमहल से भी सुन्दर माना है।

अकबर युगीन स्थापत्य कला—मुगलकालीन स्थापत्य कला का वास्तविक प्रारम्भ अकबर के युग से होता है। अकबर ने अन्य कलाओं की भांति स्थापत्य को भी संरक्षण और प्रोत्साहन दिया। भवन निर्माण कला के प्रति अकबर की रुचि के सम्बन्ध में अबुल फजल ने लिखा है कि "शहंशाह भव्य भवनों की योजना बनाते हैं और अपने मस्तिष्क तथा हृदय की रचना को पाषाण तथा मिट्टी के वस्त्र पहनाते हैं।" अकबर एक राष्ट्रीय शासक था। उसका हिन्दू तथा मुस्लिम किसी सम्प्रदाय के प्रति विशेष झुकाव नहीं था। वह प्रत्येक क्षेत्र में गुण ग्राह्यता का पक्षपाती था। अतः स्थापत्य कला के क्षेत्र में उसने हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों सम्प्रदायों की शैलियों में समन्वय करने का प्रयत्न किया। इस संबंध में फर्ग्युसन ने लिखा है कि "अकबर के चरित्र में कोई चीज इतनी उल्लेखनीय नहीं है जितनी की सहिष्णुता जिससे उसके सभी कार्य प्रभावित थे। उसके हृदय में हिन्दू प्रजा के लिए भी वैसा ही सच्चा प्रेम और प्रशंसा थी जैसाकि अपने धर्मावलम्बियों के प्रति थी.......वह उनकी कलाओं को भी उतना ही चाहता था जितना कि अपनी कला को। इसके फलस्वरूप उसकी कृतियों में दोनों शैलियों का सामंजस्य हुआ।" अकबर के काल में बनी इमारतों पर हिन्दू स्थापत्य शैली का अधिक प्रभाव है। डॉ. ईश्वरीप्रसाद के अनुसार "उसके भवनों को देखने से ज्ञात होता है कि राज्य में भारतीय कला का अधिक बोलबाला था.......अकबर के राज्य में हिन्दुओं को धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में काफी स्वतन्त्रता थी और शिल्प के क्षेत्र में भी उन्हें पूर्ण अवसर मिला।" अकबर स्वयं स्थापत्य शैलियों का ज्ञाता था। अतः इमारतों के निर्माण के समय वह कारीगरों को महत्वपूर्ण सुझाव दिया करता था। अकबर के काल में बनी सभी इमारतों में प्रायः लाल पत्थर का प्रयोग किया गया है जिनकी सजावट के लिये कहीं-कहीं संगमरमर का भी प्रयोग किया गया है।

अकबर के काल में अनेक इमारतों का निर्माण हुआ। जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं।

(1) **हुमायूँ का मकबरा**—अकबर के काल में बनी पहली इमारत हूमायूँ का मकबरा है जिसका निर्माण अकबर की सौतेली माँ हाजी बेगम ने करवाया था। यह मकबरा 156 फीट वर्गाकार है। मकबरे का गुम्बद काफी विशाल है जो जमीन से 140 फीट ऊँचा है। गुम्बद के चारों ओर खम्भों पर आधारित गुम्बदाकार छतरियां बनी हैं। मकबरे की इमारत के चारों तरफ उद्यान हैं। हाजी बेगम का ईरानी स्थापत्य के प्रति विशेष झुकाव था तथा मकबरे का प्रधान कारीगर मिर्जा गयास भी ईरानी था। इस कारण स्थापत्य की दृष्टि से इस मकबरे पर ईरानी शैली का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है। इस मकबरे के ऊपरी भाग पर ईरानी शैली तथा निचले भाग पर भारतीय शैली का प्रभाव दिखाई देता है।

(2) **आगरे का किला**—अकबर के काल में बना आगरे का लाल किला स्थापत्य की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण इमारत है। इसमें हिन्दू-ईरानी स्थापत्य शैलियों का सुन्दर समन्वय दिखाई देता है। यह किला डेढ़ मील के घेरे में विस्तृत है तथा इसकी दीवारें 70 फीट ऊँची है। किले की सुरक्षा के लिये दीवार के चारों ओर गहरी खाई खुदी है। इस किले में पहले चार प्रवेश द्वार थे जिनमें से दो बाद में बंद कर दिये गये थे। अब इसमें दो दरवाजे हैं—प्रथम अमरसिंह दरवाजा तथा द्वितीय, दिल्ली दरवाजा। दिल्ली दरवाजा मुख्य प्रवेश द्वार है। इस दरवाजे की प्रशंसा करते हुये पर्सी ब्राउन ने कहा है कि **"निस्सन्देह ही यह भारत के सबसे अधिक प्रभावशाली दरवाजों में है।"** सम्पूर्ण किला लाल पत्थरों से बना है। किले की बाहरी दीवार अत्यन्त सुदृढ़ है। किले में 500 से अधिक भवन बने हुए हैं। कालांतर में शाहजहाँ ने कुछ भवनों को गिराकर उनके स्थान पर संगमरमर के मण्डपों का निर्माण करवाया था। आगरे के किले में स्थित अकबरकालीन इमारतों में **'जहाँगीरी महल' तथा 'अकबरी महल'** प्रमुख हैं—

जहाँगीरी महल—यह महल शहजादा जहाँगीर के रहने के लिए बनवाया गया था। जहाँगीरी महल 249 फीट लम्बा तथा 260 फीट चौड़ा है। इसके मध्य में चौकोर आंगन है जिसके चतुर्दिक दो मंजिले कमरे बने हैं। महल का प्रवेश द्वार नुकीले डाटदार दरवाजे में बना है जिसमें कहीं-कहीं जड़ाई अलंकृत है। सम्पूर्ण महल लाल पत्थर से बना है किन्तु सजावट के लिए सफेद संगमरमर का भी प्रयोग किया गया है। महल की कड़ियां और तोड़े काफी आकर्षक हैं। कमरों की छतें चपटी हैं। स्थापत्य की दृष्टि से सम्पूर्ण जहाँगीरी महल हिन्दू स्थापत्य शैली से प्रभावित है। महल के स्तम्भों तथा छोटी मेहराब पंक्तियों पर हिन्दू प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। कतिपय विद्वान जहाँगीरी महल को हिन्दू-मुस्लिम स्थापत्य का आदर्श प्रतीक मानते हैं। इस सम्बन्ध में **डॉ. समर बहादुर सिंह** ने कहा है कि **"हिन्दू-मुस्लिम दोनों शैलियों में समन्वय लाने का जितना सुन्दर प्रयास**

जहाँगीरी महल में हुआ, उतना अभी तक कदाचित अफगान और मुगलों के किसी भवन में नहीं हुआ था।"

अकबरी महल—आगरे के किले में जहाँगीरी महल के दाहिनी ओर एक इमारत है जो अब जीर्ण-शीर्ण हो चुकी है। इसे 'अकबरी महल' कहा जाता है। स्थापत्य की दृष्टि से यह इमारत जहाँगीरी महल के अनुरूप थी। इस महल के बुर्ज भारतीय स्थापत्य की बंगाली शैली में बने हैं तथा सम्पूर्ण इमारत सजावट रहित है।

(3) इलाहबाद का किला—अकबर ने 1583 ई. में इस किले का निर्माण करवाया था। यह किला 3,000 फीट के घेरे में विस्तृत है। इसका अधिकांश भाग अब नष्ट हो चुका है। किले के भीतर 40 स्तम्भों पर आधारित एक राजप्रसाद बना है जिस पर चबूतरे के आकार की छत बनी है। छत के ऊपर छतरियाँ बनाई गई हैं। सम्पूर्ण महल भारतीय शैली पर निर्मित दिखाई देता है।

(4) लाहौर का किला—आगरे के किले के निर्माण के साथ ही अकबर ने लाहौर में भी किला बनवाया था। लाहौर के किले का स्थापत्य आगरा के किले के अनुरूप ही है किन्तु सजावट व आकर्षण की दृष्टि से 'लाहौर का किला आगरा के किले की अपेक्षा श्रेष्ठ है। इसके तोड़ों पर शेर तथा हाथी की मूर्तियां तथा छत की कॉर्निस के नीचे भँवरों के चित्र उत्कीर्ण हैं। इस प्रकार यह किला हिन्दू शैली से निर्मित दिखाई देता है।

(5) फतेहपुर सीकरी—अकबरकालीन स्थापत्य कला की महत्वपूर्ण जानकारी फतेहपुर-सीकरी की इमारतों से मिलती हैं। फतेहपुर-सीकरी आगरा से पश्चिम में 26 मील दूर स्थित है। अकबर ने 1569 ई. में सीकरी के निकट एक पहाड़ी पर फतेहपुर-सीकरी नामक नगर की नींव डाली थी। यह पहाड़ी दो मील लम्बी और एक मील चौड़ी है। फतेहपुर-सीकरी की इमारतों के स्थापत्य की मुख्य विशेषता यह है कि यहाँ हिन्दू-मुस्लिम शैलियों के समन्वय का उत्कृष्ट रूप दृष्टिगत होता है। इस समन्वय के कारण ही **फर्ग्युसन** ने कहा है कि फतेहपुर-सीकरी **"उस महान् व्यक्ति (अकबर) की परछाईं है जिसने इसको बनवाया था।"** फतेहपुर-सीकरी से प्राप्त भवनों को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—(1) विशाल प्रासाद, (1) निवास स्थान, (3) कार्यालय और (4) धार्मिक भवन। फतेहपुर-सीकरी की प्रमुख इमारतें निम्नलिखित हैं—

(i) दीवाने-आम—फतेहपुर सीकरी के द्वार में प्रविष्ठ होने पर नौबतखाने के आगे दीवाने आम स्थित है। यह ऊँची नींव पर बना वर्गाकार कक्ष है जिसकी छत लाल पत्थरों से बनी है। इसके सामने 360 फीट लम्बा तथा 180 फीट चौड़ा चबूतरा बना हुआ है जिसके तीन ओर मेहराबदार बरामदे बने हैं। यहाँ बैठकर अकबर न्याय करता था। दीवाने आम के एक ओर सराय, बाग तथा कार्यालय

तथा दूसरी ओर दीवाने खास स्थित है। इसके पश्चिम की ओर जामा-मस्जिद बनी है।

(ii) दीवाने-खास—यह अकबर का व्यक्तिगत भवन था। स्थापत्य की दृष्टि से यह श्रेष्ठ इमारत है। सम्पूर्ण इमारत आयताकार रूप में दो मंजिली है। इसकी छत समतल है जिसके चारों कोनों पर खम्भेनुमा छतरी बनी है। भवन के मध्य में एक स्तम्भ पर वृत्ताकार मंच बना हुआ है जो 36 गूँथे हुये तोड़ों पर आधृत है। मंच चार पत्थरों के पुल द्वारा भवन की गैलरी से जोड़ा गया है। मंच का स्तम्भ हिन्दू कला का प्रतीक है।

(iii) जोधाबाई का महल—अकबर ने अपनी राजपूत बेगम जोधाबाई के लिये इसका निर्माण करवाया था। यह दो मंजिला भवन वर्गाकार है जो 230 फीट लम्बा तथा 215 फीट चौड़ा है। इसकी दीवारें 32 फीट ऊँची हैं। महल के पूर्व का प्रवेश द्वार गोखों तथा मण्डपों से अलंकृत है। भवन के दरवाजे वर्गाकार हैं। महल के चारों कोने गुम्बदों से आच्छादित हैं। महल के आन्तरिक भवन समकोणिय है। इसके ऊपरी मंजिल के कमरे काफी बड़े हैं। महल के आले, तोड़े तथा स्तम्भों पर उत्कीर्ण घण्टी तथा जंजीर की बनावट स्थापत्य की हिन्दू शैली को प्रकट करती है। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव, जोधाबाई के महल के आलों, ब्रेकटों, स्तम्भों, प्रवेशद्वारों आदि पर पश्चिमी भारत के हिन्दू मन्दिरों के स्थापत्य का प्रभाव मानते हैं। हैवेल तथा पर्सी ब्राउन का भी विचार है कि इस महल का निर्माण गुजरात के हिन्दू कारीगरों द्वारा किया गया था। जोधाबाई का महल स्थापत्य कला का अनुपम उदाहरण है।

(iv) तुर्की सुल्ताना का महल—यह इमारत किसके लिये बनी ? इस सम्बन्ध में मतभेद है। पर्सी ब्राउन इस इमारत को स्थापत्य कला का हीरा मानते हैं। यह एक मंजिल की इमारत है जिसके आगे एक बरामदा है। भवन की दीवारें शेर, चीते आदि की आकृतियों से अलंकृत है जिनमें अधिकांश औरंगजेब द्वारा नष्ट कर दी गई। भवन की तिरछी छत पर आकर्षक ढंग से चमकदार नीला रंग किया गया है। पर्सी ब्राउन के अनुसार इस भवन का निर्माण पंजाब के कारीगरों द्वारा किया गया था।

(v) पंच महल—फतेहपुर सीकरी का पंच महल बौद्ध या हिन्दू शैली की पाँच मंजिली इमारत है। पाँचों मंजिले सीढ़ियों द्वारा एक-दूसरे से सम्बन्धित है। सबसे नीचे की मंजिल सबसे बड़ी है। और ऊपर की मंजिलें क्रमशः छोटी होती चली गई हैं। नीचे की मंजिल में 48 स्तम्भ है तथा सबसे ऊपर की पांचवीं मंजिल में मात्र 4 स्तम्भ हैं। प्रत्येक मंजिल के स्तम्भ योजनाबद्ध तरीके से बने हैं किन्तु वे परस्पर भिन्नता रखते हैं। स्तम्भों पर कलश, घण्टी तथा रुद्राक्ष उत्कीर्ण है जो हिन्दू मन्दिर शैली के प्रतीक हैं। पाँचवी मंजिल पर बना गुम्बद इस्लामी कला का प्रतीक है। इस प्रकार यह भवन हिन्दू-मुस्लिम स्थापत्य शैलियों के समन्वय का उदाहरण है।

(vi) टकसाल—दीवाने खास के उत्तर में टकसाल स्थित है। स्थापत्य की दृष्टि से यह भवन सामान्य है। इसकी छत समतल है। भवन की दीवारों में अनेक अलमारियाँ बनी हुई हैं। सम्भवतः इनमें सिक्के तथा जवाहरात आदि रखे जाते थे।

(vii) ज्योतिष भवन—टकसाल के पश्चिम में वर्गाकार कनोपी बनी है। यह राज ज्योतिषी के बैठने का स्थान था। यह भवन तीन ओर से खुला हुआ है। स्थापत्य की दृष्टि से इस भवन पर गुजरात की हिन्दू शैली अथवा जैन मन्दिर शैली का प्रभाव दिखाई देता है।

(viii) विद्यालय—पंच महल से थोड़ा आगे एक विद्यालय की इमारत बनी है। यह भवन दो मंजिला है जिसकी छतें चौरस हैं। इस पर हिन्दू शैली का प्रभाव दिखाई देता है।

(ix) बीरबल महल—यह महल अकबर के नवरत्नों में से महेशदास बीरबल के लिए बनवाया गया था। यह दो मंजिला भवन है जिसकी प्रथम मंजिल पर चार कमरें, दो ड्योढियाँ तथा दूसरी मंजिल पर दो कमरे बने हैं। ऊपर की मंजिलों की छतों पर गुम्बद बने हैं। ड्योढियों की छतें पिरामिडाकार है। महल के तोड़ों पर कलापूर्ण अलंकरण किया गया है। बीरबल का महल फतेहपुर-सीकरी की महत्वपूर्ण इमारत है।

(x) मरियम का महल—जोधाबाई के महल के दूसरी ओर मरियम का महल स्थित है। मरियम अकबर की प्रमुख राजपूत रानी तथा जहाँगीर की माँ थी जिसे 'मरियम' की उपाधि दी गई थी। यह भवन दो मंजिली इमारत है जिसमें दो कमरे बने हैं। बरामदे के स्तम्भों के शीर्षों पर हाथी, चीते तथा बन्दर उत्कीर्ण किये गये हैं जो इसके सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं। महल के आन्तरिक भाग में लाल, नीले तथा सुनहरे रंग से मानवीय चित्र बने हैं।

(xi) सराय तथा हिरन मीनार—फतेहपुर-सीकरी के दिल्ली द्वार के निकट देश-विदेश के व्यापारियों के ठहरने के लिये एक सराय का निर्माण किया गया था। यह सराय एक गैलेरी द्वारा महल से सम्बद्ध थी। अब यह महल खण्डहर हो चुका है। सराय के निकट 90 फीट ऊँची गोलाकार मीनार है जिसे हिरन मीनार कहा जाता है। यह मीनार प्रासाद श्रृंग द्वारा आच्छादित है।

(xii) जामा-मस्जिद—सन् 1575 ई. में अकबर ने फतेहपुर-सीकरी में विशाल जामा मस्जिद का निर्माण करवाया। यह मस्जिद 359 फीट 10 ईन्च लम्बे तथा 248 फीट 9 ईन्च चौड़े चबूतरे पर स्थित है। मुख्य मस्जिद का भवन आयताकार है जिसकी लम्बाई 260 फीट तथा चौड़ाई 66 फीट है। मस्जिद के दक्षिण और पश्चिमी दिशा में दो द्वार हैं। मस्जिद के मध्य में चौड़ा सहन है जो

तीन ओर से स्तम्भों पर आधृत है। मस्जिद के ऊपर तीन गुम्बद बने हैं। इनमें मध्य के बड़े गुम्बद का व्यास 41 फीट है तथा दोनों ओर के छोटे गुम्बद 25 फीट व्यास के हैं। मध्य गुम्बद के नीचे मुख्य उपासना स्थल है जहाँ तक पहुँचने के लिये तीन द्वार पार करने पड़ते हैं। मस्जिद की स्थापत्य योजना ईरानी शैली पर आधारित है किन्तु इसका निर्माण हिन्दू शैली में हुआ है। मस्जिद के तोड़े हिन्दू शैली से निर्मित है। पर्सी ब्राउन के अनुसार इस मस्जिद के सभी गुम्बद हिन्दू कला से प्रभावित हैं। इस भवन की खुदाई तथा चित्रकारी उच्च स्तर की है। स्थापत्य की दृष्टि से यह इमारत अकबर कालीन इमारतों में श्रेष्ठ मानी जाती है।

(xiii) **बुलन्द दरवाजा**—फतेहपुर-सीकरी का बुलन्द दरवाजा मुगलकालीन स्थापत्य कला का अनुपम उदाहरण है। यह दरवाजा भूमि से 176 फीट ऊँचा है। सीढ़ियों से इसकी ऊँचाई 134 फीट है। यह दरवाजा पूर्ण इमारत है। इसमें अनेक कमरे तथा हॉल बने हैं। बाह्य रूप से यह दरवाजा फारसी शैली का प्रतीत होता है परन्तु स्थापत्य की दृष्टि से इसकी आत्मा हिन्दू शैली से प्रभावित है। मुख्य दरवाजे की नक्काशी तथा दरवाजे के ऊपर बनी छतरियाँ हिन्दू कला की प्रतीक हैं। दरवाजे का आन्तरिक तथा बाह्य भाग बौद्ध शैली के समान दृष्टिगत होता है। बुलन्द दरवाजे के बारे में कहा गया है कि "बुलन्द दरवाजे में शिल्प कला का उत्कृष्ट नमूना दिखाई देता है, वैसा देश में अन्यत्र नहीं है।" पर्सी ब्राउन के शब्दों में "बुलन्द दरवाजा एक महान् एवं प्रभावशाली कृति है।"

(xiv) **शेख सलीम चिश्ती का मकबरा**—फतेहपुर सीकरी की यह इमारत श्वेत संगमरमर की बनी हुई है। इसकी नींव सन् 1571 ई. में रखी गई थी। वी. ए. स्मिथ तथा पर्सी ब्राउन की मान्यता है कि अकबर के काल में यह मकबरा लाल पत्थर से बनाया था परन्तु जहांगीर तथा शाहजहां के काल में इसे श्वेत संगमरमर में परिवर्तित कर दिया गया। यह मकबरा वर्गाकार है जिस पर खरबूजे के आकार का गुम्बद बना है। समाधि के स्तम्भ तोड़ों पर आधारित हैं जिन पर आकर्षक खुदाई की गई है। मकबरे की भीतरी भाग अत्यन्त सुन्दर है। फर्श अनेक रंगों से अलंकृत है। बरामदे की जालियाँ भी आकर्षक हैं। इस मकबरे के स्थापत्य के सम्बन्ध में डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि "इस मकबरे की मुख्य विशेषतायें इसके सजावट पूर्ण स्तम्भ और इसके चौड़े छज्जे का सहारा देने वाले आलम्ब हैं।" इस मकबरे का स्थापत्य हिन्दू स्थापत्य से प्रभावित है। वी. ए. स्मिथ के अनुसार "समाधि का सम्पूर्ण ढांचा हिन्दू भावनाओं से ओत-प्रोत है।"

फतेहपुर सीकरी की विभिन्न इमारतें स्थापत्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। यहाँ की स्थापत्य कला की प्रशंसा करते हुये **पर्सी ब्राउन** ने लिखा है कि "फतेहपुर सीकरी जैसा कोई निर्माण कार्य न पहले हुआ था और न फिर कभी होगा।" फतेहपुर सीकरी की इमारतों के स्थापत्य पर हिन्दू शैली का पर्याप्त प्रभाव था। इस सम्बन्ध में **पर्सी ब्राउन** ने लिखा है कि "फतेहपुर सीकरी के निर्माण में लगे राज मजदूरों में हिन्दुओं की संख्या अधिक थी। इस कारण हमें इसमें हिन्दू स्थापत्य की छाप साफ तौर पर दिखाई देती है। श्री रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार "फतेहपुर सीकरी के किले में जो विराटता है, वह हिन्दू वास्तु की स्वाभाविक विराटता का प्रभाव है।" इस सम्बन्ध में डॉ ए. एल. **श्रीवास्तव** ने लिखा है कि "सीकरी की स्थापत्य कला की मुख्य विशेषता उसमें तोड़ा, ब्रेकेट एवं पटी छतों की हिन्दू शैली और मेहराबी-गुम्बदी मुस्लिम शैली का एक रूपी समन्वय है। वैसे इसमें हिन्दू शैली की प्रधानता है लेकिन वह और विदेशी शैलियों से जो सुन्दर प्रभाव उत्पन्न होता है, उसे नष्ट नहीं करती। यहाँ की इमारतों में गुम्बदों का भी भारतीयकरण कर दिया था।" डॉ. ईश्वरीप्रसाद भी अकबर कालीन स्थापत्य कला पर हिन्दू शैली के प्रभाव को स्वीकार करते हैं उनकी मान्यता है कि मरियम महल की खिड़कियों, छतों तथा स्तम्भों पर राजपूताना की कला का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

जहाँगीरयुगीन स्थापत्य कला—अकबर का उत्तराधिकारी जहाँगीर कला-प्रेमी था। किन्तु उसकी रुचि स्थापत्य की अपेक्षा चित्रकला में अधिक थी। अतः उनके शासन काल में बहुत कम भवनों का निर्माण हुआ। फिर भी जिन भवनों का निर्माण हुआ वे स्थापत्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। उसके काल में बनी प्रमुख इमारतें निम्नलिखित हैं—

अकबर का मकबरा—यह मकबरा आगरा से पाँच मील दूर आगरा-दिल्ली मार्ग पर सिकन्दरा गांव में स्थित है। इसका निर्माण कार्य अकबर के समय में ही आरम्भ हो गया था जिसे जहाँगीर ने पूरा करवाया। अकबर द्वारा बनवाये गये भवन के अनेक अंग जहाँगीर को पसन्द नहीं आये अतः उसने उन्हें तुड़वा कर दुबारा बनवाया। इस बात का उल्लेख उसने अपनी आत्मकथा **तुजुक-ए-जहाँगीरी** में किया है। इस भवन के निर्माण में 20 वर्ष लगे थे। यह मकबरा विशाल बाग के मध्य स्थित है। मकबरे का मुख्य भवन 339 फीट वर्ग में बना है जिसकी ऊँचाई 100 फीट है। मकबरे के चारों ओर 24 फीट ऊँची दाँतेदार किले की दीवार है। इस दीवार के चारों ओर चार द्वार हैं। दक्षिणी द्वार के अलावा तीन द्वार दिखावटी है। दक्षिणी द्वार ही मुख्य द्वार है जो संगमरमर की पच्चीकारी से अलंकृत है। द्वार के चारों कोनों पर श्वेत संगमरमर की आकर्षक मीनारें बनी हैं। **पर्सी ब्राउन** के अनुसार "सम्पूर्ण उत्तरी भारत में इतनी आकर्षक मीनारें इससे पूर्व कभी नहीं बनी।" इन मीनारों के प्रथम मंजिल के तोड़े मुस्लिम शैली तथा दूसरी एवं तीसरी मंजिल के तोड़े हिन्दू शैली के प्रतीक हैं। बाग की दीवारों के चारों कोनों पर अष्टकोणीय

बुर्ज बने थे जो छतरी वाले गुम्बदों से युक्त थे। इनमें अब तीन शेष हैं। सम्पूर्ण मकबरा बौद्ध विहार शैली पर आधारित है। मकबरा पाँच वर्गाकार चबूतरों पर बना है जो ऊपर की ओर क्रमशः छोटे होते गये हैं। सबसे ऊपर की मंजिल संगमरमर से बनी है। इस मकबरें की कब्र पर गुम्बद नहीं बना है। ऊपरी मंजिल के घेरे की दीवारों पर जाली का अलंकरण हैं जो हिन्दू शैली का प्रतीक है। घेरे के मध्य खुले आंगन में नक्काशीयुक्त कल्पित कब्र है। घेरे की दीवारें ज्योमिति डिजाइनों से सजी हैं। घेरे की दीवार में 36 मेहराबदार द्वार हैं। दो मेहराबों के मध्य की दीवार पर फारसी में पद्य उत्कीर्ण हैं।

फर्ग्युसन की मान्यता है कि कब्र के ऊपर गुम्बद के बिना यह इमारत अपूर्ण है जबकि पर्सी ब्राउन इसे पूर्ण इमारत मानते हैं। अनेक विद्वानों ने अकबर के मकबरे की प्रशंसा की है। हैवल के अनुसार "भारत के महान् शासकों की रचनाओं में अकबर का मकबरा महत्वपूर्ण है।" स्मिथ के अनुसार अकबर का मकबरा स्थापत्य की दृष्टि से अद्वितीय है। सैयद मुहम्मद लतीफ, हैवेल तथा, डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव आदि विद्वान भी इस मकबरे को अकबर की महानता तथा विविध स्थापत्य शैलियों के समन्वय का प्रतीक मानते हैं।

एतमादउद्दौला का मकबरा—इस मकबरे का निर्माण जहाँगीर की बेगम नूरजहाँ ने अपने पिता की स्मृति में करवाया था। यह यमुना नदी के बांये किनारे पर स्थित है। सम्पूर्ण मकबरा 540 फीट वर्ग के दीवार युक्त अहाते से घिरा है। मुख्य मकबरा वर्गाकार दो मंजिला भवन है। जिसकी माप 70 फीट है। यह सफेद संगमरमर का बना है। इसके चारों ओर अष्ठकोणीय बुर्ज बने हैं। मकबरे का मुख्य हाल 22 फीट चार इंच वर्ग पर बना है। इस हाल का फर्श सफेद संगमरमर का है जिस पर कलात्मक पच्चीकारी की गई है। इसी हाल में एतमादउद्दौला तथा उसकी पत्नी की कब्रें बनी हैं। हाल में कुछ अन्य कमरे बने हैं। मकबरे की दूसरी मंजिल पर एक मण्डप है जिसमें वर्गाकार कक्ष बना है इन कक्ष की दीवार पर्दे के आकार की संगमरमर की जालियों से युक्त हैं। स्थापत्य की दृष्टि से यह मकबरा महत्वपूर्ण है। इसमें पहली बार पच्चीकारी की गई है। मकबरे के तोड़े, बेल-बूटें तथा जालियाँ हिन्दू शैली की प्रतीक हैं। मकबरे में संगमरमर के प्रयोग और कलात्मकता के कारण पर्सी ब्राउन ने इसकी काफी प्रसंशा की है।

मरियम की समाधि—सिकन्दरा में अकबर के मकबरे के निकट एक अन्य मकबरा मिला है कुछ विद्वान इसे सिकन्दर लोदी का मकबरा मानते हैं किन्तु इसके स्थापत्य के आधार पर अधिकांश विद्वान इसे मुगलकालीन निर्माण मानते हैं उनकी मान्यता है कि यह मकबरा जहाँगीर की माँ मरियम का है। यह मकबरा दो मंजिला है जिसके नीचे तहखाना बना है। सम्पूर्ण मकबरा लाल पत्थर तथा ईंटों से निर्मित है। मकबरे का मुख्य भवन 145 फीट वर्ग में बना है जिसकी ऊँचाई 39 फीट है। मकबरे के चारों ओर चार प्रवेश द्वार बने हैं। उत्तर का मुख्य प्रवेश द्वार तीन मेहराबों से युक्त है। मकबरे का तहखाना 19 फीट 6 इन्च वर्ग का है जिसमें प्रवेश के लिये चौकोर द्वार बना है। नीचे की मंजिल में पूर्व में

पश्चिम की ओर बनी गैलरी में तोरणयुक्त छतों वाले 40 कमरे बने हैं। मकबरे की दूसरी मंजिल की छत पर कल्पित कब्र बनी है। द्वार के शीर्ष पर आठ स्तम्भों पर आधारित मण्डप बने हैं। स्तम्भों के आधार व शीर्ष अलंकृत हैं। कोने के मण्डपों में पशु-आकृतियाँ उत्कीर्ण है। मकबरे के कोनों पर गोल गुम्बद वाले अष्ठ कोणीय बुर्ज बने हैं।

जहाँगीर का मकबरा—जहाँगीर का मकबरा लाहौर के निकट शाहदरा में स्थित है। इस मकबरे की योजना स्वयं जहाँगीर ने बनाई थी किन्तु इसका निर्माण नूरजहाँ ने करवाया था। यह मकबरा 1500 फीट के वर्गाकार उद्यान में स्थित है। उद्यान के चारों ओर ईंटों से निर्मित दीवार है जिसमें प्रवेश के लिये अनेक द्वार बने हैं। मकबरे का मुख्य भवन 325 फीट वर्ग में बना है जिसकी ऊँचाई 22 फीट है। मकबरे के चारों कोनों पर 100 फीट ऊँची अष्ठकोणीय मीनारें है। मकबरे के मध्य हाल में कब्र बनी हुई है। मकबरे की छत पर बना मण्डप अब नष्ट हो गया है। मकबरे की दीवारें सादा और अलंकरण रहित हैं।

शाहजहाँयुगीन स्थापत्य कला—मुगल सम्राट शाहजहाँ का युग मुगल साम्राज्य का सम्पन्नता और विलासिता का युग था। शाहजहाँ एक महान् निर्माता था। उसके काल में स्थापत्य कला अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच गई थी। इस सम्बन्ध में डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है कि **"मुगल काल का सबसे महान् निर्माता शाहजहाँ था। उसका राज्यकाल भारतीय स्थापत्य कला का के इतिहास में स्वर्ण युग के नाम से प्रसिद्ध है। भारतीय वैभव और कला का पूर्ण विकास इस सम्राट द्वारा बनवाये गये भव्य भवनों और मकबरों में छलकता है।"**

शाहजहाँ के युग की सम्पन्नता तथा उसकी कला मर्मज्ञता ने मुगल स्थापत्य कला को नवीन दिशा प्रदान की। शाहजहाँ के काल में बनी इमारतों में संगमरमर तथा नक्काशी का प्रचुर प्रयोग हुआ है। भवनों में स्वर्ण रंग का प्रयोग, सूक्ष्म नक्काशी तथा रत्नों और मणियों का सुन्दर जड़ाव शाहजहाँयुगीन स्थापत्य की प्रमुख विशेषता है। उसके काल में गुम्बद, तोड़ों आदि की बनावट में भी पर्याप्त परिवर्तन आ गया था। इस प्रकार शाहजहाँ के काल में स्थापत्य कला में एक नवीन शैली का विकास हुआ। शाहजहाँ के पूर्व अधिकांश इमारतें लाल पत्थर से बनी थी किन्तु शाहजहाँ को श्वेत संगमरमर से विशेष लगाव था। अतः उसके काल में अधिकांश इमारतें श्वेत संगमरमर से बनाई गईं। उसके काल में **लाल पत्थरों की दुनिया श्वेत संगमरमर में बदल गई।** शाहजहाँ द्वारा श्वेत संगमरमर के अधिक प्रयोग के सम्बन्ध में पर्सी ब्राउन ने कहा है कि **"जिस प्रकार आगस्टक की यह दम्भपूर्ण उक्ति है कि उसने रोम को ईंटों का बना हुआ पाया और संगमरमर का बनाकर छोड़ गया था। उसी प्रकार शाहजहाँ ने मुगल भवनों को लाल पत्थर से बना हुआ पाया था और संगमरमर का बना कर छोड़ गया।"**

शाहजहाँ की स्थापत्य शैली अपनी पूर्ववर्ती शैली से काफी भिन्न थी। अकबर के काल में बनी इमारतें भारतीय शैली के अधिक निकट थी परन्तु शाहजहाँ के काल में बनी इमारतों पर विदेशी शैली का अधिक प्रभाव है। अकबरकालीन स्थापत्य की विराटता तथा सादगी का स्थान शाहजहाँ के काल में सौन्दर्य और सूक्ष्मता ने ले लिया था। अकबर तथा शाहजहाँ के काल में बनी इमारतों के अन्तर को स्पष्ट करते हुये श्री वी. एन. लुणिया ने लिखा है "शाहजहाँ की इमारतें अकबर की इमारतों की अपेक्षा भव्यता और मौलिकता में निम्न कोटि की है, परन्तु सरसता, रमणीयता और सम्पन्न व कलापूर्ण अलंकरण में उच्चकोटि की हैं।.......... यदि अकबरकालीन इमारतों का सौन्दर्य विराट है तो शाहजहाँ की इमारतों का सौन्दर्य सूक्ष्म और कोमल है। यदि अकबरकालीन कला में महाकाव्य की विराट गरिमा और दिगन्त का विस्तार है तो शाहजहाँ की कला में अलंकृत गीतिकाव्य की रसात्मकता और सूक्ष्म चमत्कार है।" अकबरकालीन स्थापत्य पर जो हिन्दू शैली का प्रभाव था। वह शाहजहाँ के काल में समाप्त हो गया था।

शाहजहाँ के काल में स्थापत्य कला की नवीन शैली अस्तित्व में आई। यह नवीन शैली पूर्ववर्ती शैली से भिन्न तथा अनेक विशेषताओं से परिपूर्ण थी। शाहजहाँ के काल में बनी इमारतों की विशेषताओं के सम्बन्ध में डॉ. समर बहादुर सिंह ने लिखा है कि "शाहजहाँनी भवनों में देशी-विदेशी शैलियों का सामंजस्य था। कटावदार मेहराब, छरहरे खम्भें, बल्बनुमा गुम्बद, फौव्वारों का आयोजन आदि इस शैली की विशेषतायें थीं........... शाहजहाँ ने अलंकरण की विशिष्ठ शैली अपनाई जिसे पच्चीकारी कहते हैं। बेशकीमती रंग-बिरंगें प्रस्तर खण्डों को यथोचित मात्रा में उपयुक्त स्थानों पर विभिन्न रूपों में जड़ावट—यही वह अनूठी शैली थी।"

शाहजहाँ के काल में बने प्रमुख भवन निम्नलिखित हैं—

(1) आगरा के किले के भवन—शाहजहाँ को श्वेत संगमरमर से अधिक अनुराग था। अतः उसने आगरे के किले में अकबर द्वारा लाल पत्थर से बनवाई गई इमारतों को तुड़वा कर उनकी जगह श्वेत संगमरमर की इमारतें बनवाई शाहजहाँ द्वारा आगरे के किले में बनवाई गई प्रमुख इमारतें निम्नलिखित हैं—

(i) दीवाने आम—आगरे के किले के अमरसिंह दरवाजे से प्रवेश करने पर दूसरे आंगन में दीवाने आम स्थित है। शाहजहाँ ने 1628 ई. में इसका निर्माण कराया था। यह भवन 201 फीट लम्बा तथा 67 फीट चौड़ा है। इसकी छत दोहरे स्तम्भों पर आधारित है। ये स्तम्भ सुन्दर तथा कलापूर्ण मेहराबों से युक्त हैं। हाल के मध्य में संगमरमर के मण्डप में शाहीतख्त था। शाहजहाँ का शाही तख्त स्वर्ण से बना था इसे 'तख्ते ताउस' या 'मयूर सिंहासन' कहा जाता था। तख्त का मण्डप 12 स्तम्भों पर आधृत है। मण्डप के ऊपर हीरें जवाहरातों से दो मयूर आकृतियाँ बनी हैं। मण्डप के समीप जालीदार कक्ष बने हैं। दीवाने आम में शाही दरबार लगता था।

(ii) दीवाने-खास—यमुना नदी के तट की एक खुली छत पर श्वेत संगमरमर से बना दीवाने खास है। इसकी लम्बाई 64 फीट 9 इन्च, चौड़ाई 34 फीट तथा ऊँचाई 22 फीट है। इसके दो हॉल गैलेरी द्वारा आपस में जुड़े हैं। इसकी दीवारों पर आकर्षक फूल-पत्तियों का चित्रण है। भवन के स्तम्भों तथा द्वारों पर कलापूर्ण कटाव तथा नक्काशी की गई है। दीवाने खास मुगल सम्राटों का मन्त्रणा कक्ष था।

(iii) खास-महल—दीवाने खास से संलग्न यमुना तट की ओर खास महल है यह सम्राट का शयन कक्ष था। महल के कक्ष और मण्डप श्वेत संगमरमर के बने है। भवन के स्तम्भों, मेहराबों तथा दीवारों की सज्जा अत्यन्त आकर्षक हैं। शाही शयन कक्ष 78 फीट लम्बा तथा 31½ फीट चौड़ा है। शयन कक्ष के दोनों ओर मण्डप बने है। शयन कक्ष तथा मण्डपों की छतें फूल-पत्तियों की पच्चीकारी से अलंकृत हैं। महल के गोखों पर आकर्षक डिजाइनें बनाई गई हैं।

(iv) अंगूरी बाग—खास महल के सामने 235 फीट लम्बा तथा 170 फीट चौड़ा अंगूरी बाग है। बाग के निकट तीन कक्ष बने हैं। कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि ये अकबर द्वारा बनवाये गये थे जिसमें शाहजहाँ ने परिवर्तन करवाया था। कक्षों के सामने फव्वारे बने हुये हैं। यह कक्ष शाही बेगमों के निवास थे।

(v) मुसम्मन बुर्ज तथा झरोखा दर्शन—खास महल के उत्तर में श्वेत संगमरमर से बनी मुसम्मन बुर्ज हैं जिसे शाह बुर्ज भी कहा जाता है। यह बुर्ज चार मंजिली हैं। सबसे ऊपर की मंजिल नक्काशी से अलंकृत है। कहा जाता है कि शाहजहाँ ने अपने अन्तिम दिन इसी बुर्ज से ताज महल को निहारते हुये गुजारे थे।

खास महल तथा शाह बुर्ज के मध्य संगमरमर से बना झरोखा दर्शन स्थित है। यहाँ से प्रतिदिन सूर्योदय के कुछ समय बाद सम्राट अपनी जनता को दर्शन देता था।

(vi) मच्छी भवन—दीवाने आम के पीछे लाल पत्थरों से बना मच्छी भवन स्थित है। इसके मध्य में 180 फीट लम्बा तथा 165 फीट चौड़ा आंगन है। इसके चारों ओर की खुली गैलेरी में आकर्षक खम्भे उत्कीर्ण हैं। इसके चारों कोनों पर मीनारें बनी हैं। इस भवन के दक्षिण की ओर चार स्तम्भों पर आधारित श्वेत संगमरमर का मण्डप है। आंगन के मध्य संगमरमर के तालाब बने हैं जिनमें शाही परिवार के सदस्य मनोरंजन के लिये मछली का शिकार करते थे। मच्छी भवन के तीन ओर बनी विशाल इमारतों में सरकारी कार्यालय थे। अब यह भवन जीर्ण-शीर्ण हो चुका है।

(vii) शीशमहल—शीश महल दीवाने खास के नीचे स्थित है। यह भवन आकर्षक कांच, मोने तथा रंगीन पाषाणों से अलंकृत है। इसमें स्नान के लिये दो जल कुण्ड बने हैं जिन्हें नहर द्वारा भरा जाता था। दीवाने खास के सामने 75 फीट लम्बा तथा 15½ फीट चौड़ा एक अन्य हाल है। इस हाल में टर्किश हम्माम बना है। हम्माम तथा उसके कक्ष में कांच की सुन्दर पच्चीकारी की गई है। बड़े कक्ष में अनेक फव्वारे बने है।

(viii) व्यक्तिगत तथा नगीना मस्जिद—शाहजहाँ ने आगरा के किले में तीन मस्जिदें बनवाईं। खास महल के सामने श्वेत संगमरमर से बनी गुम्बद रहित मस्जिद सम्राट की व्यक्तिगत मस्जिद थी जहाँ वह अपनी प्रातःकालीन नमाज अदा करता था। मच्छी भवन के उत्तर-पश्चिम में श्वेत संगमरमर से बनी एक अन्य छोटी मस्जिद है जिसे नगीना मस्जिद कहा जाता है। यह शाही बेगमों के लिये बनवाई गई थी। इस मस्जिद के सामने फूलों का सुन्दर उद्यान बना है

(ix) मोती मस्जिद—यह दीवाने आम के उत्तर में स्थित है। यह मस्जिद एक खुली छत पर बनी है। इसका निर्माण 1654 ई. में पूर्ण हुआ था। मस्जिद 237 फीट लम्बी तथा 187 फीट चौड़ी है। इसका आंगन श्वेत संगमरमर से बना है। मस्जिद के समक्ष एक फव्वारा तथा धूपघड़ी बनी है। आंगन के चारों ओर गैलेरी बनी है जिसमें शाही स्त्रियों की उपासना के लिये कक्ष बने हैं। यह मस्जिद शाहजहाँकालीन स्थापत्य कला के चरम विकास का महत्वपूर्ण उदाहरण है। पर्सी ब्राउन ने इसकी प्रशंसा करते हुये लिखा है कि "यह (मोती मस्जिद) अपनी दोषरहित निर्माण सामग्री और अपने अंगों की चातुर्य पूर्ण नियन्त्रित रचना, दोनों ही के कारण अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची मुगल कला का प्रतिनिधित्व करती है। पूजा गृहों के मेहराबों की, प्रवेश द्वारा की मेहराब से श्रेष्टता और उनकी तुलना कोनों पर निर्मित छतरियों की योजना और मुख्य रूप से केन्द्रीय गुम्बद के क्रम का कुशलता से उठना............यह स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करते हैं कि इस समय तक मुगल निर्माता लय और सन्तुलन के सिद्धान्त को उचित प्रकार आत्मसात करने लगे थे" ......इसकी स्थापत्य की प्रशंसा में 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया' में लिखा है कि "इसकी (मोती मस्जिद) त्रुटिहीनता और कुशल सौन्दर्य विन्यास मुगल शैली की श्रेष्ठता का द्योतक है।"

(2) आगरा की जामा मस्जिद—इस मस्जिद का निर्माण शाहजहाँ की पुत्री जहाँआरा ने करवाया था। यह वर्तमान आगरा-फोर्ट रेलवे स्टेशन के निकट स्थित है। लाल पत्थर से बनी यह मस्जिद 130 फीट लम्बी तथा 100 फीट चौड़ी है। सम्पूर्ण मस्जिद तीन भागों में विभक्त है जिन पर तीन गुम्बद बने हैं। मध्य का गुम्बद 41 फीट व्यास का है। पास के दो गुम्बद छोटे हैं। मस्जिद के सामने खुला आंगन है। मस्जिद का आन्तरिक भाग अत्यन्त सादा है।

(3) ताज महल—शाहजहाँ द्वारा बनवाई गई इमारतों में आगरा का ताज-महल स्थापत्य कला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इसका निर्माण शाहजहाँ ने अपनी प्रिय बेगम मुमताज महल की स्मृति में करवाया था। यह मकबरा 22 वर्ष (1631-1653 ई.) में बन कर पूर्ण हुआ था। यह मकबरा विश्व के सात आश्चर्यों में एक है। इसके निर्माण के योजनाकार के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। स्पेनिश यात्री फादर स्बेस्टीन मानरिक के अनुसार इसका निर्माण वीनस वासी जेरोनीयो वीरोनीयो ने किया था। फर्ग्युसन की मान्यता है कि ताज महल का निर्माण

इटली के कलाकारों द्वारा किया गया था। वी. ए. स्मिथ के अनुसार इसका निर्माण एशियायी और यूरोपीय कलाकारों ने किया था। परन्तु हैवेल, पर्सी ब्राउन आदि विद्वानों ने ताज महल की स्थापत्य शैली तथा अब्दुल हमीद लाहौरी को उद्धरण के आधार पर उपर्युक्त मान्यताओं का खण्डन किया है। इन विद्वानों की मान्यता है कि अहमद लाहौरी ताजमहल के प्रमुख योजनाकार थे तथा इसका निर्माण भारतीय कारीगरों द्वारा किया गया था। पर्सी ब्राउन तथा डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार ताजमहल बनाने की प्रेरणा हुमायूँ, एतमाउद्दौला तथा खान खानम के मकबरे से ली गई थी।

ताजमहल आगरा में यमुना नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है। सम्पूर्ण इमारत की योजना आयताकार है जो दीवारों से घिरा है। ताजमहल में प्रवेश के बाद दोनों ओर लाल पत्थर से निर्मित भवन बने हैं। इसके बाद उत्तर की ओर दोहरे मेहराब वाला लाल पत्थर से बना प्रवेश द्वार है। इस द्वार के आगे 1000 वर्ग फीट में बना उद्यान है। उद्यान के उत्तर की ओर की छत पर ताजमहल बना है। ताज का मकबरा 22 फीट ऊँचे चबूतरे पर बना है। यह चबूतरा 186 फीट वर्ग में बना है। मकबरे पर पांच गुम्बद बने हैं मध्य का प्रधान गुम्बद 187 फीट ऊँचा है। इसके दोनों ओर दो-दो गुम्बद बने हैं। गुम्बद का ऊपरी भाग फारसी कला से तथा निचला भाग हिन्दू कला से प्रभावित है। चबूतरे के चारों कोनों पर 137 फीट ऊँची तीन मंजिली मीनारें बनी हैं। मकबरे के केन्द्रीय कक्ष में संगमरमर की बनी कल्पित कब्रें हैं। ये कब्रें फूल-पत्तियों की पच्चीकारी तथा बहुमूल्य पत्थरों से अलंकृत हैं। दोनों कब्रें आठ फीट ऊँचें जालीदार पर्दों से घिरी है। सम्पूर्ण इमारत श्वेत संगमरमर से बनी है। हैवेल के अनुसार ताजमहल की स्थापत्य कला मुख्यतया हिन्दू शैली की है किन्तु पर्सी ब्राउन ताजमहल को हिन्दू तथा फारसी शैली के समन्वय का प्रतीक मानते हैं। उनके अनुसार मकबरे के मध्य का गुम्बद फारसी शैली और छोटे गुम्बद भारतीय शैली से प्रभावित हैं।

ताजमहल के स्थापत्य और सौन्दर्य की सभी विद्वानों ने प्रशंसा की है। फर्ग्युसन ने ताजमहल की प्रशंसा करते हुए कहा है कि "संसार भर में कहीं भी ऐसा दृश्य नहीं है, जहाँ प्रकृति और कला एक सर्वश्रेष्ठ कला को मूर्त रूप प्रदान करने में इतनी सफलता से आ जुटी हो, जैसा इस प्रसिद्ध मकबरें (ताज) की सीमा में।" डॉ. ईश्वरी प्रसाद के अनुसार "ऐसा कहने में अत्युक्ति नहीं होती है कि मकबरें (ताज) की कारीगरी और सुन्दरता में स्थान-स्थान पर काव्योचित सौन्दर्य बिखर पड़ता है।" ताजमहल के अनुपम और अद्वितीय सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुये डॉ. समर-बहादुर सिंह ने लिखा है कि "मादक उद्यान के एक सिरे पर, सरिता तट से सटी नपी-तुली नाक-नक्शे वाली यह धवलवर्णी अलबेली इमारत पच्चीकारी के अलंकरण से विभूषित ऐसी लगती है, जैसे कोई मध्यकालीन छबीली नायिका सजी-धजी

प्रियतम की राह निहारती खड़ी हो। चबूतरे के कोनों पर उभरती श्वेत मीनारें मानो उसके चारों ओर खड़ी परिचारिकायें हो।"

(4) **दिल्ली का लाल किला**—शाहजहां ने दिल्ली में भी अनेक इमारतों का निर्माण करवाया। 1638 ई. में उसने दिल्ली के निकट **'शाहजहाँबाद'** नामक नगर की स्थापना की। यहां उसने एक किले का निर्माण करवाया जिसे दिल्ली का लाल किला कहा जाता है। इस किले का स्थापत्य आगरा के किले के अनुरूप है किन्तु इसका आकार आगरा के किले की अपेक्षा छोटा है। यह किला उत्तर से दक्षिण में 3200 फीट तथा पूर्व से पश्चिम में 1650 फीट क्षेत्र में विस्तृत है। किले के चारों ओर कंगूरेदार दीवार बनी है जिसमें तीन प्रवेश द्वार बने हैं।

किले के प्रमुख भवन— शाहजहाँ द्वारा किले के भीतर श्वेत संगमरमर की अनेक सुन्दर इमारतें बनवाई गई हैं। इनमें दीवाने आम, दीवाने खास, रंगमहल, हीरामहल तथा मोतीमहल आदि इमारतें स्थापत्य की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। ये भवन चमकदार गुम्बदों, आकर्षक मेहराबों, जाली के सुन्दर कटाव तथा हवादार गवाक्षों से अलंकृत है। लाल किले की प्रमुख इमारतें निम्नलिखित हैं—

(i) दीवाने आम—किले के मध्य केन्द्रीय भाग में दीवाने आम स्थित है। यह भवन 185 फीट लम्बा तथा 70 फीट चौड़ा है। इसके बाहरी भाग पर नौ मेहराबें बनी है। आन्तरिक भाग में बने ताख में मयूर सिंहासन है। यहां बैठकर बादशाह न्याय करता था। इस भवन के दोनों ओर सरकारी कार्यालय और शाही भवनों की पंक्तियाँ बनी हैं।

(ii) दीवाने खास— यह एक खुला भवन है जिसके मध्य बने हाल की लम्बाई 90 फीट तथा चौड़ाई 67 फीट है। इसके बाहरी भाग पर वृत्त खण्ड आकार के पांच मेहराब बने हैं। इसका फर्श अत्यन्त आकर्षक है।

(iii) रंगमहल—यह सम्राट का रनिवास (हरम) था। इस भवन के मध्य में बड़ा कक्ष बना है जिसके चारों कोनों पर चार छोटे कक्ष बने हैं। मध्य कक्ष के बीच में 20 वर्ग फीट का संगमरमर से बना जलाशय है। विशाल कमल आकार में बने इस जलाशय की पत्तियों का अंकन अत्यन्त कलात्मक है। स्थापत्य की दृष्टि से रंगमहल एक सुन्दर कृति है।

(5) दिल्ली की जामा मस्जिद—शाहजहाँ ने दिल्ली के लाल किले के निकट ही विशाल जामा मस्जिद का निर्माण करवाया था। यह मस्जिद 1658 ई. में बनकर पूर्ण हुई थी। सम्पूर्ण मस्जिद एक उठी हुई नींव पर बनी है। इसके पूर्व, उत्तर तथा दक्षिण दिशाओं में तीन विशाल प्रवेश द्वार हैं। पूर्वी द्वार शाही परिवार के लिए था। सम्पूर्ण इमारत पर श्वेत संगमरमर के तीन विशाल गुम्बद बने हैं। स्थापत्य की दृष्टि से यह पूर्ण इमारत है।

आगरा और दिल्ली की इमारतों के अलावा शाहजहां ने अकबर द्वारा निर्मित लाहौर के किले के भवनों में भी अनेक परिवर्तन किये। वहाँ उसने लाल पत्थर की इमारतों को तुड़वा कर श्वेत संगमरमर की इमारतें बनवायीं। इन इमारतों में दीवाने आम, मुसम्मन बुर्ज, शीशमहल तथा ख्वाबगाह आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

औरंगजेबयुगीन स्थापत्य कला—शाहजहाँ के बाद मुगल स्थापत्य कला का पतन आरम्भ हो गया क्योंकि शाहजहां का पुत्र तथा उत्तराधिकारी औरंगजेब इस्लाम का कट्टर समर्थक था। पर्सीब्राउन के अनुसार "**मुगल स्थापत्य कला के विकास में मुगल सम्राटों का योगदान था अतः जब तक वे लोग योगदान देते रहे तब तक इस कला का विकास भी होता रहा और जब औरंगजेब के काल में इसके प्रति उदासीनता प्रकट की जाने लगी तो स्थापत्य कला का पतन होने लगा।**" औरंगजेब को किसी कला से लगाव नहीं था। उसके काल में बहुत कम इमारतों का निर्माण हुआ। ये इमारतें भी स्थापत्य की दृष्टि से निम्नकोटि की हैं। उसने दिल्ली के लाल किले में श्वेत संगमरमर की मस्जिद बनवाई जिसका स्थापत्य मोती-मस्जिद के समान है। उसके द्वारा लाहौर में बनवाई गई '**बादशाही मस्जिद**' स्थापत्य कला का सुन्दर उदाहरण है। इस मस्जिद का निर्माण फिदाई खां की देख-रेख में हुआ था। यह मस्जिद दिल्ली की जामा मस्जिद से मिलती-जुलती है किन्तु आकार में छोटी है। औरंगजेब ने विश्वनाथ मन्दिर तथा मथुरा के केशवदेव मन्दिर के भग्नावशेषों पर भी मस्जिदों का निर्माण करवाया था। इन मस्जिदों के अलावा औरंगजेब ने अपनी प्रिय बेगम रबिया दुर्रानी की स्मृति में औरंगाबाद में 1679 ई. में एक मकबरा बनवाया। यह मकबरा ताजमहल की नकल है किन्तु स्थापत्य की दृष्टि से यह निम्नकोटि की इमारत है। मकबरे में श्वेत संगमरमर से बना पर्दा अवश्य कलात्मक रचना है। औरंगजेब के काल में बनी सभी इमारतें पूर्णतः कलाहीन हैं।

———

13
मुगल चित्रकला
(Mughal Paintings)

चित्रकला का इतिहास मानव के इतिहास जितना ही प्राचीन है। आदिकाल में मानव अपनी ललित भावना को तूलिका से टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं द्वारा गुफाओं की भित्तियों तथा चट्टानों के सपाट भाग पर व्यक्त करता था। मानव भावना की अभिव्यक्ति के अनेक आदियुगीन साक्ष्य आज भी सुरक्षित हैं। सुदूर आदिकाल से आज तक मानव अपनी भावनाओं को तक्षण, कर्षण तथा रेखा और आकार के माध्यम से व्यक्त करता रहा है। रेखा और आकार के माध्यम से मानव ने अपनी प्रगति, आत्मा तथा युग का सदैव स्वागत और अंकन किया है। उसकी इसी विद्या को चित्रकला कहा जाता है।

मुगल चित्रकला

मुगल कला का जन्म स्थल समरकन्द था। यहाँ 15वीं शताब्दी में तैमूर वंश के संरक्षण में फारसी कला का उत्कर्ष हुआ। यद्यपि भारतीय इतिहास के दृष्टिकोण से तैमूर वंश आक्रमणकारी और बर्बर था। किन्तु निरपेक्ष दृष्टि से यह वंश फारस का सभ्य और सुसंस्कृत राजवंश था। इस वंश के शासकों के संरक्षण में विभिन्न कलाओं का पर्याप्त विकास हुआ था। तैमूर वंश के शासकों ने चित्रकला को विशेष संरक्षण और प्रोत्साहन दिया। तैमूर के पुत्र शाहरूख ने अपने दरबार में अनेक चित्रकारों को आश्रय प्रदान किया था। इन चित्रकारों ने चित्रकला की दरबारी शैली को जन्म दिया। 15वीं शताब्दी के अन्त में फारस के शाह इस्माइल के संरक्षण में 'बिहजाद' नाम का प्रसिद्ध चित्रकार था उसने इस शैली को एक नवीन रूप प्रदान किया। बिहजाद के बाद उसके शिष्यों ने इस शैली को और अधिक उन्नत किया। इस प्रकार स्पष्ट है कि 16वीं शताब्दी के आरम्भ तक फारस के शासकों के संरक्षण में चित्रकला की एक श्रेष्ठ शैली का विकास हो चुका था जो मुगल शासकों के साथ भारत में प्रविष्ठ हुई।

अप्रेल, 1526 ई. में बाबर ने पानीपत के प्रथम युद्ध में इब्राहीम लोदी को पराजित कर भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना की थी। बाबर फरगना (फारस) का निवासी था। उसकी इस विजय के साथ ही फारसी चित्रकला भारत में प्रविष्ठ हुई। मुगल सम्राटों ने भारत में राज्य विस्तार के साथ सुव्यवस्था भी स्थापित की,

जिससे देश में शान्ति और समृद्धि बढ़ने लगी। मुगल सम्राटों ने अपने पूर्वजों की भांति विभिन्न कलाओं को संरक्षण और प्रोत्साहन देकर उनका विकास किया। भारत में विभिन्न मुगल सम्राटों द्वारा चित्रकला को दिये गये संरक्षण, प्रोत्साहन तथा इस कला के विकास का विवरण इस प्रकार है—

बाबरकालीन चित्रकला— भारत में मुगल साम्राज्य का संस्थापक बाबर कुशल योद्धा और शासक होने के साथ महान् लेखक और कला का संरक्षक भी था। उसका पेड़-पौधों और प्रकृति के साथ चित्रकला से भी काफी अनुराग था। वह अपने साथ फारस की विहजाद शैली को लाया था। उसने अपनी आत्मकथा **'बाबरनामा'** में विहज़ाद का उल्लेख प्रमुख चित्रकार के रूप में किया है। इसी ग्रन्थ में उसने **शाह मुजफ्फर** नामक एक अन्य चित्रकार का भी उल्लेख किया है। इन उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि बाबर की चित्रकला में अत्यधिक रुचि थी। बाबर का शासनकाल काफी छोटा (1526 से 1530 ई.) था अतः उसके काल में अधिक चित्र नहीं बने।

हुमायूँकालीन चित्रकला—बाबर की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र हुमायूँ सिंहासन पर बैठा परन्तु उसका अधिकांश जीवन कठिनाइयों में बीता। अपने पिता की भांति उसे भी कला से विशेष अनुराग था। राजनीतिक अस्थिरता के कारण वह अपने कला प्रेम का अधिक प्रदर्शन नहीं कर सका फिर भी उसके शासनकाल में चित्रकला का पर्याप्त विकास हुआ। कहा जाता है कि हुमायूं युद्ध-यात्राओं में अपने साथ चित्रों से युक्त पुस्तकें ले जाता था। अपने निर्वासित काल में शाह तहमास्प के दरबार में उसका सम्पर्क अनेक चित्रकारों से हुआ। हुमायूं भारत वापस आते समय अपने साथ यहां से **'मीर सैय्यद अली तबरीजी'** और **'ख्वाजा अब्दुल समद'** नामक दो चित्रकारों को ले आया। यह चित्रकार विहजाद शैली के थे। हुमायूं के आदेश से इन चित्रकारों ने **'दास्ताने अमीर हमजा'** का चित्रण किया। यह चित्र फारसी शैली में निर्मित हैं। इन चित्रों में से अनेक अभी भी साउथ केंसिंगटन म्युजियम तथा ब्रिटिश म्युजियम में सुरक्षित हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि अनेक कठिनाइयों तथा अल्पशासन काल में भी हुमायूं ने चित्रकला को पर्याप्त संरक्षण और प्रोत्साहन दिया।

अकबरकालीन चित्रकला—हुमायूँ के पुत्र और उत्तराधिकारी अकबर के काल में उत्तरी भारत में एक विशाल, व्यवस्थित और समृद्ध साम्राज्य स्थापित हो चुका था। शांति और समृद्धि ललित कलाओं को विकास की उचित परिस्थितियां प्रदान करती हैं। अतः मुगल साम्राज्य के विस्तार और वैभव वृद्धि के साथ कलाओं का भी तेजी से विकास हुआ। अकबर अपने पूर्वजों की भांति कला-प्रेमी शासक था। उसने चित्रकारों और चित्रकला के प्रति अनुराग प्रदर्शित किया। **पर्सी ब्राउन** का मत है कि अकबर ने बचपन में ही मीर सैयद अली और अब्दुल समद नामक चित्रकारों से चित्रकला की शिक्षा प्राप्त की थी। इस मत की पुष्टि 'तुजुके जहाँगीरी'

से भी होती है। अकबर उदार और धर्म-सहिष्णु शासक था। अतः इस्लाम में चित्रकला के निषेध होने पर भी उसने चित्रकला को पर्याप्त संरक्षण और प्रोत्साहन दिया। 'अबुल फजल' ने 'आइने अकबरी' में लिखा है कि बादशाह अपनी मुखाकृति-चित्र बनवाने के लिये बैठता था और उसने अपने दरबारियों के भी चित्र बनवाये। अकबर को चित्रकला से इतना प्रेम था कि वह युद्धों में भी चित्रकारों को अपने साथ रखता था। 1573 ई. में अहमदाबाद के तूफानी आक्रमण के समय भी उसके साथ तीन चित्रकार—सांवलदास, जगन्नाथ तथा तारानाथ थे। अकबर की मान्यता थी कि चित्रकला मानव को ईश्वर की ओर प्रवृत्त करती है। उसने कहा भी था कि "बहुत से लोग चित्रकला से घृणा करते हैं, किन्तु ऐसे लोगों को मैं नापसन्द करता हूँ। मुझे ऐसा महसूस होता है कि चित्रकला के माध्यम से चित्रकार एक चित्रमय ढंग से ईश्वर को पहचान सकता है।" अकबर के चित्रकला प्रेम और प्रोत्साहन के सम्बन्ध में अबुल फजल ने लिखा है कि "सम्राट इस (चित्र-कला) को हर प्रकार से प्रोत्साहन देते हैं और इसे शिक्षा और मन बहलाव दोनों का साधन मानते हैं। इसलिये इस कला की वृद्धि हुई और अनेक चित्रकारों ने महान् यश प्राप्त किया।"

अकबर ने चित्रकला के विकास के लिये अनेक चित्रकारों को अपने दरबार में राज्याश्रय प्रदान किया था। उसके काल में हिन्दू और मुस्लिम चित्रकार साथ-साथ कार्य करते थे। आइने अकबरी के अनुसार उसके दरबार में तेरह उच्च कोटि के हिन्दू और चार मुस्लिम चित्रकार थे। ये थे—दशवंत, बसावन, केसु, लाल, मुकंद, मधु, जगन, महेश, तारा खेमकरन, हरिवंश, सांवल, राम, अब्दुल समद, फारुख बेग, खुसरु अली तथा जमशेद। फारुखबेग आदि के उल्लेख से स्पष्ट है कि सुदूर देशों से भी विभिन्न चित्रकार अकबर के दरबार में राज्याश्रय ग्रहण करने आये थे। मिस्किन अकबर के दरबार का प्रसिद्ध पक्षी चित्रकार था। बसावन चित्र की पृष्ठिका तथा अंग-प्रत्यंग बनाने में निपुण था। अकबर चित्रकारों को उच्चपद तथा मनसब देकर सम्मानीत करता था। अब्दुल समद 500 का मनसबदार तथा टकसाल का अधिकारी था। इसके अतिरिक्त चित्रकारों को 'शीरी कलम', 'हुमायूँन साही' (राज्य का शुभ) तथा 'नादिर उल-मुल्क (देश का आश्चर्य) की उपाधियाँ दी जाती थी।

चित्रकला के विकास और प्रोत्साहन के लिये अकबर ने चित्रकला के एक पृथक् विभाग की स्थापना की थी। अब्दुल समद इस विभाग का अध्यक्ष था। यह एक योग्य चित्रकार था। इसके चित्रों में कोमलता और सुन्दरता का अनुपम समन्वय था। अनेक चित्रकारों ने अब्दुल समद की प्रतिभा का लाभ उठाया। अकबर ने चित्रकला के विकास के लिये मखतूब नामक चित्रकार की अध्यक्षता में एक चित्रशाला का निर्माण किया। इस चित्रशाला में अनेक देशों और चित्रकारों की शैलियों का संग्रह था। इन प्रयासों से चित्रकला का अपूर्व विकास हुआ।

अकबर के काल में चित्रकला के विकास के अन्तर्गत अनेक सुन्दर चित्रों का निर्माण हुआ। उसके काल में फारसी भाषा की गद्य और पद्य की अनेक पुस्तकें चित्रों

से अलंकृत की गईं। मतीर उल उमरा के अनुसार अकबर अमीर हमजा की कहानी का बहुत शौकीन था। अतः उसने इन कथाओं को जिल्दों में विभाजित करके उसे चित्रों से अलंकृत करवाया। सैयद अली और अब्दुल समद की देखरेख में इन कथाओं के लगभग 1400 चित्र बनाये गये। अबुल फजल ने इसकी प्रशंसा करते हुये कहा है कि "किसी ने भी इस पुस्तक के समान कोई जवाहर नहीं देखा होगा।" इन चित्रों में प्रारम्भिक चित्रों की शैली फारसी है किन्तु चित्रों में अंकित भवन, वस्त्र तथा प्रकृति चित्रण पूर्णतया भारतीय हैं। एक ही चित्र में फारसी और भारतीय दोनों शैलियों का प्रभाव दिखाई देता है यही मुगल शैली है। अमीर हमजा के अतिरिक्त अकबर के काल में चंगेजनामा, जफरनामा, इकबालनामा, दराबनामा, वाकयाते बाबरी, त्वारीखे तैमूरिया तथा अकबरनामा आदि फारसी पुस्तकों को भी चित्रों से अलंकृत किया गया। फारसी ग्रन्थों के अलावा हिन्दू कथा काव्यों— रज्मनामा (महाभारत), आयारदानिश (पंचतंत्र), रामायण, योग वशिष्ठ, नल-दमयन्ती कथा, दशावतार, कृष्ण चरित तथा केशव की रसिकप्रिया से सम्बन्धित अनेक चित्रों का निर्माण हुआ। पुस्तक चित्रण के साथ उसके काल में स्वयं सम्राट, उसके दरबारियों तथा अनेक साधु संतों के चित्र भी बने। अबुल फजल ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "जो व्यक्ति मर गये थे उनको इन चित्रों से नवीन तथा जीवित व्यक्तियों को अमरत्व प्राप्त हो गया।"

अकबर धर्म-सहिष्णु शासक था। अतः उसने हिन्दू और मुस्लिम दोनों चित्रकारों को समान रूप से संरक्षण और प्रोत्साहन दिया। इसके फलस्वरूप उसके काल में भारतीय हिन्दू शैली और फारसी मुस्लिम शैली का सम्मिश्रण हो गया। अकबर के चित्रकला विभाग में बहुत से भारतीय हिन्दू चित्रकारों को फारसी चित्रकला की शिक्षा दी गई। मुगल भी भारतीय चित्रकला से प्रभावित थे। अबुल फजल ने लिखा है "हिन्दू चित्रकारों के विषय में यह सत्य है कि उनके चित्र हमारी कल्पना से परे हैं, वास्तव में सारे संसार में उनके तुल्य थोड़े कलाकार पाये जाते हैं।" अनेक कलाकारों का सम्मिलित प्रयास एक नवीन शैली के जन्म का हेतु होता है। इस प्रकार इस सम्मिलित प्रयास के कारण अकबर के काल में भारतीय-फारसी शैली का जन्म हुआ। इसे ही मुगल शैली कहा जाता है। कालांतर में इस नवीन शैली में विदेशी तत्व लोप हो गये। इस सम्बन्ध में डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव का कथन है कि "अकबर के पूर्व चित्रकला पर फारसी प्रभाव अधिक था किन्तु अकबर के काल में फारसी और भारतीय शैलियां परस्पर घुल-मिल गईं; परन्तु यह स्थिति अधिक समय नहीं रह सकी और भारतीय कला अपना प्रभाव प्रकट करने लगी।" एक अन्य विद्वान के अनुसार "अकबर ने भारतीय-फारसी चित्रकला की जिस शैली का सूत्रपात किया वह थोड़े दिनों बाद समाप्त हो गई।" श्री रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार "मुगल कला का जन्म अकबर के समय में ही हुआ था। इस कला में

पर्याप्त मात्रा में भारतीय तत्वों का समावेश हो गया था.........जो कला भारत में मुगल कला कही जाती है वह वास्तव में भारतीय चित्र शैली है।"

अकबर के काल में चित्रों का मुख्य विषय दरबारी जीवन था। इस काल में बने चित्रों में दरबारी शानो-शौकत तथा रहन-सहन का चित्रण किया गया है। सम्राट तथा उसके दरबारियों के चित्र भी बनाये जाते थे। इस काल में अनेक फारसी और हिन्दू कथाओं तथा पुस्तकों का भी चित्रांकन किया गया। चित्रांकन में रेखाओं की गोलाई तथा छाया और प्रकाश का विशेष रूप से ध्यान रखा जाता था। धरातल का अंकन भी कलापूर्ण ढंग से होता था। चित्रों को आकर्षण और सुन्दर बनाने के लिये सुनहरे रंगों का प्रयोग किया जाता था। अबुल फजल के अनुसार इस काल में चित्रकला अपनी पूर्णता पर पहुँच गई थी। रेखाओं की भव्यता और कला कौशल के कारण निर्जीव पदार्थ भी सजीव प्रतीत होते थे। अबुल फजल ने लिखा है कि "चित्र बनाने की सामग्री में बहुत उन्नति हुई है और रंग बनाने की पद्धति भी सुधर गई जिससे चित्रों की तैयारी में सुविधा हो गई।" अकबरकालीन चित्रों के रंग मीने के समान चमकदार हैं। ये रंग प्राकृतिक और कृत्रिम दोनों प्रकार के थे। सिन्दूरी, प्योड़ी, लाजवर्दी, हिंगलू, गुलाबी तथा हरा रंग कृत्रिम तथा गेरू, रामरज, खड़िया, नील तथा स्याही रंग प्राकृतिक थे। इस काल में मूल रंगों का प्रयोग होता था। विविध रंगों के सम्मिश्रण से नवीन रंग बनाने की प्रणाली अभी विकसित नहीं हुई थी। इन रंगों का प्रयोग इतनी कुशलता से किया गया है कि 300 वर्ष बीत जाने पर वे आज तक हल्के नहीं हुये हैं। अकबर के काल में चित्र कागज पर बनाये जाते थे। अकबर से पूर्व चित्र बनाने के लिये कागज ईरान से मंगाया जाता था किन्तु अकबर के काल में सियाल-कोट में कागज का सरकारी कारखाना स्थापित किया गया। यहाँ बना कागज सियालकोटी अथवा मुगली कागज कहा जाता था। यह कागज हल्के भूरे रंग का था। बड़े चित्रों के लिये अनेक कागजों को कुशलता से जोड़ा जाता था। अन्य प्रकार के कागजों के सम्बन्ध में अबुल फजल ने लिखा है कि धीरे-धीरे अन्य कागज भी प्रचलित होने लगे और उनका उत्पादन होने लगा। सन से बने सनी कागज, रेशम से बने रेशमी या हरीरी कागज, बांस से बने बांसी कागज तथा टाट से बने तुलोज कागज का भी प्रचलन हो गया। चित्रकार मुगली कागज को अधिक पसन्द करते थे।

जहाँगीरकालीन चित्रकला—अकबर के बाद जहाँगीर मुगल सम्राट बना। जहाँगीर एक योग्य और कला-प्रेमी शासक था। अकबर के काल में चित्रकला की जिस मुगल परम्परा और शैली का बीजारोपण हुआ था वह जहाँगीर के शासनकाल (1605–1627 ई.) में विकसित और पल्लवित होकर यौवन को प्राप्त हुई। इस सम्बन्ध में वाचस्पति गैरोला ने लिखा है "अकबर के बाद जहाँगीर ने मुगल कला के स्वर्णिम युग को बड़ी योग्यता और निष्ठा से आगे बढ़ाया। उसके समय में शैली और शिल्प की दृष्टि से मुगल चित्र भारतीयता के अधिक निकट थे। अकबर द्वारा

शुभारम्भ शैली में उच्च कलात्मक ध्येयों और नये विकास तत्वों का समावेश हुआ। मानवीय अभीप्साओं, आकांक्षाओं और भावनाओं के अनुरूप चित्र जहाँगीर के ही समय में बने। जहाँगीर के ही समय में कलाकारों द्वारा तैयार किये गये रंगों और उनको दर्शाने का ढंग अपूर्व था। रंगों के अतिरिक्त रेखाओं के अंकन की दिशा में भी जहाँगीर कालीन चित्रकारों ने अपनी विशेषताओं का परिचय दिया।" जहाँगीरकालीन चित्रकला के विषय में **रायकृष्णदास** ने लिखा है कि "जहाँगीरकालीन मुगल शैली ने एक नया रास्ता लिया है। उसमे रूढ़ि न रहकर वास्तविकता आ गई है.......बारीकी और तैयारी में वह अकबरी चित्रकला से कहीं आगे बढ़ गयी है।"

जहाँगीर को **बचपन से ही चित्रकला** के प्रति अनुराग था। शासक बनाने पर उसने चित्रकला को पर्याप्त रक्षण और प्रोत्साहन दिया। जहाँगीर स्वयं चित्रकला का अच्छा ज्ञाता था। जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा **'तजुके-जहांगीरी'** में अपने चित्रकला ज्ञान के सम्बन्ध में लिखा है **"अपने विषय में कह सकता हूं कि चित्रकला में मेरी आसक्ति और विवेचना इस सीमा तक पहुंच चुकी है कि कोई भी चित्र मेरे समक्ष प्रस्तुत किया जाता है—चाहे मृत चित्रकार का हो, मैं देखकर बता सकता हूं कि उसका निर्माता कौन है ?"** जहाँगीर के दरबार में अनेक प्रतिभाशाली चित्रकार थे। उनमें अनेक अकबर के काल के ही थे। इसके अलावा **आगा रजा, अब्दुल** हसन, **मुहम्मद नादिर, मुहम्मद मुराद** तथा **मंसूर** उसके काल के प्रसिद्ध चित्रकार थे। मंसूर जहाँगीर के काल के पशु-चित्रण के महान् चित्रकार थे। जहाँगीर के काल के हिन्दू चित्रकारों में **विशनदास, मनोहर, माधव, तुलसी** और **गोवर्धन प्रमुख** थे। जहाँगीर के दरबार में चित्रकारों को सम्मानीय स्थान प्राप्त था। उन्हें उनकी योग्यता के अनुरूप पद और मनसब दिये जाते थे। सम्राट समय-समय पर उन्हें पुरस्कृत करता था। जहाँगीर ने अब्दुल हसन को **'नादिर उज्जमा'** (युग-शिरोमणि) तथा उस्ताद मंसूर को **'नादिर उलउमर'** की उपाधि से सम्मानीत किया था। जहाँगीर के दरबार में चित्रकारों के उच्च स्थान के कारण हिरात, समरकन्द आदि सुदूर देशों के चित्रकार उसके दरबार में आये। अब्दुल हसन, आगारजा तथा मुहम्मद मुराद ऐसे ही चित्रकार थे। **तुजुके जहाँगीरी** के अनुसार जहाँगीर ने अपने चित्रकला-प्रेम के कारण कश्मीर में एक चित्रदीर्घा का निर्माण करवाया था। यह चित्रदीर्घा अनेक चित्रों से अलंकृत थी। इसी प्रकार उसने अजमेर में चित्रों से अलंकृत शाहीमहल (चश्मेनूर) बनवाया था। सम्भव है उसकी राजधानी और महल में भी ऐसी ही चित्रदीर्घायें रही होंगी। जहाँगीर अपनी यात्राओं, उत्सव तथा शिकार के समय चित्रकारों को अपने साथ रखता था। उसके काल में इन घटनाओं के अनेक स्वाभाविक चित्र बने थे।

जहाँगीर की यूरोपीय चित्रकला में भी अत्यधिक रुचि थी अतः उसने यूरोपीय जीवन तथा धर्म से सम्बन्धित अनेक चित्रों का संग्रह किया था। उसके राज्यकाल

में आये इंगलैंड के राजदूत सर टामस रो ने अपने यात्रा वृत्तांत में लिखा है कि "बादशाह को मैंने एक चित्र दिया था। मुझे विश्वास था कि भारत में इसकी नकल होना असम्भव है किन्तु बादशाह ने अगले दिन ही मेरे सम्मुख उस चित्र की पाँच प्रतियाँ प्रस्तुत कर दी, मुझे यह पहचानना कठिन हो गया कि इसमें मूल प्रति कौनसी है ?" कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि जहाँगीरकालीन चित्रों की स्वाभाविकता यूरोपीय प्रभाव के कारण थी। परन्तु राय कृष्णदास ने इस मत का खंडन किया है। उनकी मान्यता है कि जहाँगीर कालीन चित्रों की स्वाभाविकता पूर्णतया स्वतन्त्र शैली है क्योंकि यूरोपीय और जहाँगीरकालीन शैली में छाया और प्रकाश तथा दृष्टि-क्रम में पर्याप्त अन्तर है।

जहाँगीर के काल में चित्रकला को नवीन दिशा प्राप्त हुई थी। इस काल में चित्रकार को कल्पना के लिये अधिक विस्तृत क्षेत्र और स्वतंत्रता प्राप्त हुई। उसके काल में पुस्तकों के चित्रण की परम्परा पूर्व की भाँति विद्यमान रही। किन्तु जहाँगीर ने दरबारी तथा स्वयं अपने जीवन को चित्रित करने में विशेष रुचि दिखाई। पुस्तक चित्रण के अन्तर्गत जहाँगीरनामा तथा 'कलीलवयदिमनाह' प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त उसके काल में स्वतंत्र चित्र अधिक बने। इन चित्रों में सम्राट, उसके दरबारियों, संतों तथा विभिन्न उत्सवों और शिकार के चित्र प्रमुख हैं। जहाँगीरकालीन चित्रों में पशु-पक्षियों तथा प्रकृति का चित्रण अत्यन्त मोहक है। उसके काल में बुलबुल, कोयल, कौआ, मुर्गी, तीतर, बटेर, तोते, पीलू, हाथी, ऊंट, शेर, गेंडा, घोड़ा, जिराफ, लंगूर आदि पशु-पक्षियों के अनेक सुन्दर चित्र बनाये गये थे। इसी प्रकार नरगिस, गुलाब, चेरी, पोस्ता तथा अन्य वनस्पति के चित्रों का निर्माण हुआ था। जहाँगीर के काल में अनेक यूरोपीय व्यापारी भारत आने लगे थे। उनके साथ उनकी चित्रकला भी आयी। स्वयं जहाँगीर के पास यूरोपीय चित्रों का संग्रह था। सम्राट के आदेश से विशनदास ने अनेक यूरोपियन चित्रों की अनुकृतियां तैयार की थी। इसमें देवी मरियम के चित्र की अनुकृति मुख्य है। इसके अलावा अनेक ऐतिहासिक घटनाओं तथा स्त्रियों के भी चित्र बनाये गये। ऐतिहासिक चित्रों में रामपुर स्टेट लाइब्रेरी में रखा जहाँगीर के राज्यारोहण का चित्र उल्लेखनीय है। स्त्री चित्रों में हमीदा बेगम तथा नूरजहाँ के चित्र प्रमुख हैं। जहाँगीरकालीन चित्रों के विषय के सम्बन्ध में डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है कि "जहाँगीरकालीन चित्रकला में पशु-पक्षियों और फूल-पौधों के चित्रण में मुगल चित्रकारों ने कला-कौशल का प्रदर्शन किया है। पशुओं में हाथियों, घोड़ों के चित्र बहुतायत में मिलेंगे, पक्षियों में मोर तथा बाज के चित्र बनाये जाते थे......मुगल चित्रकारों द्वारा बनाये गये चित्रों में दरबार और शिकार विषयक दृश्य अधिक चित्रित हैं। व्यक्तियों के समूह चित्रण और स्त्री सम्बन्धी चित्रों का सर्वथा अभाव नहीं है। मुगल चित्रकारों द्वारा बनाये गये धार्मिक चित्र असंख्य हैं। उच्च कोटि के चित्रकारों ने साधु तथा फकीरों के शांत स्थानों की

छवि का प्रदर्शन अपने चित्रों में किया है परन्तु इस काल की चित्रकला का मुख्य विषय प्राकृतिक सौन्दर्य था। जहाँगीर के समय चित्रकला अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी थी।"

जहाँगीरकालीन चित्रकला में परम्परा का स्थान यथार्थता ने ने लिया था। इस काल में मुगल चित्रकला ईरानी प्रभाव से पूर्णतया मुक्त हो गयी थी। इस काल में बने चित्रों में बारीकी, स्वच्छता, शारीरिक सौष्ठव तथा वस्त्रालंकरण अत्यन्त उच्चकोटि का है। चेहरों में सजीवता लाने के लिये बारीक रेखाओं का प्रयोग किया गया है। शारीरिक सौष्ठव में गोलाई और उभार लाने के लिये छाया और प्रकाश (Light and shade) का सुन्दर प्रयोग किया गया है। वस्त्रालंकरण में सलवटों का विशेष ध्यान रखा गया है। पशु-पक्षियों के चित्रण में अत्यधिक यथार्थता है। हाथियों के चित्रण में अजंता चित्र शैली का प्रभाव दिखाई पड़ता है। जहाँगीरकालीन चित्रों में दार्ष्टिक परिपेक्ष्य का सुन्दर प्रयोग हुआ है। इस काल के चित्रों की रेखायें बारीक, चमकदार, कोमल, प्रवाहपूर्ण और सजीव है। चित्रों के बनाने में गुलाबी, सफेद, सोने तथा चाँदी के रंगों का प्रयोग किया गया है। इस काल में विविध रंगों को मिलाकर नवीन रंग बनाने की कला विकसित हो चुकी थी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जहाँगीर का काल मुगल चित्रकला का यौवनकाल था। इस काल में इस कला के सभी अंगों का ओज व लावण्यपूर्ण विकास हुआ।

शाहजहाँकालीन चित्रकला—जहाँगीर की मृत्यु के बाद शहजादा खुर्रम शाहजहाँ के नाम से 1628 ई. मे मुगल सम्राट की गद्दी पर बैठा। शाहजहाँ भी कला प्रेमी शासक था परन्तु उसकी रुचि स्थापत्य कला में अधिक थी। इसलिये उनके राज्यकाल में चित्रकला उपेक्षित सी रही। उसने चित्रकला को आश्रय तो दिया परन्तु जहाँगीर की तरह विशेष रुचि प्रदर्शित नहीं की। उसके काल में चित्रों और चित्रकारों की स्थिति तो पूर्व की भाँति ही रही परन्तु इन चित्रों में पूर्व की भाँति सजीवता और मौलिकता नहीं रही। शाहजहाँ के काल में अनेक जहाँगीर कालीन चित्रकार विद्यमान थे। शाहजहाँ ने स्वयं भी अनेक चित्रकार नियुक्त किये जिनमें गोवर्धन, मुहम्मद नादिर, विचित्तर तथा चित्रमन प्रमुख थे।

शाहजहाँ दरबारी शानो-शौकत तथा दरबारियों के अनुशासन की ओर विशेष ध्यान देता था। अतः उसके काल में चित्रकला, भव्यता और अनुशासन में सीमित होकर रह गई। उसके काल में बने चित्रों में राज्यसभा के आंतरिक दृश्यों, शाही वैभव तथा दरबारी जीवन की सम्पन्नता का चित्रण ही प्रमुख रूप से हुआ है। इस काल में दरबार, राजदूतों तथा शाही गोष्ठियों के चित्र ही अधिक बने हैं। शाहजहाँ के काल के चित्रों में मुगल शैली का रुढ़िवादी प्रयोग हुआ है। इस काल के चित्रों में चमकदार रंगों के साथ सोने और चाँदी के बहुमूल्य रंगों का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा

में हुआ है । शाहजहांकालीन चित्रों के रेखांकन में सजीवता और सरसता का पूर्णतया अभाव था । चित्रों का दाष्टिय परिपेक्ष्य त्रिघातीय दिखाई पड़ता है । चित्रों में अनुशासनबद्ध चित्रण के कारण कृत्रिमता और निर्जीवता अधिक दिखाई पड़ती है । शाहजहां के काल में मुगल चित्रकला का पतन आरम्भ हो गया था । इस सम्बन्ध में वाचस्पति गैरोला ने लिखा है "जहांगीर के बाद शाहजहां के समय मुगल शैली में प्रत्यक्ष परिवर्तन हुआ । यह परिवर्तन उसकी उच्चता का परिचायक नहीं, हीनता का परिचायक था । इस समय के बने अधिकतर चित्रों में आंतरिक सौन्दर्य के भाव व्यंजित न होकर रियाज, बारीकी, रंगों की तड़क-भड़क, हस्त मुद्राओं का प्रदर्शन, अंग-प्रत्यंग का अवास्तविक उभार और हुकूमत का प्रभाव अधिक दिखाई देता है । स्त्रियों के अंगों का आकर्षक चित्रण करने में उस समय के चित्रकारों ने अवश्य कमाल दिखाया है, किन्तु मुगल-शैली के भावी विकास-विस्तार के लिये यह स्थिति कुछ अच्छी साबित नहीं हुई । ऐसा विदित होता है कि अकबर और जहांगीर के समय मुगल-शैली की जो प्रगति हुई, शाहजहां उसका निर्वाह करने में असफल रहा ।" इस प्रकार स्पष्ट है कि शाहजहां के काल में मुगल चित्रकला के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया था । इस काल में चित्रकला शाही वैभव की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र बन कर रह गयी थी । उसकी सजीवता, सरसता और मौलिकता समाप्त हो गयी थी ।

औरंगजेबकालीन चित्रकला—1658 ई. में शाहजहां को कैद में डालकर औरंगजेब मुगल सम्राट की गद्दी पर बैठा । औरंगजेब कट्टर सुन्नी मुसलमान था और चूंकि इस्लाम में चित्रकला निषेध है । अतः वह चित्रकला से घृणा करता था । कहा जाता है कि उसने अपने पूर्वजों द्वारा बनवाये गये अनेक चित्रों को नष्ट करवा दिया था । औरंगजेब ने चित्रकला को धर्म-विरुद्ध घोषित कर दिया था । औरंगजेब की चित्रकला विरोधी नीति ने चित्रकारों को निराश कर दिया और वे दरबार को छोड़कर अन्य राज्यों में पलायन कर गये ।

चित्रकला के कट्टर विरोधी होने के बावजूद औरंगजेब के युवावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक के अनेक चित्र मिलते हैं । रामपुर स्टेट लाइब्रेरी में औरंगजेब का एक वृद्धावस्था का चित्र मिला है । औरंगजेब का एक अन्य चित्र रोस संग्रह, बोस्टन में भी मिला है । परन्तु इन चित्रों में मुगल शैली की विशेषतायें नहीं मिलतीं । इन चित्रों में स्याही का अधिक प्रयोग किया गया है । चित्रों का रेखांकन दुर्बल है । इस प्रकार चित्रकला की मुगल शैली के जिस वृक्ष का अकबर ने बीजारोपण किया और जिसे जहांगीर ने सींचा, उसे औरंगजेब ने नष्ट कर दिया ।

परवर्ती मुगल शासकों के काल में चित्रकला—1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु के साथ ही मुगल साम्राज्य का पतन आरम्भ हो गया था । साम्राज्य के पतन के साथ चित्रकला की भी उत्तरोत्तर अवनति होती चली गई । औरंगजेब के उत्तराधिकारी शाह आलम (1707–1712 ई.), जहांदारशाह (1712 ई.), फर्रुखसियर

(1713-1719 ई.), रफीउद्दौला (1719 ई.) तथा मुहम्मदशाह (1719-1748 ई.) आदि सभी विलासी और दुर्बल शासक थे। परन्तु इन्हें कला से अत्यधिक प्रेम था। फर्रुखसियर के शासनकाल में मुगल चित्रकला में नवीन जागरण हुआ। इस काल में रंगों तथा कारीगरी में नवीन विशेषतायें दिखाई देने लगी। विषय की दृष्टि से अधिकांश संगीत गोष्ठियों, मुजरों, मद्यपान दृश्यों तथा काम-क्रिड़ाओं के विषयक चित्र बनाये गये। इस प्रकार मुहम्मद शाह के काल तक चित्रकला में मुगल शैली की विशेषतायें विद्यमान रही। इस काल के अनेक चित्र काओसजी जहाँगीर संग्रह, बम्बई तथा रोस संग्रहालय, बोस्टन में उपलब्ध है।

मुगल साम्राज्य का शेष वैभव भी आलमगीर द्वितीय के काल में समाप्त हो गया। इसके बाद शाहआलम द्वितीय (1759-1806 ई.), अकबर द्वितीय (1806-1837 ई) तथा बहादुरशाह द्वितीय (1837-1857 ई) मुगल सम्राट की गद्दी पर बैठे किन्तु वह नाममात्र के शासक थे। इन शासकों के काल में पुराने चित्रों की अनेक अनुकृतियाँ तैयार की गई परन्तु इन चित्रों में मुगल शैली की रेखांकन-कोमलता, सजीवता और रंगों की प्रौढ़ता का पूर्णतया अभाव है। इस काल के चित्रों में काले रंग का प्रयोग अधिक किया गया है। 1857 ई. में अन्तिम मुगल शासक बहादुरशाह जफर को बन्दी बनाकर रंगून भेजने के साथ ही मुगल साम्राज्य और मुगल चित्रकला दोनों ही समाप्त हो गये।

मुगल चित्रकला की विशेषतायें—मुगल साम्राज्य की भव्यता, ऐश्वर्य और वैभव के समान मुगल चित्रकला भी अपनी अन्तर्निहित विशेषताओं के कारण भारतीय चित्रकला में अपना पृथक् अस्तित्व बनाने में सफल हुई। चित्रकला की प्रारम्भिक मुगल शैली पर ईरानी प्रभाव अधिक था। ईरानी कला मुख्य रूप से पुस्तकों को चित्रित करने की कला थी। कवियों की रचनायें, दरबार के दृश्य, सम्राटों की मुखाकृति तथा लड़ाइयों के दृश्य ईरानी शैली के प्रमुख विषय थे। इस्लाम में चित्रकला निषिद्ध है। अतः यह चित्रकला कभी धार्मिक क्षेत्र में पदार्पण नहीं कर सकी। 16वीं शताब्दी में जब भारतीय मुगल सम्राटों के संरक्षण में यह फारसी कला विकसित होने लगी तो उसने भारतीय कला की अनेक विशेषताओं को ग्रहण कर लिया। इस प्रकार मुगल शासकों के संरक्षण में फारसी चित्रकला नवीन विशेषताओं से प्रस्टफुटित हुई। यह मुगल चित्रकला भारत की महान् चित्र शैली बन गई। इस सम्बन्ध में **आनन्द कुमारस्वामी** ने लिखा है कि **"सोलहवीं शताब्दी तक भारतीय चित्रकला पर ईरानी प्रभाव छाया रहा, परन्तु सत्रहवीं शताब्दी में यह प्रभाव लुप्त हो गया और भारतीयता स्पष्ट झलकने लगी। मुगल कला का वास्तविक रूप यही था।"**

मुगल चित्र कागज अथवा सूती कपड़े पर बनाये गये हैं। चित्रों का संयोजन लम्बवत् या क्षैतिज आकार में है। चित्रों के हाशिये बेलबूटों द्वारा अलंकृत

किये गये हैं। ग्रानेट आदि के चित्रों के हाशियों पर पशु-पक्षी भी चित्रित किये गये हैं। चित्रों की पृष्ठभूमि विषय के अनुरूप हल्के अथवा गहरे रंगों से बनाई गई है। मुगल काल के व्यक्ति चित्र में चेहरे एक अथवा डेढ़ चश्म है। सम्राटों और राजसी पुरुषों के मुख के चारों ओर सुनहरा प्रभा मण्डल अंकित किया गया है। मुगल चित्रों की रेखायें स्पष्ट और महीन है। रेखाओं की गति, लय और सजीवता के कारण मुगल चित्र अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। रेखाओं के किनारे पर गोलाई लाने के लिये सुकोमल छाया का प्रयोग किया गया है। रेखा तथा छाया के माध्यम से ही चित्रकार ने व्यक्ति के चरित्र और स्वभाव का चित्रण बड़ी कुशलता से किया है। चित्रों में यथार्थता लाने के लिये आकृतियों में छाया का प्रयोग किया गया है जिससे गहराई और उभार स्पष्ट दिखाई दे सके। यह छाया प्रायः बगलों, कान, जबड़े के नीचे और आंख के पास लगाई गई है। मुगल काल के अधिकांश चित्रों में दार्ष्टिक परिपेक्ष्य तथा परिस्थितिजन्य लघुता के सिद्धान्त का पालन किया गया है। मुगल चित्रों में भवनों का पर्याप्त चित्रण किया गया है। यह भवन श्वेत संगमरमर या सफेदी से पुते बताये गये हैं। चित्रों में फर्श, कालीन पर्दे, छत्र, स्तम्भ तथा दीवारें आवश्यक आलेखनों से अलंकृत हैं। मुगल चित्रों में वस्त्रों का अंकन अत्यन्त कुशलता से किया गया है। पुरुषों को प्रायः जामा, चुस्त पायजामा, कमर में पटका तथा पगड़ी आदि पहने हुये चित्रित किया गया है। स्त्रियों के वस्त्रों में कुर्ती, पायजामा, लहंगा और दुपट्टे की प्रमुखता है। पैरों में नोंकदार जूतियां बनाई गई हैं। सम्राटों तथा राजसी पुरुषों के वस्त्र सामान्य व्यक्तियों से भिन्न हैं। उन्हें कीमती आभूषणों से अलंकृत दर्शाया गया है। उनकी पगड़ियों में कीमती कलंगियां बनाई गई हैं। उनकी जूतियां भी अन्य व्यक्तियों से भिन्न हैं। स्त्रियों के चित्र मोतियों की माला, बाजूबन्द, दस्तबन्द, कड़े, झुमके, आदि आभूषणों से अलंकृत हैं। मुगल चित्रों की हस्त मुद्रायें और अंग-भंगिमायें अत्यन्त स्वाभाविक हैं। हस्त मुद्राओं में सजीवता और भावाव्यक्ति की क्षमता है। मुगल चित्रों के रंग चमकदार और स्थाई हैं। इन चित्रों में तीन प्रकार के रंगों का प्रयोग किया गया है—(1) वानस्पतिक, (2) खनिज एवं (3) रासायनिक। काला-काजल, महावर, नील तथा ढाक के फूलों का रंग वानस्पतिक रंग है। गेरू, हिरोंजी, रामरज, मुलतानी मिट्टी, खड़िया आदि खनिज रंग थे तथा सफेदा, लाल सिन्दूर, हिंगलू तथा पीला प्योड़ी रासायनिक रंग है। विविध रंगों के मिश्रण से नवीन रंग बनाने की पद्धति भी मुगलकाल में विकसित हो चुकी थी। इस प्रकार के रंगों में गुलाबी, फाख्ताई, आदि का प्रयोग प्रचुरता में हुआ है। इसके अतिरिक्त चित्रों को अलंकृत करने के लिए सोने और चांदी के रंगों का भी प्रयोग किया गया है। परवर्ती युग में मुगल दरबार में यूरोपीय कला का प्रभाव बढ़ने लगा था। किन्तु मुगल कला ने अलंकारिक योजना, रंगों की शीतलता तथा रेखाओं की सुडौलता की

विशेषताओं के कारण अपनी मौलिकता नहीं खोयी। मुगलकालीन चित्रकला की शैली और विशेषताओं के सम्बन्ध में **वाचस्पति गैरोला** ने लिखा है "चित्रकला की दृष्टि से यदि हम मुगलकला का सर्वेक्षण करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि निरन्तर दो सौ वर्षों के लम्बे समय तक उसमें नित्य नवीनीकरण होता रहा, किन्तु आदि से अन्त तक उसमें जो एक ही बात देखने को मिलती है, वह है उसकी सूक्ष्मता तथा सौम्यता मुगल शैली के सभी चित्रकारों ने परम्परा से परिवर्तित इन विशेषताओं को अपनी कृतियों में एक जैसे रूप में उतारा है।"

मुगल चित्रकला के विषय—मुगल काल में असंख्य चित्रों का निर्माण हुआ था जिन्हें विषयों के अनुसार निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(1) फारसी तथा भारतीय धार्मिक कथाओं के चित्र

(2) ऐतिहासिक घटनाओं तथा उत्सवों के चित्र

(3) दरबारी तथा सामन्ती जीवन के चित्र

(4) सम्राट, दरबारियों तथा सन्तों के व्यक्ति चित्र

(5) शिकार दृश्यों के चित्र

(6) पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों तथा पुष्पों एवं प्राकृतिक दृश्यों के चित्र।

उपर्युक्त विशेषताओं के होने पर भी मुगल चित्र शैली निरपेक्ष नहीं थी। उसमें अनेक दोष विद्यमान थे। मुगलकालीन चित्रकला में व्यक्ति चित्रण की प्रधानता है। चित्रकार ने व्यक्ति का चित्रण करते समय उसके चरित्र को तो व्यक्त कर दिया किन्तु भावों की सूक्ष्मता तथा गहनता के चित्रण की ओर उसका ध्यान नहीं गया। आत्म गुणों और भावनाओं की अभिव्यक्ति से मुगल चित्रकार अनभिज्ञ थे। इससे स्पष्ट है कि मुगल चित्रकला की आत्मा में ईरानी प्रभाव सदैव विद्यमान रहा। इस विषय में राय कृष्णदास ने लिखा है कि "इन चित्रों में हद से ज्यादा रियाज, महीनकारी, रंगों की खूबी तथा शान-शौकत एवं अंग-प्रत्यंग की लिखाई में दरबारी अदब कायदों की जकड़बन्दी और शाही दबदबे के कारण भाव का सर्वथा अभाव, बल्कि एक प्रकार से सन्नाटा पाया जाता है। जिससे जी ऊबने लगता है।" विषय की दृष्टि से भी मुगल चित्रकला अत्यन्त संकीर्ण थी। मुगल चित्रकला सम्राटों और उसके दरबार के इतिहास तक सीमित रही, इसमें सम्राटों, दरबारियों, समाज के नियन्त्रकों तथा राज्य के भाग्य निर्णायकों का चित्रण है। मुगलकला शाही वैभव, विलास और ठाठबाट में खोई रही कभी भी उसका सम्बन्ध जनसाधारण से नहीं हो सका। परन्तु इससे मुगल शैली का महत्व कम नहीं होता।"**वाचस्पति गैरोला** के अनुसार "मुगल शैली की वैभवावस्था को देखकर तात्कालिक भारत की सुख समृद्धि और जीवन स्वातन्त्र्य का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। जिस युग में कला को इतनी अभिरुचि से अपनाया गया उस युग की सांस्कृतिक उन्नति का अन्दाजा आज भी लगाया जा सकता है।"

14

राजपूत एवं-कम्पनी शैली चित्रकला

(Rajput and Company Style of Paintings)

राजपूत चित्रकला

भारत में 16वीं शताब्दी के अनेक लघु चित्र प्राप्त हुये हैं। इन चित्रों को इनकी विशेषताओं के आधार पर डॉ. आनन्द कुमारस्वामी ने दो भागों में विभाजित किया है—मुगल शैली के चित्र तथा राजपूत शैली के चित्र। डॉ. कुमारस्वामी ने राजपूत शैली के अन्तर्गत राजपूताना पहाड़ी राज्यों के चित्रों को रखा है। किन्तु नवीन खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि डॉ. कुमारस्वामी का विभाजन तथ्यपूर्ण नहीं है क्योंकि राजपूताना तथा पहाड़ी राज्यों की चित्र-शैली में पर्याप्त भिन्नता है। राजपूताना चित्र शैली का मूल स्रोत प्राचीन अपभ्रंश शैली है जबकि पहाड़ी चित्र शैली मुगल शैली का विकसित, परिमार्जित और सुन्दर रूप है। राजपूताना शैली 16वीं शताब्दी में विकसित होकर 18वीं शताब्दी में पतनोन्मुख हो गई जबकि पहाड़ी कला 18वीं शताब्दी में विकसित हुई थी। इसी प्रकार राजपूताना की चित्र शैली का प्रधान विषय राग-रागिनी है। परन्तु पहाड़ी शैली में राग-रागिनी चित्रण नगण्य है। इस प्रकार स्पष्ट है कि राजपूताना और पहाड़ी कला पूर्णतया भिन्न हैं।

राजपूताना की चित्रकला को राजपूत चित्रकला कहना भी भ्रममूलक है क्योंकि राजपूत जाति के आधार पर नामकरण से इस वर्ग के अन्तर्गत उन सब राज्यों की शैलियों को रखा जा सकता है जहाँ राजपूतवंशीय शासक राज्य करते थे। अतः राजपूताना के क्षेत्र में विकसित इस चित्र शैली को राजपूताना शैली अथवा राजस्थानी शैली कहना अधिक न्याय-संगत है। इस नाम से एक विशिष्ट क्षेत्र की की कला का बोध होता है।

राजपूत (राजस्थानी) चित्रकला

राजस्थान एक विशाल मरुस्थल प्रदेश है। मध्यकाल में इस प्रदेश में विविध राजपूत राजवंश शासन करते थे। इसीलिये इसे 'राजपूताना' कहा जाता था। राजपूत सभ्यता और संस्कृति की छाप आज भी इस प्रदेश में दिखाई पड़ती है। राजस्थान का इतिहास अत्यन्त गौरवपूर्ण रहा है। राजपूत शासक वीर और न्यायप्रिय होने के साथ कला प्रेमी भी थे। उन्होंने अपने राज्यों में कला को पर्याप्त संरक्षण और प्रोत्साहन दिया जिसके फलस्वरूप यह प्रदेश कला-सम्पन्न हो गया। राजपूत शासकों के संरक्षण और प्रोत्साहन के कारण मध्यकाल में इस प्रदेश में चित्रकला की एक नवीन शैली का जन्म हुआ, जिसे राजपूताना शैली अथवा राजस्थानी शैली कहा जाता है।

राजपूताना में चित्रकला की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। सातवीं और आठवीं शताब्दी में यहाँ अजन्ता चित्र शैली का प्रचलन था। उस काल में अनेक राजभवन भित्ति चित्रों से अलंकृत थे। मध्यकाल के आरम्भ में अरबों के आक्रमण से पीड़ित होकर गुजरात के अनेक चित्रकार भाग कर राजपूताना में आ गये जो अपने साथ चित्रकला की अपभ्रंश या भारतीय शैली लाये थे। पश्चिमी शैली के इन चित्रकारों ने अपनी शैली को स्थानीय शैली से आबद्ध कर एक नवीन शैली को जन्म दिया। दुर्भाग्य से इस नवीन शैली के अधिकांश नमूने नष्ट हो चुके हैं। मण्डोर, बाड़ोली तथा नागदा गांव की मूर्तियों में इस शैली के उदाहरण देखने को मिलते हैं। इस शैली के नामकरण के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। इस शैली में अधिकांश जैन ग्रन्थों का चित्रण हुआ है। अतः कुछ विद्वान इसे 'जैन शैली' मानते हैं। इस शैली का विकास गुजराती चित्रकारों द्वारा हुआ था इसलिये कुछ विद्वान इसे **'गुजराती शैली'** भी कहते हैं। कुछ विद्वान इसे **'अपभ्रंश शैली'** अथवा **'पश्चिमी भारतीय शैली'** भी कहते हैं। मुस्लिम शासकों की कट्टरता के कारण यह शैली राजपूताना के राज्यों में शिथिल गति से जीवित रही। इस काल में गुजराती और राजपूताना शैली की सीमायें समाप्त हो गयी थी। चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शताब्दी में गुजराती और राजपूताना के अनेक तीर्थ स्थानों पर चित्रित पोथियां बांटने की प्रथा थी। पोथियों के चित्रण की इस परम्परा के फलस्वरूप इस शैली में कुछ नवीन विशेषतायें प्रस्फुटित हुई। इस काल में चेहरे के अनुपात में बड़ी आंखों के चित्रण की परम्परा त्याग दी गई। चित्रों में अब स्थानीय वेशभूषा दर्शायी जाने लगी और विविध रंगों के प्रयोग द्वारा चित्रों को रंग-बिरंगा बनाया जाने लगा। इस काल में प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण पर भी विशेष ध्यान दिया जाने लगा तथा धार्मिक ग्रन्थों के साथ गैर धार्मिक ग्रन्थों को भी चित्रित किया जाने लगा था।

सोहलवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इस शैली में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। इस समय मुगल सम्राट अकबर ने मेवाड़ को छोड़कर समस्त राजपूताना को अपने प्रभाव में ले लिया था। अकबर उदार तथा सहिष्णु शासक था। अतः उसके काल में राजपूताना तथा मुगल शैलियों में समन्वय आरम्भ हुआ। 1567 ई. में अकबर ने 'अमीर हमजा' की कथाओं को चित्रित करने के लिये राजपूत राज्यों सहित देश के विभिन्न भागों से सर्वश्रेष्ठ चित्रकारों को राजधानी में बुलाया। 1582 ई. में यह कार्य समाप्त होने पर सभी चित्रकार अपने-अपने राज्यों में वापस लौट गये। परन्तु दीर्घकाल तक मुगल दरबार में रहने तथा ईरानी चित्रकारों के निर्देशन में कार्य करने से उनकी कला ने नवीन तत्व ग्रहण कर लिये थे जिनका प्रयोग उन्होंने अपने राज्यों में बनाये जाने वाले चित्रों में किया। राजपूताना की चित्रकला के सम्बन्ध में भी यही हुआ। प्रारम्भ में तो इन चित्रों पर गुजरात शैली और अपभ्रंश शैली का प्रभाव बना रहा किन्तु ज्यों-ज्यों राजपूत राजाओं के मुगल शासकों के साथ राजनीतिक और वैवाहिक सम्बन्ध बढ़ते गये त्यों-त्यों राजपूताना की चित्र शैली परिमार्जित होने लगी। इसके फलस्वरूप राजपूताना की चित्र शैली पर गुजराती शैली का प्रभाव कम होने लगा और मुगल शैली का प्रभाव बढ़ने लगा। इसलिये श्री **हीरेन मुकर्जी** तथा **डॉ. जदुनाथ सरकार** आदि विद्वानों ने राजपूत चित्र शैली का उद्भव मुगल शैली से माना है परन्तु यह मत भ्रांतिपूर्ण है। **डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव** तथा **वाचस्पति गैरोला** आदि विद्वानों ने इस मत का खण्डन करते हुये राजपूत चित्रकला का उद्भव भारतीय कला से माना है। वाचस्पति गैरोला के अनुसार "जब मुसलमान लोग भारत में नहीं आये थे, तभी राजपूत शैली की जड़ें जम चुकी थीं....... जो शैली तुर्किस्तान और फारस से यहाँ आयी राजपूत शैली उससे एकदम भिन्न हैं। वह विशुद्ध हिन्दू संस्कारों और परम्पराओं से बंधी है। जो यह कहा जाता है कि.......... राजपूत शैली मुगल शैली से निकली है, युक्ति संगत नहीं है।" एक अन्य विद्वान के अनुसार "राजपूत कलाविद् अपने देश की परम्परा से अनभिज्ञ नहीं थे।...........अजन्ता की चित्रकला का उन्हें ज्ञान था। इन्हीं को देखकर उनके हृदय में स्फुर्ति का संचार होता था। जिस प्रकार हिन्दी साहित्य संस्कृत साहित्य से प्रभावित हुआ, उसी प्रकार राजपूत कला पर प्राचीन भारतीय कला की छाप थी।" इस प्रकार मुगलों के राजनीतिक प्रभाव के बावजूद राजपूत शासकों की रुचि में परिवर्तन नहीं हुआ था। अतः राजपूताना की कला अपनी विशिष्टताओं के साथ अपना पृथक अस्तित्व बनाये रखने में सफल हुई। बीकानेर से प्राप्त चित्रों के आधार पर कार्ल खण्डालवाला ने लिखा है कि "यद्यपि ये चित्र मुगल शैली के काफी निकट प्रतीत होते हैं फिर भी यह चित्र स्थानीय विशेषताओं के कारण मुगल शैली से भिन्न हैं और अपना स्वतन्त्र अस्तित्व प्रकट करते हैं।" इस प्रकार अपनी विशिष्ट मौलिकताओं के साथ राजपूत चित्र शैली 16वीं शताब्दी के आरम्भ तक विकसित हो चुकी थी।

16वीं शताब्दी के मध्य में मुगल साम्राज्य के उदय और राजपूतों के उनके साथ बढ़ते राजनीतिक और वैवाहिक सम्बन्धों के फलस्वरूप राजपूत चित्रकला पर मुगल शैली का प्रभाव होने लगा। 1605-6 ई. में मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह ने 'रागमाला' चित्रित करने के लिए नासिरुद्दीन नामक मुस्लिम चित्रकार को चावण्ड में आमन्त्रित किया। इस काल से बने 'रागिनी' और "भागवत' चित्रों में चमकीले रंगों, मुखाकृति की कोणीयता तथा वस्त्रालंकरण की दृष्टि से गुजराती और मुगल-दोनों शैलियों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। इस काल तक राजपूताना के अधिकांश शासकों ने मुगल प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया था। अतः मेवाड़, मारवाड़, बून्दी, कोटा, बीकानेर, सिरोही, जैसलमेर और आमेर आदि राजपूत राज्यों में मुगल प्रभाव के अन्तर्गत स्थानीय विशिष्टताओं सहित चित्रकला की नवीन शैलियां विकसित हुई। कार्ल खण्डालवाला ने सत्रहवीं शताब्दी और अठाहरवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल को राजस्थानी चित्रकला का स्वर्ग युग माना हैं। इस काल में राजपूत चित्र शैली के प्रमुख विषय कृष्णलीला, नायिका भेद, विविध ऋतु चित्रण, रामायण और महाभारत की कथा तथा पशु-पक्षी चित्र आदि थे।

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में राजपूत चित्रकला नवीन दिशा में अग्रसर हुई। 1658 ई. में औरंगज़ेब मुगल सम्राट की गद्दी पर बैठा। वह कट्टर सुन्नी मुस्लिम तथा असहिष्णु शासक था। इस्लाम में 'चित्रकला' निषेध हैं। अतः औरंगजेब ने अपने साम्राज्य में चित्रकला को निषेध घोषित कर दिया और चित्रकारों को अपने दरबार से निकाल दिया था। राजकीय संरक्षण के अभाव में अनेक चित्रकार विभिन्न राजपूत राज्यों की राजधानी में चले गये जहां राजपूत शासकों ने उन्हें संरक्षण प्रदान किया। यह काल ऐश्वर्य और भोग-विलास का था। राजपूत शासकों का संरक्षण और प्रोत्साहन पाकर मुगल दरबार से निर्वासित होकर आये चित्रकारों ने राजपूत चित्र शैली को नवीन रूप प्रदान किया। इस काल में मुगल शैली राजपूत शैली में पूर्णतया निमज्जित हो गई। इस काल के चित्र राजकीय तड़क-भड़क और अत्यधिक अलंकरण पूर्ण हैं। मुगल प्रभाव के कारण चित्रों के विषय में भी परिवर्तन हुआ। इस काल के चित्रों में शासकों के ऐश्वर्य तथा विलासितापूर्ण जीवन के चित्रण की प्रधानता है। यहां तक की कृष्णलीला और राधाकृष्ण के धार्मिक चित्रों में भी मानवीय कामुकता दृष्टिगत होती है। इस काल में राजपूत शासकों के साथ अनेक जागीरदारों और सामन्तों ने भी अपने-अपने क्षेत्रों में चित्रकला को संरक्षण और प्रोत्साहन दिया जिनमें देवगढ़, उणियारा, शाहपुरा, सलूम्बर तथा घाणेराव आदि स्थानों के जागीरदार प्रमुख हैं।

19वीं शताब्दी में अंग्रेजों के बढ़ते हुए राजनीतिक प्रभाव के कारण राजपूत चित्रकला को गहरा आघात लगा। अंग्रेजों को भारी कर और सैनिक खर्च चुकाने

के कारण राजपूत राजाओं की आर्थिक स्थिति खराब होने लगी थी। इससे उनके कला प्रेम को गहरा आघात लगा। संरक्षकों की शोचनीय आर्थिक स्थिति के फलस्वरूप चित्रकारों ने जीवन-निर्वाह के लिए अपनी कला को व्यवसायिक रूप दे दिया। इससे कला के परम्परागत विकास की धारा अवरुद्ध हो गई। चित्रकला के व्यावसायीकरण के फलस्वरूप साधारण जनता का जनजीवन चित्रकला का विषय बन गया जिससे विषय गाम्भीर्य के स्थान पर हल्कापन अधिक था। अतः राजपूताना की चित्रकला धीरे-धीरे पतन की ओर अग्रसर हो गई।

राजपूत (राजस्थानी) चित्रकला की शैलियां

मेवाड़ चित्र शैली—मेवाड़ की राजधानी उदयपुर अपने सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ की मनोरम झीलों के कारण यह नगर 'झीलों की नगरी' कहा जाता है। मेवाड़ के क्षेत्र में चित्रकला की परम्परा अति प्राचीन है परन्तु दुर्भाग्य से ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्व के चित्रों के न मिलने के कारण इसका विकासक्रम अज्ञात है। 11वीं शताब्दी के बाद बने चित्रों के आधार पर मेवाड़ की चित्रकला के विकास क्रम को भली प्रकार समझा जा सकता है। जैसाकि पूर्व में बताया जा चुका है कि मध्यकाल के आरम्भ में अरबों के आक्रमण से पीड़ित होकर गुजरात के अनेक चित्रकार राजपूताना के राज्यों में आकर बस गए थे। ये चित्रकार अपने साथ गुजराती शैली की परम्परा लाये थे। राजपूताना में इससे पूर्व ही अजन्ता चित्र शैली प्रचलित थी। अतः इन चित्रकारों के आगमन से दोनों शैलियों के समन्वय के फलस्वरूप एक नवीन शैली का जन्म हुआ। 1260 ई. के **'श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र-चूर्णि'** तथा 1423 ई. के **'स्वापासनाचार्यम'** ग्रन्थों के चित्र इस शैली के प्रमुख उदाहरण हैं। इन चित्रों के अलंकरण में अजन्ता शैली तथा गुजरात शैली का सम्मिश्रण दिखाई देता है। इस शैली के चित्रों में लाल, पीले और काले चटकदार रंगों का प्रयोग किया गया है। चित्रों में आकृतियों की लम्बी नाक, कौड़ी समान आंखें, घुमावदार लम्बी अंगुलियां इस शैली की मुख्य विशेषता हैं। पुरुष आकृति में विशाल वक्ष तथा स्त्री आकृति में उभरी गोल छातियां, तीखी नाक तथा छोटी ठुड्डी बनाई गई है। 16वीं शताब्दी के अन्त तक यह शैली निरन्तर विकसित होती रही। इस प्रगतिशील चित्र शैली में दार्ष्टिक परिपेक्ष्य तथा रेखांकन की कुशलता विकसित हुई। आकृतियों को भावनात्मक आधार पर चित्रित किया जाने लगा। पूर्व की कौड़ी समान फटी आंखें इस काल तक मीनाक्षी हो गई। अंगुलियां भी नेत्रों के समान वाचाल हो गयीं। इस काल के चित्रों में पेड़-पौधों का चित्रण अलंकरण के रूप में हुआ है। पुरुषों के वस्त्रालंकरण में, टखने तक धोती, कन्धे पर उत्तरीय, चुस्त पायजामा तथा कुल्हेदार पगड़ी की प्रधानता है। स्त्री आकृतियां घाघरा,

ओढ़नी, नाभि तक की चोली तथा कर्णफूल, हार, चूड़ियां, भुजबन्द और मोतियों एवं फूलों से गूँथी हुई चोटियों से अलंकृत हैं। चित्रों की पृष्ठभूमि लाल रंग से बनी है जिसमें नीले, पीले, हरे और काले रंग से आकृतियां बनाई गई हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि 16वीं शताब्दी के अन्त तक मेवाड़ शैली विकसित रूप ग्रहण कर चुकी थी। 1605 ई. में महाराणा अमरसिंह द्वारा चावण्ड में बनवाये गए **'रागमाला'** के चित्र इसके प्रमाण हैं। इस शैली के बने अन्य चित्रों के आधार पर **श्री ए. बी. वर्मा** ने लिखा है कि "राजपूत शैली ने सोलहवीं शताब्दी के अन्त में पश्चिम भारत कला शैली से भिन्न अपनी मौलिकता उत्पन्न कर ली थी और इस नवीन कला शैली के विकास में मेवाड़ अग्रगण्य था।"

राजपूताना के राज्यों में सिर्फ मेवाड़ ही 1597 ई तक मुगल साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने में सफल रहा। किन्तु महाराणा प्रताप के पुत्र अमरसिंह (1597-1620 ई.) को परिस्थितिवश मुगल आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। इसके फलस्वरूप मेवाड़ की चित्र शैली में मुगल चित्र शैली की विशेषताओं का समन्वय आरम्भ हो गया। मुगल शैली का यह प्रभाव मेवाड़ शैली पर विशेष रूप से जगतसिंह प्रथम (1628-1682 ई.) के राज्य काल में आया। 1640 ई. में बने **'नायिका भेद'** के चित्र इस प्रभाव के श्रेष्ठ उदाहरण है। मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदाय की भक्ति धारा ने भी मेवाड़ की चित्रशैली को प्रभावित किया। इसके फलस्वरूप मेवाड़ के चित्रों में वैष्णवों के आराध्य देव श्रीकृष्ण **तथा** उनके धर्मग्रन्थ **भागवत पुराण** के चित्रों की प्रधानता रही। उदयपुर, कोटा और जोधपुर के संग्रहालयों में इस काल में चित्रित भागवत पुराण की प्रतियां आज भी सुरक्षित हैं। इनमें 1648 ई. में शाहबादी नामक चित्रकार द्वारा चित्रित भागवत पुराण श्रेष्ठ है जो उदयपुर के संग्रहालय में है। कृष्ण भक्ति की प्रधानता होने पर भी इस काल में **'रामायण'** की कथा के आधार पर भी चित्र बनाये गए। 1649 ई. में चित्रित रामायण की प्रति आज भी प्रिंस आफ वेल्स म्युजियम, बम्बई में सुरक्षित हैं। महाराणा जगतसिंह का काल चित्रकला के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण था। 1652 ई. में जगतसिंह की मृत्यु हो गई। उनके उत्तराधिकारियों राजसिंह (1652-1680 ई) तथा जयसिंह (1680-1698 ई.) के काल में भी मेवाड़ शैली निरन्तर विकसित होती रही। इस काल में मेवाड़ शैली पर मुगल शैली के प्रभाव में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। इस काल में मेवाड़ के चित्रकारों ने तत्कालीन कवियों की रचनाओं पर आधारित चित्र बनायें। जिनमें नायिका भेद को प्रमुखता दी गई। इस काल में चित्रित ग्रन्थों में—रसिकप्रिया, रागिनींगुमार, गीत-गोविन्द, रागमाला, भागवतपुराण आदि प्रमुख हैं।

17वीं शताब्दी में विकसित हुई मेवाड़ चित्र शैली अनेक विशेषताओं से परिपूर्ण थी। इस शैली के चित्रों में सफेद, सुर्ख लाल, पीला, हरा गुलाबी, नीला,

केसरिया तथा लाजवर्द आदि चटकदार रंगों का विशेष प्रयोग किया गया है। चित्र की पृष्ठभूमि एक रंग से निर्मित है जिसमें घटना के महत्व के आधार पर आकृतियों का संयोजन किया गया है। चित्र का प्रमुख व्यक्ति मध्य भाग में दर्शाया गया है। मानव आकृतियो का भारी नाक और अण्डाकार चेहरा बनाया गया है। चिवुक तथा गरदन के मध्य भाग को पुष्ट बनाकर चित्रों में गम्भीरता उत्पन्न की गई है। स्त्री आकृतियाँ पुरुषों की तुलना में छोटी है। पुरुषों की वेशभूषा में घेरदार जामा तथा कमर में रंगीन पट्टियों से सजा लम्बा पटका दिखाये गये हैं। स्त्रियों को फूलदार आलेखनों से युक्त कपड़े की चोलियां और लहंगा पहने बताया गया है। स्त्रियाँ पारदर्शक ओढ़नी ओढ़े हैं। मेवाड़ शैली के चित्रों में प्रकृति का अलंकरण अत्यन्त कुशलता से किया गया है। वृक्ष सामान्यतः समूह में चित्रित किये गये हैं। वृक्ष के पत्तों का चित्रण अत्यन्त मोहक है। पहाड़ों और चट्टानों का अलंकरण मुगल शैली के समान है। जल को लहरदार रेखाओं द्वारा दर्शाया गया है। इस शैली में पशु-पक्षी अलंकरण में अपभ्रंश शैली की विशेषतायें बनी रहीं। अधिकांश पशु-पक्षी खिलौने के समान अलंकृत हैं। चित्रों की पृष्ठभूमि को दृढ़ बनाने के लिए पृष्ठभूमि में मुगल शैली के भवनों का अंकन किया गया है। मेवाड़ शैली के चित्रों में कृष्ण के चित्रण की प्रधानता है। प्रायः नायिका भेद, राग-रागिनी और रागमाला के चित्रों में कृष्ण और राधा को ही आदर्श प्रेमी-प्रेमिका के रूप में चित्रित किया गया है। इन चित्रों में शृंगार की प्रधानता होते हुए भी पहनावा, दरबार, जुलूस, विवाह, संगीत, नृत्य, अन्तःपुर, युद्ध तथा आखेट-सम्बन्धी दृश्यों में तत्कालीन लोक जीवन की झांकी दिखाई देती हैं।

18वीं शताब्दी के आरम्भ में मेवाड़ शैली की अपनी विशेषतायें समाप्त हो गयी। इस काल में शासकों और दरबारियों के व्यक्ति चित्र तथा अन्तःपुर के दृश्य अधिक बनाये गये। साथ ही उत्सव तथा आखेट आदि के चित्रों का अत्यधिक प्रचलन हो गया। इस काल में चित्रकारों ने भक्त **रत्नावली, पृथ्वीराज रासो, दुर्गा महात्म्य, नायिकाभेद, बारहमासा, रागमाला,** तथा **पंचतन्त्र** पर आधारित बड़े आकार की चित्रमालायें बनाई। इस समय मेवाड़ शैली पर यूरोपियन प्रभाव भी आने लगा था। डॉ. **मोतीचन्द्र** के अनुसार "अठाहरवीं शताब्दी के अन्त में और उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इस शैली की विशेषतायें समाप्त हो गयीं और यह कला केवल समसामयिक विलासी जीवन की झांकी मात्र रह गयी।"

बूंदी चित्र शैली--बूंदी राज्य हाड़ौती क्षेत्र में स्थित था। इस राज्य की सीमा उत्तर में जयपुर तथा टोंक, पश्चिम में मेवाड़ और दक्षिण में मालवा तथा सुदूर दक्षिण में चम्बल नदी से मिलती थी। इस राज्य का महत्व राव सुरजन सिंह (1554-1585 ई.) से आरम्भ होता है। पहले यह राज्य मेवाड़ के अधीन था किन्तु राव सुरजन सिंह ने 1557-58 के मध्य मेवाड़ की अधीनता त्याग दी थी।

यद्यपि बूँदी एक छोटा-सा राज्य था किन्तु उसकी भौगोलिक और प्राकृतिक स्थिति के कारण यहाँ राजस्थानी चित्रकला की विशेष शैली का विकास हुआ। मेवाड़ के अधीन रहने के कारण यहाँ की चित्रकला पर मेवाड़ शैली का प्रभाव था। किन्तु 1569 ई. में राव सुरजन सिंह द्वारा मुगल आधिपत्य स्वीकार करने के बाद इस शैली पर निरन्तर मुगल प्रभाव बढ़ता गया। इस प्रकार बूँदी विभिन्न शैलियों की संगम स्थली बन गयी।

बूँदी चित्र शैली का विकास रागिनी चित्रों से होता है। आरम्भिक शैली का एक उदाहरण **'राग दीपक'** का चित्र है जो भारत कला भवन, काशी में सुरक्षित है। दूसरा उदाहरण **'राग भैरवी'** का चित्र है जो म्युनिसपल म्युजियम, इलाहबाद में सुरक्षित है। ये चित्र उस काल के हैं जब बूँदी चित्र-शैली अपना पृथक् रूप धारण कर रही थी। सम्भवत: यह चित्र सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भिक काल के हैं। इन चित्रों के चेहरे की बनावट मेवाड़ शैली के समान तथा आकृतियों में नुकीली नाक अपभ्रंश शैली के समान हैं। 'राग भैरवी' के चित्र में कुछ विकसित शैली दिखाई पड़ती हैं। इस चित्र के गोल चेहरे, रंग योजना तथा वेशभूषा मेवाड़ की शैली के समान हैं किन्तु घने वृक्ष, पुष्प तथा पक्षियों का चित्रण स्थानीय परम्परा के अनुसार है। बूँदी शैली के आरम्भिक चित्रों में मेवाड़ शैली का प्रभाव अधिक दिखाई देता हैं किन्तु बूँदी शैलो की अपनी निजी विशेषतायें भी दृष्टिगत होती हैं। इस शैली के चित्रों में चेहरे पर कोमलता विद्यमान है तथा चेहरों में गोलाई लाने के लिये मुकोमल छाया का प्रयोग किया गया है। चेहरे अनुपात में छोटे बनाये गये हैं।

मुगल साम्राज्य की अधीनता स्वीकार करने के बाद सत्रहवीं शताब्दी में बूँदी शैली पर मुगल शैली का प्रभाव बढ़ने लगा। राव सुरज़न सिंह के पौत्र राव रतन सिंह ने मुगलों की ओर से दक्षिण की चढ़ाइयों में भाग लेकर सम्मान प्राप्त किया था। इसी समय बूँदी का दक्षिण से सम्पर्क हुआ और बूँदी कला पर दक्षिणी कला का भी प्रभाव पड़ने लगा। इस काल में बने चित्रों—**'बसन्त रागिनी'** (1682 ई.), **'वासुक सज्जा नायिका'** तथा **'परिचारिकाओं सहित रानी'** में यह प्रभाव दिखाई देता है। 'बसन्त रागिनी' चित्र में राजा-रानी उद्यान में खड़े दूज का चाँद निहार रहे हैं। इस चित्र के रंगों का संयोजन मुगल-शैली के अनुरूप है किन्तु मुखाकृतियाँ मेवाड़ शैली तथा उद्यान का प्राकृतिक चित्रण दक्षिण शैली के समान है। इसी प्रकार 'वासुक सज्जा नायिका' में नायिका को घने वृक्ष, फूलों और पशु-पक्षियों के मध्य चित्रित किया गया है। इस चित्र में प्राकृतिक चित्रण बूँदी की पारम्परिक शैली के अनुरूप है। परन्तु चित्र का रंग संयोजन तथा बनावट मुगल शैली के अनुरूप है।

अठाहरवीं शताब्दी का पूर्वार्ध बूँदी चित्रकला के चरमोत्कर्ष का युग था। इस काल के चित्रों में अलंकरण की प्रधानता है। चित्रों के एक चश्म चेहरे की छाया को गहरे रंग से बनाया गया है जिससे चेहरा सरलता से उभर जाय। पृष्ठभूमि साधारणतया पुष्पित लताओं से आच्छादित वृक्ष समूहों से बनाई गई है। इस काल में विभिन्न वस्तुओं तथा नायिका भेद का चित्रण प्रमुखता से हुआ है। इनमें **'राव सुरजनसिंह के हाथी', 'भालेराव और आनिदा', 'कांटा निकालते स्त्री'** तथा **'स्नानते'** आदि चित्र बूँदी शैली के सुन्दर उदाहरण हैं। अठाहरवीं शताब्दी के मध्य में बना **'राधा और कृष्ण का मिलन'** चित्र भावनात्मक सौन्दर्य के चित्रण का सुन्दर उदाहरण है। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बूँदी-शैली पतन की ओर अग्रसर होने लगती है। इस काल में चित्रकारों की दक्षता और कुशलता में कमी होने लगी थी। शरीर चित्रण में भूरे और मिश्रित लाल रंग के स्थान पर गुलाबी रंग का प्रयोग किया जाने लगा तथा चेहरों की गोलाई उभारने के लिये सुकोमल छाया के स्थान पर कठोर व भद्दी छाया बनायी जाने लगी। इस काल के चित्रों के चेहरे और पृष्ठ भूमि सपाट रंग से चित्रित है।

बूँदी शैली की विशेषतायें—बूँदी चित्र शैली की कुछ मौलिक विशेषतायें थीं जिनके कारण वह राजपूताना की अन्य चित्र शैलियों से पृथक् अस्तित्व बनाये रखने में सफल हुई। इस शैली के आरम्भिक चित्रों में मानव आकृतियाँ सुरा के समान लाल रंग की हैं। किन्तु परवर्ती चित्रों में इस रंग का स्थान गुलाबी रंग ने ले लिया था। चित्रों की पृष्ठभूमि गहरी सपाट रंग की है। चेहरे भारी और नाक लम्बी नोकदार बनाई गयी हैं। आँखों को कोमल छाया द्वारा नीचे से गहरा बनाया गया है। चिबुक दोहरी बनाई गई हैं और स्त्रियों के सिर शरीर के अनुपात में छोटे बनाये गये हैं। बूँदी शैली के चित्रों में प्रकृति का चित्रण उद्दीपन के रूप में हुआ है। वृक्ष पुष्पों और लताओं से आच्छादित हैं। जल का अंकन गहरी पृष्ठ-भूमि पर सफेद रंग की लहरदार रेखाओं द्वारा किया गया है। इस शैली के चित्रों में आकाश का चित्रण अत्यन्त सुन्दर है। इस शैली के चित्रांकन में गोलाई लाने के लिये काली तिरछी रेखाओं की सुकोमल छाया का प्रयोग किया गया है। बूँदी शैली के चित्रों में पुरुषों को चक्करदार जामा, कमर में लम्बा संकरा पटका और सिर पर अधपट्टी पगड़ी बाँधे बनाया गया है। स्त्रियों को वक्ष-स्थल पर चोली, नीचे लहंगा और सिर पर ओढ़नी पहने दिखाया गया है। इस शैली के चित्रों में पशु-चित्रण अत्यन्त सुन्दर है। चित्रों में दर्शाये गये भवन प्रायः मुगल शैली के हैं। उद्यानों में पीठिकायें तथा फव्वारें आदि चित्रित किये गये हैं। बूँदी शैली के चित्रों में सोने और चाँदी के रंगों के अलावा लाल, पीले, हरे, सफेद और काले रंग का अधिक प्रयोग किया गया है। बूँदी शैली के चित्रों में पुष्पित पौध, स्त्रियों का

छोटा कद तथा रात्रि दृश्यों के चित्रण में दक्षिण शैली का प्रभाव दृष्टिगत होता है।

मारवाड़ शैली—मारवाड़ में भी चित्रकला की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। मध्य काल में इस क्षेत्र में चित्रकला की एक पृथक् शैली का उदय हुआ जिसे मारवाड़ शैली कहा जाता है। इस शैली का विकास 16वीं शताब्दी में हुआ था। राव मालदेव (1531-1562 ई.) ने इस कला को प्रोत्साहित किया। इसके काल में जोधपुर दुर्ग के चोकोलोव महलों में अनेक चित्र बनाये गये जिनमें **'राम-रावण युद्ध'** और **'सप्तशती'** के चित्र प्रमुख हैं। इन चित्रों के चेहरे दृढ़ और आँखें मीनाक्षी हैं। 16वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मोटा राजा उदयसिंह ने मुगलों की अधीनता स्वीकार करली। इसके बाद मारवाड़ चित्रकला पर मुगल प्रभाव पड़ने लगा। 1610 ई. में चित्रित **'भागवत पुराण'** इसका प्रमुख उदाहरण है। इस ग्रन्थ के चित्रों की आकृतियाँ तो स्थानीय शैली की हैं किन्तु वेश-भूषा मुगल शैली की हैं। मारवाड़ शैली पर मुगल प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। परवर्ती काल के **'ढोलामारु'** के चित्र में ढोला की पगड़ी मुगल शैली की हैं। इसी प्रकार 1620 ई. में बने **'बिलाबल रागिनी'** नामक चित्र के स्थापत्य के अंकन में मुगल प्रभाव दिखाई देता है। महाराजा गजसिंह के काल में बने अनेक चित्र तो पूर्णतया मुगल शैली के है। महाराजा जसवन्त सिंह (1638-1678 ई.) को मुगल कला से अधिक अनुराग था। उसने अनेक स्थानीय और मुगल कलाकारों को अपने राज्य में संरक्षण प्रदान किया। इस काल में बने चित्रों में मुगल प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है। इन चित्रों के रंग, आभूषण, वस्त्र, पृष्ठभूमि उद्यान तथा शाही पोशाक आदि मुगल शैली के हैं लेकिन स्त्रियों की वेशभूषा स्थानीय है। इस काल में **'ढोलामारू'** और **'सोहनी महिवाल'** आदि तत्कालीन प्रेम-कथाओं के चित्र बनाये गये। इसके अतिरिक्त मतीराम और केशवदास की साहित्यिक कृतियों, विविध ऋतुओं तथा राग रागनियों के चित्र बनाये गये। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में महाराजा अजीतसिंह के शासनकाल में मारवाड़ शैली पर मुगल प्रभाव काफी अधिक बढ़ गया। अब मारवाड़ी शैली की विशेषतायें लुप्त हो गई और वह मुगल शैली की अनुकृति मात्र बनकर रह गयी। इस काल के चित्रों के विषय तो स्थानीय थे किन्तु चित्रांकन पूर्णतया मुगल शैली का था। इन चित्रों में मुगल अन्तःपुर, फव्वारे तथा तुर्की स्नानागार के अंकन की प्रधानता है। महाराजा विजय सिंह के काल (1752-1793ई.) में भक्ति और शृंगार रस के चित्रों का अंकन अधिक हुआ। इसके बाद मानसिंह के शासनकाल में भी मारवाड़ में कुछ अच्छे चित्र बने किन्तु उसके बाद मारवाड़ की चित्रकला पतनोन्मुख हो गयी।

किशनगढ़ शैली—किशनगढ़ राजपूताना के मध्य छोटा-सा राज्य था। पहले यह क्षेत्र मारवाड़ राज्य के अधीन था। किन्तु 1609 ई. में जोधपुर के महाराणा उदय सिंह के पुत्र किशनसिंह ने यहाँ पृथक् राज्य की स्थापना की थी। किशनगढ़

राज्य के संस्थापकों ने आरम्भ से ही मुगलों की अधीनता स्वीकार करली थी। अतः उनके रहन-सहन, कला और संस्कृति पर मुगलों का यथेष्ठ प्रभाव पड़ा। राजपूताना के अन्य शासकों की भांति किशनगढ़ के शासकों ने भी चित्रकला को संरक्षण और प्रोत्साहन दिया जिसके फलस्वरूप यहाँ चित्रकला की एक स्वतन्त्र और रोचक शैली का विकास हुआ।

किशनगढ़ राज्य की स्थापना के समय से ही यहाँ चित्रकला की परम्परा का परिचय मिलता है। किशनसिंह के उत्तराधिकारी सहसमल (1615-1618 ई.) के काल के एक चित्र में आखेट का दृश्य अंकित किया गया है। इसके पश्चात् हरिसिंह के शासनकाल (1629-1640 ई.) में भी उसका व्यक्ति चित्र मिला है। परन्तु किशनगढ़ में चित्रांकन की परम्परा का वास्तविक प्रवाह मानसिंह के शासन काल (1658-1706 ई.) से आरम्भ होता है। किशनगढ़ दरवार के लेखों के अनुसार मानसिंह के शासनकाल में दरवारी चित्रकार कार्य कर रहे थे। इस काल के एक चित्र में मानसिंह को काले हरिन का शिकार करते हुये दर्शाया गया है। इस चित्र की शैली मुगल शैली के समान है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में किशनगढ़ में चित्रकला की परम्परा विकसित हो चुकी थी। मानसिंह के उत्तराधिकारी राजसिंह के शासनकाल (1706-1748 ई.) में यह परम्परा और विकसित हुई। किशनगढ़ दरवार संग्रह के एक चित्र में राजसिंह को जंगली भैंसे का आखेट करते दिखाया गया है। इस चित्र की शैली मेवाड़ शैली के समान है। किशनगढ़ के दरवार लेखों से ज्ञात होता है कि राजसिंह ने 1722 ई. में चित्रकार भवानीसिंह से अपने दरवारियों के मुखाकृति चित्र वनवाये थे।

परन्तु किशनगढ़ की स्वतन्त्र चित्र-शैली का संस्थापक राजसिंह का पुत्र सावन्तसिंह उर्फ नागरीदास था। उसने सर्वप्रथम विधिवत्‌ढंग से किशनगढ़ में चित्रशाला की स्थापना कर यहां की परम्परागत शैली को नया रूप दिया। सावंतसिंह एक अच्छा कवि, लेखक और चित्रकार था। साहित्यकार के रूप में उसने नागरीदास के नाम से 'बिहारीचन्द्रिका' तथा वृन्द, हरचरणदास, हीरामल तथा कनीराम आदि पर टीकायें लिखी थीं। उसने चित्रकला का विधिवत् अभ्यास किया था। मुगल दरवार में रहने के कारण उसने मुगल चित्रकला की विशेषताओं को निकट से देखा था। अतः उसने किशनगढ़ में भी चित्रकला को प्रोत्साहन दिया। सांवतसिंह कवि और लेखक होने के साथ कट्टर वैष्णव अनुयायी भी था। उनका कृष्ण के प्रति अपार प्रेम था। उसी समय उसके मन में एक सुन्दरी आ वसी जिसका नाम 'वनीठनी' था। वह वनीठनी के रूप पर मोहित हो उसका प्रेमी बन गया। उसने अपने प्रेम का वर्णन राधा और कृष्ण के प्रेम के रूप में किया। उसके काल में किशनगढ़ के चित्रों में स्त्री आकारों का विकास वनीठनी के रूप में हुआ। दूसरी ओर वैष्णव साहित्य के आधार पर राधाकृष्ण के चित्रों का अंकन हुआ। इन चित्रों

में अंकित राधा वनीठनी का प्रतिरूप थी। यह समस्त परिवर्तन नागरीदास तथा उसके चित्रकार निहालचन्द की कुशल बुद्धि का कार्य था। अब किशनगढ़ के चित्रों की स्त्री आकृतियाँ मछली जैसी आँखें और गोल भारी चेहरे वाली न होकर कमल या खंजन नयन, चाप समान भृकुटी, पतले सुकोमल अधर और लम्बी पतली नाक की विशेषताओं से युक्त थी। नारी के इस रूप के चित्रण में उसके वीर भाव के स्थान पर माधुर्य तथा कोमलता और चंचलता तथा नारीत्व के भाव को प्रमुखता दी गई। इन चित्रों में स्त्रियाँ लता के समान लचकदार छरहरे शरीर वाली तथा लम्बी बनाई गई हैं। इस प्रकार सांवतसिंह के काल में किशनगढ़ शैली की स्त्री आकृतियाँ राजस्थान की अन्य शैलियों से भिन्न रूप में विकसित हुई। वनीठनी का राधा के रूप में चित्रण परवर्ती काल के चित्रकारों के लिये राधा का एक आदर्श रूप बन गया। इस प्रकार अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में किशनगढ़ शैली आश्चर्यजनक रूप से उन्नत हुई। वनीठनी के रूप में इसे नवीन प्रेरणा, नवीन विधान और कोमलाङ्गी नारी चित्रण की चेतना मिली।

सांवतसिंह के काल में बने चित्रों में वैष्णव धर्म से सम्बन्धित कृष्ण के चित्रों की अधिकता है। निहालचन्द ने बनीठनी के चित्रों के अलावा **'भागवतपुराण'** तथा **'बिहारीचन्द्रिका'** के आधार पर अनेक चित्र बनायें। सावंतसिंह के दरबार में निहाल चन्द के अतिरिक्त सीताराम, अमरचन्द, सूरजमल तथा अमरू आदि चित्रकार थे जिन्होंने अनेक व्यक्ति चित्र, दरबार तथा आखेट आदि के चित्र बनायें।

सावंतसिंह के बाद बहादुरसिंह, सरदारसिंह विरादसिंह, प्रतापसिंह, कल्याण-सिंह, मोकमसिंह तथा पृथ्वीसिंह के काल में किशनगढ़ शैली न्यूनाधिक परिवर्तनों के साथ विकसित होती रही। इन सभी शासकों के चित्र किशनगढ़ के दरबार संग्रह में सुरक्षित हैं। लाडलीदास कल्याणसिंह के काल का प्रसिद्ध चित्रकार था। पृथ्वी सिंह के शासन काल (1840-1880 ई.) में 'गीतगोविन्द' के अनेक चित्र बने। इस काल तक चित्रकार निहालचन्द के स्त्री आकारों की परम्परा निभाते रहे। 19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में इस शैली की कृतियों में कोमलता के स्थान पर कठोरता आने लगी थी और खुलाई में काली स्याही का प्रयोग किया जाने लगा था।

किशनगढ़ शैली का विकास दरबारी कला के रूप में हुआ था फिर भी इस शैली के चित्रों में विषय की विविधता है। इस शैली के आरम्भिक चित्र दरबार तथा आखेट से सम्बन्धित है। सावंतसिंह के समय से राधा और कृष्ण चित्रकार के प्रिय विषय बन गये। इस काल में 'बिहारीचन्द्रिका' 'भागवतपुराण' तथा 'गीतगोविन्द' पर आधारित अनेक चित्रों का अंकन हुआ। इसके अतिरिक्त अन्तःपुर, रंगमहल, स्नानागार तथा रानियों की केलि-क्रीड़ा के अनेक चित्र बनाये गये।

'**चाँदनी रात में तालाब**' नामक चित्र अंतःपुर का श्रेष्ठ चित्र है। '**संगीत गोष्ठी**' नामक चित्र में संगीत और नृत्य का सुन्दर चित्रण है। किशनगढ़ शैली के चित्रों में प्रेमी-प्रेमिकाओं के चित्र विशिष्ठ ढंग से बनाये गये हैं। '**लाल बजरा**' तथा '**प्रेम-क्रीड़ा**' नामक चित्रों में नायक-नायिका को नौकाओं पर जल विहार करते दिखाया गया है। इसी प्रकार अनेक त्यौहारों के चित्र बने हैं जिनमें '**दीपावली और दीप**' नामक चित्र श्रेष्ठ हैं।

किशनगढ़ शैली के चित्रों में प्रायः पीला, लाल, नीला, हरा, काला, सफेद और सोने-चाँदी के अमिश्रित रंगों का प्रयोग किया गया है जिनमें पीले, लाल तथा नीले रंगों की प्रधानता है। इस शैली की मानव-आकृतियाँ राजपूताना की अन्य शैलियों से भिन्न हैं। विशेष रूप से स्त्री आकृतियाँ लतिका समान लचकदार, लम्बी और छरहरे शरीर वाली बनाई गई है। इस शैली के पशु-पक्षी चित्रण मेवाड़ शैली के समान हैं। स्त्रियों का पहनावा लहँगा, चोली और पारदर्शी आंचल है। स्त्रियों के गले, सिर, हाथों, कमर तथा नाक में आभूषण बनाये गये हैं जिनमें नाक की '**वेसरि**' विशिष्ठ प्रकार की है। पुरुषों के पहनावे में लम्बा जामा, कमर में पटका और सिर पर पगड़ी प्रमुख हैं। कभी-कभी धोती का भी प्रयोग किया गया है। इस शैली के चित्रों की रेखायें कोमल, बारीक और भावपूर्ण है। रेखाओं में प्रवाह और गति है। चित्रों में आम, जामुन तथा केला आदि के वृक्षों से प्रकृति-चित्रण किया गया है। किशनगढ़ शैली के चित्र जीवन्त और आत्मा की सच्ची अभिव्यक्ति के प्रतीक हैं।

जयपुर शैली—मध्यकाल में जयपुर राजपूताना का प्रमुख राज्य था। राजपूताना के राज्यों में सर्वप्रथम जयपुर (आम्बेर) ने ही मुगलों की अधीनता स्वीकार की थी। अतः यहाँ की कला और संस्कृति पर मुगल कला और संस्कृति का गहरा प्रभाव पड़ा। इसके फलस्वरूप यहाँ के चित्र मुगल शैली के अनुरूप बनने लगे। स्थानीय विशेषताओं के साथ यह चित्र शैली अठारहवीं शताब्दी में विकसित हुई थी।

अकबर का समकालीन आमेर का शासक भगवानदास कला प्रेमी था। उसने आमेर तथा वैराठ के उद्यानों में छतरियों पर भित्तिचित्र बनवाये। इन चित्रों का विषय हिन्दू धर्म से सम्बन्धित है किन्तु इनकी चित्रांकन शैली मुगल कला के समान हैं। 17वीं शताब्दी में बने रसिकप्रिया, कृष्ण लीला, गोवर्धन धारण, रास मण्डल, ग्रीष्म तथा शरद् आदि चित्र मुगल शैली के अत्यधिक प्रभाव के प्रतीक हैं। ये चित्र अत्यन्त सजीव कुशल रंग संयोजन तथा भावयुक्त कोमल रेखाओं से परिपूर्ण है। इन चित्रों का विषय स्थानीय है किन्तु वस्त्रादि मुगल शैली के समान हैं। 18वीं शताब्दी में सवाई जयसिंह के शासनकाल में बने चित्रों में हिन्दू शैली की

पुनःप्रतिष्ठा दिखाई देती है। इस काल में आमेर के भित्ति चित्रों तथा जयसिंह और प्रतापसिंह के व्यक्ति चित्रों में मुखाकृतियाँ हिन्दू शैली के अनुरूप है। इन चित्रों का प्राकृतिक चित्रण भी हिन्दू शैली के समान हैं। 19वीं शताब्दी में इस शैली पर यूरोपियन प्रभाव भी दिखाई देने लगता है। रामसिंह के शासनकाल में 1850 ई. में बने सरस्वती के चित्र में देवी को मुगल शैली में चित्रित किया गया है किन्तु देवी को यूरोपीय शैली के अनुरूप कुर्सी पर आसीन बताया गया है।

जयपुर शैली के चित्रों का प्रमुख विषय राजाओं के व्यक्ति चित्र, दरबार, आखेट तथा कृष्ण लीला का चित्रण था। शासकों के बड़े आकार के अनेक चित्र बनाये गये। कृष्ण के चित्रों में उनकी बाल, रास तथा विभिन्न लीलाओं के चित्र हैं। अनेक चित्र नायिका भेद के भी हैं। जयपुर शैली के चित्रों का विधान सुन्दर और सुकोमल तथा योजना अलंकारिक और सुरुचिपूर्ण है जिन पर यत्रतत्र मुगल प्रभाव है। चेहरे प्रायः एक चश्म है। चेहरों में गोलाई लाने के लिए काली रेखा तथा छाया का प्रयोग किया गया है। चित्रों के भवन तथा स्त्रियों का पहनावा मुगल शैली के हैं। प्रकृति और वानस्पतिक चित्रण मेवाड़ शैली के अनुरूप है। जयपुर शैली के चित्रों में मुगल शैली के समान काली, हरी और लाल पट्टियों से हाशिये बनाये गये हैं।

बीकानेर शैली—राजपूताना के अन्य राज्यों की भांति बीकानेर में भी स्थानीय विशेषताओं से युक्त मौलिक चित्र शैली का विकास हुआ। रायसिंह (1574-1612 ई.) के काल में मुगल अधीनता स्वीकार करने के बाद इस शैली पर मुगल प्रभाव बढ़ने लगा था। इस काल में चित्रित **'रसिक प्रिया'** के चित्र बीकानेर शैली और मुगल शैली के समन्वय के सुन्दर प्रतीक हैं। किन्तु **'मेघदूत'** के चित्र अपभ्रंश शैली के हैं। महाराजा अनूपसिंह के काल (1669-1698 ई.) में यह शैली चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई थी क्योंकि इस काल में अनेक मुगल चित्रकारों ने बीकानेर में संरक्षण प्राप्त किया था। इस काल में बने दरबारी चित्रों में स्थानीय शैली का प्रभाव तो है किन्तु दरबारी अनुशासन और तड़क-भड़क मुगल शैली के समान है। 18वीं शताब्दी में बीकानेर शैली पर मारवाड़ शैली का प्रभाव बढ़ने लगा था। बीकानेर के दुर्ग की भीतरी दीवारों पर चित्रित शिकार दृश्य, हरम तथा पौराणिक चित्र इस प्रभाव के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। अंग्रेजों के शासनकाल में राजकीय संरक्षण की यह शैली पूर्णतया व्यावसायिक होकर पतन की ओर अग्रसर हो गयी।

अन्य चित्र शैलियां—उपर्युक्त शैलियों के अतिरिक्त राजपूताना क्षेत्र में अलवर, कोटा, उनियारा तथा नाथद्वारा में भी विशिष्ठ चित्र शैलियों का उदय हुआ। दिल्ली से निकट होने के कारण अलवर शैली पर मुगल शैली का प्रभाव अधिक था। कोटा शैली बूँदी शैली की अनुकृति थी। जयपुर रियासत की जागीर

उनियारा के चित्र जयपुर शैली के समान हैं। किन्तु इस शैली की आंखों का अंकन जयपुर शैली से भिन्न है। इसी प्रकार वैष्णवों के तीर्थस्थल नाथद्वारा की चित्र शैली भी मेवाड़ की चित्र शैली से भिन्न है।

मूल्यांकन—उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि राजपूतवंशीय शासकों के संरक्षण में राजपूताना क्षेत्र में 16वीं शताब्दी के मध्य एक नवीन कला शैली का उदय हुआ जो अपनी अन्तर्निहित विशेषताओं के कारण भारतीय चित्रकला के इतिहास से विशेष महत्व रखती है। यह कला प्राचीन भारतीय चित्रकला का विकसित परिमार्जित और सुन्दर रूप थी। इस कला की प्रशंसा करते हुये श्री विद्यार्थी ने कहा है कि "अन्य भारतीय कलाओं की भांति राजपूत-कला भी अन्तर्रात्मा की तह तक पहुंचती है। कलाकार जितना अपनी आंखों से देखता था, उसी को चित्रित करने से सन्तुष्ट नहीं होता। उसके आन्तरिक जगत में अन्य स्वरूप, दृश्य एवं स्वप्न होते हैं, इन्हीं को वह अपनी लेखनी से चित्रित करने का प्रयास करता है और इसीलिए उसकी चित्रकारिता एवं मुगल चित्रकारिता में अन्तर है। इसका कारण यह है कि मुगल चित्रकारिता केवल जगत दृश्य से सम्बन्धित है।" इसी प्रकार इस शैली के स्त्री चित्रण की प्रशंसा करते हुए वाचस्पति गैरोला ने कहा कि—"नारी-सौन्दर्य को चित्रित करने में राजपूत शैली के चित्रकारों ने विशेष दक्षता दिखाई। उनके सुगठित सुन्दर अंग-प्रत्यंगों का आकर्षक चित्रण और जौहर की बलिवेदी पर आत्म विसर्जन का कठोर संकल्प नारी के इन दोनों रूपों को राजपूत-शैली के चित्रकारों ने बहुत ही सजगता से दर्शित किया है, नायिकाओं के चित्र में रीतिकालीन कवियों की कल्पनाओं को राजपूत-शैली ने साकार-रूप में उतारा है।" नारी-सौन्दर्य के अतिरिक्त राजपूत कलाकार पर्वत, मन्दिर तथा राजस्थान के दुर्ग, प्राचीन, प्रासाद आदि का चित्रण भी बड़ी कुशलता से करते थे।

कम्पनी चित्रकला शैली

मुगल चित्रकला पर यूरोपीय प्रभाव का आरम्भ 17वीं शताब्दी में हो गया था। 1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु के बाद भारत का राजनीतिक वातावरण अस्थिर हो गया था। अतः उत्तर भारत में सर्वत्र चित्रकला की अवनति के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे। दिल्ली के अनेक चित्रकार आश्रय की खोज में भारत के अन्य भागों में चले गये। मुर्शिदाबाद के नवाब ने 40 वर्षों तक इन चित्रकारों को आश्रय प्रदान किया। किन्तु 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मुर्शिदाबाद में भी राजनीतिक अस्थिरता व्याप्त हो गई। फलतः इन चित्रकारों को पुनः आश्रय की खोज में भटकना पड़ा। अनेक चित्रकार मुर्शिदाबाद छोड़कर कलकत्ता और पटना में आ बसे। इस प्रकार दिल्ली की मुगल शैली पटना पहुंची। उस समय पटना अंग्रेजों का प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। यहाँ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अनेक कार्यालय थे

जहाँ अनेक अंग्रेज़ अधिकारी रहते थे। इन अधिकारियों ने भारतीय चित्रकारों से अपनी कल्पना के अनुरूप अनेक लघु व्यक्ति चित्र बनवाये जिससे पटना में एक विशिष्ट कला शैली का जन्म हुआ जिसे **'कम्पनी शैली'** कहा जाता है। इस शैली का क्षेत्र उत्तर में बंगाल और पंजाब से लेकर महाराष्ट्र तक विस्तृत था। किन्तु इसे **'पटना शैली'** भी कहा जाता है क्योंकि इस शैली का उद्भव सर्वप्रथम पटना में हुआ था। **लालचन्द** और **गोपालचन्द** कम्पनी शैली के उद्भव काल के प्रसिद्ध चित्रकार थे। उन्नीसवीं शताब्दी कम्पनी शैली के विकास का युग था। इस शैली के विकास में **सेवकराम, लाला ईश्वरीप्रसाद, हुलासलाल, जयरामदास** तथा **फकीरचंद** आदि चित्रकारों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया था। इस काल में इन चित्रकारों को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों तथा रईसों का संरक्षण प्राप्त होता रहा। यह संरक्षक भारतीय तथा यूरोपीयन मिश्रित शैली के लघु व्यक्ति चित्रों का निर्माण करवाते थे। कम्पनी शैली के चित्रों में रेखांकन की कठोरता है। इन चित्रों की मानव आकृतियों को कोमलता से चिकना, गठनयुक्त और बारीकी से बनाया गया है। आकृति की सीमा रेखायें सन्तोषजनक हैं परन्तु चित्र भावशून्य हैं। इन चित्रों में मुगल शैली का भी पर्याप्त प्रभाव था किन्तु चित्रकला की कलात्मक विशेषताओं तथा सृजनात्मक शक्ति का लोप हो चुका था।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त और उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में 50 से अधिक अंग्रेज चित्रकार तेल रंगों से भारतीय राजाओं और रईसों के आदमकद व्यक्ति चित्र बनाकर धन कमाने की लालसा में भारत आये। इनमें से कई चित्रकार अपनी कला में दक्ष थे। शीघ्र ही इन चित्रकारों द्वारा बनाये गये चित्रों की माँग उच्च वर्ग में काफी बढ़ गई। जिससे भारतीय चित्रकला की परम्परागत शैली बिलकुल समाप्त हो गई। 1857 की असफल क्रान्ति से भारतीयों के विश्वास और आस्था को गहरा आघात लगा। देश में तेल चित्रों की बढ़ती हुई मांग के कारण 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत में एक नवीन कला धारा प्रस्फुटित हुई जो पाश्चात्य कला से प्रभावित थी। इस शैली के चित्रकारों में राजा रवि वर्मा का नाम अग्रगण्य है। राजा रविवर्मा ने थियोडोर जेनसन तथा अन्य यूरोपियन चित्रकारों से कला दीक्षा ली थी। राजा रविवर्मा ने इस शैली के अनेक व्यक्तिचित्रों, दृश्य चित्रों तथा धार्मिक और पौराणिक चित्रों का निर्माण किया। इन चित्रों का विषय तो भारतीय था किन्तु शैली और संयोजन पूर्णतया पाश्चात्य ढंग का था अतः ये चित्र काव्यगत भावना तथा उन्नत कल्पना से परे थे। ये चित्र रंगमंच की अनुकृति या स्थूल जगत की झांकी मात्र बन कर रह गये। लीथो प्रेस में छपने तथा सस्ते होने के कारण इन चित्रों का प्रसार तो काफी अधिक हुआ किन्तु इससे भारतीय कला की कलात्मकता और विशिष्टता समाप्त हो गई। मथुरा के रामास्वामी नायडू भी इसी परम्परा के प्रसिद्ध चित्रकार थे। दूसरी ओर अंग्रेज शासकों ने भारत में अपनी संस्कृति का प्रसार करने के लिए कला प्रशिक्षण हेतु बम्बई, कल-

कत्ता, मद्रास और लाहौर में आर्ट स्कूल में स्थापित किये जहाँ भारतीय विद्यार्थियों को यूरोपीय चित्रकला की शिक्षा दी जाती थी। अनेक भारतीय विद्यार्थियों ने इन आर्ट स्कूलों में प्रवेश लिया। परन्तु 20वीं शताब्दी के आरम्भ तक भारत में विदेशी चित्रकला का बीजारोपण नहीं हो सका क्योंकि परम्परावादी भारतीय विदेशी शैली की विशेषताओं को हृदयंगम नहीं कर सके।

20वीं शताब्दी के आरम्भ में भारतीयों में राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जागृति उत्पन्न हुई। जिसके परिणामस्वरूप कला के क्षेत्र में भी नवीन जागरण हुआ। इसका श्रेय कलकत्ता स्कूल ऑफ आर्ट के प्रिन्सीपल श्री ई. वी. हैवेल तथा अवीन्द्रनाथ ठाकुर को है। हैवेल ने भारतीय विद्यार्थियों को विदेशी रीतियों से दी जाने वाली कला शिक्षा की त्रुटियों को समझा। हैवेल यूरोपियन चित्रों की नकल करवाने की प्रथा को उचित नहीं मानते थे। अतः उन्होंने भारतीय जीवन और आदर्श से पूर्ण मुगल तथा राजपूत कला की ओर ध्यान दिया। उन्होंने कलकत्ता स्थित आर्ट स्कूल के विद्यार्थियों को यूरोपियन चित्रों के स्थान पर उत्कृष्ट भारतीय चित्रों के निर्माण की प्रेरणा दी। संयोग से उनकी भेंट अवीन्द्रनाथ ठाकुर से हुई। अवीन्द्रनाथ ठाकुर ने युवाकाल में इटली के चित्रकार गिलहार्डी से चित्रकला की शिक्षा लेकर अनेक तेल चित्रों का निर्माण किया था। परन्तु वे समन्वयवादी थे। विश्व की किसी भी शैली को भारतीय बना लेना उनकी विशेषता थी। उनकी मान्यता थी कि स्वदेशी परम्परा के आधार पर ही भारतीय कला जागरण सम्भव है। अतः वे हैवेल की योजना के कर्णधार बने। हैवेल ने उन्हें कलकत्ता के आर्ट स्कूल की भारतीय चित्रकला की कक्षाओं का अध्यक्ष बना दिया। इसके फलस्वरूप भारत में एक नवीन कला प्रस्फुटित हुई जो अजन्ता की कला से प्रेरित और मुगल, पहाड़ी, राजपूत, चीनी और जापानी कला का सुन्दर सम्मिश्रण थी। इस शैली के चित्रों में प्राचीन विषयों से लेकर वर्तमान जीवन के विभिन्न प्राकृतिक दृश्यों, जन-जीवन, लोक पर्व तथा इतिहास और पुराण आदि का सुन्दर और सजीव अंकन किया गया है। इनमें **'बुद्धजन्म'** **'बुद्ध और सुजाता'** **'मेघदूत'** 'उमर खय्याम' **'तिष्य रक्षिता का द्रुमडाह, 'गणेश जननी'** आदि प्रमुख हैं। अवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारतीय भित्ति चित्रण परम्परा को भी पुनर्जीवित किया। कलकत्ता के आर्ट स्कूल की दीवारों पर बने **'कच और देवयानी'** के चित्र इसके प्रमुख उदाहरण हैं। अवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनेक शिष्य इस शैली के प्रसिद्ध चित्रकार हुये जिनमें सुरेन्द्रनाथ गांगुली, नन्दलाल वसु, मुहम्मद खान तथा वीरेश्वर सेन आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है। बंगाल के चित्रकार यथार्थ से दूर होकर कल्पना को अधिक महत्त्व देते थे। अतः चौथाई शताब्दी पश्चात् ही यह कला पतनोन्मुख हो गई।

बंगाल में विकसित उपर्युक्त शैली ने भारतीय चित्रकला को अत्यधिक प्रभावित किया। किन्तु बम्बई बंगाल के इस प्रभाव से अछूता रहा। यहाँ पाश्चात्य

शैली की प्रधानता बनी रही । 19वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में बम्बई के जे. जे. स्कूल ऑफ आर्ट के प्रिंसीपल ग्रीफिल्स ने भारतीय कला के उत्थान के लिए प्रयत्न किये । उन्होंने अजन्ता के चित्रों के अध्ययन और अनुकृतियां को तैयार करने का एक विस्तृत कार्यक्रम बनाया किन्तु आर्थिक कारणों से यह कार्यक्रम आगे नहीं बढ़ सका । 20वीं शताब्दी के आरम्भ में बम्बई के जे. जे. स्कूल ऑफ आर्ट के प्रिंसीपल सोलोमन की प्रेरणा से यहां पाश्चात्य तथा भारतीय शैली के समन्वय का पुनः प्रयास किया गया । धुरन्दर तथा मालेकला नामक चित्रकारों ने इस क्षेत्र में कई नवीन और उल्लेखनीय प्रयोग किये । इस स्कूल के भारतीय कला के अध्यापक जगन्नाथ आदिवासी के निर्देशन में बम्बई के कला अभ्यासी छात्रों ने प्राचीन भारतीय कला शैलियों जैसे अजन्ता, राजपूत तथा कांगड़ा आदि का विशेष अध्ययन किया । इन चित्रकारों ने इन शैलियों को अपनी कला का आधार बनाया । बम्बई आर्ट स्कूल ने भारतीय कला के विकास के साथ पाश्चात्य शैली का भी अति उत्तम रूप विकसित किया जिसे स्वाभाविक या यथार्थ शैली कहा जाता है । प्रारम्भ में बंगाल के कला समर्थकों ने बम्बई के इन प्रयासों की आलोचना की थी । किन्तु आज बम्बई भारतीय और यूरोपियन शैलियों की मिश्रित कला का प्रमुख केन्द्र बन चुका है ।

15

भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य प्रभाव
(Impact of West on Indian Culture)

—भारत की शस्य श्यामल धरती पर अति प्राचीनकाल से अनेक विदेशी आक्रमण होते रहे हैं। प्राचीनकाल में यूनानी, शक, कुषाण और हूण आदि जातियाँ आक्रमणकारी के रूप में भारत में आयी। ये आक्रमणकारी भिन्न संस्कृति के स्वामी थे। किन्तु भारतीय संस्कृति ने अपनी समन्वयवादी विशेषता के कारण इन आक्रमणकारी जातियों को अपनी सांस्कृतिक धारा में शामिल कर लिया था। इस समन्वय के फलस्वरूप भारतीय संस्कृति ने आक्रमणकारी जातियों की संस्कृति के गुणों को ग्रहण किया परन्तु अपनी संस्कृति के आधार को अक्षुण्ण बनाये रखा। मध्यकाल में हुये मुस्लिम आक्रमण से भारतीय संस्कृति को गहरा आघात पहुँचा जिससे यह संस्कृति अपने ही दायरे में सीमित हो गयी थी। कालान्तर में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति में न्यूनाधिक सांस्कृतिक समन्वय भी हुआ। किन्तु फिर भी इस संस्कृति की आधार और मान्यतायें नहीं बदलीं। परन्तु अंग्रेजों ने अपने दीर्घ शासनकाल में अपनी शासन व्यवस्था को इस प्रकार व्यवस्थित किया कि उसके परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति में अनेक उल्लेखनीय परिवर्तन स्वतः ही उत्पन्न हो गये। वैसे परिवर्तन तो निरन्तर ही होते रहे हैं किन्तु अंग्रेजों ने इस परिवर्तन को गति प्रदान की जिससे भारतीय संस्कृति के सभी क्षेत्रों में महत्वपूर्ण परिवर्तन उभर कर सामने आये। इस काल में पाश्चात्य संस्कृति के प्रभावस्वरूप भारत में एक नई और भिन्न व्यवस्था का जन्म हुआ। इस सम्बन्ध में डॉ. एम.एन. श्रीनिवास ने लिखा है कि **"अंग्रेजी शासन के कारण भारतीय समाज और संस्कृति में बुनियादी और स्थायी परिवर्तन हुये। यह काल भारतीय इतिहास के पिछले सभी कालों से भिन्न था क्योंकि अंग्रेज अपने साथ नई प्रौद्योगिकी, संस्थायें, ज्ञान, विश्वास और मूल्य लेकर आये थे।"**

1408 ई. में पुर्तगाली नाविक वास्कोडिगामा द्वारा भारत के समुद्री मार्ग की खोज के बाद भारत का पश्चिमी देशों से प्रत्यक्ष और नियमित सम्पर्क आरम्भ हुआ था। इस प्रकार सर्वप्रथम पुर्तगाली भारत में आये। इनके बाद क्रमशः डच, अंग्रेज और फ्रांसीसी व्यापार के उद्देश्य से भारत आये। 1608 ई. में ब्रिटिश ईस्ट

इण्डिया कम्पनी ने मुगल सम्राट जहांगीर से भारत में व्यापार करने की आज्ञा लेकर सूरत में अपना कार्यालय खोला । अंग्रेजों की देखा-देखी फ्रांसीसियों ने भी 1664 ई. में फ्रेंच ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की । प्रारम्भ में इन विदेशी व्यापारिक कम्पनियों में व्यापार सम्बन्धी अधिकारों के लिये प्रतियोगिता होती रही । 1739 ई. तक भारत के साथ इन पाश्चात्य देशों का केवल व्यापार सम्बन्धी सम्पर्क ही था जिसके कारण भारतीय संस्कृति उनके प्रभाव से अछूती रही । परन्तु 18वीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य की केन्द्रीय शक्ति की निर्बलता के कारण भारत की राजनीतिक एकता छिन्न-भिन्न हो गयी । अब भारत की डांवाडोल राजनीतिक स्थिति ने पाश्चात्य व्यापारियों में राजनीतिक महत्वाकांक्षा जागृत कर दी और वे यहाँ राज्य करने का स्वप्न देखने लगे । भारत में राजनीतिक शक्ति की स्थापना का प्रमुख संघर्ष अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के मध्य हुआ जिसमें निर्णायक सफलता अंग्रेजों को मिली । 18वीं शताब्दी के मध्यकाल तक भारत के एक बड़े भू-भाग पर अंग्रेजों का शासन स्थापित हो गया था। अंग्रेज अपने पूर्ववर्ती आक्रमणकारियों से अधिक धूर्त और चालाक थे । उनकी मान्यता थी कि भारत पर निर्बाध शासन करने के लिए भारतीयों को केवल शारीरिक रूप से ही नहीं अपितु मानसिक रूप से भी ब्रिटिश शासन का गुलाम बनाया जाना अति आवश्यक है । किसी भी देश या जाति को मानसिक रूप से गुलाम बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उस देश या जाति की संस्कृति की मान्यताओं और आदर्शों को बदला जाय । अतः अपने इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये अंग्रेजों ने शासक बनते ही भारतीय संस्कृति को प्रभावित करना आरम्भ कर दिया । इस सम्बन्ध में **प्रोफेसर हुमायूँ कबीर** ने लिखा है **"चंचल यूरोपीयन भावनाओं ने प्रत्येक वस्तु की सूक्ष्म परीक्षा की । एक ओर तो भौतिक जीवन की अवस्थाओं में परिवर्तन किया और दूसरी ओर विश्वासों और परम्पराओं के आधार को नष्ट कर दिया ।"** इस प्रकार अंग्रेजों का उद्देश्य भारतीय संस्कृति को नष्ट कर भारतीयों को पाश्चात्य संस्कृति के मायाजाल में फंसाना था । चूँकि अंग्रेज शासक थे उनकी संस्कृति ने अनेक अच्छाइयां, अनेक आधुनिक व प्रगतिशील तत्व तथा असंख्य प्रलोभन थे । अतः भारतीयों के लिये स्वयं की संस्कृति को उनकी संस्कृति के प्रभावों से बचाये रखना सम्भव नहीं हुआ । उस काल में भारतीय संस्कृति में अनेकों बुराइयां व्याप्त हो चुकी थीं । अतः हम उनकी संस्कृति की ओर आकर्षित हुये और उसे अपनाया । इन सबके परिणामस्वरूप हमारी जाति-प्रथा, संयुक्त परिवार, विवाह, धर्म, कला, परम्परा, साहित्य, संगीत, विचार, आदर्श, लक्ष्य और मूल्य आदि सभी पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित हुये । इस प्रकार भारत की विशाल संस्कृति जो अति प्राचीनकाल से काल की विपरीत परिस्थितियों में दृढ़ता से पाँव जमायें अचल खड़ी थी । पाश्चात्य प्रभाव से कुछ समय के लिए विचलित हो गयीं । 19वीं शताब्दी के आरम्भ तक भारतीय संस्कृति पाश्चात्य संस्कृति से पूर्णतः प्रभावित हो गई थी । भारत के शिक्षित वर्ग का अपनी

सभ्यता और संस्कृति पर विश्वास उठ गया था और वे पाश्चात्य संस्कृति और ज्ञान को श्रेष्ठ मानने लगे थे। हिन्दू धर्म में व्याप्त बुराइयों के कारण अनेक हिन्दुओं ने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था। कुछ समय के लिये तो ऐसा प्रतीत होने लगा था कि पाश्चात्य प्रभाव के कारण हमारी संस्कृति सदा के लिए नष्ट हो जायेगी। फिर भी उस समय भारत में एक ऐसा वर्ग था जो पाश्चात्य संस्कृति के बढ़ते हुये प्रभाव से चिन्तित था और उसका विरोध कर रहा था। 1857 की क्रान्ति का एक महत्वपूर्ण कारण अंग्रेजों का बढ़ता सांस्कृतिक हस्तक्षेप भी था। 1857 ई. की क्रांति के बाद जब भारत का शासन ब्रिटिश साम्राज्ञी के अधीन हुआ तो अंग्रेजों की इस नीति में थोड़ा परिवर्तन आया। इसी समय भारत के बुद्धिजीवी वर्ग ने सामाजिक और धार्मिक सुधार आंदोलन का सूत्रपात किया जिसका उद्देश्य भारतीय समाज और धर्म में व्याप्त बुराइयों को दूर कर भारतीय संस्कृति का पुनरुत्थान करना था। इससे भारतीय संस्कृति में एक नई चेतना जागृत हुई और भारतीयों को अपनी संस्कृति और सभ्यता की श्रेष्ठता का ज्ञान हुआ। इसके बाद भी पाश्चात्य संस्कृति भारतीय संस्कृति को प्रभावित करती रही। किन्तु इस आंदोलन के बाद पाश्चात्य और भारतीय संस्कृति के तत्वों में ऐसा सामंजस्य किया गया जिसमें पाश्चात्य प्रभाव से भारतीय संस्कृति के दोष दूर हो सकें और वह समृद्ध हो सकें किन्तु उसका आधार, आदर्श और मान्यतायें अक्षुण्ण रहें। फिर भी अंग्रेजों के दीर्घ शासनकाल में पाश्चात्य संस्कृति ने भारतीय संस्कृति के किसी भी पक्ष को अपने प्रभाव से अछूता नहीं छोड़ा।

पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप भारतीय सांस्कृतिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। कार्लमार्क्स के अनुसार अंग्रेजों ने भारतीय संस्कृति पर दो प्रकार के प्रभाव डाले—प्रथम, विघटनात्मक और द्वितीय रचनात्मक। प्रथम रूप में उन्होंने भारतीय संस्कृति को नष्ट किया और द्वितीय रूप में उन्होंने भारत में पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता की स्थापना की। भारतीय संस्कृति पर अंग्रेजी प्रभाव के सम्बन्ध में कार्लमार्क्स ने लिखा है कि "विजेताओं में अंग्रेज प्रथम थे जिन्होंने हिन्दू संस्कृति....को नष्ट कर दिया तथा यहाँ के उद्योग-धन्धों की जड़ें काट दीं और भारतीय समाज में जिन वस्तुओं को आदर और उच्चता प्राप्त थी। उनके उत्कर्ष को छीन लिया।" पाश्चात्य संस्कृति ने भारतीय संस्कृति के सभी पक्षों को प्रभावित किया।

सामाजिक प्रभाव

पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के कारण भारतीय समाज में आधारभूत परिवर्तन हुए। जाति प्रथा हिन्दू समाज की रीढ़ है। मध्यकाल में मुस्लिम शासकों के भय से भारतीय व्यवस्थाकारों ने हिन्दू धर्म और समाज की रक्षा के लिए जाति प्रथा को कठोर बना दिया था। मध्यकाल में भक्ति आन्दोलन के अनेक आचार्यों ने जाति-भेद समाप्त करने का प्रयत्न किया था किन्तु उनके प्रयत्न सफल नहीं हुए थे। अतः अंग्रेजों के समय में भी भारतीय समाज में जाति-प्रथा अपने समस्त

नियमों और प्रतिबन्धों के साथ प्रचलित थी। परन्तु पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से भारतीय जाति प्रथा में संस्थात्मक और संरचनात्मक परिवर्तन हुए। यद्यपि अंग्रेजों ने भारतीय जाति प्रथा में प्रत्यक्ष रूप से कोई हस्तक्षेप नहीं किया। किन्तु अंग्रेजी शासन में कुछ ऐसे कारक थे जिनके माध्यम से उन्होंने हमारी जाति प्रथा पर प्रहार किया। अंग्रेजी शासन काल में औद्योगीकरण के कारण नगरों का विकास हुआ। हजारों की संख्या में श्रमिक रोजी कमाने के लिए नगरों में बस गए। नगरों के वातावरण ने जाति प्रथा की रुढ़ि को समाप्त करने में योगदान दिया क्योंकि नगरों में विभिन्न जाति के लोगों को साथ-साथ काम करना, रहना और खाना-पीना पड़ता था। औद्योगीकरण के कारण जाति पर आधारित वंशानुगत धन्धे नष्ट हो गये। नगरों की घनी आबादी के कारण कोई किसी को व्यक्तिगत रूप से नहीं जानता था। अतः लोगों को अपनी जाति छिपाने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। अंग्रेजों की नवीन शासन व्यवस्था तथा वाणिज्य और व्यापार के विस्तार ने असंख्य नवीन पेशों को जन्म दिया। अंग्रेजो ने भारतीयों को इन नवीन पेशों को चुनने का अवसर दिया। कोई भी व्यक्ति अपनी योग्यता और कुशलता के आधार पर किसी भी पेशे को अपना सकता था। इससे जाति के आधार पर पेशे नष्ट हो गए। यातायात के साधनों के विकास ने भी जाति-प्रथा की जटिलता को कम करने में मदद की। रेलगाड़ी, बस और ट्राम आदि में विभिन्न जातियों के लोगों का साथ-साथ बैठकर यात्रा करनी पड़ती थी जिससे जाति-पांति और छुआछूत की भावना कम हुई।

जाति-प्रथा की जटिलता में कमी लाने का प्रभावशाली कारण पाश्चात्य शिक्षा थी। परम्परागत भारतीय शिक्षा उच्च वर्ग तक सीमित थी किन्तु पाश्चात्य शिक्षा के द्वार सभी वर्ग के लोगों के लिए खुले थे। अतः अब निम्न जातियों में भी शिक्षा का विस्तार होने लगा। अंग्रेज व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के समर्थक थे। अतः उन्होंने भारतीयों को भी यही शिक्षा दी। पाश्चात्य शिक्षा ने समानता, स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्र और बन्धुत्व के पाश्चात्य आदर्शों को शिक्षित भारतीयों के मस्तिष्क में भर दिया जिससे जाति-प्रथा कमजोर होने लगी। पाश्चात्य शिक्षा जन्म पर आधारित न होकर व्यक्तिगत योग्यता पर आधारित थी। इस शिक्षा ने ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर दी जिसमें विभिन्न जाति के स्त्री-पुरुषों को साथ पढ़ने और काम करने का अवसर मिला जिससे विभिन्न जातियों में सहयोग और मेल-मिलाप की भावना में वृद्धि हुई। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव के कारण भारत में राजनीतिक आन्दोलन आरम्भ हुए। इन आन्दोलनों में सभी जाति, वर्ग और सम्प्रदाय के लोग ने सम्मिलित रूप से भाग लिया जिसके फलस्वरूप जातीय विभेद में कमी हुई।

पाश्चात्य प्रभाव से जाति प्रथा की जटिलता में कमी के फलस्वरूप छुआछूत की भावना में भी कमी हुई। पाश्चात्य शिक्षा ने भारतीय समाज में समानता के सिद्धान्त को विकसित किया। शिक्षा के प्रसार, यातायात के साधनों की उन्नति

और नगरों के विकास ने समाज के अछूतों को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक किया। आर्य समाज, ब्रह्म समाज और महात्मा गांधी ने भी इस ओर सक्रिय कार्य किया। इनके ऊपर भी पाश्चात्य संस्कृति का स्पष्ट प्रभाव था।

पाश्चात्य शिक्षा और औद्योगीकरण ने भारतीय समाज की संस्थाओं को भी प्रभावित किया। पाश्चात्य शिक्षा के आदर्शों के अन्तर्गत भारतीयों को व्यक्तिगत अधिकार, समानता और सुख का पाठ पढ़ाया गया जिससे भारतीयों में सामाजिक त्याग और कर्त्तव्य की भावना समाप्त हो गई। पाश्चात्य शिक्षा का व्यक्तिवाद का आदर्श संयुक्त परिवार के समष्टिवाद के आदर्श के विपरीत था। अतः इसके परिणामस्वरूप भारतीय समाज के आदर्श संयुक्त परिवार का विघटन आरम्भ हो गया। पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त युवक व्यक्तिगत अधिकार और स्वतन्त्रता को अधिक महत्व देने लगे जबकि उनके माता-पिता उनसे परिवार के लिए त्याग की अपेक्षा करते रहे। इन विरोधी विचारों ने पारिवारिक संघर्ष को जन्म दिया जिससे संयुक्त परिवार टूटने लगे। पाश्चात्य शिक्षा की दृष्टि से पति-पत्नी और उनके दो बच्चों का परिवार ही आदर्श परिवार है। इस भावना के कारण संयुक्त परिवार के प्रति अश्रद्धा बढ़ने लगी। संयुक्त परिवार के विघटन में औद्योगीकरण ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। कृषि आधारित अर्थ-व्यवस्था के लिए संयुक्त परिवार उपयुक्त था किन्तु औद्योगीकरण ने अर्थव्यवस्था के ढांचे को बदल दिया। औद्योगीकरण के कारण कृषि व कृषि पर आधारित उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये। अतः परिवार के अनेक सदस्य अपनी पत्नी और बच्चों सहित जीविकोपार्जन के लिए औद्योगिक नगरों में जाकर बस गए। धीरे-धीरे उन लोगों में पारिवारिक भावना समाप्त होने लगी। कभी-कभी नगरों में परिवार के सदस्यों की संख्या में बढ़ोत्तरी के कारण आवास-समस्या उत्पन्न हो जाती है जिससे परिवार को अलग घर बसाने पड़ते हैं। औद्योगीकरण ने संयुक्त परिवार के कार्यों को घटाकर व्यक्ति को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाया। इससे संयुक्त परिवार का निरन्तर विघटन होता चला गया।

पाश्चात्य संस्कृति ने भारतीयों के रहन-सहन, रीति-रिवाज और प्रथाओं को भी प्रभावित किया। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से हमारी वेशभूषा, खान-पान, बोलने और अभिवादन करने के तरीकों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। हमारी वर्तमान वेशभूषा पेन्ट, शर्ट, कोट, टाई, हैट, जूते, जुर्राब, रूमाल आदि सभी पाश्चात्य संस्कृति की देन हैं। इसी प्रकार केक, चाय, बिस्कुट, ब्रेड, आलू, चिप्स, आइसक्रीम, सोडा, शीतल पेय आदि खाद्य-पदार्थ भी पाश्चात्य संस्कृति की देन हैं। कप-प्लेट, चम्मच, कांटे, टेबिल-कुर्सी पर और बफर भोजन भी पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव ही है। अभिवादन व सम्बन्धसूचक शब्द—हैलो, टाटा, बॉय-बॉय, गुडमानिंग, मैडम, मम्मी, डैडी, अंकल, आंटी आदि सभी पाश्चात्य संस्कृति से ग्रहण किये गये हैं।

पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के फलस्वरूप भारतीय स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन आया। अंग्रेजों के शासन से पूर्व भारतीय समाज में स्त्रियों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। उन्हें किसी प्रकार का अधिकार और स्वतन्त्रता नहीं थी। परन्तु पाश्चात्य शिक्षा और आदर्शों ने स्त्रियों में एक नवीन जागृति उत्पन्न कर दी। स्वतन्त्रता और समानता की प्रगतिशील विचारधारा और नवीन सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप उन्हें अनेक क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हो गये।

समाज सुधार—भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के समय भारतीय समाज में अनेक बुराइयां व्याप्त थीं। सती-प्रथा, बाल-विवाह, कन्या-वध और अस्पृश्यता आदि बुराइयों के कारण भारतीय समाज की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। परन्तु पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क और पाश्चात्य शिक्षा के कारण कुछ अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लोगों में इन सामाजिक बुराइयों को समाप्त कर समाज-सुधार की इच्छा जागृत हुई। अतः उन्होंने सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाई। इन कुरीतियों को समाप्त करने के लिए अनेक संगठनों का निर्माण किया गया। अंग्रेजी सरकार ने भी भारतीय समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने लिए होने वाले आन्दोलनों का समर्थन किया और अनेक कानून बनाकर इन बुराइयों को समाप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस क्षेत्र में किये गए प्रमुख सुधार अधोलिखित हैं।

(i) सती-प्रथा—अंग्रेजों के शासन की स्थापना के समय भारत में पति की मृत्यु के बाद पत्नी द्वारा उसकी चिता पर जीवित जल जाने की प्रथा प्रचलित थी। हमारे धर्मशास्त्रकारों के अनुसार सती होने वाली स्त्री कुल उद्धारक और स्वर्ग की अधिकारिणी होती है। धर्मशास्त्रों की इस व्यवस्था के कारण अनेक स्त्रियाँ स्वेच्छा से सती होती थीं किन्तु मध्यकाल में यह प्रथा विकृत हो गई थी। इस काल में स्त्रियों को जबरदस्ती मृतक पति के साथ जलने को मजबूर किया जाता था। भारत के अनेक शासकों ने इस अमानवीय प्रथा को समाप्त करने का प्रयास किया था किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। अंग्रेज गवर्नर जनरल भी सती-प्रथा के विरुद्ध थे किन्तु वे भी धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप के पक्षपाती नहीं थे। फिर भी अंग्रेजी सरकार ने 1812, 1815 और 1817 ई. में कुछ नियम बनाकर छोटी उम्र की, गर्भवती और छोटे बच्चों वाली विधवाओं के सती होने पर रोक लगा दी। साथ ही किसी स्त्री को सती होने के लिए बाध्य करना भी अपराध घोषित कर दिया गया। अनेक पढ़े-लिखे भारतीय सुधारवादियों ने भी सती-प्रथा के विरुद्ध आवाज बुलन्द की। अन्त में राजा राममोहन राय के सहयोग से लार्ड विलियम बैंटिक ने दिसम्बर, 1829 ई. में एक कानून बनाकर सती-प्रथा को अवैध और दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया। अनेक धार्मिक कट्टरवादियों ने इस कानून का विरोध किया परन्तु वह असफल रहा। 1830 ई. में यह कानून मद्रास और बम्बई

में भी लागू कर दिया गया। 1857 की क्रान्ति क बाद 1862 ई. तक यह कानून सम्पूर्ण भारत में लागू हो गया। इस प्रकार ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारत में अमानवीय सती-प्रथा पूर्णतया: वन्द हो गई।

(ii) बाल-विवाह—मध्यकाल में मुस्लिम आक्रान्ताओं से भारतीय स्त्रियों की अस्मत की रक्षा के लिए बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित हो गई थी। धीरे-धीरे यह प्रथा भी विकृत हो गई। अनेक गर्भस्थ और दूधमुहें बच्चों के विवाह कर दिए जाते थे। प्राय: 12-13 वर्ष की लड़की मां बन जाती थी। बाल-विवाह के कारण स्त्रियों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। 19वीं शताब्दी में ब्रह्म समाज, आर्य समाज और एक पारसी पत्रकार मलाबारी ने बाल-विवाह के विरुद्ध आवाज उठाई। अत: अंग्रेज सरकार ने 1891 ई. में विवाह की न्यूनतम आयु 10 से 12 वर्ष निश्चित कर दी। 1901 ई. में बड़ौदा रियासत ने बाल-विवाह निषेध कानून द्वारा विवाह के लिए लड़के की आयु 14 वर्ष और लड़की की आयु 12 वर्ष निश्चित की। बाद में श्री हरविलास शारदा के प्रयासों से 1829ई. में **'शारदा अधिनियम'** पारित किया गया जिसके अनुसार 18 वर्ष से कम आयु के लड़के और 16 वर्ष से कम आयु की लड़की के विवाह पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार से भी बाल-विवाहों में कमी आई है। आज भारत के शहरों में बाल-विवाहों की संख्या नहीं के बराबर है किन्तु अनेक कानून बनने के बाद भी गाँवों में यह प्रथा अभी भी प्रचलित है।

(iii) **विधवा-विवाह**—बाल-विवाहों के कारण भारत में विधवाओं की संख्या भी काफी थी। सती प्रथा की समाप्ति से इस संख्या में और वृद्धि हो गयी। भारतीय सामाजिक प्रथा के अनुसार विधवाओं के लिए पुनर्विवाह वर्जित था और उन्हें अत्यन्त संयम और ब्रह्मचर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ता था। विधवाओं का जीवन अत्यन्त नारकीय था। किसी भी सामाजिक और धार्मिक समारोह या संस्कार में विधवा की उपस्थिति अशुभ मानी जाती थी। उन्हें घर के एक कोने में आवास और अत्यल्प और साधारण भोजन दिया जाता था। अत: अनेक समाज-सुधारकों ने विधवाओं की स्थिति में सुधार के लिए प्रयत्न किये। श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और केशवचन्द्र सेन आदि के प्रयासों से ब्रिटिश सरकार ने एक कानून बनाया जिसके अनुसार विधवा-विवाह को कानूनी मान्यता प्रदान की गई। इसके अलावा अनेक संस्थाओं ने विधवाओं की दशा सुधारने के लिए अनेक प्रयास किये। 1906 ई. में आर्य समाज ने अनेक विधवा आश्रमों की स्थापना की। ब्रिटिश सरकार ने भी भारतीय समाज सुधारकों के इस कार्य में पर्याप्त सहयोग दिया। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार और भारतीय समाज सुधारकों के प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप विधवाओं की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ। आज भारतीय समाज में विधवाओं की स्थिति दयनीय नहीं रही इसका श्रेय पाश्चात्य प्रभाव को ही दिया जा सकता है।

(iv) **बाल-वध**—18वीं शताब्दी में भारत में बालवध की दुष्प्रथा प्रचलित थी। इस बालवध के दो रूप थे—प्रथम, किसी अभीष्ट की प्राप्ति होने पर बच्चे की बलि दी जाती थी। यह प्रथा बंगाल में प्रचलित थी। दूसरी प्रथा कन्या-वध की थी। यह प्रथा मध्य और पश्चिमी भारत में प्रचलित थी। राजपूत, जाट और मेव आदि जातियों में कन्या का जन्म होते ही उसका वध कर दिया जाता था ताकि उसके विवाह के कारण उसके परिवार को किसी के आगे सिर नहीं झुकाना पड़े। समाज-सुधारकों ने इस बुराई की भी निन्दा की और इसे समाप्त करने की मांग की। अतः लार्ड बैंटिंग और उसके दो अधिकारियों—विलकिन्सन तथा विलोबी के प्रयासों से कुछ दशाब्दियों में बाल-वध की प्रथा समाप्त हो गयी।

धार्मिक प्रभाव

पाश्चात्य संस्कृति ने भारतीय धार्मिक जीवन को भी अत्यन्त गहराई तक प्रभावित किया। पाश्चात्य संस्कृति के विस्तार के पूर्व भारतीय जीवन पूर्णतया धर्म से प्रभावित था। प्रत्येक भारतीय की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक आदि स्थिति और कार्य-कलाप तथा दैनिक जीवन धर्म से निर्देशित था। भारतीय धार्मिक जीवन में अनेक अन्धविश्वास और कुप्रथायें प्रचलित थीं। सती-प्रथा, बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा और विधवाओं के पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध आदि कुप्रथाओं को धार्मिक मान्यता प्राप्त थी। परन्तु पाश्चात्य शिक्षा धर्म और आदर्शों के कारण धीरे-धीरे भारतीय इस धार्मिक आवरण से मुक्त होने लगे। पाश्चात्य सम्पर्क के प्रभाव से भारतीयों में तर्कपूर्ण और आलोचनात्मक दृष्टिकोण विकसित हुआ जिसके कारण धार्मिक अंधविश्वासों और रूढ़ियों में कमी आई। साथ ही पाश्चात्य भौतिकवाद और बुद्धिवाद के प्रभाव के कारण धार्मिक विधियों और कर्मकाण्डों का खण्डन होने लगा। भारतीय समाज में निम्न वर्ग की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। अंग्रेजों ने इस स्थिति का लाभ उठाकर निम्न वर्ग के अनेक लोगों को ईसाई बना लिया था। हिन्दू धर्म में व्याप्त अनेक बुराइयों के कारण उच्च वर्ग के लोग भी ईसाई धर्म की ओर आकृष्ट हुये। पाश्चात्य संस्कृति के बढ़ते हुये प्रभाव से भारतीय धर्म और संस्कृति को खतरा उत्पन्न हो गया। अतः बुद्धिजीवी वर्ग में नवीन चेतना जागृत हुई। उन्होंने विचार किया कि पाश्चात्य संस्कृति और धर्म के बढ़ते हुये प्रभाव को रोकने के लिये यह आवश्यक है कि भारतीय धर्म और समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर कर धर्म को नये वातावरण के अनुकूल बनाया जाय। इस कार्य के लिये राजा राममोहन राय ने बंगाल में ब्रह्म समाज की स्थापना की। ब्रह्म समाज के नेता देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने हिन्दू धर्म और समाज में व्याप्त कु-प्रथाओं की आलोचना की और वेद और वेदांत का प्रचुर मात्रा में प्रचार किया। ब्रह्म समाज के समान बम्बई में 'प्रार्थना समाज' की स्थापना की गई।

इसी प्रकार 1875 ई. में दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना की। दयानन्द सरस्वती भारत में वैदिक धर्म की स्थापना कर भारतीय सामा-

जिक व्यवस्था में जन्म पर आधारित जाति-प्रथा के स्थान पर कर्म आधारित वर्ण व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे। स्वामी दयानन्द के प्रयासों से हिन्दू धर्म में नवीन शक्ति का संचार हुआ। दयानंद सरस्वती ने पाश्चात्य धर्म, दर्शन और मूल्यों के परिपेक्ष्य में वेदांत की वास्तविक और नवीन व्याख्या करते हुये वैदिक धर्म के अन्तर्गत ही भारत को समानता, प्रेम और भातृभाव का मार्ग दिखाया। 1899 ई. में विवेकानंद ने भी इसी उद्देश्य से 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की।

पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क के प्रभाव से हुये इन सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन के परिणामस्वरूप भारतीय धर्म में व्याप्त अंधविश्वास, बाह्य आडम्बर और कर्मकाण्ड समाप्त हो गये तथा लोग धर्म के वास्तविक रूप से परिचित हुये। इन आंदोलनों ने भारतीयों में आत्मविश्वास और अपनी प्राचीन परम्पराओं के प्रति श्रद्धा उत्पन्न की।

राजनीतिक प्रभाव

भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना के कारण यहां की राजनीतिक व्यवस्था क्रांतिकारी रूप से प्रभावित हुई। अंग्रेजों ने यहां की व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन किये। ब्रिटिश शासन से पूर्व भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की तीन प्रमुख विशेषतायें थीं—**प्रथम** शासन व्यवस्था में धार्मिक सिद्धांतों की मान्यता, **द्वितीय** विभिन्न प्रांतों में विभिन्न शासकों द्वारा भिन्न-भिन्न शासन-व्यवस्था और **तृतीय** ग्राम पंचायतों की राजनीतिक ईकाई के रूप में मान्यता। अंग्रेजों ने इन व्यवस्थाओं को पूर्णतया समाप्त कर दिया। उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में धार्मिक सिद्धांतों को अमान्य कर दिया, सम्पूर्ण देश में एक समान शासन व्यवस्था स्थापित की और ग्राम पंचायतों के राजनीतिक अधिकार छीन लिये गये। यदि निरपेक्ष दृष्टि से देखा जाय तो सम्पूर्ण भारत को समान शासन सूत्र में बांधकर शांति व्यवस्था स्थापित करने का श्रेय अंग्रेजों को ही है। अंग्रेजों ने ही भारत का राजनीतिक एकीकरण किया। सन् 1857 ई. की क्रांति के बाद अंग्रेजों ने देश की आंतरिक शांति व्यवस्था की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया।

अंग्रेजी शासन काल में यातायात और संचार साधनों के विकास के फलस्वरूप भारत के विभिन्न प्रांत, जाति तथा धर्म के लोगों को परस्पर निकट सम्पर्क का अवसर मिला जिससे राष्ट्रीय भावना के जागरण में योगदान मिला। पाश्चात्य सम्पर्क से भारतीय पाश्चात्य राष्ट्रीय भावना से परिचित हुये जिसके फलस्वरूप उन्होंने अंग्रेजों के राजनीतिक प्रभुत्व, आर्थिक शोषण, कूटनीति और अत्याचार के विरुद्ध आवाज बुलन्द की। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से ही भारत में प्रजातंत्रीय संस्थाओं का भी विकास हुआ। पाश्चात्य राजनीतिक आदर्शों और मूल्यों के प्रभाव से भारतीय कानून व्यवस्था में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। अंग्रेजी शासन से पूर्व

भारतीय कानून व्यवस्था में ब्राह्मणों और मुल्लाओं को विशेष अधिकार और रियायतें प्राप्त थीं। परन्तु अंग्रेजों ने इन्हें समाप्त कर देश में कानून का शासन स्थापित किया जिसके अनुसार जाति, धर्म और वर्ण से ऊपर कानून को सर्वोच्च स्थान दिया गया। इन सुप्रभावों के साथ अंग्रेजों की राजनीति के कुछ दुष्परिणाम भी हुये। अंग्रेजों ने अपनी कूटनीति से हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य विभेद उत्पन्न कर दिया। मुसलमानों के लिये पृथक निर्वाचन प्रणाली को स्वीकार करके उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन को विभाजित करने का प्रयास किया। उनकी इस नीति के कारण ही 1947 ई. में देश का विभाजन हुआ।

शिक्षा के क्षेत्र में प्रभाव

शिक्षा संस्कृति की जननी है। शिक्षा के माध्यम से ही सांस्कृतिक तत्व विकसित, पल्लवित और परिवर्तित होते हैं। प्रारंभ में ईस्ट इंडिया कम्पनी व्यापारिक संस्था थी। अतः प्रारम्भ में उसने शिक्षा और संस्कृति के विस्तार की ओर ध्यान नहीं दिया। किन्तु 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बंगाल पर राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित होते ही अंग्रेज भारत में अपनी संस्कृति के विस्तार के लिये लालायित हो उठे। अंग्रेजों की मान्यता थी कि भारत में अंग्रेजी राज्य की दृढ़ता में लिये यह आवश्यक है कि भारतीयों को मानसिक रूप से पाश्चात्य संस्कृति का समर्थक बनाया जाये। शिक्षा पद्धति सांस्कृतिक परिवर्तन का आधार है अतः कम्पनी ने भारतीयों की शिक्षा की ओर ध्यान देना आरम्भ किया। उस समय भारत में मदरसों और पाठशालाओं की शिक्षा पद्धति प्रचलित थी जिनमें मुल्ला और ब्राह्मण परम्परागत धार्मिक शिक्षा दिया करते थे।

1813 ई. में कम्पनी के चार्टर के नवीनीकरण के समय इंगलैंड की सरकार ने कम्पनी को निर्देश दिया कि वह भारत के लोगों की शिक्षा के लिये प्रतिवर्ष एक लाख रुपया व्यय करें। 1823 ई. तक कम्पनी ने इस क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया परन्तु 1823 ई. में गवर्नर जनरल लार्ड एमहर्स्ट ने इस विषय में सुझाव देने के लिये एक समिति नियुक्त की। इस समिति के सदस्य प्राच्य शिक्षा के समर्थक थे अतः इस समिति की सिफारिश पर कम्पनी ने बनारस में संस्कृत कॉलेज और कलकत्ता में मदरसा स्थापित किया। साथ ही दिल्ली और आगरा में दो प्राच्य महाविद्यालय भी खोले गये जहाँ संस्कृत और अरबी की प्राचीन पुस्तकों को प्रकाशित करने और श्रेष्ठ अंग्रेजी साहित्य को देशी भाषा में अनूदित करने का प्रबन्ध किया गया।

परन्तु धीरे-धीरे अंग्रेजी साम्राज्य का विस्तार होता गया। इतने बड़े देश का शासन प्रबन्ध करने के लिए अनेक व्यक्तियों की आवश्यकता थी। अंग्रेजों के लिए इतने व्यक्तियों को इंगलैंड से लाना सम्भव नहीं था इसीलिये भारतीयों को शिक्षित करना आवश्यक था। दूसरी ओर राजाराममोहन राय आदि विचारकों ने

भारत में प्राच्य शिक्षा के स्थान पर अंग्रेजी शिक्षा के विस्तार की मांग की अतः लार्ड विलियम बैंटिक ने **लार्ड मैकाले** की अध्यक्षता में एक शिक्षा समिति नियुक्त की। फरवरी 1935 ई. में इस समिति ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसमें भारत में पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली लागू करने की सिफारिश की गई। लार्ड मैकाले ने पाश्चात्य शिक्षा के महत्व को प्रतिपादित करते हुए कहा कि **"हमें एक ऐसा वर्ग तैयार करने का प्रयत्न करना चाहिए जो हमारे और शासितों के मध्य वार्तालाप का माध्यम बना सके। जो रक्त और रंग में तो भारतीय हो लेकिन बुद्धि और विचारों से भारतीय न हो।"** मार्च, 1835 ई. में कम्पनी सरकार ने मैकाले की सिफारिशों को स्वीकार करते हुए भारत में पाश्चात्य ढंग की शिक्षा के प्रसार के आदेश जारी कर दिये। इस प्रकार भारत के पाश्चात्य शिक्षा का विधिवत् आरम्भ हुआ। इसके बाद कम्पनी तथा ईसाई मिशनरीयों के प्रयासों से अंग्रेजी शिक्षा का विकास हुआ। 1844 ई. में लार्ड हार्डिग्स ने सरकारी अंग्रेजी स्कूलों में शिक्षा प्राप्त लोगों को कम्पनी की नौकरी में प्राथमिकता देने की घोषणा की। इससे भारतीयों का पाश्चात्य शिक्षा की ओर आकर्षण बढ़ा। 1854 ई. में लार्ड डलहौजी ने शिक्षा के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। उसके काल में कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई और शिक्षा के विकास के लिये प्रत्येक प्रांत में शिक्षा विभाग की स्थापित किया गया।

पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव—अंग्रेजों द्वारा भारत में पाश्चात्य शिक्षा के विस्तार का मुख्य उद्देश्य भारतीयों का कल्याण न होकर अपनी संस्कृति का विस्तार करना और अंग्रेजी पढ़े लिखे कर्मचारी प्राप्त करना था। फिर भी पाश्चात्य शिक्षा के प्रभावों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पाश्चात्य शिक्षा प्रगतिशील थी। यह शिक्षा तार्किक, वैज्ञानिक और प्रजातान्त्रिक विचारों से ओत-प्रोत होने के साथ पंथ निरपेक्ष तथा उदार थी। इस शिक्षा के माध्यम से भारतीय पाश्चात्य विचारों से परिचित हुये जिससे उनके विचारों, दृष्टिकोणों और रहन-सहन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। पाश्चात्य शिक्षा ने ही भारतीयों, विशेष रूप से हिन्दुओं को अपने समाज और धर्म में सुधार की प्रेरणा दी। इसी कारण हिन्दुओं में जातिपांती, भेदभाव, अस्पृश्यता, धार्मिक कट्टरता, अन्धविश्वास तथा सामाजिक कुरीतियां कम होने लगी।

पाश्चात्य शिक्षा ने भारतीय राष्ट्रीय जागरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया। पाश्चात्य शिक्षा के कारण अंग्रेजी सम्पूर्ण भारत की सम्पर्क भाषा बन गई जिससे विभिन्न क्षेत्रों के लोगों में विचारों का आदान-प्रदान शुरू हुआ। पाश्चात्य शिक्षा के द्वारा भारतीय स्वतन्त्रता, समानता और प्रजातन्त्र के विचारों से अवगत हुये। इन सबके फलस्वरूप भारत में एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जिसने स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र के विचारों का प्रचार कर उन्हें प्राप्त करने के लिए संघर्ष आरम्भ कर दिया।

पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से कुछ अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों ने पाश्चात्य विचारों और संस्कृति का अन्धानुकरण करना आरम्भ कर दिया। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से इन लोगों की वेशभूषा- खानपान और रहन-सहन आदि सब अंग्रेजी ढंग के हो गये। ये लोग भारतीय धर्म और संस्कृति से घृणा करने लगे। इस प्रकार पाश्चात्य शिक्षा ने भारतीयों के मध्य ही दरार डाल दी। भारतीयों द्वारा पाश्चात्य वेषभूषा, खानपान और रहन-सहन अपनाने से अंग्रेजी माल की खपत में वृद्धि हुई जिससे भारत के आर्थिक शोषण में वृद्धि हुई।

पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से भारत ने मैकाले की आकांक्षा के अनुरूप एक 'क्लर्क वर्ग' या 'बाबू वर्ग' का जन्म हुआ जो शरीर से तो भारतीय था किन्तु विचारों से वह भारतीय संस्कृति का शत्रु था। इस नये वर्ग ने भारतीय संस्कृति के पतन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से प्राचीन भारतीय जीवन के आदर्श और मूल्य नष्ट हो गये।

कला पर प्रभाव

भारतीय संस्कृति के अन्यान्य पक्षों की भांति भारतीय कला भी पाश्चात्य प्रभाव से अछूती नही रही। पाश्चात्य सम्पर्क के फलस्वरूप भारतीय स्थापत्य, चित्र-कला और संगीतकला आदि में अनेक नवीन विधाओं का जन्म हुआ। साथ ही अनेक पाश्चात्य विद्वानों—**फर्ग्यूसन ई. बी. हैवेल, पर्सी ब्राउन** आदि ने भारतीय कलाओं का अध्ययन कर उसकी विशेषताओं और महत्व को विश्व के सामने रखा। भारतीय कला पर पाश्चात्य संस्कृति का बहुमुखी प्रभाव इस प्रकार है—

स्थापत्य कला—अंग्रेजों ने भारत में आकर **बम्बई,** कलकत्ता और मद्रास में अनेक इमारतें बनवाई जिनका स्थापत्य रोमन गॉथिक और विक्टोरिया शैली का समन्वित रूप था। अनेक भारतीय शासकों ने भी भवन निर्माण में इस पाश्चात्य शैली का अनुसरण किया जिससे भारत में इस शैली का प्रचार हुआ। भारत के विस्तृत क्षेत्र में साम्राज्य स्थापित होने के बाद अंग्रेजों ने एक सार्वजनिक निर्माण विभाग की स्थापना की। इस विभाग के इन्जीनियर तथा प्रारूपकार अंग्रेज थे किन्तु राजमिस्त्री प्रायः भारतीय होते थे। अतः पाश्चात्य और भारतीय स्थापत्य का सम्मिश्रण होने लगा। **चिशोल्म** तथा **इरविन** द्वारा मद्रास में बनवाई गई अनेक इमारतें दोनों शैलियों के समन्वय की प्रतीक है। बम्बई का **प्रिन्स ऑफ वेल्स म्युजियम और गेट वे ऑफ इण्डिया** प्राचीन भारतीय और पाश्चात्य स्थापत्य के समन्वय के सुन्दर उदाहरण हैं। भारतीयों को पाश्चात्य स्थापत्य की शिक्षा देने के लिए अंग्रेज सरकार ने बम्बई और कलकत्ता में प्रशिक्षण केन्द्र भी खोले। इन प्रयासों से धीरे-धीरे भारतीय स्थापत्य कला पाश्चात्य विशेषताओं से प्रभावित होने लगी।

चित्रकला—अंग्रेजों के शासन की स्थापना के समय भारतीय चित्रकला अपनी विशिष्टताओं को खोकर पतन की ओर अग्रसर थी। 18वीं शताब्दी में पाश्चात्य सम्पर्क के फलस्वरूप कम्पनी चित्रशैली का उदय हुआ। 19वीं शताब्दी के मध्य में पाश्चात्य शिक्षा के विकास के साथ अंग्रेज सरकार ने बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में कला केन्द्रों की भी स्थापना की। इन केन्द्रों में पाश्चात्य कला के मॉडल और चित्र बनाने की शिक्षा दी जाती थी। इससे भारतीय चित्रकला पाश्चात्य चित्रकला शैली और पद्धतियों में प्रभावित होने लगी। केरल के राजा रविवर्मा ने हिन्दू धार्मिक और पौराणिक कथाओं के अनेक चित्र बनाये। 20वीं शताब्दी में कलकत्ता आर्ट स्कूल के प्रिन्सीपल ई. बी. हैवेल ने प्राचीन भारतीय चित्रकला को पुनर्जीवित किया। हैवेल के संरक्षण में श्री अवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारतीय और पाश्चात्य शैलियों का सुन्दर समन्वय कर एक नवीन शैली को जन्म दिया जिसे **'बंगाल शैली'** कहा जाता है। 20वीं शताब्दी के अन्त में बम्बई के आर्ट स्कूल के कलाकारों ने पाश्चात्य कला की नई **'स्वाभाविक शैली'** को जन्म दिया।

नृत्य और संगीतकला—मध्यकाल में भारत में उत्कृष्ट संगीत और नृत्यकला प्रचलित थी। किन्तु अठारहवीं शताब्दी में राजकीय संरक्षण और प्रोत्साहन के अभाव में यह अपना मूलस्वरूप खो बैठी थी। कम्पनी राज्य की स्थापना के बाद इस क्षेत्र में जागृति आई। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से भारतीय नृत्यकला में नवीन विधाओं ने जन्म लिया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने नाटक और नृत्य को प्रस्तुत करने की नवीन शैली **'भावसंगीत'** को **विकसित** किया। भारतीय शास्त्रीय संगीत प्रायः पाश्चात्य प्रभाव से अछूता रहा किन्तु सामान्य संगीत इससे अत्यधिक प्रभावित हुआ। वर्तमान फिल्म संगीत इसका मुख्य उदाहरण हैं जिसमें पाश्चात्य धुनें परिष्कृत कर प्रयोग में लाई जा रही हैं। इसी तरह भारत के नगरों में प्रचलित डिस्को, रॉक-एन-रोल, ब्रेक और कैबरे नृत्य पाश्चात्य प्रभाव के उदाहरण हैं।

साहित्य पर प्रभाव

पाश्चात्य संस्कृति ने भारतीय भाषा और साहित्य पर भी पर्याप्त प्रभाव डाला। विश्व के समस्त आधुनिक साहित्य में अंग्रेजी साहित्य काफी समृद्ध माना जाता है। पाश्चात्य शिक्षा के द्वारा भारतीयों ने भी अंग्रेजी साहित्य का ज्ञान प्राप्त किया। इससे भारतीय भाषा और साहित्य में पाश्चात्य साहित्यिक शैली, सामग्री और विचारों का समावेश होने लगा। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के समय भारत में ब्रज भाषा और खड़ी बोली का गद्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था किन्तु पाश्चात्य प्रभाव से समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं के विकास के साथ भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में गद्य साहित्य का अभूतपूर्व विकास हुआ। गद्य साहित्य के अतिरिक्त काव्य, नाटक और उपन्यास साहित्य भी पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित

हुआ । पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से भारतीय कविता में व्यक्तित्व को महत्ता प्राप्त हुई । इससे पूर्व भारतीय कविता समष्टिवादी थी । गद्य साहित्य में उपन्यास और छोटी कहानी का विकास अंग्रेजी साहित्य की ही देन है । पाश्चात्य सम्पर्क के फलस्वरूप भारतीय साहित्य में समस्या प्रधान नाटकों, कहानियों तथा उपन्यास और एकांकी नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ । अंग्रेजों ने हिन्दी भाषा के विकास के लिए विश्वविद्यालयों में पृथक से हिन्दी विभाग की स्थापना की जिससे हिन्दी साहित्य पर भी पाश्चात्य प्रभाव पड़ने लगा । भारतेन्दु हरिश्चंद्र के साहित्य पर अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है । पाश्चात्य साहित्य शैली 'ब्लैक वर्सेस' के अनुकरण पर हिन्दी और बंगाली में अतुकांत कवितायें लिखी गई । अंग्रेजी साहित्य की भांति भारतीय साहित्य में भी छायावादी गीतों और कविताओं की रचना होने लगी । जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकांत त्रिपाठी और महादेवी वर्मा प्रसिद्ध छायावादी कवि हैं ।

पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से प्रांतीय भाषाओं का भी विकास हुआ । ईसाई धर्म प्रचारकों ने ईसाई धर्म का प्रसार करने के उद्देश्य से बाइबिल का देशी भाषाओं में अनुवाद किया और उसके प्रकाशन के लिए छापेखाने खोले । पाश्चात्य विद्वानों ने प्रांतीय भाषाओं का इतिहास लिखा और उनके शब्दकोष और व्याकरण की रचना की । उनके इन कार्यो से प्रान्तीय भाषायें समृद्ध हुई । इसके फलस्वरूप 19वीं शताब्दी में बंगला, गुजराती, हिन्दी और तमिल भाषा में महत्वपूर्ण साहित्य का सृजन हुआ ।

पाश्चात्य सम्पर्क के प्रभाव से भारत की प्राचीनतम संस्कृत भाषा का भी पुनरुद्धार हुआ । विलकिन्स, विलियम जोन्स, मैक्समूलर, विल्सन, जैकोबी आदि अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भारत के प्राचीन संस्कृत साहित्य का अध्ययन और अनुवाद किया तथा संस्कृत साहित्य के महत्व की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया । पाश्चात्य विद्वानों के प्रयत्नों से भारतीय अपने प्राचीन साहित्य में निहित दर्शन, धर्म और कला के उदात्त और श्रेष्ठ विचारों से परिचित हुये । साथ ही विश्व में भारतीय ज्ञान की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई । इन तथ्यों की जानकारी के बाद भारतीय अपने ग्रन्थों में निहित ज्ञान की अमूल्य निधि की ओर आकृष्ट हुये ।

आर्थिक प्रभाव

पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति ने भारत के आर्थिक जीवन को सबसे अधिक प्रभावित किया । कम्पनी राज्य की स्थापना के पहले भारत एक समृद्ध देश था । भारत के गांव आर्थिक दृष्टि से आत्म निर्भर थे । अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति वे स्वयं कर लेते थे । उनकी उपज आस-पास के नगरों की आवश्यकता की

पूर्ति के लिये पर्याप्त थी । भारत के गांवों की सम्पन्नता के सम्बन्ध में टेवर्नियर ने लिखा था "छोटे से छोटे गांव में चावल, आटा, मक्खन, दूध और चीनी आदि अधिक परिमाण में उपलब्ध हो सकती है ।" कृषि के साथ-साथ हमारे उद्योग धन्धे भी उन्नत अवस्था में थे । ढ़ाका की मलमल सारे विश्व में प्रसिद्ध थी । काश्मीर और पंजाब में बने ऊनी वस्त्र भी प्रसिद्ध थे । लखनऊ, नागपुर, मथुरा और अहमदाबाद का सूती वस्त्र उद्योग उन्नत अवस्था में था । सोने, चांदी, पीतल, और तांबे की धातुओं तथा हाथी दांत और चंदन की वस्तुयें भारत में कुशलता से तैयार की जाती थी । हैदराबाद में लोहे का उद्योग और दक्षिण भारत में जहाज निर्माण का उद्योग बहुत विकसित था । ये उद्योग केवल भारत की आवश्यकता की पूर्ति ही नहीं करते थे बल्कि भारत से सूती और रेशमी वस्त्र, मलमल, छींट, हाथी दांत और चन्दन की कलात्मक वस्तुयें, गर्म मसाले, शृंगार प्रसाधन तथा तेल और इत्र आदि विदेशों को निर्यात किये जाते थे । इनके बदले विदेशों से सोना और चांदी भारत आता था । 1700 ई. में भारत की आर्थिक स्थिति का वर्णन करते हुए फ्रांसीसी यात्री बर्नियर ने लिखा था "भारत एक अथाह गढ्ढा है जिसमें संसार का अधिकांश सोना और चांदी चारों तरफ से अनेक रास्तों से आकर जमा होता है और जिसे बाहर निकालने का उसे एक भी रास्ता नहीं मिलता ।" अनेक अंग्रेज लेखकों ने भी भारत की आर्थिक सम्पन्नता का वर्णन किया है ।

परन्तु अंग्रेजी राज्य स्थापित होने के बाद यह स्थिति कायम नहीं रह सकी । अंग्रेज भारत में व्यापार करने के उद्देश्य से आये थे किन्तु संयोग से उन्हें यहां राज्य मिल गया । अंग्रेजों की आर्थिक नीति के कारण भारत की आर्थिक दशा बिगड़ने लगी । अंग्रेजों का उद्देश्य भारत का आर्थिक शोषण करके ब्रिटिश साम्राज्य को समृद्ध बनाना था । इसके लिये उन्होंने कई तरीकों का सहारा लिया जिससे भारत की कृषि क्षत-विक्षत और उद्योग धन्धें नष्ट हो गये। इसके अलावा अंग्रेज कई माध्यमों से भारत का धन इंगलैण्ड ले गये ।

अंग्रेजी राज्य की स्थापना का सबसे पहला प्रभाव भारतीय कृषि पर पड़ा । 18वीं के उत्तरार्ध में कम्पनी ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी का अधिकार प्राप्त कर लिया अतः लगान वसूल करने का अधिकार कम्पनी के कर्मचारियों के हाथ में आ गया । लगान वसूली के लिये कम्पनी के कर्मचारी किसानों का बुरी तरह शोषण करने लगे । वे लगान वसूली के लिये किसानों पर अमानुषिक अत्याचार करते थे । कम्पनी ने लगान की राशि में भी उत्तरोत्तर वृद्धि की । 1764-65 में बंगाल से 8 लाख 70 हजार पौण्ड का लगान वसूला गया था जो 1771-72 में बढ़कर 23 लाख 41 हजार पौण्ड हो गया । उपज न होने पर भी कम्पनी अपना लगान वसूल करती थी । अतः किसानों को साहूकारों से ऋण लेकर लगान चुकाना पड़ता

था । अतः वे ऋणी हो गये । ऋण के कारण किसानों की भूमि नीलाम होने लगी । फलतः वे कृषक न रहकर मजदूर बन गये । पहले गांव आत्मनिर्भर थे किन्तु यातायात के साधनों के विकास के फलस्वरूप उनकी उपज अब दूर-दराज के प्रदेशों में जाकर बिकने लगी जिससे गाँवों की आत्म निर्भरता समाप्त हो गयी और कृषि का व्यवसायीकरण हो गया ।

सामाजिक जीवन पर पाश्चात्य प्रभाव के कारण संयुक्त परिवार टूटने लगे जिससे किसानों की भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गई । इंगलैण्ड के कारखानों के लिये कच्चे माल और कृषि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पंजाब में गेहूँ व कपास, बम्बई में कपास, बंगाल में पटसन, बिहार में अफीम और आसाम में चाय की उपज को प्रोत्साहन दिया गया । भारत से खाद्यान्न भी निर्यात किया जाता था । 1878 ई. के अकाल के समय भी अंग्रेज सरकार द्वारा 69 लाख पौण्ड मूल्य का अनाज इंगलैण्ड भेजा गया । अंग्रेजों ने भारतीय भूमि प्रणाली को समाप्त कर स्थायी बन्दोबस्त प्रणाली लागू की । इस प्रणाली ने जमींदारी प्रथा को जन्म दिया । अब जमींदार अधिक से अधिक राजस्व वसूल करने के लिये किसानों पर अत्याचार करने लगे । इससे भारतीय कृषि की रीढ़ टूट गई ।

अंग्रेजों की आर्थिक नीति ने भारतीय उद्योग पर भी गहरा आघात किया । वे भारतीय कारीगरों को अपना माल कम कीमत पर बेचने के लिये बाध्य करने लगे । इसके लिये उन्होंने पेशगी रुपया देने की प्रथा चलाई । बंगाल वस्त्रउद्योग के लिये प्रसिद्ध था । कम्पनी के कर्मचारी जुलाहों को पेशगी रुपया देकर एक शर्तनामे पर हस्ताक्षर करा लेते थे जिसके अनुसार जुलाहों को एक निश्चित समय में निश्चित मात्रा और निश्चित मूल्य में कपड़ा बना कर, कम्पनी को देना पड़ता था । जो जुलाहे शर्तनामे को स्वीकार नहीं करते या शर्तों को पूरा नहीं करते उन पर कम्पनी के कर्मचारी भीषण अत्याचार करते थे । इस तरह के शोषण से घबरा कर अनेक जुलाहों ने अपना काम छोड़ दिया । इसी प्रकार की नीति अन्य भारतीय उद्योगों के प्रति अपनाई गयी । इससे भी जब इंगलैण्ड में भारतीय सामानों की माँग कम नहीं हुई तो कम्पनी ने इंगलैण्ड सरकार पर दबाव डालकर ऐसे कानून बनवाये जिससे भारत से इंगलैण्ड जाने वाले सामान की मात्रा काफी कम हो गयी । इससे भारत के उद्योगों को काफी क्षति हुई और वे नष्टप्रायः हो गये । इस सम्बन्ध में हेनरी कॉटन ने 1890 ई. में लिखा था कि **"एक शताब्दी से भी कम समय के पूर्व ढाका में एक करोड़ रुपये का व्यापार होता था, 1887 ई. में यह बिलकुल समाप्त हो गया**

18वीं शताब्दी में इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति हुई जिसके फलस्वरूप वहाँ बड़े-बड़े कारखाने स्थापित हुये । इन कारखानों में कम खर्च पर अधिक उत्पादन होता था । सस्ती लागत से बनी इन वस्तुओं को अंग्रेजों ने भारतीय बाजारों में

बिखेर दिया। सस्ते होने के कारण भारतीय इनकी ओर आकर्षित हुये। इससे भारतीय उद्योग को गहरा आघात लगा क्योंकि विदेशी बाजार तो पहले ही हाथ से निकल चुका था अब देशी बाजार भी खत्म हो गया। धीरे-धीरे अंग्रेजी माल की खपत बढ़ती गई। 1780 ई. इंगलैण्ड से 3 लाख 86 हजार पौण्ड मूल्य का कपड़ा भारत आया था जो 1850 में बढ़कर 80 लाख 20 हजार पौण्ड मूल्य तक जा पहुँचा। अंग्रेजों ने अपने व्यापारिक और औद्योगिक लाभ के लिये भारत में आने वाले माल पर आयात शुल्क समाप्त कर दिया। इसी तरह भारत से बाहर भेजे जाने वाले कच्चे माल को भी निर्यात शुल्क से मुक्त कर दिया गया। लार्ड डलहौजी ने बन्दरगाहों की सुविधाओं का विस्तार कर विलायत के माल के निर्बाध प्रवेश को सुगम बना दिया। इस प्रकार अंग्रजों की आर्थिक नीति के फलस्वरूप 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक भारत कृषि, कारीगरी और व्यापार की दृष्टि से अपाहिज हो गया और भारतीय व्यापार के पतन के मूल्य पर अंग्रेजों का व्यापार विकसित होता गया।

19वीं शताब्दी में भारत का आर्थिक शोषण करने के लिये अंग्रेजों ने भारत में कुछ कारखाने स्थापित किये। 1855 से 1870 ई. के मध्य भारत के विभिन्न भागों में जिनिंग और प्रेसिंग के कई कारखाने खोले गये। ये कारखाने बिनौलों से रुई निकालने व गांठें बनाने का कार्य करते थे। इन कारखानों में तैयार रुई इंगलैण्ड के कारखानों के लिये कच्चे माल के रूप में भेजी जाती थी। इसी प्रकार पैकिंग सामग्री की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने लिये बंगाल में पटसन उद्योग का विकास किया गया। यहाँ अंग्रेज मिल मालिक किसानों से सस्ती दरों पर पटसन खरीद कर उस पर बहुत अधिक लाभ कमाते थे।

व्यापारिक माध्यमों के अतिरिक्त अंग्रेजों ने अन्य माध्यमों से भी भारत का पर्याप्त आर्थिक शोषण किया। इसमें **'धन निष्कासन'** मुख्य है। भारत का धन अनेक माध्यमों से इंगलैण्ड जाता था और उसके बदले भारत को कुछ भी प्राप्त नहीं होता था। दादा भाई नौरोजी के अनुसार अवकाश प्राप्त अधिकारियों और कर्मचारियों को दी जाने वाली पेन्शन, भारत में स्थित ब्रिटिश फौज के खर्च के भुगतान, भारत में स्थित अंग्रेज अधिकारियों द्वारा इंगलैण्ड में अपने परिवार को भेजा जाने वाला धन आदि के माध्यम से भारत का धन इंगलैण्ड जाता था। यही धन सार्वजनिक ऋण के रूप में पुनः भारत आता था जिस पर ब्याज के रूप में और अधिक धन भारत के बाहर चला जाता था। इसी प्रकार भारत की कृषि, उद्योग और यातायात में ब्रिटिश नागरिकों द्वारा निर्गत पूँजी का लाभ भी इंगलैण्ड चला जाता था। कम्पनी भारत से प्राप्त राजस्व को भी व्यापारिक प्रयोजनों में काम लेती थी। इस प्रकार भारत से प्राप्त राजस्व का प्रयोग भारतीयों के लिये नहीं किया जाता था। अंग्रेजों की इस धन निष्कासन नीति के कारण भारत में पूँजी का संचय नहीं

हो सका जिसके कारण भारतीयों के जीवन स्तर में निरन्तर गिरावट आती चली गई।

अंग्रेजों ने अपने आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत में रेल मार्गों का निर्माण किया। रेल मार्गों के निर्माण से भारत का कच्चा माल शीघ्रता से इंगलैण्ड भेजा जा सकता था और इंगलैण्ड से आया तैयार माल शीघ्र भारत के विभिन्न भागों में भेजा जा सकता था। इस प्रकार अंग्रेजों ने अपने व्यापारिक लाभ के लिये रेल मार्गों का निर्माण किया। रेल मार्गों के निर्माण के लिये ब्रिटिश निजी कम्पनियों को गारन्टी युक्त ठेका दिया गया। इन कम्पनियों को पूँजी पर ब्याज तथा पांच प्रतिशत लाभ की गारन्टी दी गई। निर्धारित लाभ न होने पर घाटे की राशि की पूर्ति सरकार द्वारा की जाती थी। पूँजी पर ब्याज और लाभ की गारन्टी मिलने के कारण इन कम्पनियों ने मितव्ययता नहीं बरती जिसके कारण रेल मार्गों की लागत बढ़ गई। रेलों में लगाई गई पूँजी के ब्याज का भुगतान भारत करता था। अतः रेल निर्माण के माध्यम से भी एक बड़ी राशि भारत के बाहर चली गई। अनेक अंग्रेज लेखको ने भारत में रेलों का लाभ बताते हुये कहा है कि इससे भारत के निर्यात में वृद्धि हुई, सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने की सुविधा हुई और भारतीयों के लिए नौकरी के अवसरों की वृद्धि हुई। परन्तु इसका वास्तविक लाभ अंग्रजों को ही हुआ क्योंकि निर्यात में वृद्धि का अधिक लाभ अंग्रेजों को ही मिला और बहुत थोड़े भारतीयों को नौकरी के अवसर उपलब्ध हुये जबकि ब्याज व घाटे की पूर्ति भारतीय राजस्व से की गई। किन्तु रेलों के द्वारा यातायात के साधनों के विस्तार के फलस्वरूप भारतीयों की पारस्परिक दूरियाँ कम हुई जिससे विभिन्न क्षेत्रों के लोग एक दूसरे के विचारों मे अवगत हुये। इससे देश में राष्ट्रीय भावना के विकास को महत्वपूर्ण योगदान मिला।

पाश्चात्य प्रभाव के उपर्युक्त आर्थिक दुष्परिणामों के अतिरिक्त कुछ सुपरिणाम भी निकले। ब्रिटिश शासन की स्थापना के पूर्व भारत में वस्तु-विनिमय की प्रथा प्रचलित थी। लगान भी अनाज के रूप में ही चुकाया जाता था। प्रारम्भ में कम्पनी ने इसी प्रणाली को अपनाया। किन्तु अंग्रेजों ने शीघ्र ही मुद्रा के माध्यम से भुगतान की प्रथा आरम्भ करदी। प्रारम्भ में इस नवीन पद्धति से किसानों को असुविधा और हानि हुई क्योंकि उन्हें अपनी उपज सस्ते भाव वेचकर लगान चुकाना पड़ता था। किन्तु शीघ्र ही यह मुद्रा प्रणाली किसानों और व्यापारियों के लिये सुविधाजनक हो गयी। इस मुद्रा व्यवस्था के कारण देश भर में लेन-देन आसानी से होने लगे और देश में पूँजी निर्माण होने लगा। यह पाश्चात्य प्रभाव का सुपरिणाम था।

इसी प्रकार अंग्रेजों के शासन की स्थापना के पहले भारत में बैंकिंग का कार्य साहूकारों द्वारा किया जाता था। ये साहूकार जनता को ऋण देते थे। साहूकारों की बैंकिंग व्यवस्था संगठित और श्रेष्ठ थी। अतः प्रारम्भ में कम्पनी भी साहूकारों से रुपया उधार लेकर काम करती थी। परन्तु 19वीं शताब्दी में अंग्रेजों ने भारत में आधुनिक बैंकिंग व्यवस्था की नींव डाली और कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में बैंकों की स्थापना की। ये बैंक नोट जारी करते थे। हमारी आधुनिक बैंकिंग प्रणाली ब्रिटिश शासन की देन है। इसी प्रकार अंग्रेजों द्वारा स्थापित डाक और तार पद्धति भी हमारे राष्ट्रीय और सांस्कृतिक विकास में सहायक सिद्ध हुई।

इस प्रकार ब्रिटिश आर्थिक नीति के कारण जहाँ एक ओर भारत में यातायात के साधनों का विकास हुआ तथा नवीन मुद्रा और बैंकिंग प्रणाली की नींव पड़ी वहीं दूसरी ओर अंग्रेजों की शोषण नीति के कारण भारतीय कृषि की दशा दयनीय हो गई और हमारे कुटीर उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये और आत्म निर्भर भारत विदेशियों का मोहताज हो गया। अंग्रेजों की अन्यायपूर्ण आर्थिक नीति के कारण सोने की चिड़िया कहा जाने वाला भारत गरीबी और बेकारी का केन्द्र बन गया।

वैज्ञानिक प्रगति

पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क के प्रभावस्वरूप भारत में भी वैज्ञानिक क्षेत्र में प्रगति को प्रोत्साहन मिला। 19वीं शताब्दी में यूरोप में अनेक वैज्ञानिक परिवर्तन और आविष्कार हो रहे थे. किन्तु भारत में अंग्रेजी सरकार ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। पाश्चात्य शिक्षा में विज्ञान के अध्ययन की समुचित व्यवस्था नहीं थी अतः कुछ जिज्ञासु भारतीयों ने स्वयं ही वैज्ञानिक क्षेत्र में प्रयास किये। 1876 ई. में महेन्द्रनाथ सरकार ने "**इण्डियन कौंसिल ऑफ साइंटिफिक स्टेडीज**' की स्थापना की। 1897 ई. में जगदीश चन्द्र वसु ने भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में कुछ अनुसंधान कार्य किया। 1902 ई. में कलकत्ता विश्वविद्यालय में विज्ञान का अध्ययन आरम्भ हुआ। प्रफुल्ल चन्द्र राय ने 1908 ई. में '**हिन्दू रसायन**' नामक ग्रन्थ की रचना की। 1911 ई. में टाटा के आर्थिक सहयोग से बैंगलोर में '**इण्डियन इन्सीट्यूट ऑफ साइन्स**' की स्थापना की गई। इनसे प्रेरित होकर अनेक भारतीय वैज्ञानिकों ने विज्ञान के विविध क्षेत्रों में मौलिक अनुसंधान कार्य किये। इनमें श्रीनिवास रामानुजम्, चन्द्रशेखर वेंकटरमन, मेघनाद साहा, बीरबल साहनी तथा सत्येन्द्र बोस प्रमुख है। 1930 ई. में भारत सरकार ने '**वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान परिषद**' की स्थापना की। इस प्रकार पाश्चात्य सम्पर्क के प्रभाव से आयी जागृति ने भारतीयों को वैज्ञानिक विकास के लिये प्रेरित किया।

भारत में वैज्ञानिक विकास के साथ पाश्चात्य जगत में हुये वैज्ञानिक विकास का लाभ भी भारत को प्राप्त हुआ। अंग्रेजों द्वारा बनवाये गये रेल और सड़क मार्गों

ने यातायात के क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न करदी । इससे भारत में सांस्कृतिक चेतना और राष्ट्रीय भावना के विकास में योगदान मिला । इसी प्रकार तार और दूरभाष प्रणाली का आविष्कार भी पाश्चात्य देशों में ही हुआ था । अंग्रेजी शासन के कारण भारत में भी इस सुविधा का आरम्भ हुआ । अंग्रेजों के शासन काल में भारत में अनेक रेडियो स्टेशनों की स्थापना हुई ।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि पाश्चात्य सम्पर्क के फलस्वरूप भारतीय संस्कृति में युगान्तकारी परिवर्तन हुयें । ये परिवर्तन लाभदायक और हानिकारक दोनों प्रकार के थे । पाश्चात्य शिक्षा और विचारों से प्रभावित होकर भारतीय सती प्रथा, वाल वध और अस्पृश्यता आदि कुप्रथाओं से मुक्त हो सके जिससे भारतीय संस्कृति का भास्कर पुनः प्रकाश मान हो उठा । ब्रिटिश शासन की समाप्ति के बाद भी भारतीय संस्कृति और सभ्यता पाश्चात्य विचारों से प्रभावित हो रही है ।

16

सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आन्दोलन
(Social and Religious reform Movement)

—सामाजिक और धार्मिक व्यवस्थायें संस्कृति के गतिशील तत्व है। अपने विकास के मार्ग में ये व्यवस्थायें अनेक अच्छे और बुरें तत्वों को अपने में समेट लेती हैं। अच्छे तत्व समाज और धर्म के विकास के हेतु बन जाते हैं और बुरे तत्व सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों के रूप में समाज और धर्म के विकास में बाधा उपस्थित करते हैं। सामाजिक कुप्रथायें, भेदभाव तथा धार्मिक अन्ध-विश्वास और कर्मकाण्ड आदि ही ये बुरे तत्व हैं। धर्म और समाज की निर्बाध प्रगति के लिये इन बुरे तत्वों को समाप्त करना आवश्यक है। धर्म और समाज में निहित बुरे तत्वों को समाप्त करने के प्रयासों और कार्यों को ही धार्मिक और सामाजिक सुधार कहा जाता है। श्री आर. एन. मुकर्जी के अनुसार सामाजिक और धार्मिक सुधार **"वह गतिशील कार्य का प्रयत्न है जो सामाजिक कुप्रथाओं, धार्मिक अन्धविश्वासों, सामाजिक-सांस्कृतिक भेदभाव आदि को दूर करने के लिये सामूहिक या व्यक्तिगत रूप से किया जाता है और जिसका उद्देश्य सामाजिक विकास के किसी भी चरण में समाज के अन्तर्गत व्यक्ति, परिवार एवं समूह के जीवन को अधिक स्वस्थ व प्रगतिशील बनाना है।"**

भारत में सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन का इतिहास हमारे इतिहास जितना ही प्राचीन है। यदि हम भारत के इतिहास का गहन अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगा कि धर्म और समाज में सुधार की परम्परा हमारे प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास में भी विद्यमान थी। यद्यपि यह परम्परा आधुनिक सुधार आन्दोलनों से भिन्न थी। किन्तु भारतीय इस कार्य से अनभिज्ञ नहीं थे। वैदिक-कालीन कर्मकाण्डमूलक धर्म की बुराइयों को दूर कर उपनिषद् काल में धर्म को ज्ञानमूलक बनाया गया। महाकाव्य काल में यही धर्म भक्ति प्रधान हो गया। ये समस्त परिवर्तन गतिशील धार्मिक सुधार के परिचायक हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद कालीन कर्म आधारित वर्ण-व्यवस्था कालान्तर में जन्ममूलक हो गई। ये परिवर्तन समाज के व्यवस्थित विकास के लिये किये गये थे। प्राचीनकाल के इस सुधार आन्दोलन का रूप धार्मिक था। इसके बाद भी अनेक व्यक्तियों ने समाज और धर्म में व्याप्त बुराइयों को समाप्त करने का प्रयास किया। छठी शताब्दी ईसा पूर्व में महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध ने हिन्दू धर्म में व्याप्त अन्धविश्वासो और कर्म-

काण्डों तथा समाज में फैली हुई जाति-प्रथा और सामाजिक असमानता की बुराइयों को समाप्त करने लिये सुधार आन्दोलन प्रारम्भ किये । जैन और बौद्ध धर्म का उदय इन्हीं प्रयत्नों का परिणाम था ।

13वीं शताब्दी में भारत में मुसलमानों का शासन स्थापित हो गया । मुसलमान शासक धार्मिक दृष्टि से असहिष्णु थे । उन्होंने हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाने के लिये उन पर भीषण अत्याचार किये । इस्लाम के आघात से हिन्दू धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिये ब्राह्मणों ने धर्म और समाज के नियमों को कठोर बना दिया जिससे धार्मिक अन्धविश्वासों और कट्टरता में वृद्धि हुई । साथ ही समाज में बाल-विवाह, सतीप्रथा, बालवध और पर्दा-प्रथा की बुराइयाँ प्रचलित हो गईं और छुआछूत की भावना बढ़ी । इन बुराइयों को दूर करने लिये रामानन्द, कबीर, नानक, चैतन्य आदि ने 'भक्ति आन्दोलन' चलाया । यह भक्ति आन्दोलन ही मध्यकाल का धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलन था जिसका उद्देश्य धर्म और समाज में व्याप्त अन्धविश्वासों और बुराइयों को दूर कर उनमें सुधार करना था । यद्यपि इस आन्दोलन को अधिक सफलता नहीं मिली किन्तु सुधार के प्रयास सराहनीय थे ।

19वीं शताब्दी में भारतीय इतिहास में एक नवीन धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलन का सूत्रपात हुआ । उस समय हिन्दू धर्म में अनेक अन्धविश्वासों, आडम्बरों और कर्मकाण्डों का प्रवेश हो चुका था । समाज में सतीप्रथा, जाति प्रथा बाल विवाह, पर्दा-प्रथा और छुआछूत आदि बुराइयाँ विद्यमान थीं । अंग्रेजी शासन की स्थापना तथा पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव के कारण 19वीं शताब्दी तक भारतीय संस्कृति पाश्चात्य संस्कृति से पूर्णतया प्रभावित हो चुकी थी । शिक्षित भारतीय अंग्रेजी भाषा साहित्य, ज्ञान, वेशभूषा और रहन-सहन को श्रेष्ठ मानने लगे थे और भारतीय धर्म और संस्कृति में उनकी आस्था समाप्त हो रही थी । भारतीय धर्म और समाज में व्याप्त बुराइयों के कारण लोग उन्हें अपनाने में लज्जा अनुभव करने लगे थे । ईसाई धर्म प्रचारक भारत में अपने धर्म के प्रचार के लिये प्रयत्नशील थे । अतः उन्होंने भारतीय धर्म और समाज में व्याप्त बुराइयों पर प्रबल आघात किया । इनके प्रभाव से अनेक भारतीयों ने ईसाई धर्म अंगीकार कर लिया था । ऐसा प्रतीत होने लगा था कि पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव से भारतीय संस्कृति ही समाप्त हो जायेगी । ऐसी परिस्थिति में भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग में नवीन चेतना का प्रादुर्भाव हुआ । उन्होंने महसूस किया कि पाश्चात्य संस्कृति के बढ़ते हुये प्रभाव को रोकने के लिये भारतीय धर्म और समाज में व्याप्त कुरीतियों को समाप्त करना और उसमें सुधार करना अत्यन्त आवश्यक है । अतः कुछ सुधारवादी भारतीयों ने समाज और धर्म में व्याप्त दोषों को दूर करने के लिये धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलन का सूत्रपात किया । इनमें राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द, महात्मा ज्योति फुले और एनीबीसेन्ट आदि प्रमुख है । 19वीं शताब्दी

में आरम्भ हुआ धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलन केवल सुधारों तक ही सीमित नहीं था वरन् इनका उद्देश्य भारतीयों के मन से विदेशी सभ्यता और संस्कृति की चकाचौंध को समाप्त करके उनमें यह भावना भरना भी था कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति महान् हैं एवम् समस्त विश्व की गुरु है। भारतीय धर्म एवं समाज में सुधार के लिये किये गये इन प्रयत्नों को भारतीय पुनर्जागरण भी कहा जाता है।

19वीं शताब्दी में सुधार आन्दोलन

भारत के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी का पुनर्जागरण एक उल्लेखनीय घटना है जिसने भारतीयों में एक नवीन आत्म-जागृति की भावना उत्पन्न की और उन्हें एक उन्नत, प्रगतिशील तथा गौरवशाली समाज की स्थापना करने की प्रेरणा दी। पुनर्जागरण के फलस्वरूप भारतीय संस्कृति की गतिहीनता समाप्त हुई और भारतवासी अतीत की सुखद स्मृतियों को सहेजते हुए पुनर्निर्माण की दिशा में आगे बढ़ने लगे। इसके पूर्व अठारहवीं शताब्दी में भारत की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। भारत का सामाजिक और धार्मिक जीवन पतन की चरम सीमा पर पहुँच चुका था और समस्त देश में अन्ध-विश्वास एवं रूढ़िवादिता का घोर अन्धकार छाया हुआ था। समाज विभिन्न प्रकार की बुराइयों और कुरीतियों का शिकार बना हुआ था। धर्म, कला आदि के क्षेत्र में सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ कुन्द पड़ गई थीं। शताब्दियों तक विदेशियों की पराधीनता की बेड़ियों में जकड़े रहने के कारण भारतवासी अपने सांस्कृतिक वैभव को भूल चुके थे तथा उदासीन एवं निष्क्रिय बने हुए थे। वस्तुतः भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति पतनोन्मुखी, क्षयशील एवं प्रभावहीन हो रही थी। दूसरी ओर ईसाई-धर्म-प्रचारक अनेक हथकण्डों द्वारा भारतीयों को ईसाई धर्म के जाल में फँसा रहे थे। परिणामस्वरूप ईसाई-धर्म-प्रचारकों की सफलता से प्रबुद्ध भारतीय बड़े चिन्तित थे। उन्होंने अनुभव किया कि यदि भारतीय सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन में सुधार करने के लिए उपाय नहीं किये गये तो सारा हिन्दू-समाज छिन्न-भिन्न होकर पतन के गर्त में चला जाएगा। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य शिक्षा और साहित्य ने भी भारतीय नवयुवकों को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया तथा उनमें एक नई चेतना, एक नई जागृति और एक नई स्फूर्ति उत्पन्न हुई। अंग्रेजी शिक्षा और साहित्य के प्रसार से भारतीय नवयुवकों में प्रगतिशील विचारों की सृष्टि हुई और राष्ट्रीयता की भावना विकसित होने लगी। भारतवासी प्राचीन रूढ़ियों, अन्ध-विश्वासों और परम्पराओं को ठोकर मार कर साहस, आत्म-विश्वास और सुखद भविष्य की भावनाओं से ओत-प्रोत होकर एक नवीन और प्रगतिशील राष्ट्रों के निर्माण के लिए प्रेरित हुए। भारतीय संस्कृति और परम्परा का यह चतुर्दिक पुनरुत्थान ही भारतीय पुनर्जागरण है। भारतीय पुनर्जागरण यूरोपियन पुनर्जागरण से भिन्न था क्योंकि यूरोपियन पुनर्जागरण मुख्यतः बौद्धिक एवं कलात्मक था जबकि भारतीय पुनर्जागरण नैतिक एवं आध्यात्मिक तत्वों से प्रभावित था।

पुनर्जागरण के कारण

19वीं शताब्दी में आरम्भ हुये धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलन के निम्नलिखित कारण थे—

(1) **पाश्चात्य प्रभाव**—अंग्रेजों के आगमन से भारतवासी पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में आये। शासन की स्थापना के बाद अंग्रेज भारत में अपनी सभ्यता और संस्कृति के विस्तार के लिये भी प्रयत्नशील हो गये। बुद्धिवाद और व्यक्तिवाद पर आधारित पाश्चात्य संस्कृति की आंधी ने शीघ्र ही भारतीय संस्कृति को प्रभावित कर लिया। 19वीं शताब्दी के आरम्भ तक भारतीय संस्कृति पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति से पूर्णतया प्रभावित हो चुकी थी। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लोगों के लिये पाश्चात्य सभ्यता आदर्श बन चुकी थी। पाश्चात्य वेश-भूषा, रहन-सहन और खान-पान से प्रभावित होकर वे उनका अनुकरण करने लगे थे। भारतीय सभ्यता और संस्कृति से उनकी आस्था समाप्त होने लगी थी। अनेक भारतीयों ने पाश्चात्य विचारों, धर्म तथा समाज से प्रभावित होकर ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था। पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क से भारतीय शिक्षित वर्ग में नव चेतना का प्रादुर्भाव हो चुका था। अतः भारतीय संस्कृति के कट्टर समर्थकों ने यह अनुभव किया कि पाश्चात्य संस्कृति के बढ़ते हुये प्रभाव को नियन्त्रित करने के लिये भारतीय धर्म और समाज में सुधार करना अत्यन्त आवश्यक है। 19वीं शताब्दी में हुये धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलन इसी अनुभव का परिणाम थे। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से भारत के प्राचीन अन्ध-विश्वास और रूढ़ियाँ कम होने लगीं और भारतीयों का ध्यान अपने देश की पिछड़ी दशा, अज्ञानता तथा कुरीतियों की ओर आकर्षित हुआ जिससे ये लोग इस स्थिति को सुधारने के लिये प्रयत्नशील हुये।

(2) **पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव**—19वीं शताब्दी में भारत में पाश्चात्य शिक्षा का आरम्भ हुआ। इस नवीन शिक्षा नीति से भारतीय यूरोपीय विचार, दर्शन और साहित्य से परिचित हुए। यूरोपीय साहित्यकारों के प्रगतिशील विचारों ने भारतीयों को नई प्रेरणा दी जिससे उनमें स्वतन्त्र चिन्तन, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। अंग्रेजी शिक्षा द्वारा भारतीय यूरोप की उदारवादी विचारधारा से प्रभावित हुए जिससे उनमें नवीन चेतना जागृत हुई। अब भारतीय अपने भूतकाल को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने लगे और अपनी परम्पराओं तथा प्रथाओं को तर्क की कसौटी पर कसने लगे। इस नवीन चिन्तन के फलस्वरूप भारतीय अपने धर्म एवं समाज में सुधार के लिए प्रेरित हुए।

(3) **ईसाई धर्म का प्रसार**—अंग्रेजी शासन की स्थापना के साथ बहुत से विदेशी पादरी और ईसाई धर्म-प्रचारक भी भारत आए। इन धर्म-प्रचारकों ने बड़े उत्साह के साथ ईसाई धर्म का प्रचार किया और भारतीय संस्कृति की कटु आलोचना करना भी आरम्भ किया। वे अपने धर्म का प्रचार दम्भ और दर्प के साथ करते थे

और उनका तरीका यह था कि वे हिन्दुओं के अन्ध-विश्वास और हीन प्रथाओं का अत्युक्ति के साथ विवेचन और विश्लेषण करते थे। अंग्रेजी सरकार की नौकरियों के आकर्षण ने बहुत से भारतीयों को ईसाई धर्म स्वीकार करने पर विवश किया। डॉ. मथुरालाल शर्मा के अनुसार "सन् 1853 के आंकड़ों के अनुसार बंगाल, उत्तरप्रदेश मद्रास और बम्बई में सब मिलकर 92 हजार के लगभग ईसाई थे।" इस भयावह स्थिति को देखकर हिन्दू-धर्म सुधारकों की नींद खुली। उनके सामने यह एक चुनौती थी जिसे स्वीकार करना आवश्यक था अन्यथा हिन्दू धर्म सदैव के लिए विनाश के गर्त में गिर सकता था। इस प्रकार ईसाई पादरियों के धर्म-प्रचार के कार्य से भारतीय सुधार आन्दोलन को प्रेरणा मिली।

(4) **बाह्य सम्पर्क**—बहुत दिनों से बाह्य संसार से सम्पर्क नहीं रखने के कारण भारतीय समाज अप्रगतिशील हो गया था। इसका विकास अवरुद्ध हो गया था। परन्तु भारत में अंग्रेजों और अन्य यूरोपीय जातियों के आगमन से भारत बाह्य संसार के सम्पर्क में आ गया। यातायात एवं आवागमन के साधनों के विकास के कारण अनेक भारतीय लोगों ने अमेरिका, फ्रांस, जापान आदि देशों की यात्रा की जिसके फलस्वरूप वे वहां की स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृभाव की भावनाओं से बहुत अधिक प्रभावित हुए। इस प्रकार भारतीयों के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन होना प्रारम्भ हुआ और इन परिवर्तनों ने पुनर्जागरण में बड़ा योगदान दिया।

(5) **यातायात और संचार साधनों का विकास**—अंग्रेजों ने अपने राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भारत में रेल, सड़क और समुद्री यातायात के साधनों तथा तार, टेलीफोन आदि अन्य साधनों को विकसित किया। इसके फलस्वरूप अंग्रेजों को पर्याप्त राजनीतिक और आर्थिक लाभ हुआ। इन साधनों के विकास के फलस्वरूप सम्पूर्ण भारत में शान्ति तथा राजनीतिक एकता की स्थापना हुई। इससे धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलन को प्रोत्साहन मिला क्योंकि अशान्ति और राजनीतिक अव्यवस्था की स्थिति में लोगों को समाज सुधार के लिए प्रेरित करना दुष्कर कार्य है। साथ ही यातायात और संचार साधनों के विकास से भारत के विभिन्न प्रदेशों की पारस्परिक दूरियां कम हो गई जिससे समाज सुधारकों के लिए दूरस्थ लोगों के विचारों से परिचित होना और अपने विचारों को दूर-दूर तक फैलाकर सुदृढ़ जनमत तैयार करना सरल हो गया।

(6) **भारतीय प्रेस की स्थापना**—भारतीय प्रेस ने भी 19वीं शताब्दी के धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलन को प्रारम्भ करने में पर्याप्त योगदान दिया। अंग्रेजी शासनकाल में अनेक मुद्रणालयों की स्थापना हो जाने से भारत में अनेक पत्र, पत्रिकायें और पुस्तकें प्रकाशित होने लगी जिससे लोगों का मानसिक विकास हुआ। भारत में अंग्रेजी भाषा का सर्वप्रथम समाचार पत्र सन् 1816 ई.

में 'बंगाल गजट' प्रकाशित हुआ। इसके बाद 1818 ई. में 'समाचार दर्पण' और 'दिग्दर्शन' नामक दो समाचार पत्र बंगाली भाषा में प्रकाशित होने लगे। राजा राममोहन राय ने 1821 ई. में 'संवाद कौमुदी', 1822 ई. में फारसी भाषा के 'मिरातउल अखबार' तथा अंग्रेजी भाषा की 'ब्रह्मनिकल मैगजीन' का प्रकाशन आरम्भ किया। 19वीं शताब्दी के इन समाचार-पत्रों व पत्रिकाओं में राजनीति विषयों की अपेक्षा धार्मिक और सामाजिक समस्याओं की चर्चा अधिक होती थी। इन चर्चाओं ने भारतीयों को उनकी दयनीय स्थिति का ज्ञान कराया और उनमें सुधार के लिए जनमत जागृत किया। इन पत्र-पत्रिकाओं ने भारत में शिक्षित वर्ग को अपनी धार्मिक और सामाजिक बुराइयों का निवारण कर उसे उन्नत और प्रगतिशील बनाने की प्रेरणा दी।

(7) यूरोपीय विद्वानों द्वारा भारतीय साहित्य का अध्ययन—अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक अनेक यूरोपियन विद्वानों ने संस्कृत भाषा का अध्ययन आरम्भ कर दिया था। संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त उन्होंने भारतीय धर्म-ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद किया और बताया कि इस साहित्य में विश्व सभ्यता की अमूल्य निधियाँ संचित हैं। अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय सभ्यता व कला-केन्द्रों की खोज और अध्ययन के द्वारा प्राचीन भारतीय सभ्यता की श्रेष्ठता प्रतिपादित की। इन विद्वानों में विलकिन्स, जोन्स, कोलब्रुक, विल्सन, मैक्समूलर, मैक्डानल, कीथ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। विलियम जोन्स ने 1784 में 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' तथा 'ऋतुसंहार' का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। उन्होंने 1784 में बंगाल में एशियाटिक सोसाईटी की स्थापना की और घोषित किया कि संस्कृत परिमार्जित भाषा है और लेटिन से अधिक सम्पन्न है। विलकिन्स ने 1785 में गीता का अंग्रेजी में अनुवाद किया। कोलब्रुक ने 1805 ई. में वेदों का एक प्रामाणिक विवरण प्रकाशित किया। मैक्समूलर और श्लीगल ने भी वेदों और उपनिषदों के गौरव पर प्रकाश डाला। इस प्रकार यूरोपीय विद्वानों ने प्राचीन भारतीय आदर्शों से प्रभावित होकर भारतीय संस्कृति, कला और साहित्य की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की। इससे भारतीयों को अपनी गौरवशाली प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराओं का ज्ञान हुआ और उनमें आत्म-विश्वास की भावना जागृत हुई।

(8) सुधारकों का प्रादुर्भाव—उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में अनेक प्रतिभावान सुधारकों का जन्म हुआ जिनमें राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, ज्योतिराव फुले आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सुधारकों ने प्राचीन भारतीय संस्कृति के गौरव पर प्रकाश डाला और भारतीय धर्म तथा समाज में प्रविष्ट बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने अपने देशवासियों को एक प्रगतिशील, सुदृढ़ और गौरवशाली राष्ट्र के निर्माण का सन्देश दिया।

उपर्युक्त कारणों से भारतवासियों में एक नवीन चेतना उत्पन्न हुई। भारतवासियों की यह चेतना ही पुनर्जागरण के रूप में प्रस्फुटित हुई। सारा देश समाज एवं धर्म-सुधार आन्दोलन की लहर से ओत-प्रोत होने लगा। वस्तुतः भारतीय पुनर्जागरण एक विस्तृत आन्दोलन था जिसने राष्ट्रीय जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों को गम्भीर रूप से प्रभावित किया।

राजा राममोहनराय

19वीं शताब्दी में आरम्भ हुए भारतीय धार्मिक और सामाजिक सुधार-आन्दोलन का सूत्रपात राजा राममोहनराय ने किया। इसीलिए उन्हें 'आधुनिक भारत का जनक' और **'भारतीय पुनर्जागरण का अग्रदूत'** आदि नामों से पुकारा जाता है।

जीवन-परिचय—राजा राममोहनराय का जन्म 22 मई, 1772 ई. को बंगाल के बर्दवान जिले के राधानगर गांव में एक रूढ़िवादी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। राजा राममोहनराय को 12 वर्ष की आयु में अरबी और फारसी पढ़ने पटना भेजा गया। यहां ये इस्लाम और ईसाई धर्म के सम्पर्क में आये और मूर्तिपूजा पर से उनका विश्वास समाप्त हो गया। घर वापस लौटने पर उन्होंने एक पुस्तक की रचना की जिसमें मूर्तिपूजा की कटु आलोचना की गई थी इससे उनका अपने पिता से गहरा मतभेद हो गया। परिणामस्वरूप उन्हें घर छोड़ना पड़ा और कई वर्षों तक निर्वासित के रूप में रहना पड़ा। इस दौरान राजा राममोहनराय ने भारत के विभिन्न भागों का भ्रमण किया और संस्कृत, फारसी, बंगला और अरबी भाषा तथा साहित्य का अध्ययन किया। 1804 ई. में राजा राममोहनराय ने फारसी भाषा में **'तोहफातुल-मुआहीदीन'** नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ में उन्होंने ऐकेश्वरवाद और सभी धर्मों की एकता में विश्वास प्रकट किया। 1804 ई. में राजा राममोहनराय ने ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नौकरी कर ली और शीघ्र ही अपनी योग्यता के बल पर साधारण क्लर्क से जिले के दीवान का पद प्राप्त कर लिया। उनके अंग्रेज अधिकारी जॉन डिग्बी उनसे प्रसन्न थे। जॉन डिग्बी ने उन्हें अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन करने के लिये प्रोत्साहित किया। कम्पनी की नौकरी के दौरान राजा राममोहनराय ने अंग्रेजी, लैटिन, ग्रीक और हिब्रू भाषाओं तथा ईसाई धर्म का गहन अध्ययन किया। अपना समस्त समय जन-कल्याण में लगाने के लिये राजा राममोहनराय ने सरकारी नौकरी छोड़ दी और 1815 ई. ...यी रूप से कलकत्ता में रहने लगे।

राजा राममोहनराय ने 1815 ई. में **'आत्मीय समाज'** की स्थापना की जिसका उद्देश्य धर्म की सत्यता का प्रचार करना तथा आध्यात्मिक विषयों पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करना था। इसी समय उनका ध्यान उपनिषद् और वेदान्त-सूत्रों की ओर आकर्षित हुआ। 1819 ई. से कुछ पहले उन्होंने वेदान्त सूत्रों का सार और चार उपनिषदों का अनुवाद अंग्रेजी तथा बंगाली दोनों में प्रकाशित किया। उनका मंतव्य था कि उपनिषदों में एक ईश्वर की पूजा है और मूर्तिपूजा

को कोई स्थान नहीं है। आत्मीय समाज 1819 ई. में बन्द हो गई। सन् 1828 में अपने मन्तव्यों का प्रचार करने हेतु राजा राममोहनराय ने कलकत्ता में 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की जिसके द्वार सभी सम्प्रदायों के लोगों के लिए खुले हुए थे।

नवम्बर 1830 में राजा राममोहनराय इंग्लैण्ड गए। वहाँ उन्होंने तीन वर्ष तक अपने विचारों का प्रचार किया और अंग्रेजों को भारतीयों पर विश्वास करने तथा उन्हें विभिन्न प्रशासनिक क्षेत्रों में अपने साथ लेने के लिए प्रेरित किया। इंग्लैण्ड में ही ब्रिस्टल नामक स्थान पर राममोहन राय की 27 सितम्बर, 1833 को मृत्यु हो गई।

राजा राममोहन राय के सुधार

धार्मिक सुधार—राजा राममोहन का धार्मिक दृष्टिकोण बड़ा व्यापक था। यद्यपि उनकी हिन्दू धर्म में पूर्ण आस्था थी परन्तु वे रूढ़ियों, अन्ध-विश्वासों और पाखंण्डों से घृणा करते थे। वे हिन्दू धर्म की कुरीतियों को दूर करके उसे प्रगतिशील बनाने के लिये दृढ़-प्रतिज्ञ थे। अतः उन्होंने मूर्तिपूजा, तथा बहुदेववाद का कड़ा विरोध किया और ऐकेश्वरवाद तथा बुद्धिवादी दृष्टिकोण का प्रचार किया। राममोहन राय वेदान्त दर्शन से अत्यधिक प्रभावित थे। अतः उन्होंने भारतवासियों का ध्यान वेदों और उपनिषदों के ज्ञान की ओर आकर्षित किया। यद्यपि राममोहन राय ईसाई धर्म से भी प्रभावित थे परन्तु उन्होंने ईसाई धर्म की श्रेष्ठ और व्यावहारिक शिक्षाओं को ही अपनाने की प्रेरणा दी थी। वे ईसाईयत के विरुद्ध थे। उन्होंने ईसाई-धर्म-प्रचारकों की हिन्दू धर्म की निन्दा करने की प्रवृत्ति की आलोचना की और कहा था कि, "यह स्वाभाविक बात है कि जब एक जाति दूसरी जाति पर विजय प्राप्त करती है तो उसका अपना धर्म चाहे कितना भी हास्यास्पद हो परन्तु वह पराजित जाति के धर्म का मजाक उड़ाया करती है। इसलिए यदि आज ईसाई-धर्म-प्रचारक भारतीयों के धर्म की निन्दा करते हैं तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।"

ब्रह्म समाज की स्थापना—अपने धार्मिक विचारों का प्रचार करने के लिए राममोहन राय ने 20 अगस्त, 1828 को कलकत्ता में ब्रह्म समाज की स्थापना की। जिस भवन में ब्रह्म समाज की बैठक होती थी उसके ट्रस्ट के लिखित दस्तावेज से इसके उद्देश्य स्पष्ट हो जाते हैं। इसमें लिखा है कि, 'सभी लोग, बिना किसी भेद-भाव के शाश्वत् सत्ता की उपासना के लिये इस भवन का उपयोग कर सकते हैं, इसमें न किसी प्रकार की मूर्ति की स्थापना, न किसी प्रकार का बलिदान और न किसी धर्म की निन्दा की जायेगी।" ब्रह्म समाज के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित थे—

(1) ईश्वर एक है जो समस्त सृष्टि का रचयिता और संरक्षक है। वह सर्वव्यापक, शाश्वत् और सुखमय है।

(2) बिना किसी जाति व सम्प्रदाय के भेद के प्रत्येक मनुष्य को परमेश्वर की उपासना करने का अधिकार है।

(3) मूर्तिपूजा उचित नहीं है, उपासना के किसी प्रकार की प्रतिमा का प्रयोग वर्जित है ।

(4) आत्मा अजर और अमर है और अपने कार्यों के लिए ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है ।

(5) प्रार्थना, उपासना, प्रेम, सत्य आदि साधनों से मोक्ष सम्भव है ।

(6) प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है ।

(7) मानव को पाप त्याग कर पुण्य कर्म करने चाहिएँ । पाप का प्रायश्चित तथा निरोध ही दैवी क्षमा और मुक्ति का मार्ग है ।

(8) उपासना में बलि चढ़ाना धर्म-विरुद्ध कार्य है ।

(9) मनुष्य को सभी धर्मों के सत्य को ग्रहण करना चाहिए तथा समस्त मानव-जाति के प्रति दया भाव रखना चाहिये ।

इस प्रकार ब्रह्म समाज के माध्यम से राममोहन राय ने मध्यकालीन धार्मिक कुरीतियों और आडम्बरों का निवारण कर उपनिषदों और वेदान्त के ऐकेश्वरवाद का प्रचार किया । उन्होंने बुद्धिवादी और मानवतावादी धार्मिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया ।

कतिपय विद्वानों का विचार है कि राजा राममोहन राय के धार्मिक विचार ईसाई धर्म से प्रेरित थे । परन्तु यह मत भ्रान्तिपूर्ण है क्योंकि राजा राममोहन राय की विचारधारा का मूलस्रोत तो प्राचीन भारतीय धर्म ग्रन्थ थे । उन पर वेदान्त दर्शन का अधिक प्रभाव था । उनकी मान्यता थी कि वेदान्त दर्शन ही हिन्दू धर्म का मूल आधार है । यही नहीं बल्कि उन्होंने धर्म की व्याख्या करते हुए ईसाई धर्म के कर्मकाण्डों तथा ईसा मसीह के ईश्वरीय अवतार होने की मान्यता का खण्डन किया था । हां, भारतीय धर्म और समाज में व्याप्त अन्ध-विश्वासों और रूढ़ियों का खण्डन करने के लिये उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता की तर्कशीलता, बुद्धिवाद और अनुसंधान के विचारों की सहायता अवश्य ली थीं । किन्तु यह ईसाई प्रभाव की प्रतीक नहीं है क्योंकि तात्कालिक युग में पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित भारतीयों को अपनी सभ्यता और संस्कृति की ओर प्रवृत्त करने का यही सुगमतर मार्ग था जो राममोहन राय ने अपनाया ।

सामाजिक सुधार—राजा राममोहन राय तत्कालीन सामाजिक कुरीतियां और अन्ध-विश्वासों को नष्ट करके एक नवीन और प्रगतिशील समाज की रचना पर बल देते थे । उन्होंने बाल-विवाह का कड़ा विरोध किया और विधवा-विवाह का समर्थन किया । उन्होंने दहेज-प्रथा, कन्या-वध और जाति-पांति के बन्धनों का भी कड़ा विरोध किया और सामाजिक समानता को प्रोत्साहन दिया । सामाजिक क्षेत्र में राजा राममोहन राय की सबसे बड़ी देन सती-प्रथा का विरोध था । सती-प्रथा के कारण अनेक विधवाओं को अपनी इच्छा के विरुद्ध आग में जलना पड़ता था । राममोहन राय ने इस क्रूर प्रथा के उन्मूलन के लिये तीव्र आन्दोलन शुरू

किया। उन्होंने अपने प्रभावशाली लेखों और निबन्धों से जनमत को तैयार किया। अन्त में उनके प्रयासों से लार्ड विलियम बैंटिक ने 1829 ई. में एक अधिनियम द्वारा सती-प्रथा को अवैध घोषित कर दिया। भारत के रूढ़िवादी लोगों ने इस कानून के विरुद्ध प्रिवी-कौंसिल में प्रार्थना-पत्र भेजा। इस पर राममोहन राय ने भी प्रगतिशील हिन्दुओं की ओर से रूढ़िवादी लोगों की अपील के विरुद्ध एक प्रार्थना-पत्र भेजा और अन्त में राममोहन राय को ही विजय मिली। इस प्रकार उन्होंने हिन्दू समाज की अनेक विषैली बुराइयों के निवारण पर बल दिया।

शिक्षा व साहित्य के क्षेत्र में सुधार—राममोहन राय पश्चिमी वैज्ञानिक विचार से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने भारतवासियों की रूढ़ियों, अन्ध-विश्वासों और कुरीतियों को दूर करने के लिये अंग्रेजी शिक्षा के अध्ययन पर बल दिया। वे पाश्चात्य शिक्षा के कट्टर समर्थक थे। उनके प्रयत्नों से 1819ई. में कलकत्ता में 'हिन्दू कॉलेज' की स्थापना हुई। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'इंगलिश स्कूल', 'वेदान्त-स्कूल' आदि संस्थायें भी स्थापित की। साहित्यिक क्षेत्र में भी उन्होंने भारत की अनुपम सेवा की। उन्होंने फारसी में **'तोहफातुल मुआहीदीन'** नामक पुस्तक लिखी जिसमें मूर्तिपूजा का खण्डन किया गया और ऐकेश्वरवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया। **'संक्षिप्त वेदान्त'** नामक रचना में उन्होंने वेदान्त का संग्रह टीका सहित प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने ईश, केन, कठ और मुण्डक आदि उपनिषदों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया। उन्होंने विचारों की स्वतन्त्रता पर बल दिया और अनेक समाचार-पत्रों का भी प्रकाशन किया जिनमें **'सम्वाद कौमुदी'** और **'मिरातउल अखबार'** उल्लेखनीय है। उन्होंने प्रेस की स्वतन्त्रता बनाये रखने का भी ब्रिटिश सरकार से अनुरोध किया।

राष्ट्रीय सुधार—राजा राममोहन राय के सामाजिक और धार्मिक सुधारों ने राष्ट्रीय भावना के उदय में महत्वपूर्ण योगदान दिया। यद्यपि राजा राममोहन राय पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित थे किन्तु उनके सुधारवाद की आत्मा में राष्ट्रीय भावना विद्यमान थी। उनका विश्वास था कि व्यक्ति का सांस्कृतिक, मानवीय और वैचारिक विकास राज्य का दायित्व है। राजा राममोहन राय विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक थे। 1823 ई. में उन्होंने सर्वोच्च न्यायालय को विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में एक मसविदा प्रस्तुत किया था। वे प्रेस की स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे। उनकी मान्यता थी कि स्वस्थ, जागरूक और सचेत जनमत का निर्माण स्वतन्त्र प्रेस के द्वारा ही सम्भव है। अपनी इंगलैण्ड यात्रा के दौरान राजा राममोहन राय ने इंगलैण्ड की सरकार को यह समझाने का प्रयास किया था कि वे भारतीयों पर विश्वास कर उन्हें प्रशासन में यथोचित स्थान प्रदान करें। न्याय प्रशासन के सम्बन्ध में उनकी मान्यता थी कि न्याय की उपलब्धि में ही न्याय का औचित्य है। अतः उन्होंने न्यायपालिका को प्रशासन से पृथक् करने की मांग की। राजा राममोहन राय ने प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था का समर्थन करते हुए न्याय प्रणाली में जूरी-प्रथा लागू करने की मांग की। उनकी मान्यता

थी कि भारतीय समाज के लिये एक समान दीवानी और फौजदारी कानून होने चाहिये। सरकारी नौकरी के दौरान राजा राममोहन राय ने भारतीय किसानों की दुर्दशा को निकट से देखा था। उनकी मान्यता थी कि अंग्रेजों के दोषपूर्ण राजस्व नियमों तथा दिशाहीन भूमिकर प्रणाली के कारण ही भारतीय कृषि का पतन हुआ है। अतः उन्होंने कृषि राजस्व नियमों को व्यावहारिक बनाने की मांग की और कार्नवालिस द्वारा लागू 'स्थायी बन्दोबस्त' की कटु आलोचना की। उनकी मान्यता थी कि लगान व्यवस्था, जमींदारी प्रथा एवं राजस्व प्रशासन में सुधार से भारतीय कृषि की दशा से सुधारी जा सकती है। इन माध्यमों से राजा राममोहन राय ने राष्ट्रीय सुधारों का प्रयास किया। यद्यपि उनके प्रयास सीमित और विदेशी शासन के विरोधी नहीं थे फिर भी 19वीं शताब्दी में इन प्रयासों को अत्यन्त प्रगतिशील माना जाता था।

राजा राममोहन राय आधुनिक भारत के एक महान् समाज-सुधारक, धर्म के नवीन रूप के प्रतिपादक, निर्भीक पत्रकार और शिक्षाशास्त्री थे। उन्होंने धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों के क्षेत्र में बड़ा प्रशंसनीय कार्य किया। राममोहन राय ने मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, पशुबलि आदि धार्मिक अन्ध-विश्वासों के विरुद्ध आवाज उठाई तथा ऐकेश्वरवाद की स्थापना करते हुए एक विश्व-व्यापी और मानवतावादी धार्मिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया तथा सभी धर्मों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाई। उन्होंने कन्या-वध, बाल-विवाह, सती-प्रथा, दहेज-प्रथा आदि सामाजिक कुप्रथाओं के विरुद्ध प्रबल जनमत तैयार किया। राजा राममोहन राय ने स्त्री-शिक्षा, विधवाओं के पुनर्विवाह और अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन दिया। उनके प्रयत्नों से ही सती-प्रथा और बाल-विवाह जैसी कुप्रथाएँ गैर-कानूनी घोषित की जा सकी।

राजा राममोहन राय ने अस्पृश्यता और छुआछूत के विरुद्ध भी आवाज बुलन्द की और मानव-समानता पर बल दिया। उन्होंने राष्ट्रीयता की भावना को विकसित किया क्योंकि उसके सामाजिक तथा धार्मिक सुधारों के पीछे अपने देश-वासियों की राजनीतिक उन्नति की भावना विद्यमान थी। राजा राममोहन राय ने पाश्चात्य शिक्षा और विचारों का समर्थन व प्रसार किया जिससे भारतवासी अपनी प्राचीन रूढ़ियों और कुरीतियों को समाप्त करने को उत्सुक हो उठे। 19वीं शताब्दी में भारतीय समाज में व्याप्त अज्ञान, अन्धकार, शिथिलता एवं अकर्मण्यता के वातावरण में राजा राममोहन राय ने एक ऐसी ज्योति प्रदान की जिसके माध्यम से भारतीय समाज की सुषुप्तता समाप्त हुई और नये युग का आरम्भ हुआ। राजा राममोहन राय के सुधारों और रचनात्मक कार्यों ने एक ऐसी प्रवृत्ति को जन्म दिया जो कालान्तर में वृहद् क्रान्ति की प्रेरक बनी।

राजा राममोहन राय भारतीय पुनर्जागरण के अग्रदूत थे। वे प्रथम भारतीय सुधारक थे जिन्होंने अन्ध-विश्वासों, रूढ़ियों और कुरीतियों से पीड़ित भारतीय समाज को उन्नत और प्रगतिशील बनाने पर बल दिया था। इसी कारण राजा राममोहन राय को साधारणतया हमारे धर्म तथा समाज में गतिशील सुधारों का प्रथम ईश्वरीयदूत और नवीन युग का अग्रदूत कहकर पुकारा जाता है। वे वस्तुतः भारतीय धर्म तथा सभ्यता को अन्धविश्वास तथा आध्यात्मिक अन्धानुकरण से बचाने के लिए आए थे जबकि हमारा देश दासता की परिस्थितियों के बोझ के नीचे लड़खड़ा रहा था।

राजा राममोहन राय का मूल्यांकन—**मिस कैलोट** का कथन है कि, "इतिहास में राममोहन राय ऐसे जीवित पुल के समान हैं जिस पर भारत अपने अपरमित भूत-काल से अपने अपरिमित भविष्य की ओर चलता है। वे एक ऐसे वृत्त-खण्ड थे जो प्राचीन जातिवाद और अर्वाचीन मानवता, अन्धविश्वास तथा विज्ञान, अनियन्त्रित सत्ता तथा प्रजातन्त्र, स्थिर रिवाज तथा अनुदार प्रगति के बीच की खाई को ढांपे हुए थे।" **सील** के अनुसार "राजा राममोहन राय विश्व-मानवता के विचार के सन्देश-वाहक थे। वे मानवतावादी, पवित्र तथा सरल थे और वे विश्व के इतिहास में विश्व-मानवता का दिग्दर्शन करते थे। इसलिये उन्हें सार्वभौमिकता तथा प्रेम का मुख्य पुरोहित कहा है।" **विपिनचन्द्र पाल** ने लिखा है कि "राजा साहब ही प्रथम भारतीय थे जिन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता का संदेश प्रसारित किया। वे चाहते थे कि भारत में शीघ्र ही आधुनिक प्रजातन्त्र की प्रणाली स्थापित कर दी जाये ताकि भारत भी शीघ्र ही सभ्य और स्वतन्त्र देशों के समक्ष हो सके।" **रवीन्द्रनाथ ठाकुर** के अनुसार, "राममोहन राय ने भारत में आधुनिक युग का सूत्रपात किया।" उन्हें भारतीय राष्ट्रवाद का प्रवर्त्तक भी कहा जाता है क्योंकि उनके सामाजिक तथा धार्मिक सुधारों के पीछे अपने देशवासियों की राजनीतिक उन्नति करने की भावना विद्यमान रही थी।

दयानन्द सरस्वती

19वीं शताब्दी में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा की गई हिन्दू शा

व्याख्या ने हिन्दू समाज को भ्रमित कर डाला था। हिन्दू धर्म के प्रवक्ता ब्राह्मण भी शास्त्रों की वास्तविक व्याख्या में अनभिज्ञ थे। वे लोग अन्ध-विश्वास और रूढ़ियों के रक्षक मात्र थे। दूसरी ओर ईसाई धर्म प्रचारक अपने धर्म को हिन्दू धर्म की अपेक्षा शुद्ध और वैज्ञानिक बताकर ईसाई धर्म के प्रचार में संलग्न थे। अनेक शिक्षित भारतीय उनके ज्ञान और विज्ञान से प्रभावित होकर पाश्चात्य सभ्यता और धर्म को अपनाने लगे थे। ऐसी स्थिति में 19वीं शताब्दी में राजा राममोहन राय ने धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलन का सूत्रपात कर हिन्दू संस्कृति को एक

नई दिशा प्रदान की। किन्तु राजा राममोहन राय पाश्चात्य विचारों से प्रभावित थे। अतः उनके आन्दोलन का स्वरूप रक्षात्मक रहा। उन्होंने हिन्दू धर्म और समाज में सुधार तो किये किन्तु वे इस्लाम और ईसाई धर्म के समक्ष हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित नहीं कर सके। अतः उनके कार्यों से हिन्दू धर्म और समाज की आकांक्षायें पूर्ण नहीं हो सकी। इन आकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिये हिन्दू धर्म और समाज को एक क्रान्तिकारी आन्दोलन की आवश्यकता थी। राजा राममोहन राय के प्रयत्नों से 19वीं शताब्दी के मध्य में हिन्दू समाज में आत्माभिमान और शक्ति का प्रस्फुटन हो चुका था। इस काल में हिन्दू अपने धर्म और संस्कृति से प्रेम करने लगे थे और पाश्चात्य संस्कृति तथा धर्म की बढ़ती हुई प्रचार बाढ़ को रोकने के लिए उत्सुक हो उठे थे।

ऐसी स्थिति में 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में स्वामी दयानंद सरस्वती ने हिन्दू समाज को सचेत और जागृत किया। उन्होंने हिन्दू धर्म और समाज में व्याप्त निराशा को दूर हटाकर उसमें नवजीवन का संचार किया और हिन्दू धर्म तथा संस्कृति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की।

दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित—दयानंद सरस्वती का जन्म 1824 ई. में काठियावाड़ (गुजरात) के टकारा नगर के जीवपुर ग्राम के सम्पन्न औदिच्य ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके बचपन का नाम मूल शंकर था। उनके पिता अम्बाशंकर मोरवी राज्य के प्रतिष्ठित कर्मचारी और धर्मपरायण व्यक्ति थे। स्वामी दयानंद को 5 वर्ष की आयु में संस्कृत पढ़ने के लिये पाठशाला भेजा गया। दयानंद कुशाग्र बुद्धि के धनी थे। उन्होंने 14 वर्ष की आयु में यजुर्वेद, संस्कृत भाषा, व्याकरण और काव्य का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। दयानंद विचारशील बालक थे। वे रूढ़ियों को नहीं मानते थे और प्रत्येक बात को तर्क की कसौटी पर कसा करते थे। इसी समय उनके जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। शिवरात्री के अवसर पर जब वे अपने पिता के साथ शिव मन्दिर में बैठे हुए थे, उन्होंने एक चूहे को शिव की प्रतिमा पर चढ़ते हुए और प्रसाद खाते देखा। इस दृश्य से उनके जिज्ञासु मन में तूफान ला दिया। वे सोचने लगे थे कैसे शिव हैं जो चूहे से अपनी रक्षा नहीं कर सकते। उन्होंने अपने पिता को जगाकर प्रश्न किया तो पिता ने उत्तर दिया कि यह तो शिव की मूर्ति है शिव नहीं। इस घटना से उनके हृदय में मूर्तिपूजा के प्रति अनास्था उत्पन्न हो गई। अब उनके विचार वैराग्यपूर्ण बनने लगे। इस दौरान उन्होंने दर्शन, नीतिशास्त्र, कर्मकाण्ड आदि का अध्ययन किया. परन्तु दयानन्द की ज्ञान-क्षुधा इससे शान्त नहीं हुई। इसी समय उनकी बहिन और चाचा का देहान्त हो गया। इन घटनाओं से उनका चिन्तन जीवन और मृत्यु की ओर प्रवृत्त हो गया।

दयानन्द की विचारशीलता से चिन्तित होकर उनके पिता ने उन्हें सांसारिकता की ओर झुकाने के लिये उनके विवाह की योजना बनाई परन्तु दयानन्द विवाह के लिये तैयार नहीं थे। अतः विवाह की निश्चित तिथि से 4-5 दिन पूर्व ही वे घर से भाग निकले यह घटना 1845 ई. की है।

घर से भागने के बाद उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया और अपना नाम दयानन्द सरस्वती रखा। 1845 से 1860 ई. तक दयानन्द ने सारे भारत का भ्रमण किया। इस काल में उन्होंने तप और योग के द्वारा अपने शरीर तथा आत्मा को पुष्ट किया एवं आत्मा और परमात्मा पर गहन चिन्तन किया। दयानन्द की ज्ञान-पिपासा बड़ी प्रबल थी। उन्हें जहाँ भी ज्ञान-प्राप्ति का अवसर मिलता, उसका वे पूरा उपयोग करते थे। अन्त में घूमते-घूमते 1860 ई. में वे मथुरा पहुँचे जहां उनकी भेंट गुरु विरजानन्द से हुई। विरजानन्द वेदों और व्याकरण के प्रकाण्ड पण्डित थे। स्वामी दयानन्द ने ढाई वर्ष तक विरजानन्द के चरणों में बैठकर वेदों और प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों का अध्ययन किया। दयानन्द अनेक ग्रन्थों का अध्ययन इससे पूर्व कर चुके थे। स्वामी विरजानन्द के पास उनके ज्ञान का परिमार्जन हुआ और सिद्धान्त निश्चित हुए। यहीं उन्हें यह दृढ़ विश्वास हुआ कि वेदों के अध्ययन के द्वारा ही हिन्दू धर्म और संस्कृति की रक्षा की जा सकती है। शिक्षा समाप्त होने पर गुरु ने दयानन्द को आदेश देते हुए कहा, "वेदों का अध्ययन-अध्यापन भारतवर्ष में दीर्घकाल से बन्द हो गया है। तुम वेदों का प्रचार करो, सच्चे शास्त्रों की शिक्षा दो और वेदों के प्रकाश में मत-मतान्तरों को दूर करो। धर्म अन्धकार में छिप गया है। इस अन्धकार को हटाकर लोगों को सत्य धर्म का दर्शन करवाओ।" अतः दयानन्द ने अपने गुरु के आदेश का पालन किया और अपना शेष जीवन वेदों के प्रचार में लगा दिया।

तदन्तर अगले 4-5 वर्षों तक दयानन्द ने उत्तर भारत का भ्रमण किया और बड़े-बड़े नगरों में व्याख्यान दिये जिसमें उन्होंने धार्मिक पाखण्डों, अन्ध-विश्वासों, मूर्तिपूजा और बहुदेववाद आदि का प्रबल विरोध किया जिससे हिन्दू समाज में हलचल मच गई। वे प्रभावशाली वक्ता थे। अतः उनके व्याख्यानों को सुनकर हजारों लोग उनके अनुयायी बन गए। कुछ कट्टरपंथियों ने उनका विरोध किया तथा उनकी हत्या का प्रयत्न भी किया परन्तु दयानन्द इससे विचलित नहीं हुए। छठें वर्ष में दयानन्द भारत की बौद्धिक राजधानी काशी पहुँचे और वहाँ अपने विचारों का प्रचार करने लगे। उन्होंने पौराणिक देवताओं को अस्तित्वहीन बताकर मूर्ति-पूजा का खण्डन किया और एक ईश्वर की उपासना का उपदेश दिया। उनके इन विचारों से रुष्ट होकर काशी के पण्डितों ने दयानन्द को शास्त्रार्थ की चुनौती दी। दयानन्द ने इस चुनौती को स्वीकार कर लिया। काशी के लक्ष्मी कुण्ड पर दयानन्द और काशी के पण्डितों में शास्त्रार्थ हुआ जिसमें उन्होंने प्रमाणित किया कि वेद

समस्त ज्ञान के स्रोत हैं और मूर्तिपूजा वेदों के प्रतिकूल है। यद्यपि यह शास्त्रार्थ अनिर्णित रहा किन्तु इससे दयानन्द के विचार और ख्याति सारे देश में फैल गई।

इसके पश्चात् दयानन्द कलकत्ता पहुँचे जहाँ ब्रह्म समाज के नेताओं ने उनका जोरदार स्वागत किया। कलकत्ता का शिक्षित समाज उनके व्यक्तित्व से बड़ा प्रभावित हुआ। अब तक दयानन्द अपने धर्म का प्रचार संस्कृत भाषा में करते थे। अतः केशवचन्द्र सेन ने उन्हें जनभाषा हिन्दी में प्रचार की सलाह दी जिसे दयानन्द ने मान लिया। 1874 ई. में दयानन्द ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना की। इसके पश्चात् स्वामी दयानन्द बम्बई पहुँचे जहाँ हिन्दू धर्म संस्कृति और भाषा के प्रचार के लिए उन्होंने 10 अप्रेल, 1875 ई. को सर्वप्रथम आर्य समाज की स्थापना की। इसके बाद दयानंद दिल्ली पहुँचे जहाँ उन्होंने ईसाई, मुसलमान और हिन्दू धर्म के धर्माचार्यों से विचार-विमर्श किया। किन्तु दो दिन का यह विचार-विमर्श अनिर्णित रहा। यहाँ से दयानंद पंजाब गये जहाँ उनका भव्य स्वागत हुआ। जून, 1877 ई. में उन्होंने लाहौर में आर्य समाज की शाखा खोली। कालांतर में यही शाखा आर्य समाज आंदोलन का प्रमुख केन्द्र बन गई।

सन् 1877 से 1883 ई. तक दयानंद ने भारत के विभिन्न भागों का भ्रमण कर अपने विचारों का प्रसार किया तथा आर्य समाज की स्थापना की। स्वामी दयानन्द ने अपने विचारों का प्रचार करने के लिए अनेक ग्रन्थों की रचना की। 'वेदभाष्य' नामक ग्रन्थ में उन्होंने ऋग्वेद तथा यजुर्वेद पर नवीन पद्धति से टीका लिखी। 'ऋग्वेदादि भाष्य' नामक ग्रन्थ में उन्होंने वेदों के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये। उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचना 'सत्यार्थ प्रकाश' है जिसे अत्यधिक प्रसिद्धि मिली है। इस ग्रन्थ में उन्होंने सभी धर्मों का आलोचनात्मक विश्लेषण करते हुए यह सिद्ध किया है कि वैदिक धर्म ही अन्य धर्मों से श्रेष्ठ है। दयानंद ने इस ग्रन्थ में हिन्दू, ईसाई और इस्लाम आदि धर्मों में व्याप्त ढोंग, आडम्बरों, अन्धविश्वासों और कर्मकाण्डों की कटु आलोचना की है। इससे भारतीयों को यह ज्ञान हुआ कि ईसाई और इस्लाम धर्म भी ढोंग और आडम्बरों से रहित नहीं है और न ही वे हिन्दू धर्म से श्रेष्ठ हैं। इससे हिन्दू अपने धर्म के मूल रूप की ओर आकृष्ट हुए तथा हिन्दू होने में गौरव महसूस करने लगे। इस प्रकार दयानंद ने ईसाई और इस्लाम धर्म की श्रेष्ठता की बढ़ती हुई भावना पर अंकुश लगा कर हिन्दू धर्म की महान् सेवा की। इसी ग्रन्थ में दयानंद ने प्रतिपादित किया कि वेद ही समस्त ज्ञान का स्रोत हैं और मूर्तिपूजा वैदिक धर्म के प्रतिकूल है। उन्होंने पौराणिक धर्म के अवतारवाद, तीर्थयात्रा, श्राद्ध, व्रत-अनुष्ठान आदि को वेद-विरुद्ध बताकर उनका खण्डन किया। उन्होंने वेदों में प्रतिपादित यज्ञ और संध्या करना प्रत्येक आर्य का कर्तव्य बताया।

साथ ही उन्होंने वेदों के आधार पर बाल-विवाह, बहु-विवाह, पर्दा-प्रथा तथा छुआ-छूत का खण्डन किया और स्त्री शिक्षा व अन्तर्जातीय विवाहों का समर्थन किया। इसके अलावा स्वामी दयानंद ने दो अन्य ग्रन्थ लिखे—**'संस्कार विधि'** तथा **'गौ करुणा निधि'**। 'संस्कार विधि' नामक ग्रन्थ में हिन्दुओं के सोलह संस्कारों की वैदिक विधि का वर्णन है तथा 'गौ करुणानिधि' में भारत के विकास के लिए गाय के महत्व का उल्लेख किया गया है।

पंजाब, उत्तर प्रदेश और राजस्थान में स्वामी दयानंद का प्रचार काफी सफल रहा। उनके प्रयासों से शीघ्र ही समस्त उत्तरी भारत में आर्य समाज एक लोकप्रिय धार्मिक, सामाजिक और शैक्षणिक आंदोलन बन गया। दयानंद के अंतिम दिन राजस्थान में व्यतीत हुए। यहाँ के अनेक राजा-महाराजा उनके शिष्य थे। उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह उनका बड़ा आदर करते थे। महाराणा ने स्वामी जी से मनुस्मृति का अध्ययन किया था। 1881 ई. में बनेड़ा के ठाकुर गोविन्दसिंह के निमन्त्रण पर स्वामी जी बनेड़ा गये जहाँ उन्होंने गोविन्दसिंह के पुत्रों—अक्षयसिंह और रामसिंह को वेदों की शिक्षा देकर सस्वर वेद पढ़ना सिखाया। अक्टूबर, 1883 ई. में जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह ने उन्हें जोधपुर बुलाकर उनका सम्मान किया। किन्तु महाराजा जसवन्तसिंह व्यसनी नरेश थे अतः स्वामी जी ने उन्हें कठोर शब्दों में फटकारा। यहाँ महाराजा की एक मुसलमान कृपा-पात्र नन्हींजान ने उन्हें भोजन में विष दे दिया। जोधपुर में चिकित्सा की उचित व्यवस्था नहीं होने पर वे अजमेर आ गये जहाँ 30 अक्टूबर 1883 ई. को उनकी मृत्यु हो गई।

दयानन्द के सुधार-कार्य

आर्य समाज—स्वामी दयानंद ने वैदिक धर्म के पुनरुत्थान और अपने विचारों के प्रचार के लिए 10 अप्रेल, 1875 ई. को बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की थी। इसके दो वर्ष बाद 1877 ई. में लाहौर में आर्य समाज की स्थापना हुई जहाँ इसके नियमों और विधान को अन्तिम रूप दिया गया। आर्य समाज के नियमों का परिचय उनके ग्रन्थ **'सत्यार्थ प्रकाश'** में मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार आर्य समाज के दस नियम निम्नलिखित हैं—

(1) वेद सत्य तथा ज्ञान के भंडार हैं। वेद का अध्ययन तथा मनन करना आर्यों का परम कर्तव्य है।

(2) ईश्वर सच्चिदानंद है। वह निराकार, सर्वशक्तिमान, अनंत, अमर, अजन्मा, सर्वव्यापी, दयालु और सृष्टि का पालक है।

(3) समस्त सत्य और विद्या का मूल परमेश्वर है।

(4) सत्य को ग्रहण करने और असत्य को त्यागने के लिए सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

(5) समस्त कार्य सत्य-असत्य का विचार करके करने चाहिए।

(6) आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य संसार का उपकार करना है।

(7) पारस्परिक सम्बन्ध का आधार प्रेम, न्याय और धर्म होना चाहिए।

(8) अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि होनी चाहिए।

(9) प्रत्येक मानव को अपनी भलाई से ही संतुष्ट नहीं रहना चाहिए वरन् सबकी भलाई में अपनी भलाई समझनी चाहिए।

(10) सामाजिक भलाई के कार्य में पारस्परिक मतभेदों को भुला देना चाहिए।

धार्मिक सुधार—स्वामी दयानंद की हिन्दू धर्म में अनन्य आस्था थी। अतः उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन वैदिक धर्म के प्रसार और हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान में लगा दिया। उन्होंने वेदों की श्रेष्ठता प्रमाणित की और हिन्दू धर्म की कुरीतियों, पाखण्डों और आडम्बरों का तर्कपूर्ण खण्डन करके वैदिक धर्म के गौरव को पुनर्स्थापित करने का प्रयास किया। दयानंद ने हिन्दू धर्म को दूषित करने वाले तत्वों—मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, अवतारवाद, तीर्थयात्रा आदि का घोर विरोध किया और ऐकेश्वरवाद, वेदों के अध्ययन और सत्कर्मों पर बल दिया। उनकी मान्यता थी कि ईश्वर निराकार, सर्वव्यापक, अनंत, अजन्मा, दयालु और न्यायकारी है। अतः मूर्ति पूजा निरर्थक है। विद्वानों, आचार्य, माता-पिता और अतिथि का सत्कार ही देव पूजा है। दयानंद ने बहुदेववाद का भी विरोध किया। उनकी मान्यता थी कि ईश्वर एक है। कुछ व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से अधिक गुणवान, प्रतिभावान और तेजस्वी हो सकते हैं परन्तु वे ईश्वर नहीं माने जा सकते। ऐसे व्यक्ति उपकारी, उपदेष्टा या नेता माने जा सकते हैं। दयानंद ने हिन्दुओं द्वारा तीर्थ यात्रा द्वारा पुण्य संचय किये जाने के विश्वास का खण्डन किया। उन्होंने कहा कि जलस्थल वास्तविक तीर्थ नहीं हैं अपितु सत्य-भाषण, विद्या, सत्संग, योगाभ्यास, यज्ञ, पुरुषार्थ और दानादि वास्तविक तीर्थ हैं। स्वामी दयानंद ने हिन्दुओं के मोक्ष को जीवन का परम लक्ष्य माना किन्तु इसकी प्राप्ति के लिए वे कर्मकाण्डों के विरोधी थे। उनके अनुसार एक ईश्वर की उपासना, वेदविहित यज्ञ, अच्छे कर्म और ब्रह्मचर्य का पालन ही मोक्ष प्राप्ति का मार्ग है। उनके इस उपदेश से हिन्दुओं का ईसाई धर्म के प्रति आकर्षण कम हुआ क्योंकि ईसाई धर्म में मोक्ष का कोई स्थान नहीं था। उन्होंने हिन्दू धर्म की स्वर्ग और नरक की मान्यता को अस्वीकार कर दिया। उनके अनुसार स्वर्ग सुख का और नरक दुःख का नाम है। ये सुख-दुःख उसे अपने कर्मों

के अनुरूप मिलते हैं। दयानंद ने हिन्दुओं में मृतकों के श्राद्ध की परम्परा को वेद-विरुद्ध मानकर उसका विरोध किया और कहा कि भोजन कराके या दान देकर परलोक में मृतक व्यक्ति तक सब पहुँचने की कल्पना करना मूर्खता है। उनकी मान्यता थी कि जीवितावस्था में माता-पिता तथा बुजुर्गों की सेवा करना और मृत्यु के बाद उनके सद्गुणों को याद रखना ही सच्चा श्राद्ध है।

स्वामी दयानंद ने हिन्दू धर्म की कुरीतियों और आडम्बरों का विरोध ही नहीं किया अपितु अन्य धर्मों की तुलना में हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता भी प्रतिपादित की। उनकी मान्यता थी कि वेद समस्त ज्ञान का स्रोत है। अतः उन्होंने वेदों की नवीन ढंग से व्याख्या की जिसके अनुसार वेद वैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सिद्धांतों के स्रोत हैं। उन्होंने हिन्दुओं में यह भावना जागृत की कि वेद समस्त ज्ञान का भण्डार हैं अतः सत्य या असत्य के विवेचन के लिए हमें इस्लाम या ईसाई धर्म की ओर देखने की अपेक्षा सिर्फ अपने ही प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए। स्वामी दयानंद को यह सह्य नहीं था कि कोई व्यक्ति हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता पर संदेह करें और दूसरे धर्म की तुलना में हिन्दू धर्म को तुच्छ बताये। अतः उन्होंने ईसाई और इस्लाम धर्म के प्रचारकों का डटकर विरोध किया और इन धर्मों में व्याप्त ढोंग और पाखण्डों पर भीषण प्रहार किया। इसके अतिरिक्त दयानंद ने शुद्धि आंदोलन के द्वारा उन लाखों हिन्दुओं को पुनः हिन्दू धर्म में दीक्षित किया जिन्होंने प्रलोभन या दबाव में आकर इस्लाम या ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था। इस प्रकार स्वामी ने हिन्दू धर्म को कुरीतियों और आडम्बरों से मुक्ति दिलाकर हिन्दुओं को अपने प्राचीन गौरवपूर्ण धर्म और आदर्शों का स्मरण कराया जिसके फलस्वरूप हिन्दुओं में आत्मविश्वास, स्वाभिमान और आत्मगौरव जागृत हुआ।

सामाजिक सुधार—स्वामी दयानंद हिन्दू धर्म के सच्चे अन्वेषक होने के साथ ही महान् समाज-सुधारक भी थे। उन्होंने हिन्दू समाज में व्याप्त जाति प्रथा, बाल विवाह, बहुविवाह, सती प्रथा, मृत्यु भोज और श्राद्ध आदि बुराइयों का घोर विरोध किया और उन्हें दूर करने के लिए सराहनीय कार्य किये। स्वामी दयानंद ने हिन्दू समाज में शताब्दियों से प्रचलित जन्म पर आधारित जाति प्रथा का विरोध किया क्योंकि यह वेदों के ज्ञान के प्रतिकूल थी। वैदिक काल में वर्ण निर्धारण का आधार जन्म न होकर कर्म था। उनकी मान्यता थी कि जन्म से न कोई ब्राह्मण है और न कोई शूद्र। अतः मनुष्य के गुण और कर्म देखकर उसकी जाति निश्चित करनी चाहिए। उनके अनुसार समाज में किसी व्यक्ति को जन्म के आधार पर उच्च स्थान पर पहुँचने से वंचित नहीं किया जाना चाहिए। इसी आधार पर दयानंद ने अन्तर्जातीय विवाहों का समर्थन किया।

स्वामी दयानंद ने हिन्दू समाज में व्याप्त छुआछूत और ऊँच-नीच के भेद-भावों की कटु आलोचना की और मानव समानता का आदर्श स्थापित किया। उन्होंने हिन्दू समाज में अछूत माने जाने वाले वर्गों के उद्धार की ओर बड़ा ध्यान दिया। स्वामी दयानंद ने अछूतों को वेद पढ़ने और यज्ञोपवीत धारण करने के अधिकार को मान्यता दी। उन्हें गायत्री मंत्र सिखाया गया, उनसे होम करवाया गया तथा उनके साथ सहभोज आयोजित किये गए। इन कार्यों से अस्पृश्य स्पृश्य हो गये। इसके फलस्वरूप अछूतों में हिन्दू धर्म के प्रति आस्था और विश्वास उत्पन्न हुआ जिससे उनका ईसाई धर्म के प्रति आकर्षण कम हो गया।

वैदिक काल में स्त्रियों को समाज में उच्च स्थान प्राप्त था। उन्हें पुरुषों के समान शिक्षा प्राप्त करने और सामाजिक जीवन में भाग लेने का अधिकार प्राप्त था। किन्तु परवर्ती काल में हिन्दू समाज में स्त्रियों की स्थिति उत्तरोत्तर दयनीय होती गई। मध्यकाल में उन्हें शिक्षा और सम्पत्ति प्राप्त करने के अधिकार से वंचित कर दिया गया तथा बाल विवाह, पर्दाप्रथा और सतीप्रथा के प्रचलन के कारण उनकी स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई थी। 19वीं शताब्दी में भी उनकी यही स्थिति थी। स्वामी दयानंद वेदशास्त्रों और उनकी व्यवस्थाओं की पुनःस्थापना के समर्थक थे। अतः उन्होंने बाल विवाह, बहुविवाह, सतीप्रथा और पर्दा-प्रथा का घोर विरोध किया तथा स्त्री-शिक्षा, विधवा विवाह और एक-विवाह प्रथा पर बल दिया। उन्होंने वेदशास्त्रों के आधार पर यह मत का प्रतिपादन किया कि विवाह के समय कन्या की न्यूनतम आयु 16 वर्ष और वर की आयु 25 वर्ष होनी चाहिए। दयानंद ने विवाह को धार्मिक और पवित्र बंधन मानते हुए विशेष स्थिति के अलावा एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करने को धर्म विरुद्ध घोषित कर दिया। उन्होंने सती प्रथा को वैदिक धर्म के प्रतिकूल बताकर उसे पाप और क्रूरता की संज्ञा प्रदान की। दयानंद ने विधवा विवाह को वेदों के अनुकूल मान कर उसका पूर्ण समर्थन किया और आर्य समाज के अन्तर्गत सैंकड़ों विधवाओं का वैदिक रीति से पुनर्विवाह करवाया। दयानंद ने स्त्रियों की हीन अवस्था को सुधारने के लिए स्त्री-शिक्षा के प्रचार और प्रसार पर बल दिया। उनकी मान्यता थी कि नारी केवल परिवार और समाज का ही निर्माण नहीं करती बलिक सन्तान के रूप में वह युग का निर्माण करती है। अतः उसका शिक्षित होना आवश्यक है। स्वामी दयानंद स्त्री और पुरुषों की समानता के समर्थक थे। अतः उन्होंने स्त्रियों को भी पुरुषों के समान वेद पढ़ने और यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार प्रदान किया।

साहित्य और शैक्षणिक क्षेत्र में सुधार—स्वामी दयानंद ने साहित्य और शिक्षा के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण सुधार किये। दयानंद के पूर्व वेदों के अध्ययन का

अधिकार सिर्फ ब्राह्मणों को प्राप्त था . किन्तु उन्होंने वेदों के आधार पर घोषित किया कि वेदाव्ययन पर ब्राह्मणों का एकाधिकार नहीं है। यह ईश्वर का ज्ञान है और इसको सभी प्राप्त कर सकते हैं। दयानंद ने वैदिक साहित्य के महत्व को भी भी पुनर्स्थापित किया। 19वीं शताब्दी में वेदों का अध्ययन-अध्यापन लगभग बन्द हो चुका था। देश के बहुत कम ब्राह्मण वेद-ज्ञान से परिचित थे। इस काल में वेदों का स्थान पुराणों ने ले लिया था। वेदों के केवल दो प्रसिद्ध भाष्य थे—एक सायण का और दूसरा महिधर का। सायण का भाष्य पुराणों पर आधारित था जिसमें बहुदेववाद की प्रधानता थी। महिधर का भाष्य दूषित और कहीं-कहीं अश्लील भी था। पाश्चात्य विद्वानों ने भी सायण के भाष्य और अपने ढंग की व्याकरण के आधार पर वेदों का अर्थ किया था जो कि वेदों की मूल भावना से नितान्त दूर था। अतः स्वामी दयानंद ने यास्क के निरुक्त के आधार पर वेदों का अर्थ किया। उन्होंने अपनी रचना 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' में वेदों के बारे में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया तथा वेदभाष्य' में ऋग्वेद व यजुर्वेद पर टीका लिखी। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश', 'संस्कार विधि' तथा 'गौ करुणानिधि' ग्रन्थों की रचना की। इन रचनाओं के माध्यम से दयानंद ने संस्कृत भाषा के महत्व का प्रतिपादन किया और हिन्दी भाषा के विकास में योगदान दिया।

शिक्षा के क्षेत्र में भी दयानंद के विचार अत्यन्त क्रान्तिकारी थे। सरकारी स्कूलों और ईसाई स्कूलों में दी जाने वाली शिक्षा को दयानंद हानिकारक, राष्ट्र-विरोधी और चरित्रनाशक मानते थे। अतः उन्होंने प्राचीन गुरुकुल प्रणाली की स्थापना पर बल दिया। मध्यकाल से हिन्दू समाज में स्त्रियों की शिक्षा पर अनेक नियन्त्रण लगा दिये गये थे। 19वीं शताब्दी में भी स्त्रियों की शिक्षा वर्जित थी। स्वामी दयानंद ने इन विचारों की कटु आलोचना की और स्त्री-शिक्षा पर बल दिया।

स्वामी दयानंद की मृत्यु के बाद सैद्धांतिक मतभेद के कारण उनके अनुयायी दो दलों में बँट गये। एक दल के नेता लाला हंसराज थे जो वैदिक ज्ञान के साथ पाश्चात्य शिक्षा के भी समर्थक थे उनके प्रयत्नों से स्थान-स्थान पर डी. ए. वी. स्कूल और कॉलेज खोले गये जहाँ पाश्चात्य ढंग की शिक्षा के साथ वैदिक धर्म की भी शिक्षा दी जाती थी। दूसरे दल के नेता मुंशीराम थे जो पूर्णतया प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति के समर्थक थे। अतः उन्होंने 1902 ई. में कांगड़ी गाँव के समीप गुरुकुल स्थापित किया जहाँ प्राचीन गुरुकुल प्रणाली से शिक्षा दी जाती है। स्त्री-शिक्षा के विकास के लिए भी अनेक कन्या स्कूलों व कॉलेजों की स्थापना की गई। आर्य समाज द्वारा स्थापित इन शिक्षा संस्थाओं ने भारतीय शिक्षा के विकास में अपूर्व योगदान दिया है।

राष्ट्रीय सुधार—स्वामी दयानंद ने भारतीय राष्ट्रीय जागरण के विकास मे महत्वपूर्ण योगदान दिया था। उनके द्वारा किये गये धार्मिक और सामाजिक सुधारे के फलस्वरूप मृतप्राय: हिन्दू समाज में नवचेतना, स्वाभिमान, आत्मविश्वास औ आत्मगौरव की भावनायें जागृत हुयीं। स्वामी दयानंद ने देशवासियों के हृदय मे

स्वधर्म और स्वदेश के प्रति ममत्व और स्वाभिमान उत्पन्न किया जिससे राष्ट्रीयता और स्वराष्ट्र प्रेम की भावना को बल मिला। वे विदेशी दासता को राष्ट्रीय अपमान मानते थे। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' में लिखा है कि "अच्छे से अच्छा विदेशी शासन स्वदेशी शासन की तुलना में तुच्छ है।" स्वामी दयानंद ने स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग पर बल दिया और विदेशी वस्तुओं के त्याग की सलाह दी। दयानंद ने वैदिक धर्म के माध्यम से उग्र राष्ट्रवाद को प्रोत्साहित किया। डॉ. आर. सी. मजूमदार ने भी आर्य समाज को 'उग्रवादी सम्प्रदाय' माना है। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के अनेक उग्रवादी नेता दयानंद के विचारों से प्रभावित थे जिनमें बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय और विपिनचन्द्र पाल आदि उल्लेखनीय हैं। स्वामी दयानंद के राष्ट्रीय जागरण में योगदान के सम्बन्ध में उनके जीवनी लेखक प्रोफेसर जी. राम ने लिखा है कि "दयानन्द का मुख्य लक्ष्य राजनीतिक स्वतन्त्रता थी। वास्तव में वह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने स्वराज्य शब्द का प्रयोग किया। वह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करना तथा स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करना सिखाया। वह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया।" 1907 ई. में भारत आये 'लन्दन टाइम्स' के विशेष संवाददाता वेलेनटाइन शिरोल ने भारत में 20वीं शताब्दी में फैली अशांति के सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए लिखा था कि "भारत में फैली हुई अशांति वास्तव में हिन्दू अशांति है और हिन्दुओं में सर्वाधिक अशांत वर्ग आर्य समाज है। दयानन्द हिन्दू सुधारों पर उतना जोर नहीं देते जितना पश्चिमी प्रभावों पर। उनकी मान्यता थी कि पश्चिमी प्रभाव राष्ट्र विरोधी हैं जिससे लोग अपनी संस्कृति और सभ्यता से विमुख होते जा रहे हैं।" उसने आगे लिखा है कि "आर्य समाज की उग्र राजनीतिक नेताओं और क्रांतिकारियों से गुप्त सहानुभूति है।" धार्मिक और सामाजिक सुधार के माध्यम से स्वामी दयानंद द्वारा किये गये राष्ट्रीय जागरण के सम्बन्ध में डॉ. ग्रीस वोल्ड ने लिखा है कि "दयानन्द का आह्वान था कि वापिस वेदों पर जाओ। इन शब्दों में एक और अर्थ निहित था, वह यह कि भारत भारतीयों के लिए है भारत का धर्म और शासन-सत्ता भारतीयों की होनी चाहिए।"

दयानंद के इन विचारों के कारण ब्रिटिश सरकार का दृष्टिकोण उनके प्रति कठोर ही रहा क्योंकि वे जानते थे कि प्राचीन हिन्दू संस्कृति के पुनरुत्थान का अर्थ है—भारत से ब्रिटिश शासन की समाप्ति। अतः ब्रिटिश सरकार निरन्तर आर्य समाज के कार्यों में बाधा डालती रही। अनेक आर्य समाजियों को सरकारी नौकरी से निकाल दिया गया और सरकारी कर्मचारियों पर दबाव डाला गया कि वे अपने बच्चों को आर्य समाज के स्कूल और कॉलेजों में शिक्षा न दिलायें।

स्वामी दयानंद ने अपने विचारों और कार्यों से हिन्दुओं को उनके प्राचीन गौरव और श्रेष्ठता का स्मरण कराया जिससे हिन्दू समाज में अपने धर्म, संस्कृति और देश के प्रति नवीन उत्साह उत्पन्न हुआ। "वेद संसार के सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं', 'आर्य जाति संसार की सर्वश्रेष्ठ जाति है', 'भारतीय सभ्यता और संस्कृति विश्व

का मार्गदर्शन कर सकती है" आदि विचारों के माध्यम से उन्होंने हिन्दू समाज में एक नवीन चेतना, आत्मविश्वास, आत्मसम्मान और राष्ट्रीयता का भाव उत्पन्न कर दिया जिसके फलस्वरूप हिन्दू अपने धर्म और संस्कृति को अन्य धर्मों व संस्कृतियों से श्रेष्ठ मानने लगे।

कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि स्वामी दयानंद द्वारा स्थापित आर्य समाज एक साम्प्रदायिक आंदोलन था क्योंकि यह आंदोलन केवल हिन्दू धर्म और समाज में सुधार तक सीमित था। किन्तु यह मत भ्रांतिपूर्ण है क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र विभिन्न वर्गों का समूह होता है अतः इन वर्गों के प्रेरणा स्रोत भी भिन्न-भिन्न होना सम्भव है। भारत भी विभिन्न जातियों, धर्मों, सम्प्रदायों, विचारों और मान्यताओं का देश है। यहाँ के प्रत्येक वर्ग ने अपने प्रेरणा स्रोत से प्रेरणा प्राप्त कर अपनी यथाशक्ति देश के सांस्कृतिक और राष्ट्रीय जागरण में योगदान दिया है। वेद चूँकि हिन्दू धर्म के आदिग्रन्थ हैं। अतः वे केवल हिन्दुओं के लिए ही प्रेरणा के स्रोत हो सकते हैं। हिन्दुओं द्वारा वेदों से प्रेरणा प्राप्त करना साम्प्रदायिकता नहीं अपितु स्वधर्म का पुनरुत्थान था। अतः स्वामी दयानंद तथा उनके आर्य समाज पर साम्प्रदायिकता का आरोप मिथ्या है।

स्वामी दयानन्द का मूल्यांकन—स्वामी दयानंद आधुनिक भारत के महान् धार्मिक और सामाजिक सुधारक थे। उन्होंने भारत के प्राचीन गौरव की व्याख्या कर हिन्दू धर्म में व्यापक क्रांति का सूत्रपात किया। उन्हें आधुनिक भारत का **मार्टिन लूथर** कहा जा सकता है। लूथर ने लोगों को उपदेश दिया था कि रोमन चर्च और परम्पराओं से मुक्त होकर बाइबिल की शरण लेनी चाहिए। उसी प्रकार स्वामी दयानंद ने भी स्मृतियों, पुराणों और ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित धर्म को प्रमाण न मानकर वेदों में वर्णित धर्म को ही प्रमाण स्वीकार किया है। उनका नारा था—**'वेदों की ओर लौटो'**। स्वामी दयानंद ने हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान के साथ हिन्दू समाज में व्याप्त कुरीतियों को समाप्त करने का भी अथक प्रयास किया। उनके इस कार्य से भारतीयों में राष्ट्रीय भावना जागृत हुई। स्वामी दयानंद का मूल्यांकन करते हुए रोमारोंला ने कहा है कि **"स्वामी दयानन्द इलियड के एक प्रमुख नायक के समान थे। उनमें हरकुलिस की सी शक्ति थी। शंकराचार्य के बाद इतनी महान् बुद्धि का संत दूसरा नहीं जन्मा। स्वामी दयानन्द ने हिन्दू पुराण-पन्थी सीमाओं को छिन्न-भिन्न किया और हिन्दू समुदाय में एक नवीन जीवनदायिनी शक्ति फूंकी। आर्य समाज एक साथ ही धार्मिक और राष्ट्रीय नवजागरण का आन्दोलन था और शासक वर्ग उसे राजनीतिक आंदोलन समझ कर नष्ट कर देने का प्रयत्न करता था।"** मेडम ब्लेवटास्की के अनुसार **"यह बिलकुल सही बात है कि शंकराचार्य के बाद भारत में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जो स्वामी जी से बड़ा सुसंस्कृतज्ञ, उनसे बड़ा दार्शनिक, उनसे अधिक तेजस्वी वक्ता तथा कुरीतियों पर टूट पड़ने में उनसे अधिक निर्भीक रहा हो।"** स्वामी दयानंद की मृत्यु पर उनकी प्रशंसा करते हुए 'थियोसोफिस्ट' समाचार-पत्र ने लिखा था कि "उन्होंने (दयानन्द) जर्जर

हिन्दुत्व के गतिहीन जनसमूह पर भारी बम का प्रहार किया और अपने भाषणों से लोगों के हृदय में ऋषियों और वेदों के लिए अपरिमित उत्साह की आग जला दी। समस्त भारतवर्ष में उनके समान हिन्दी और संस्कृत का वक्ता दूसरा कोई और नहीं था।" श्री रामधारीसिंह दिनकर के अनुसार "दयानन्द ने बुद्धिवाद की जो मशाल जलाई थी, उसका कोई जवाब नहीं था। वे जो कुछ कह रहे थे, उसका उत्तर न तो मुसलमान दे सकते थे, न ईसाई, न पुराणों पर पलने वाले हिन्दू पण्डित और विद्वान्। हिन्दू पुनर्जागरण अब पूरे प्रकाश में आ गया था और अनेक समझदार लोग यह अनुभव करने लगे थे कि सच ही पौराणिक धर्म में कोई सार नहीं है।"

रामकृष्ण परमहंस

राजा राममोहन राय तथा स्वामी दयानंद सरस्वती ने हिन्दू धर्म और संस्कृति के गौरव की पुनर्स्थापना और समाज सुधारों के द्वारा हिन्दुत्व की महान् सेवा की थी। उनके इन सुधारों ने हिन्दुओं को चिरनिद्रा से जगा दिया था किन्तु इन सुधार आंदोलनों से हिन्दू धर्म की क्षुधा शांत नहीं हुई क्योंकि अभी भी कई प्रश्न और समस्यायें अनुत्तरित और अनिर्णित थीं। अतः धार्मिक तथा सामाजिक सुधार आंदोलनों की धारा सतत प्रवाहित रही। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रामकृष्ण परमहंस तथा उनके शिष्य स्वामी विवेकानंद ने प्राचीन एवं अर्वाचीन तथा पूर्व और पश्चिम के विचारों का समन्वय करते हुए हिन्दू धर्म और संस्कृति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया तथा धर्म के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या की।

रामकृष्ण परमहंस का जीवन वृत्त—रामकृष्ण परमहंस का जन्म 18 फरवरी, 1836 ई. में पश्चिमी बंगाल के हुगली जिले के कामारपुकुर नामक गांव में एक निर्धन पुजारी के घर में हुआ था। इनके बचपन का नाम गंगाधर चट्टोपाध्याय था। जब ये 17 वर्ष के थे तो इनके पिता का देहांत हो गया। इस घटना के बाद रामकृष्ण अपने बड़े भाई के साथ कलकत्ता आ गये और दक्षिणेश्वर में काली देवी के मंदिर में पुजारी बन गये। ये घण्टों समाधि लगाकर साधना में तल्लीन हो जाया करते थे। 25 वर्ष की आयु में उनका विवाह एक पांच वर्षीय बालिका के साथ कर दिया किन्तु इससे उनकी साधना में कोई अवरोध नहीं हुआ। मंदिर छोड़ कर ये जंगल में चले गये और रात-दिन साधना में व्यस्त रहने लगे। इन्होंने तीनों प्रकार की साधनाएँ—तांत्रिक, वैष्णव और अद्वैत साधना की थीं और अन्त में सर्वोच्च आध्यात्मिक स्थिति **'निर्विकल्प समाधि'** को प्राप्त कर लिया था। इन्हें ईश्वर से साक्षात्कार करने का पूर्ण विश्वास था जिसमें इन्हें सफलता प्राप्त हुई। तत्पश्चात् उन्होंने इस्लाम और ईसाई धर्म की साधना की। इन विविध आध्यात्मिक साधनाओं के द्वारा उन्होंने सिद्ध कर दिया कि धर्म तथा ज्ञान अभिव्यक्ति का नहीं अपितु अनुभूति का विषय है। ये कंचन और कामिनी से दूर रहते थे। जब 18 वर्ष की युवती होने पर इनकी पत्नी शारदामणि इनके पास पहुँची तो इन्होंने उसे पत्नी रूप में स्वीकार करने के स्थान पर माता के रूप में ही देखा। शारदामणि उनकी शिष्या बन गई। 15 अगस्त, 1886 ई. को उनका देहांत हो गया।

रामकृष्ण उच्च कोटि के संत थे। उनके उदार विचारों के कारण उन्हें शीघ्र ही ख्याति प्राप्त हो गई। विभिन्न सम्प्रदायों के लोग दूर-दूर से उनके दर्शन करने और उपदेश सुनने आया करते थे। रामकृष्ण ने लोगों को धर्म के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराया। प्रसिद्ध ब्रह्म समाजी श्री प्रतापचन्द्र मजूमदार ने परमहंस के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर लिखा था कि **"रामकृष्ण के दर्शन होने से पूर्व यह कोई नहीं जानता था कि धर्म कैसा होता है। सब आडम्बर ही था। धर्म कैसा होता है, यह रामकृष्ण की संगति का लाभ होने पर ही जान पड़ा।"**

रामकृष्ण किसी नवीन धर्म अथवा धार्मिक सिद्धांतों के प्रवर्तक नहीं थे। वे प्राचीन भारतीय संत पद्धति के आधुनिक संत थे जो धर्म के गूढ़ तत्वों को सरल और सीधे उदाहरणों द्वारा व्यक्त करते थे। वे हिन्दू धर्म की साकार प्रतिमा थे। अनेक विद्वानों ने उन्हें **'धर्म का जीता जागता स्वरूप'** कहा है। रामकृष्ण हिन्दू धर्म के साकार और निराकार ईश्वर तथा ऐकेश्वरवाद और बहुदेववाद दोनों मतों के समर्थक थे। वे मूर्ति-पूजा के विरोधी नहीं थे। उनकी दृष्टि में वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, गीता, पुराण आदि सभी हिन्दू धर्म के पवित्र धार्मिक ग्रन्थ थे। **डॉ. रामधारीसिंह दिनकर** ने रामकृष्ण के सम्बन्ध में लिखा है कि **"हिन्दू धर्म में जो गहराई और माधुर्य है, रामकृष्ण परमहंस उसकी साकार प्रतिमा हैं।"**

रामकृष्ण की शिक्षायें—रामकृष्ण एक संत थे। उन्होंने धर्म के गूढ़ तत्वों को सरल और सुन्दर उदाहरणों द्वारा व्यक्त किया। उनकी प्रमुख शिक्षायें निम्नलिखित हैं—

(1) मानव जीवन का परम लक्ष्य ईश्वर से साक्षात्कार करना है।

(2) मानव विषय-वासनाओं का परित्याग कर आध्यात्मिक जीवन के विकास के द्वारा ईश्वर से साक्षात्कार कर सकता है।

(3) उनके मतानुसार गृहस्थ जीवन ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में बाधक नहीं है। उनकी मान्यता है कि गृहस्थी भी सांसारिक विषय-वासनाओं से ध्यान हटाकर ईश्वर की निरंतर उपासना करें तो वह ईश्वर से साक्षात्कार कर सकता है।

(4) उनकी मान्यता थी कि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न तत्व हैं। इस सिद्धांत को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था कि जिस प्रकार पानी के सूख जाने पर खोपरा नरेटी से खुलकर अलग हो जाता है और खोपरा तथा नरेटी अलग-अलग दिखाई देने लगते हैं उसी प्रकार कामिनी-कंचन की आसक्ति पूर्ण रूप से समाप्त होने पर शरीर और आत्मा अलग-अलग हो जाते हैं।

(5) रामकृष्ण धर्म को अनुभूति की वस्तु मानते थे। वे अनुभूति को तर्क, वाद-विवाद, प्रवचन और भाषण से अधिक महत्व देते थे। उनका कहना था कि अनुभूति से ही ईश्वर का साक्षात्कार किया जा सकता है। इस साक्षात्कार के बाद मनुष्य की सारी अभिलाषायें समाप्त हो जाती हैं और उसे परम शांति मिलती है।

(6) रामकृष्ण ने मूर्ति पूजा का समर्थन करते हुए कहा था कि जिस प्रकार वकील को देखकर अदालत की याद आती है, उसी प्रकार प्रतिमा को देखते ही ईश्वर की याद आती है।

(7) ईश्वर उपासना के व्यावहारिक मार्ग में भौतिकता और आध्यात्मिकता का समन्वय करते हुए उन्होंने कहा था कि "जब तुम काम करो तो एक हाथ से काम करो और दूसरे हाथ से भगवान के पांव पकड़े रहो। जब काम समाप्त हो जाय तो भगवान के चरणों को दोनों हाथों से पकड़ लो।"

(8) उनकी दृष्टि में सब मनुष्य समान थे क्योंकि सभी में एक ही सच्चिदानंद ईश्वर विराजमान है।

(9) उनकी मान्यता थी कि विद्वान को नैतिकता और सदाचारपूर्ण तथा अहंकार रहित जीवन बिताना चाहिए।

(10) रामकृष्ण सभी धर्मों की सत्यता में विश्वास करते थे। उनकी मान्यता थी कि सभी धर्म एक ही ईश्वर तक पहुँचने के विभिन्न मार्ग हैं। उन्होंने कहा कि **"ईश्वर एक है लेकिन उसके विभिन्न रूप हैं। जैसे एक घर का मालिक एक के लिए पिता, दूसरे के लिए भाई और तीसरे के लिए पति है और विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न नाम से पुकारा जाता है, उसी तरह ईश्वर भी विभिन्न कालों व देशों में भिन्न-भिन्न नामों और भावों से पूजा जाता है।"**

(11) रामकृष्ण शास्त्रार्थ के विरोधी थे। उनकी मान्यता थी कि ईश्वर शास्त्रार्थ शक्ति से परे हैं। जो कुछ है सब ईश्वरमय है। हमें आम खाने से मतलब है पत्ते या पेड़ गिनने से नहीं। अतः मूर्तिपूजा, पुनर्जन्म तथा अवतारवाद आदि के बारे में वाद-विवाद निरर्थक है।

रामकृष्ण की देन – हिन्दू धर्म और संस्कृति को रामकृष्ण की महत्त्वपूर्ण देन उनका आध्यात्मवाद है। वेदों और उपनिषदों में निहित गूढ़ ज्ञान को रामकृष्ण ने अपने सरल उपदेशों और उदाहरणों के माध्यम से सहज बोधगम्य बना दिया-जिससे हिन्दुओं में अपने प्राचीन ज्ञान और गौरव के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई। वे हिन्दू आध्यात्मवाद के जीवित स्वरूप थे। रामकृष्ण सभी धर्मों की एकता में विश्वास करते थे। विभिन्न धर्मों की साधना करने के बाद उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि ईश्वर एक है और सभी धर्म उसकी प्राप्ति के अलग-अलग मार्ग हैं। यह धार्मिक उदारता रामकृष्ण की महत्वपूर्ण देन है। रामकृष्ण ने मानव मात्र की सेवा और भलाई को ही वास्तविक धर्म माना है। उनकी मान्यता थी कि सब मनुष्यों में ईश्वर विद्यमान है। अतः मानव की सेवा ही ईश्वर की सेवा है। रामकृष्ण के व्यापक धार्मिक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में डॉ. सिल्वा लेवी ने लिखा था कि "......क्योंकि **रामकृष्ण का हृदय और मस्तिष्क सभी देशों के लिए था, इसलिए उनका नाम सम्पूर्ण मानव मात्र की सम्पत्ति है।"** उनके बारे में श्री रामधारीसिंह दिनकर ने लिखा है "सिर से पांव तक वे (रामकृष्ण) आत्मा की ज्योति से परिपूर्ण थे। आनंद, पवित्रता और पुण्य की प्रभा उन्हें घेरे रहती थी। वे दिन-रात परमार्थ चिन्तन में लीन रहते थे। सांसारिक सुख-समृद्धि, यहाँ तक की सुयश का भी उनके सामने कोई महत्त्व नहीं था।"

स्वामी विवेकानन्द

आधुनिक भारतीय धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलन में स्वामी विवेकानन्द का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होंने अपने जीवन, कार्यकलापों और शिक्षाओं के द्वारा भारतीय पुनर्जागरण को एक नई दिशा प्रदान की। उन्होंने केवल हिन्दू धर्म के वास्तविक स्वरूप और गौरव को ही पुर्नस्थापित नहीं किया बल्कि सारी दुनियां को हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता से परिचित कराया। वे एक युगपुरुष थे उन्होंने धार्मिक पुनरुत्थान का ऐसा आदर्श प्रस्तुत किया जो आज भी न केवल अनुकरणीय है वरन् युग युगान्तर तक हमारे देशवासियों के लिए प्रेरणा का स्रोत बना रहेगा।

जीवन-परिचय–स्वामी विवेकानन्द रामकृष्ण के प्रमुख शिष्य थे। विवेकानन्द का जन्म 12 जनवरी, 1883 ई. को कलकत्ता के एक प्रसिद्ध बंगाली कायस्थ परिवार में हुआ था। उनका प्रारम्भिक नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। उनके पिता विश्वनाथ दत्त कलकत्ता हाईकोर्ट के वकील थे तथा उनकी माता भुवनेश्वरी देवी एक विदुषी महिला थी। नरेन्द्रनाथ बचपन में बड़े शरारती थे, तभी उनकी माता कहा करती थी कि **"मैंने शिव से एक पुत्र की प्राप्ति की प्रार्थना की थी। परन्तु उसने एक निशाचर भेज दिया।"** नरेन्द्रनाथ बड़े प्रतिभासम्पन्न बालक थे। उन्होंने हाई स्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की और उच्च अध्ययन के लिए कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी कॉलेज में प्रवेश लिया। नरेन्द्रनाथ की प्रतिभा से प्रभावित होकर कॉलेज के प्रिन्सीपल विलियम हेस्टी ने कहा था कि **"नरेन्द्रनाथ वास्तव में असाधारण प्रतिभाशाली हैं। मैंने दूर-दूर तक यात्रा की है किन्तु मैंने ऐसी बुद्धि तथा अन्तर्सम्भावनाओं वाला लड़का अभी तक कहीं नहीं देखा है। यह निश्चित रूप से ख्याति प्राप्त करेगा।"** पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त करने के कारण विवेकानन्द यूरोप के उदारवाद और बुद्धिवाद से काफी प्रभावित थे। वे अत्यन्त जिज्ञासु प्रवृत्ति के थे। प्रारम्भ में वे ब्रह्म समाज के सम्पर्क में आये। किन्तु ब्रह्म समाज के विचारक उनके जिज्ञासु हृदय को तृप्त नहीं कर सके। इसके बाद किसी रिश्तेदार की प्रेरणा पाकर 1881 में नरेन्द्रनाथ रामकृष्ण से मिलने दक्षिणेश्वर गये।

रामकृष्ण से प्रथम भेंट के समय नरेन्द्रनाथ पाश्चात्य उदारवाद तथा बुद्धिवाद के प्रभाव के कारण नास्तिक थे परन्तु रामकृष्ण परमहंस के सम्पर्क में आने के पश्चात् वे आस्तिक बन गये। रामकृष्ण से भेंट के समय उन्होंने परमहंस से पूछा क्या आपने ईश्वर को देखा है? परमहंस का उत्तर था हां मैं ईश्वर को वैसे ही देखता हूँ जैसे तुम्हें देख रहा हूँ। रामकृष्ण ने आगे कहा कि मैंने आज तक इस संसार में व्यक्तियों को अपने माता, पिता, पत्नी और पुत्र आदि के लिए रोता हुआ देखा है। परन्तु मैंने आज तक ऐसा कोई व्यक्ति नहीं देखा जो इसलिए रो रहा हो कि उसे ईश्वर नहीं मिला। नरेन्द्रनाथ रामकृष्ण के इस कथन से अत्यन्त प्रभावित हुये और उनके शिष्य बन गये। नरेन्द्रनाथ अत्यन्त प्रतिभावान थे। वे प्रत्येक बात को तर्क की कसौटी पर कसते थे। वे रामकृष्ण के शिष्य तो बन गये किन्तु उनके

ब्रह्म साक्षात्कार के प्रति उन्हें पूर्ण विश्वास नहीं था। एक दिन रामकृष्ण परमहंस ने मुस्कराते हुए अपना दायां पांव नरेन्द्रनाथ के शरीर से स्पर्श किया तो क्षणमात्र में ही उनकी समाधि लग गई और उन्हें ब्रह्म का साक्षात्कार हो गया। इस स्पर्श से नरेन्द्रनाथ को जो अनुभूति हुई उसके बारे में उन्होंने लिखा है कि "आंखें खुली होने पर भी मैंने दीवारों सहित सारे कमरे को शून्य में विलीन होते देखा। मेरे व्यक्तित्व सहित सारा ब्रह्माण्ड ही एक सर्वव्यापक रहस्यमय शून्य में लुप्त होते दिखाई पड़ा।" इसके बाद नरेन्द्र को रामकृष्ण की आध्यात्मिकता के प्रति अगाध श्रद्धा हो गई और उन्होंने रामकृष्ण को अपना गुरू स्वीकार कर लिया।

उन्हें पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए पांच या छः वर्षों तक परमहंस की शिष्यता करनी पड़ी। परमहंस ने अपनी मृत्यु के कुछ दिन पूर्व अगस्त, 1886 में नरेन्द्रनाथ को स्पर्श द्वारा निर्विकल्प समाधि के आनन्द की अनुभूति करायी। उन्होंने नरेन्द्रनाथ से कहा था कि, "आज मैंने तुम को अपना सर्वस्व दे दिया। इस शक्ति द्वारा तुम संसार का महान् कल्याण करोगे और जब यह उद्देश्य पूरा नहीं होगा तब तक तुम लौट कर नहीं आओगे।" रामकृष्ण और नरेन्द्रनाथ के आध्यात्मिक मिलन के दूरगामी परिणाम हुए। 'ज्ञान' के साथ 'भक्ति' और 'कर्म' के साथ 'वैराग्य' का मिलन हो गया।

अगस्त 1886 में रामकृष्ण की मृत्यु के पश्चात् नरेन्द्रनाथ ने अपने गुरू की अस्थियों और उनकी वस्तुओं को इकट्ठा कर बारानगर में एक मठ स्थापित किया जहां उनकी विधिवत पूजा होने लगी। इस मठ को **'रामकृष्ण मठ'** कहा जाता है। इसी समय उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया और नरेन्द्रनाथ का नाम स्वामी विवेकानन्द रखा गया। तत्पश्चात् उन्होंने अपने गुरू रामकृष्ण के सन्देश को विश्व में फैलाने का निश्चय किया। अगले 6 वर्षों तक नरेन्द्रनाथ एक भिक्षुओं के रूप में हिमालय में घूमते रहे और अनेक विषयों का अध्ययन और चिन्तन करते रहे। तिब्बत जाकर उन्होंने बौद्ध धर्म का भी अध्ययन किया। 1892 के पश्चात् उन्होंने सारे भारत का भ्रमण किया। अपनी यात्रा के दौरान उन्होंने करोड़ों देशवासियों को एक ओर झोंपड़ियों में पड़े गरीबी की चक्की में पिसते हुए देखा तो दूसरी ओर मुट्ठी भर धनवानों को विलासिता और वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुये देखा।

शिकागो सर्व धर्म सम्मेलन—स्वामी विवेकानन्द अपने भारत भ्रमण के दौरान जब कन्या कुमारी पहुंचे तो उन्हें पता लगा कि अमेरिका के शिकागो नगर में विश्व के सभी धर्मों का एक सम्मेलन हो रहा है। अतः स्वयं के प्रयत्नों और खेतड़ी के महाराजा अजीतसिंह की सहायता से विवेकानन्द भी इस सम्मेलन में भाग लेने अमेरिका पहुंचे। 11 सितम्बर, 1893 को शिकागो के कोलम्बस हॉल में विश्व धर्म सम्मेलन शुरू हुआ। जब विवेकानन्द की बारी आयी तो उन्होंने अपना भाषण **'अमेरिका की बहिनों और भाईयों'** के सम्बोधन से शुरू किया तो लोगों के स्नेह का सागर उमड़ पड़ा और कई क्षणों तक सारी उपस्थित जनता विभोर हो गई। पहले दिन स्वामी विवेकानन्द केवल 15 मिनट बोले जिसमें उन्होंने

धार्मिक सहिष्णुता और विश्व धर्म का आदर्श प्रस्तुत किया और हिन्दू धर्म की विशालता तथा उदारता पर प्रकाश डाला। स्वामी जी का भाषण संक्षिप्त था परन्तु उसमें गहन ईश्वर-भक्ति तथा विशाल उदारता थी जिसे सुनकर लोग प्रेमोन्मत्त हो गए। उनके भाषणों ने श्रोताओं का दिल जीत लिया और लोग कहने लगे 'यह स्वामी हृदय से बोलता है जिह्वा से नहीं।" इस सम्मेलन की सभायें कई दिन तक होती थी। विवेकानन्द ने इस सम्मेलन में 10–12 भाषण दिये जिसमें उन्होंने हिन्दू धर्म और संस्कृति की श्रेष्ठता से विश्व को परिचित कराया। सम्मेलन की समाप्ति पर स्वामी विवेकानन्द के भाषणों की प्रशंसा करते हुये अमेरिका के समाचार पत्र 'दी न्यूयार्क हेराल्ड' ने लिखा था कि "विश्व सर्व धर्म सम्मेलन में सबसे महान् व्यक्ति विवेकानन्द है। उसका भाषण सुन लेने पर अनायास ही यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसे ज्ञानी देश को सुधारने के लिए धर्म प्रचारक भेजने की बात कितनी मूर्खतापूर्ण है।" विवेकानन्द के भाषणों की प्रशंसा करते हुए मिस मोन्रोज ने लिखा था "उस सभा (सर्व धर्म सम्मेलन) में उसी (स्वामी विवेकानंद) के भाषणों की ही चर्चा थी। सारे नगर के लोग उसी के विषय में बात करते थे…… उसका व्यक्तित्व सब पर छा गया था। उसमें चुम्बक का सा आकर्षण था। उसकी आवाज तेज और झनकदार थी। मानो घण्टियां बज रही हो। उसने प्रथम बार पश्चिमी संसार के सामने भाषण दिया था परन्तु यह अनोखा भाषण था। इतना प्रगल्भ और ओजस्वी भाषण और कोई नहीं दे सकता।" इसी प्रकार मेरी लुईसबर्ग ने लिखा है कि "विश्व धर्म सम्मेलन में स्वामीजी अपने व्यक्तित्व के बल और सन्देश की पवित्रता से सब पर छा गये थे।…………उनकी महानता लोग हृदय में अनुभव कर सकते थे किन्तु कह नहीं सकते थे। उनको ऐसा जान पड़ता था कि उनके दर्शनमात्र से उन्हें शान्ति मिलती है…………ऐसा प्रतीत होता था कि मानो इस प्रकार की अनुभूति के लिए अमेरिका तरस रहा था और अब उसे यह प्राप्त हुई।"

इस सम्मेलन की समाप्ति के बाद स्वामी जी ने अमेरिका के अनेक नगरों में भाषण दिये। अगले तीन वर्षों तक वे विदेशों में घूमते रहे और यूरोप के कई देशों में हिन्दुत्व और वेदांत दर्शन पर भाषण दिये। उनके भाषणों, लेखों और वक्तव्यों के द्वारा पाश्चात्य जगत हिन्दू-धर्म और संस्कृति की श्रेष्ठता से परिचित हुआ। 1895 में उन्होंने फ्रांस तथा इंगलैंड की यात्रा की और अपने धर्म का प्रचार किया। 1896 में वे पुनः अमेरिका गये और फरवरी, 1896 को न्यूयार्क में 'वेदान्त सोसायटी' की स्थापना की। बहुत से अमेरिकन उनके शिष्य बन गए। इनमें मेडम लुईसी और मिस्टर सेन्टसवर्ग विशेष उल्लेखनीय हैं। हावर्ड और कोलम्बिया विश्वविद्यालयों ने स्वामीजी को प्रोफेसर का पद पेश किया परन्तु संन्यास लेने के कारण उन्होंने इन प्रस्तावों को नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया। जनवरी, 1897 ई० में स्वामी जी कोलम्बो होते हुए वापस भारत लौटे तो देशवासियों ने सर्वत्र उनका भव्य स्वागत किया।

स्वदेश लौटने के बाद विवेकानन्द ने अपने प्रचार कार्य को संगठित और व्यवस्थित करने के लिए 1 मई 1897 को अपने गुरु के नाम पर **'रामकृष्ण मिशन'** नामक एक संस्था स्थापित की। 1 जनवरी, 1899 को कलकत्ता के निकट बेलूर में इस संस्था का प्रधान कार्यालय स्थापित किया गया। जून 1899 ई. में स्वामी दयानन्द पुनः अमेरिका गये और केलिफोर्निया, लॉस एन्जिलस तथा सैनफ्रांसिस्को आदि स्थानों पर वेदान्त सोसायटियां स्थापित कीं। 1900 ई. में स्वामीजी ने पेरिस (फ्रांस) के धर्म सम्मेलन में भाग लिया जहां उन्होंने हिन्दुत्व पर दो भाषण दिये। पहले भाषण में उन्होंने शिव पूजा का औचित्य सिद्ध किया और दूसरे भाषण में वेदों को सब धर्मों का मूल बताया। तत्पश्चात् स्वामीजी वियना, कोन्सटेनटिनापाल और एथेन्स होते हुए मिश्र पहुंचे। यहां भी उन्होंने हिन्दू धर्म का प्रचार किया जिसके फलस्वरूप विश्व में हिन्दू धर्म और संस्कृति की प्रतिष्ठा पुनःस्थापित हुई।

यूरोप के लोगों के हृदय में हिन्दुत्व के ध्वज का आरोहण कर 1900 ई. में वापस भारत लौटे। यहां आकर वे अस्वस्थ हो गये। अतः वे पहले बनारस चले गये और फिर कलकत्ता आ गये जहां 4 जुलाई 1902 को 39 वर्ष की अल्पायु में उनका देहान्त हो गया।

स्वामी विवेकानन्द के सुधार कार्य

धार्मिक सुधार—स्वामी विवेकानन्द ने कर्म और आध्यात्म की प्रेरणा वेदों से ग्रहण की थी। उनके धार्मिक चिन्तन और व्यवहार का मूल आधार वेदान्त की शिक्षायें हैं। उनकी मान्यता थी कि "वेदान्त के सिद्धान्त शाश्वत हैं जो अन्य व्यक्तियों और अवतारों के सहारे के बिना स्वयं अपनी नींव पर खड़े हुए हैं ......केवल वेदांत को ही पूर्ण सार्वभौमिक धर्म की संज्ञा दी जा सकती है, क्योंकि यह सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है व्यक्तियों का नहीं ....वेदान्त की प्रामाणिकता मानव चिन्तन के स्वभाव में है।" उन्होंने वेदान्त दर्शन को व्यावहारिक रूप देने का साहसिक कार्य किया। वे असाधारण प्रतिभाशाली और विद्वान व्यक्ति थे इसलिये उनकी व्याख्या की अपनी विशेषतायें हैं। उनके अनुसार धर्म केवल तात्विक और प्रत्यात्मक नहीं है। उन्होंने धर्म की व्याख्या करते हुये कहा था "धर्म न तो शब्द है और न सिद्धान्त है, वह अनुभूति है। यह सुनना या स्वीकार करना नहीं है। यह होना और बन जाना है। .... धर्म मनुष्य के भीतर निहित देवत्व का विकास है, धर्म न तो पुस्तकों में है, न धार्मिक सिद्धान्तों में, वह केवल अनुभूति में निवास करता है।" धर्म से उनका तात्पर्य हिन्दू धर्म से है। विवेकानन्द के लिए हिन्दू धर्म का अर्थ पाखण्डवाद, कर्मवाद या पूजापाठ नहीं वरन् हिन्दू धर्म की शिक्षायें हैं जो शाश्वत, सार्वकालिक तथा सार्वदेशीय हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म के गौरव और महानता को दुनियां के समक्ष प्रभावशाली ढंग से प्रतिपादित किया। उनकी मान्यता थी कि सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् पर आधारित हिन्दू धर्म और संस्कृति विश्व की प्राचीन और सर्वश्रेष्ठ संस्कृति है। उन्होंने बताया कि हिन्दू राष्ट्र सारे विश्व का गुरु रहा है अतः

प्रत्येक हिन्दू को अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा करनी चाहिये। स्वामी विवेकानंद वैदिक साहित्य के समान पुराणों, महाभारत, रामायण आदि को भी सम्मानीय मानते थे। उनकी दृष्टि में निराकार और साकार ईश्वर में कोई भेद नहीं था। वे मूर्ति पूजा को ईश्वर उपासना की ही एक पद्धति मानते थे। उनकी मान्यता थी कि हिन्दू धर्म में कोई बुराई नहीं है। इसकी प्रत्येक बात मूल्यवान है। प्राचीनता के कारण इसमें कुछ अन्धविश्वास हो सकते है किन्तु वे हेय नहीं हैं क्योंकि उनमें भी सत्य का स्वर्ण छिपा है जिसे ढूंढना आवश्यक है। पाश्चात्य विद्वान अपने अल्पज्ञान के कारण ही इसकी निन्दा करते है। स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त की परम्परागत व्याख्या के स्थान पर नवीन व्याख्या की। उनकी मान्यता थी कि ईश्वर साकार-निराकार तथा सत्-असत् से परे है। प्रत्येक मानव आत्मा ईश्वर स्वरूप है अतः मानव की सेवा ही सच्ची ईश्वरोपासना है। उनके अनुसार जब पड़ौसी भूखा हो तब भगवान को प्रसाद चढ़ाना पुण्य नहीं पाप है। स्वामी विवेकानन्द ने यह भी कहा कि ब्रह्म या ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिये सांसारिक जीवन का परित्याग आवश्यक नहीं है। विवेकानन्द के इन धार्मिक विचारों ने हिन्दू धर्म में महान् क्रांति उत्पन्न कर दी जिसके फलस्वरूप हिन्दुओं में मानसिक दासता और सांस्कृतिक हीनता की भावना समाप्त हो गई और वे अपने प्राचीन गौरव के प्रति आस्थावान हो उठे।

स्वामी विवेकानन्द सभी धर्मों की एकता में विश्वास करते थे। विश्व धर्म सम्मेलन में उन्होंने सभी धर्मों में विश्वास व्यक्त किया था। उनकी मान्यता थी कि सभी धर्मों का मूल लक्ष्य एक ही है। उनका कहना था कि "प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह दूसरे धर्मों के तत्व को पहचाने और अपने धर्म में रहकर अपने धर्म का विकास करें............पवित्रता, उपासना और उदारता किसी धर्म की बपौती नहीं है।" विश्व के विभिन्न धर्मों के सम्बन्ध में उनकी मान्यता थी कि जिस प्रकार मनुष्य सर्वत्र अन्न ही खाता है, किन्तु भोजन तैयार करने की विधियां अलग-अलग हैं। उसी प्रकार मनुष्य की आत्मा के भोजन धर्म का रूप भी अलग-अलग देशों में भिन्न-भिन्न है जबकि उन सभी में मूलभूत एकता विद्यमान हैं। विवेकानन्द ने कहा कि हिन्दू धर्म इतना व्यापक है कि वह सभी धर्मों के साथ सहिष्णुता का बर्ताव करता है और जिसने सभी धर्मों को ज्योति प्रदान की है।

सामाजिक सुधार—स्वामी विवेकानन्द ने संन्यासी होते हुये भी समाज की समस्याओं, उसके विकास और पुनर्निर्माण के सम्बन्ध में गहन चिन्तन किया। इसी-लिये आधुनिक भारत के समाज सुधारकों में उनका नाम अत्यन्त श्रद्धा से लिया जाता है। स्वामी विवेकानंद की मान्यता थी कि धर्म और समाज में अटूट सम्बन्ध हैं क्योंकि समाज की रचना धर्म के आधार पर और सामाजिक आवश्यकताओं के कारण हुई है। अतः सामाजिक ढांचे में आध्यात्मिकता और भौतिकवाद की प्रधा-नता है। वे समाज को ईश्वर निर्मित संस्था मानते थे। उनकी मान्यता थी कि किसी विशेष समाज में व्यक्ति का जन्म उसके पिछले कर्मों के आधार पर होता है।

स्वामी विवेकानंद का विचार था कि धर्म की गलत व्याख्या के कारण ही भारतीय समाज व्यवस्था विकृत हुई है। उनकी मान्यता थी कि देश के पुनरुद्धार के लिए जहाँ वेदों की शिक्षाओं को जनता तक पहुँचाने की आवश्यकता है, वहां योजनाबद्ध रूप से कुछ कार्य करके इस देश को उन्नत बनाया जा सकता है। स्वामी विवेकानंद के अनुसार भारतीय समाज के पतन के 12 प्रमुख कारण थे -- (1) छुआछूत, (2) श्रद्धा का अभाव, (3) अंग्रेजियत, (4) बेईमानी, (5) शारीरिक विकास की ओर ध्यान न देना, (6) छात्र भावना का पतन, (7) भय-ग्रन्थि, (8) मौलिकता और साहस की कमी, (9) आलस्य, (10) संकुचित दृष्टिकोण, (11) धर्म की अपेक्षा तथा (12) कमजोरी और पिछड़ापन।

स्वामी विवेकानन्द ने समाज सुधार के लिए एक कार्यक्रम प्रस्तुत किया इसमें उन्होंने जातिप्रथा और छुआछूत की कठोर निन्दा की। उनका विचार था कि आत्मा का कोई नाम और जाति नहीं होती। जब सब में एक ही ईश्वर और आत्मा विद्यमान है तो फिर जातिगत असमानता बेकार है। इस प्रकार स्वामीजी ने जात-पांत के बन्धनों और ऊँच-नीच के भेद-भावों को निरर्थक बताया और उच्च जातियो द्वारा किए गए उत्पीड़न और दमन के विरुद्ध विद्रोह किया। उन्होंने समाज के उत्थान के लिए निम्नलिखित परिवर्तनों पर बल दिया—

(1) नारी-स्वतन्त्रता—स्वामी विवेकानंद ने लिखा था कि "नारियों का दमन और जाति-बन्धनों द्वारा गरीबों को कुचलना भारत की दो बड़ी बुराइयाँ हैं।" उनका कहना था कि "दुनियाँ के विभिन्न राष्ट्रों ने नारियों का सम्मान करके ही महानता प्राप्त की है। जिस राष्ट्र में स्त्रियों का सम्मान नहीं होता वह न तो कभी ऊँचा उठा और न कभी उठ सकता है।" अतः उन्होंने घोषणा की कि "जब तक नारियों का उत्थान तथा जनता को जगाने का काम नहीं किया जाएगा तब तक राष्ट्र-कल्याण की बात करना व्यर्थ होगा।" उन्होंने समाज में महिलाओं को स्वतंत्रता प्रदान करने पर बल दिया। उन्होंने स्त्री शिक्षा पर बल दिया ताकि वे अपनी भलाई और बुराई में अन्तर कर सकें।

(2) जनता का उत्थान—स्वामी विवेकानंद देश की 85 प्रतिशत जनता को गरीबी की चक्की में पिसता हुआ देख कर विचलित हो उठे थे। अतः उन्होंने दीन-दुःखियों के कष्टों के निवारण करने, उनके जीवन-स्तर में सुधार करने और उन्हें शोषण से मुक्ति दिलाने पर बल दिया। उन्होंने जनता को शिक्षित करने पर बल दिया क्योंकि शिक्षा ही वह वस्तु है जो मनुष्य को ऊँचा उठाने की प्रेरणा देती है। दुनियाँ में कोई भी शिक्षित राष्ट्र पिछड़ा हुआ नहीं है और कोई भी उन्नतशील देश ऐसा नहीं है जिसकी अधिकांश जनता अशिक्षित हो। उनकी यह मान्यता थी कि जनसाधारण के उत्थान के बिना भारत का पुनरुत्थान सम्भव नहीं हो सकता है।

उन्होंने घोषित किया कि "देश-भक्त बनने की दिशा में पहला कदम भूख से पीड़ित करोड़ों व्यक्तियों के प्रति संवेदना का अनुभव करना है ।"

शैक्षणिक सुधार—स्वामी विवेकानन्द शिक्षा को भारत के पुनर्निर्माण की कुंजी मानते थे । इस शिक्षा के सम्बन्ध में उनका निश्चित दृष्टिकोण था । उनकी मान्यता थी कि कुछ विषयों की सामान्य जानकारी शिक्षा नहीं है वरन् शिक्षा वह है जो मनुष्य के चरित्र और जीवन का निर्माण करें । स्वामी दयानन्द पाश्चात्य शिक्षा को दूषित और नकारात्मक मानते थे क्योंकि यह केवल व्यक्ति को व्यवसाय चुनने के योग्य बनाती है । अतः उन्होंने शिक्षा की गुरुकुल प्रणाली का समर्थन किया । उनका विचार था कि शिक्षक के निकट सम्पर्क से ही विद्यार्थी में पवित्रता, जिज्ञासा, धैर्य, विनम्रता, विश्वास और आदर-भाव उत्पन्न होता है । शिक्षा के पाठ्यक्रम में वे धार्मिक ग्रन्थों, संस्कृत व्याकरण तथा अंग्रेजी के अध्ययन को अनिवार्य मानते थे ।

राष्ट्रीय सुधार—स्वामी विवेकानन्द तिलक और गांधी की भांति राजनीतिक चिन्तक नहीं थे । उन्होंने स्वयं एक बार कहा था कि "मैं राजनीतिक आन्दोलनकर्त्ता नहीं हूँ । मेरे किसी भी लेख या कथन को झूठे भी कभी राजनीतिक महत्व नहीं दिया जाना चाहिए ।" फिर भी स्वामी विवेकानन्द ने अपने जीवन, शिक्षाओं और कार्यकलापों के द्वारा भारतीय राष्ट्रीय जागरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । इस सम्बन्ध में श्री **वी. पी. वर्मा** ने लिखा है कि "यद्यपि विवेकानन्द ने ब्रिटिश साम्राज्य-वाद के विरुद्ध भारतीय राष्ट्रवाद के सिद्धान्त का समर्थन नहीं किया तो भी देश की दरिद्र और पद दलित जनता की मुक्ति के कार्य में उनकी गहरी रुचि और लगन थी ।" स्वामी विवेकानन्द के अनुसार प्राचीन भारत की एकता, स्थिरता और समृद्धि का मूल आधार हिन्दू धर्म था । इसलिए उनका दृढ़ विश्वास था कि भारत के राष्ट्रीय जीवन को धार्मिक आदर्शों पर ही संगठित किया जा सकता है । अतः उन्होंने आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के सिद्धान्त का विकास किया । इसके लिये उन्होंने समस्त विश्व के समक्ष हिन्दू धर्म और संस्कृति के गौरव और श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया ! जिससे हिन्दुओं में आत्मसम्मान और देशभक्ति उत्पन्न हुई । वे मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिये सभी प्रकार की स्वतन्त्रता को अनिवार्य मानते थे । 1901 ई. में उन्होंने ढ़ाका में कुछ युवकों को प्रेरणा देते हुए कहा था कि "बंकिमचन्द्र को पढ़ो तथा उसके 'सनातन धर्म' और 'देशभक्ति' को ग्रहण करने की चेष्टा करो । तुम्हारा कर्त्तव्य देश की सेवा होना चाहिए । भारत पहले राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र होना चाहिए ।" बंगाल के राष्ट्रवादियों और आतंकवादियों को विवेकानन्द के आध्यात्मिक राष्ट्रवाद ने काफी प्रभावित किया था । **श्री सुभाषचन्द्र बोस** ने उनके बारे में लिखा था कि **"स्वामी विवेकानन्द का धर्म राष्ट्रीयता को उत्तेजना देने वाला धर्म था ।"**

महात्मा गांधी, अरविन्द घोष, विपिनचन्द्र पाल और नेहरू आदि ने तो स्वयं स्वीकार किया है कि विवेकानन्द की शिक्षाओं ने भारत के प्रति उनके प्रेम में वृद्धि की थी। इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने सांस्कृतिक चेतना के माध्यम से भारतीय राष्ट्रीयता की नींव रखी।

मूल्यांकन—स्वामी विवेकानन्द एक महान् दार्शनिक, धर्मोपदेशक तथा संन्यासी थे। उन्होंने अपने जीवन, विचारों और कार्यकलापों के द्वारा भारत और हिन्दू धर्म की महान् सेवा की। आधुनिक युग में हिन्दू धर्म और संस्कृति के गौरव की पुनर्स्थापना में स्वामी विवेकानन्द का योगदान अविस्मरणीय है। उन्होंने आर्य समाज और ब्रह्म समाज की अतियों से बचते हुये पूर्व तथा पश्चिम की संस्कृतियों में समन्वय करने का प्रयास किया। उन्होंने अनेक स्थानों पर रामकृष्ण मिशन की स्थापना की जो भारत में ही नहीं अपितु सम्पर्ण विश्व में दीन-दुःखियों की सेवा में रुचि लेता है और उत्कृष्ट सामाजिक चेतना जाग्रत कराने के लिए कार्यरत है। भारत की वर्तमान पीढ़ी स्वामी विवेकानन्द की ऋणी है। महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, तिलक आदि महापुरुष भी उनसे प्रभावित हुए हैं। वास्तव में विवेकान्द ने करोड़ों भारतीयों के हृदय पर एक स्पष्ट और अमिट छाप छोड़ी है जिसे समय की गति शायद कभी धूमिल न कर सकेगी।

एस. एन. नटराजन का कथन है कि "विवेकानन्द ने अपना जीवन भारत के करोड़ों पीड़ित लोगों की सेवा के लिए समर्पित कर दिया। वह राष्ट्र का पुन-निर्माण करना चाहते थे।"

श्री रामधारी सिंह दिनकर का कथन है कि "स्वामी विवेकानन्द ने अपनी वाणी तथा कर्म से भारतवासियों में यह अभिमान जगाया कि हम अत्यन्त प्राचीन सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं। हमारे धार्मिक ग्रन्थ सबसे उन्नत तथा इतिहास सबसे प्राचीन है, महान् है। हमारा धर्म ऐसा है जो विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरा है और विश्व के सभी धर्मों का सार होते हुए भी उन सबसे कुछ और अधिक है। स्वामीजी के प्रचार से हिन्दुओं में यह विश्वास उत्पन्न हुआ कि उन्हें किसी के भी सामने सिर झुकाने की आवश्यकता नहीं है। भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता पहले-उत्पन्न हुई राजनैतिक राष्ट्रीयता बाद में जन्मी है और इस सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के पिता विवेकानन्द थे।" उनके द्वारा हिन्दू धर्म के लिये किये गये कार्यों के सम्बन्ध में रामधारीसिंह दिनकर ने लिखा है कि "हिन्दुत्व को लीलने के लिये अंग्रेजी भाषा, ईसाई धर्म और यूरोपीय बुद्धिवाद के गर्भ में जो तूफान उठा था, वह स्वामी विवेकानन्द के हिमालय जैसे विशाल वृक्ष से टकराकर लौट गया। अतः हिन्दू जाति का धर्म है कि वह जब तक जीवित रहे, विवेकानन्द की याद उसी श्रद्धा से करती रहे, जिस श्रद्धा से वह व्यास और वाल्मीकि को याद करती है।" रविन्द्रनाथ ठाकुर ने उनके बारे में लिखा है कि "यदि कोई भारत को समझना चाहता है तो उसे

विवेकानन्द को पढ़ना चाहिये ।" पंडित नेहरू ने उनकी प्रशंसा करते हुये कहा था कि "एक बार इस हिन्दू संन्यासी को देख लेने के पश्चात् उसे और उसके सन्देश को भुला देना मुश्किल है" ।

ज्योतिराव फुले

जीवनवृत्त—ज्योतिराव फुले का जन्म 11 अप्रेल सन् 1827 में महाराष्ट्र के पूना जिले के खानबदी गाँव में एक निम्नवर्गीय माली परिवार में हुआ था। उनका परिवार फूलों का व्यवसाय करता था। अतः उनके परिवार को फुले परिवार के नाम से जाना जाता था। ज्योतिराव के पिता का नाम गोविन्दराव तथा माता का नाम चिमनाबाई थ ज्योतिराव के जन्म के एक वर्ष बाद उनकी माता का स्वर्गवास हो गया। अतः उनका पालन-पोषण एक आया के द्वारा किया गया। ज्योतिराव तीक्ष्ण बुद्धि वाले जिज्ञासु बालक थे। उस समय शिक्षा प्राप्त करना सिर्फ ब्राह्मणों का अधिकार माना जाता था। समाज का निम्न वर्ग इस अधिकार से वंचित था। किन्तु फिर भी गोविन्दराव ने ज्योतिराव को स्कूल में भर्ती करवा दिया जहाँ वे गम्भीरता से अध्ययन में प्रवृत्त हो गये। एक निम्न वर्ग के बालक द्वारा शिक्षा प्राप्त करना उच्च-वर्गीय लोगों के लिये असहनीय था। अतः गोविन्दराव के निकट के कुछ लोगों ने ज्योतिराव की शिक्षा के विरुद्ध उनके कान भरें। गोविन्दराव उदार तथा परम्परागत रीति-रिवाजों में विश्वास करने वाले थे। अतः उन्होंने ज्योतिराव की पढ़ाई बन्द करवा दी। किन्तु स्कूल छूटने से ज्योतिराव की पढ़ाई की लगन कम नहीं हुई। दिन में वह अपने पिताजी की दुकान में काम करते थे और रात को लालटेन की रोशनी में पढ़ाई करते थे। 13 वर्ष की आयु में सावित्री नाम की कन्या से उनका विवाह हो गया। ज्योतिराव की अध्ययन के प्रति रुचि देखकर कुछ पड़ौसियों के समझाने पर गोविन्दराव ने 1841 ई. में उन्हें पुनः एक मिशनरी स्कूल में भर्ती करवा दिया। अध्ययन के समय ज्योतिराव अनेक लोगों के सम्पर्क में आये। स्कूल में सभी वर्गों और सम्प्रदायों के लड़के उनके मित्र थे। अपने मुस्लिम मित्र के सम्पर्क से वह इस्लाम की सामाजिक व्यवस्था से अत्यन्त प्रभावित हुये जिसके फलस्वरूप हिन्दू समाज में धर्म के नाम पर प्रचलित अन्ध-विश्वासों, जाति-पांति के भेदों और छुआछूत पर से उनका विश्वास उठ गया। 1847 ई. में उनकी स्कूली शिक्षा पूर्ण हो गई।

स्कूली शिक्षा की समाप्ति के बाद हुई एक घटना ने ज्योतिराव के जीवन और विचारों में क्रान्ति ला दी। एक बार ज्योतिराव अपने ब्राह्मण मित्र के निमन्त्रण पर उसकी शादी में सम्मिलित हुये जहाँ उनके मित्र के ब्राह्मण सम्बन्धियों ने शूद्र

ज्योतिराव के विवाह में सम्मिलित होने पर आपत्ति करते हुये उनका घोर अपमान किया। घर आने पर ज्योतिराव ने घटना की समस्त जानकारी अपने पिता को दी, तो रूढ़िवादी गोविन्दराव ने उनसे कहा कि "हम लोग शूद्र हैं, इसलिये ब्राह्मणों की बराबरी नहीं कर सकते। यह तो उन ब्राह्मणों की उदारता है कि उन्होंने तुम्हें दण्ड नहीं दिया" बारात में हुये अपमान और पिता के इस उत्तर ने ज्योतिराव के जीवन की दिशा ही बदल दी। गम्भीर चिन्तन के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हिन्दू धर्म में व्याप्त ऊँच-नीच, जात-पाँत तथा छुआछूत आदि बुराइयों का मुख्य कारण ब्राह्मणों की श्रेष्ठता है। अतः उन्होंने हिन्दू समाज में प्रचलित सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करने तथा शूद्रों और अस्पृश्य जातियों को समाज में सम्मानजनक स्थान दिलाने के लिये महाराष्ट्र में एक नये समाज सुधार आन्दोलन का सूत्रपात किया।

ज्योतिराव ने सर्वप्रथम सदियों से पीड़ित और शोषित हिन्दू स्त्रियों और अस्पृश्य जातियों के उत्थान के लिये उन्हें शिक्षित करने के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया। 1848 ई. में उन्होंने शूद्र वर्ग की लड़कियों को शिक्षित करने के लिये एक विद्यालय की स्थापना की किन्तु सवर्ण हिन्दुओं, मुख्य रूप से ब्राह्मणों ने ज्योतिराव के इस कार्य का घोर विरोध किया। उनके इस कार्य से उनके परम्परावादी पिता गोविन्दराव भी रुष्ट हो गये जिसके फलस्वरूप उनको सपत्नीक घर छोड़ना पड़ा। किन्तु इन कठिनाइयों से ज्योतिराव विचलित नहीं हुये। महाराष्ट्र में शूद्र और अस्पृश्य जाति के लोगों के लिये उन्होंने अनेक विद्यालयों की स्थापना की। शिक्षा के विकास के क्षेत्र में उनके कार्यों के लिये 1852 ई. में अंग्रेजी सरकार ने उन्हें पुरस्कृत भी किया। महाराष्ट्र में स्त्री शिक्षा के तो वे अग्रदूत थे। ज्योतिराव तत्कालीन हिन्दू समाज व्यवस्था के घोर विरोधी थे। वे ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे जिसमें सभी लोगों को समान मानवीय अधिकार प्राप्त हों। अतः उन्होंने समाज में ब्राह्मणों की सर्वोच्चता, छुआछूत की भावना और स्त्रियों—मुख्य रूप से विधवाओं की दयनीय दशा की कटु आलोचना की और सुधार का प्रयत्न किया। अपने विचारों के प्रसार और साकार रूप देने के लिये 1873 ई. में उन्होंने 'सत्य शोधक समाज' नामक संस्था स्थापित की। ज्योतिराव के इन प्रयासों से शूद्र और अस्पृश्य जातियों में नव जीवन का संचार हुआ जिसके फलस्वरूप उनमें आत्मगौरव व आत्मसम्मान जागृत हुआ। ज्योतिराव ने महाराष्ट्र में समाज सुधार की ज्योति प्रज्ज्वलित कर दी। जुलाई 1888 ई. में वे लकवे से पीड़ित हो गये और बीमारी की अवस्था में ही 27 नवम्बर, 1890 को ज्योतिराव की मृत्यु हो गयी।

ज्योतिराव के सुधार कार्य

शिक्षा का प्रसार—ज्योतिराव का दृढ़ विचार था कि अज्ञानता खतरनाक बीमारी है जिसने हमें अन्ध-विश्वासों और दासता में जकड़ दिया है। अतः इसका

उपचार आवश्यक है। ज्योतिराव अज्ञानता का मूल कारण जाति-प्रथा को मानते थे जिसके कारण समाज का निम्न वर्ग सर्वाधिक पीड़ित था। तत्कालीन युग में शूद्र और अस्पृश्य जातियों के लिये शिक्षा प्राप्त करना कल्पनातीत था।

ज्योतिराव की मान्यता थी कि शूद्र तथा अस्पृश्य जातियों को उच्च वर्ग की दासता तथा शोषण से मुक्ति पाने के लिये इस वर्ग का शिक्षित होना आवश्यक है। शिक्षा समिति की बैठक में सितम्बर, 1853 ई. को उन्होंने कहा था कि "शूद्र और अछूत जाति के लोगों के लिये शिक्षा से बढ़कर कोई काम महत्वपूर्ण नहीं है।" अतः सर्वप्रथम 1848 ई. में उन्होंने शूद्र तथा अस्पृश्य जातियों की लड़कियों को शिक्षा देने के लिये एक स्कूल की स्थापना की किन्तु ब्राह्मणों ने उनके इस कार्य का घोर विरोध किया। ब्राह्मणों के विरोध के कारण कोई शिक्षक इस स्कूल में पढ़ाने को तैयार नहीं हुआ। अतः ज्योतिराव ने अपनी पत्नी सावित्री को, जिसे उन्होंने घर पर शिक्षित कर लिया था, स्कूल में पढ़ाने भेजा। कट्टरपंथी ब्राह्मणों ने सावित्री देवी का भी तरह-तरह से अपमान किया। लेकिन ज्योतिराव व सावित्री देवी अपने पथ से विचलित नहीं हुये। अन्त में ब्राह्मणों ने उनके पिता गोविन्दराव पर दबाव डाला। इस पर उनके परम्परावादी पिता ने ज्योतिराव को स्कूल बन्द करने अथवा घर छोड़कर चले जाने की चेतावनी दे दी। अतः ज्योतिराव ने पत्नी सहित घर छोड़ दिया। घर छोड़ने के बाद जीवनयापन के लिये ज्योतिराव को अन्य कार्य करने पड़े अतः उनका स्कूल बन्द हो गया। किन्तु कुछ समय बाद आर्थिक स्थिति ठीक होने पर उन्होंने स्कूल को पुनः शुरू कर दिया। इसके बाद सितम्बर, 1851 तथा मार्च, 1852 में ज्योतिराव ने दो स्कूल और खोले। इन स्कूलों के समुचित प्रबन्ध के लिये एक शिक्षा समिति की स्थापना की गई। शीघ्र ही इन स्कूलों को बम्बई सरकार से अनुदान मिलने लगा। थोड़े समय बाद ज्योतिराव ने हिन्दू समाज में अस्पृश्य तथा शूद्र मानें जाने वाली जातियों के लड़के और लड़कियों के लिये पृथक्-पृथक् विद्यालयों की स्थापना की। शूद्रों की शिक्षा के विकास हेतु किये गये इन कार्यों के लिये ज्योतिराव का अंग्रेजी सरकार द्वारा 1852 ई. में सार्वजनिक सम्मान किया गया। ज्योतिराव द्वारा शिक्षा प्रसार के क्षेत्र में किये जा रहे कार्य में प्रारम्भ में उनके अनेक सवर्ण मित्रों ने भी सहयोग दिया, किन्तु इन स्कूलों में दी जाने वाली शिक्षा के स्वरूप के सम्बन्ध में उनका अपने सवर्ण मित्रों से मतभेद हो गया। अतः 1854 में ज्योतिराव ने अपने आपको इस शिक्षा समिति से अलग कर लिया और एक मिशनरी स्कूल में अध्यापक बन गये।

ब्राह्मणों की सर्वोच्चता का विरोध—ज्योतिराव जाति प्रथा और समाज में ऊँच-नीच की भावना के घोर विरोधी थे। उनकी मान्यता थी कि सभी मनुष्य एक ईश्वर की सन्तान हैं अतः उनमें परस्पर समानता है। जाति-प्रथा एक प्रपंच है जिसे

ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थ के लिये बनाया है। उनकी मान्यता थी कि हिन्दू धर्म ग्रन्थों में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन स्वयं ब्राह्मणों द्वारा किया गया है जिससे कि वह धर्म की आड़ में निम्न वर्ग का शोषण कर सके। उनका मत था कि धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन का अधिकार सभी लोगों को समान रूप से होना चाहिये जिससे उसमें निहित ज्ञान और अन्याय से सभी लोग परिचित हो सकें। ज्योतिराव समाज में ब्राह्मणों को प्राप्त विशेषाधिकारों के विरोधी थे। उनकी मान्यता थी कि ब्राह्मणों और शूद्रों के लिये समान नियम और कानून होने चाहिये। ज्योतिराव ने 1855 में 'तृतीय रत्न' नाटक की रचना की जिसमें उन्होंने ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित अनेक पौराणिक मान्यताओं का खण्डन किया। ज्योतिराव के इन विचारों से ब्राह्मण लोग अत्यधिक क्रोधित हो उठे और कुछ रूढ़ीवादी ब्राह्मणों ने उनकी हत्या का षड्यन्त्र रचा। इस कार्य के लिये नीची जाति के ही दो लोगों को नियुक्त किया गया। किन्तु ऐनवक्त पर ज्योतिराव की नींद खुल जाने से यह षडयन्त्र विफल हो गया। हत्या के उद्देश्य से आये दोनों व्यक्ति ज्योतिराव के व्यक्तित्व और विचारों से प्रभावित हो उनके अनुयायी बन गये।

ज्योतिराव ने अपनी साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से भी ब्राह्मणों द्वारा किये जाने वाले विविध धार्मिक अनुष्ठानों, क्रियाओं और कर्मकाण्डों का घोर विरोध किया। उन्होंने अपनी काव्य रचनाओं के द्वारा बच्चे के जन्म, विवाह, मूहूर्त तथा मृत्यु आदि पर ब्राह्मणों को बुलाने का विरोध किया। उनकी मान्यता थी कि विभिन्न अनुष्ठानों के द्वारा ब्राह्मण निर्धन वर्ग का शोषण करते हैं। उनका कहना था कि मन्त्रों से वर्षा होना या बच्चे होना असम्भव है क्योंकि यदि ऐसा सम्भव होता तो हमारे देश में कभी अकाल नहीं पड़ता और ना ही कोई व्यक्ति निःसन्तान रहता। ज्योतिराव ने अपनी पुस्तक 'प्रीस्ट क्राफ्ट एक्सपोज्ड' में ब्राह्मणों द्वारा शूद्रों के शोषण का सजीव चित्रण किया। इस पुस्तक में उन्होंने 'वेद' तथा 'मनुस्मृति' आदि हिन्दू धर्म ग्रन्थों की आलोचना की क्योंकि वेदों में वर्ण व्यवस्था और मनुस्मृति में ब्राह्मणों की सर्वोच्चता का प्रतिपादन किया गया था। ज्योतिराव ने अपनी पुस्तक 'स्लेवरी' में शूद्र और अस्पृश्य जातियों को अपनी स्थिति में सुधार के लिये संघर्ष करने का आह्वान किया। उन्होंने अपने 'सत्य शोधक समाज' में अनेक ऐसी धार्मिक क्रियायें प्रतिपादित की जिनके सम्पादन में ब्राह्मणों की आवश्यकता नहीं थी। ज्योतिराव समाज में ब्राह्मणों के इतने विरुद्ध थे कि 1857 की क्रान्ति की असफलता पर उन्होंने प्रसन्नता व्यक्त की क्योंकि उनकी मान्यता थी कि इस क्रान्ति की सफलता से भारत में पुनः ब्राह्मणों का शासन स्थापित हो जाता और वे पुनः शूद्र वर्ग का शोषण करते। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण राज्य से ब्रिटिश राज्य श्रेष्ठ था। इस प्रकार ज्योतिराव ने हिन्दू समाज में ब्राह्मणों की सर्वोच्चता का घोर विरोध किया और शूद्रों और अस्पृश्य जातियों को उनके शोषण से मुक्ति दिलाने का प्रयत्न किया।

स्त्री उत्थान—ज्योतिराव के समय हिन्दू समाज में स्त्रियों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। निम्न जातियों में तो स्त्री का जीवन पशु तुल्य था। ज्योतिराव ने स्त्रियों की दयनीय दशा को सुधारने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। महाराष्ट्र में सर्वप्रथम स्त्री शिक्षा के विकास का श्रेय ज्योतिराव को ही है। 1848 ई. में उन्होंने शूद्र जाति की लड़कियों की शिक्षा के लिये पूना में एक स्कूल स्थापित किया। बाद में ऐसे अनेक स्कूल स्थापित किये गये। ज्योतिराव की मान्यता थी कि प्रकृति ने स्त्री को कमजोर बनाया है. अतः पुरुष को उस पर अत्याचार नहीं करना चाहिये। वे बहुपत्नी प्रथा के विरोधी थे। उनकी मान्यता थी कि एक पत्नी के होते हुये किसी भी कारण दूसरा विवाह करना पहली पत्नी पर अत्याचार है। उनका कहना था कि सन्तान न होने का दोष भी केवल स्त्री पर नहीं डाला जा सकता। स्वयं ज्योतिराव निःसन्तान थे किन्तु परिवारजनों के कहने के उपरान्त भी उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया था।

तत्कालीन हिन्दू समाज में विधवा स्त्रियों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। विधवा स्त्री को अशुभ और अस्पृश्य माना जाता था। उन्हें अपने सिर के बाल कटवाने पड़ते थे। उन्हें अच्छे भोजन, बिस्तर तथा वस्त्रों से वंचित रखा जाता था। 1840 ई. में महाराष्ट्र में विधवा विवाह के समर्थन में एक आन्दोलन चला था किन्तु कट्टरपंथी ब्राह्मणों के विरोध के कारण उसे सफलता नहीं मिली थी। ज्योतिराव विधवा विवाह के समर्थक थे। उनकी मान्यता थी कि जवान हिन्दू विधवा का पुनर्विवाह तो समाज में निषेध है किन्तु विधुर पुरुषों के विवाह पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। यह अन्याय का प्रतीक है। विवाह के सम्बन्ध में पुरुष व स्त्री के अधिकार समान हैं। अतः वे विधवा स्त्री का पुनर्विवाह धर्मसम्मत मानते थे। उनके प्रयत्नों से 1853 ई. में पूना में एक विधवा स्त्री का विवाह सम्पन्न हुआ। 1866 ई. में ज्योतिराव ने विधवा विवाह को प्रोत्साहित करने के लिये एक संस्था की स्थापना की। इस संस्था के प्रयत्नों से अनेक विधवा स्त्रियों का विवाह सम्भव हो सका।

किन्तु रूढ़िवादी हिन्दू समाज में विधवा विवाह का व्यापक प्रचार नहीं हो सका। अतः ज्योतिराव ने विधवा स्त्रियों की स्थिति सुधारने तथा उन्हें समाज में सम्मानजनक स्थान दिलाने के लिये एक अनाथालय की स्थापना की जहां गर्भवती हिन्दू विधवाओं के प्रसव तथा उनके बच्चों के पालन-पोषण की व्यवस्था की गई। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य अनाथ बच्चों को ईसाई बनने से रोकना था। इस अनाथालय का संचालन स्वयं ज्योतिराव तथा उनकी पत्नी सावित्री बाई के हाथों में था। ज्योतिराव बच्चों को राष्ट्र की धरोहर मानते थे। अतः वे दिन-रात अनाथालय के बच्चों की देखरेख में व्यस्त रहते थे। ज्योतिराव का दत्तक पुत्र

यशवन्त भी इसी अनाथालय का बालक था। इस प्रकार ज्योतिराव ने विधवा स्त्रियों के कल्याण के लिये अनेक कार्य किये।

सत्यशोधक समाज की स्थापना—ज्योतिराव ने अपने विचारों का प्रचार करने तथा निम्नवर्ग के लोगों को ब्राह्मणों के प्रभुत्व से मुक्त कराने के लिये 24 सितम्बर, 1873 ई. को **'सत्य शोधक समाज'** नामक संस्था की स्थापना की। इस संस्था का उद्देश्य शूद्र और अस्पृश्य जातियों को अपने अधिकारों के प्रति जागृत करना और इन अधिकारों की प्राप्ति के लिये संघर्ष को प्रेरित करना था। ज्योतिराव ने इस संस्था के माध्यम से निम्नवर्ग को मानसिक और धार्मिक दासता से मुक्ति पाने के लिये प्रेरित किया। सत्य शोधक समाज की सदस्यता के द्वार सभी वर्गों और सम्प्रदायों के लोगों के लिये खुले थे। इस समाज के सदस्य को भगवान खाण्डेराव के नाम से इसके सिद्धान्तों और ब्रिटिश शासन के प्रति निष्ठा की शपथ लेनी पड़ती थी। **'सत्य शोधक समाज'** के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित थे—

(1) समस्त मनुष्य एक ही ईश्वर की सन्तान हैं और ईश्वर सबका संरक्षक है।

(2) जिस प्रकार माता-पिता का अनुग्रह प्राप्त करते लिये किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं होती। उसी प्रकार ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने के लिये भी ब्राह्मणों की मध्यस्थता आवश्यक नहीं है।

(3) इन सिद्धान्तों को स्वीकार करने वाला प्रत्येक व्यक्ति इस संस्था का सदस्य बन सकता है।

प्रत्येक रविवार को इस समाज की साप्ताहिक बैठक होती थी जिसमें हिन्दू समाज की जातिप्रथा, मूर्तिपूजा, अन्ध-विश्वासों तथा ब्राह्मणों की श्रेष्ठता की आलोचना की जाती थी और लोगों को शिक्षा प्राप्त करने, स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करने, कम खर्च तथा ब्राह्मणों के बिना सामाजिक एवं धार्मिक अनुष्ठान करने तथा अन्ध-विश्वासों से मुक्ति पाने के लिये प्रेरित किया जाता था। ज्योतिराव का सत्य शोधक समाज अपनी समकालीन अन्य समाज सुधार संस्थाओं— ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज से भिन्न था क्योंकि इन दोनों संस्थाओं का कार्यक्षेत्र बुद्धिजीवी वर्ग तक सीमित था और ये संस्थायें समाज में विकास की समर्थक थी जबकि सत्य शोधक समाज का कार्यक्षेत्र जनसाधारण तक विस्तृत था और इसका उद्देश्य सामाजिक ढांचें के आमूलचूल परिवर्तन करना था। सत्य शोधक समाज के प्रचारक ढोल बजा-बजा कर निम्न वर्ग के लोगों में अपने विचारों का प्रचार करते थे और उन्हें उच्च वर्ग के शोषण से आगाह कर उससे मुक्ति के लिये प्रेरित करते थे। समाज में ब्राह्मणों के प्रभुत्व को समाप्त करने के लिये सत्य शोधक समाज ने ऐसी धार्मिक क्रियायें प्रतिपादित कीं जिनके सम्पादन के लिये ब्राह्मणों की आवश्यकता नहीं थी।

इस समाज ने ब्राह्मणों के बिना अनेक विवाह सम्पन्न करवाये। ज्योतिराव की मान्यता थी कि किसी धार्मिक कृत्य में ब्राह्मण भोज या दक्षिणा में दी जाने वाली राशि को शिक्षा के प्रसार में खर्च करना श्रेष्ठ दान है।

ज्योतिराव तथा सत्य शोधक समाज के विचारों और सिद्धांतों ने हिन्दू समाज के निम्न वर्ग में क्रांति उत्पन्न करदी. जिसके परिणामस्वरूप इस वर्ग में नवीन चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। किन्तु इस संस्था के बढ़ते हुए प्रभाव से ब्राह्मण वर्ग क्रोधित हो उठा और उन्होंने इस समाज के सदस्यों को विभिन्न प्रकार से डराया-धमकाया। तिलक के मित्र विष्णुशास्त्री ने भी ज्योतिराव तथा सत्य शोधक समाज की कटु आलोचना की किन्तु सत्य शोधक समाज निरन्तर अपने विचारों का प्रचार करता रहा।

ज्योतिराव की विचारधारा—ज्योतिराव समाज-सुधारक होने के साथ-साथ महान् चिन्तक भी थे। उनकी पुस्तकों, कविताओं और भाषणों से उनकी विचार-धारा का ज्ञान होता है। ज्योतिराव के विचार अत्यन्त उदार थे। अतः उन्होंने सदैव समानता, सदाचार, न्याय तथा सहिष्णुता का उपदेश दिया। उनकी मान्यता थी कि ईश्वर एक है और हम सब उसकी संतान होने के नाते परस्पर भाई-भाई हैं अतः परस्पर विभेद और संघर्ष निरर्थक है। यहाँ तक कि विधर्मी मुसलमान और ईसाई भी हमारे भाई हैं। ज्योतिराव ब्राह्मणों की श्रेष्ठता और विशेषाधिकारों के घोर विरोधी थे। उनका कहना था कि ब्राह्मणों के विविध क्रियाकलाप निम्न वर्ग के शोषण का माध्यम है। उनकी मान्यता थी कि आध्यात्म ज्ञान और धर्म-ग्रन्थ ब्राह्मणों की बपौती न होकर सम्पूर्ण समाज की साझी सम्पत्ति है। जाति-प्रथा को वे ब्राह्मणों के स्वार्थ की उपज मानते थे। उनका कहना था कि विश्व में सत्य ही एकमात्र धर्म है और सत्य की सदैव विजय होती है। ज्योतिराव के अनुसार माता-पिता की सेवा, नशीले पदार्थों का परित्याग, धार्मिक सहिष्णुता, सद्‌आचरण, असहाय व अपाहिजों की सहायता और शासन के प्रति निष्ठा ही धर्म है। ज्योति-राव की मान्यता थी कि विचारों की अभिव्यक्ति, लेखन और प्रकाशन व्यक्ति का नैसर्गिक अधिकार है किन्तु इस अधिकार का प्रयोग इस प्रकार होना चाहिए जिससे दूसरों के अधिकार का हनन न हो।

मूल्यांकन—ज्योतिराव फूले वास्तविक अर्थों में महान् समाज-सुधारक थे। उन्होंने हिन्दू समाज में सदियों से पीड़ित और शोषित दलित वर्ग के उत्थान का प्रयत्न कर समाज-सुधार आंदोलन को नई दिशा प्रदान की। ज्योतिराव प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दू समाज में व्याप्त जाति-प्रथा और ब्राह्मणों के प्रभुत्व को चुनौती दी और निम्न वर्ग के लोगों के लिए समान अधिकारों की मांग की। यद्यपि 19वीं शताब्दी के अन्य समाज सुधार आंदोलनों ने भी जाति-प्रथा और ऊँच-नीच की भावना का विरोध किया था किन्तु निम्न वर्ग के उत्थान के विचारों को

साकार रूप देने का श्रेय ज्योतिराव को ही है । ज्योतिराव हिन्दू समाज को सामाजिक और न्यायिक समानता के आधार पर पुनर्गठित करना चाहते थे । इसके लिए उन्होंने 'सत्य शोधक समाज' की स्थापना की । भारतीय समाज में सुधार, निम्न वर्ग के उत्थान और स्त्री-शिक्षा के विकास के क्षेत्र में ज्योतिराव का योगदान अविस्मरणीय है । इसलिए वीर सावरकर ने उन्हें 'क्रांतिकारी समाज सुधारक' और महात्मा गांधी ने उन्हें 'वास्तविक महात्मा' कहा है। भारतीय संविधान परिषद के सूत्रधार डॉ. भीमराव अम्बेडकर ज्योतिराव को अपना सामाजिक गुरू मानते थे ।

थियोसॉफिकल सोसायटी

19वीं शताब्दी के भारतीय पुनर्जागरण आंदोलन में थियोसॉफिकल सोसायटी का महत्वपूर्ण योगदान है । थियोसॉफिकल सोसायटी द्वारा संचालित सांस्कृतिक आंदोलन ने भारत के धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया । **'थियोसॉफी'** (Theosophy) शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम यूनानी विद्वान इम्ब्लीकस ने 300 ई. में किया था । **'थियोसॉफी'** शब्द यूनानी भाषा के **'थियोस'** और **'सोफिया'** शब्द से मिलकर बना है । **'थियोस'** का अर्थ है—ईश्वर और **'सोफिया'** का अर्थ है—**ज्ञान** । इस प्रकार **थियोसॉफी** का अर्थ है—ईश्वर ज्ञान । संस्कृत भाषा में ईश्वर ज्ञान के लिए ब्रह्म विद्या शब्द का प्रयोग किया जाता है ।

थियोसॉफिकल सोसायटी एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था थी । इस संस्था की स्थापना 7 सितम्बर, 1875 ई. को अमेरिका के न्यूयार्क नगर में हुई थी । इसके संस्थापक एक रूसी महिला एच. पी. ब्लेवटास्की तथा अमेरिका के कर्नल एच. एस. आल्काट थे । इस संस्था की स्थापना के निम्नलिखित उद्देश्य थे—

(1) प्रकृति के अस्पष्ट नियमों की खोज करना और मानव की दैवीय शक्ति को स्पष्ट करना ।

(2) सब धर्मों के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार करना और उनमें समान तत्वों के आधार पर समन्वय स्थापित करना ।

(3) विश्व के प्राचीन धर्म, दर्शन और विज्ञान का अध्ययन और प्रसार करना ।

(4) विश्व बन्धुत्व एवं मानव समानता की भावना का विकास और प्रसार करना ।

1879 ई. में ब्लेवटास्की और कर्नल आल्काट स्वामी दयानंद के निमन्त्रण पर भारत आये। यहाँ उन्होंने हिन्दू धर्म और समाज का निकट से अध्ययन किया और हिन्दू धर्म तथा समाज में व्याप्त कुरीतियों को दूर करने का आह्वान किया। कर्नल आल्काट ने हिन्दू धर्म के गुणों पर प्रकाश डालते हुए कहा कि हिन्दू धर्म विश्व का सर्वश्रेष्ठ धर्म है और सम्पूर्ण सत्य इसमें निहित है। कर्नल आल्काट ने थियोसॉफिकल सोसायटी के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए कहा कि उनका उद्देश्य भारतीयों को उनके प्राचीन गौरव और महानता का स्मरण, कराना है ताकि वे अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा को फिर से प्राप्त कर सके। चूंकि यह विचार स्वामी दयानंद के विचारों के अनुरूप थे अतः 1881 ई. तक आल्काट और ब्लेवटास्की आर्य समाज के साथ मिलकर हिन्दू धर्म के गौरव की पुनर्स्थापना करने तथा ईसाई धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने का प्रयत्न करते रहे किन्तु उनका यह सहयोग अधिक स्थायी नहीं रह सका क्योंकि स्वामी दयानंद वेदों को अपौरुषेय (ईश्वरीय ज्ञान) मानते थे जिसे थियोसॉफिकल सोसायटी के प्रवर्तक स्वीकार नहीं करते थे। अतः उन्होंने 1886 ई. में मद्रास के निकट अडयार में थियोसॉफिकल सोसायटी का केन्द्र स्थापित किया। अब यह संस्था स्वतन्त्र रूप से अपने विचारों का प्रसार करने लगी।

थियोसॉफिकल सोसायटी के सिद्धान्त— इस संस्था के अनुसार मनुष्य का आचार-विचार शुद्ध रहना चाहिए। ये लोग सब धर्मों के मौलिक सिद्धान्तों में विश्वास करते हैं। ये लोग धर्म परिवर्तन को अच्छा नहीं मानते, इस कारण प्रत्येक धर्म का अनुयायी इस सोसायटी का सदस्य हो सकता है। कर्मों के फल और पूर्व-जन्म में इनका विश्वास है। प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। केवल भाग्य-भरोसे निष्क्रिय बने रहना मूर्खता है। अतः मानव को धैर्य, संयम और साहसपूर्वक सभी कठिनाइयों का सामना करना चाहिए। ये लोग अवतारवाद में भी आस्था रखते हैं। इन लोगों में जाति-पांति का भेद-भाव नहीं है। आत्मा परमात्मा का अंश है। समस्त आत्माएँ समान हैं। इनका विश्वास है कि इस लोक के अतिरिक्त एक और लोक है जहाँ आत्माएँ निवास करती हैं जो इस लोक की आत्माओं की सदा सहायता करने को तत्पर रहती हैं। इस संस्था ने हिन्दुओं में आत्म-विश्वास जागृत करते हुए बताया कि वास्तव में हिन्दू धर्म विश्व में सबसे श्रेष्ठ है। हिन्दुओं को अपने धर्म की बुराइयों को दूर करके उसके महत्व को विश्व में प्रसारित करना चाहिए।

श्रीमती एनीबीसेन्ट—भारत में थियोसॉफिकल सोसायटी द्वारा संचालित आन्दोलन को प्रभावशाली नेतृत्व श्रीमती एनीबीसेन्ट ने प्रदान किया। वे एक अंग्रेज महिला थी जो हिन्दू धर्म और संस्कृति से अत्यन्त प्रभावित थी। आधुनिक हिन्दू

धार्मिक पुनरुत्थान में एनीबीसेन्ट का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। श्रीमती एनीबीसेन्ट का जन्म 1847 ई. में इंग्लैंड में कुलीन परिवार में हुआ था। इनके माता-पिता आयरलैंड के निवासी थे। एनीबीसेन्ट ने उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। वे प्रभावशाली प्रचारक और ओजस्वी लेखिका थी। 1866 ई. में उनका विवाह फ्रेन्क बीसेन्ट नामक पादरी से हुआ किन्तु वैचारिक मतभेद के कारण 1873 ई. में दोनों में तलाक हो गया। इसके बाद वे अगले 20 वर्षो तक इंग्लैंड के विभिन्न राजनीतिक और सामाजिक सुधार आन्दोलनों से जुड़ी रहीं। श्रीमती एनीबीसेन्ट प्रारम्भ में नास्तिक विचारधारा की थी . किन्तु ब्लेवटास्की की पुस्तक **'दी सीक्रेट डाक्ट्रिन'** के विचारों से प्रभावित होकर 10 मई, 1889 को वे थियोसॉफिकल सोसायटी की सदस्य बन गयी। हिन्दू धर्म और संस्कृति से प्रभावित होकर 16 नवम्बर, 1893 ईस्वी को श्रीमती एनीबीसेन्ट भारत आयी। उनका भारत आगमन उनकी आध्यात्मिक यात्रा की शुरूआत थी। वे हिन्दुओं के पुनर्जन्म के विचारों से अत्यन्त प्रभावित थी। उनका विश्वास था कि पूर्व जन्मों में वह हिन्दू थी . अतः भारत आते ही उन्होंने भारतीय वेशभूषा, खान-पान और रहन-सहन अपना लिया और हिन्दू तीर्थो की यात्रा की। काशी उन्हें अत्यधिक प्रिय था अतः उनका अधिकांश समय यहीं व्यतीत हुआ। यहाँ रहकर उन्होंने रामायण तथा महाभारत की कथायें लिखीं और गीता का अनुवाद किया। एनीबीसेन्ट ने समस्त भारत का भ्रमण किया और बम्बई से बनारस तथा मद्रास से पेशावर तक हिन्दू धर्म और संस्कृति पर अनेक ओजस्वी व प्रभावशाली भाषण दिये। कर्नल आल्काट की मृत्यु के बाद 1907 ई. में वे थियोसॉफिकल सोसायटी की अध्यक्ष बनीं।

धार्मिक क्षेत्र में योगदान—श्रीमती एनीबीसेन्ट को हिन्दू धर्म से अगाध प्रेम था। उनकी मान्यता थी कि हिन्दू धर्म विश्व का सर्वश्रेष्ठ धर्म है। 1914 ई. में उन्होंने अपने एक भाषण में कहा था कि **"40 वर्षो के गम्भीर चिन्तन के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि विश्व के सभी धर्मों में मुझे हिन्दुत्व के समान कोई धर्म इतना पूर्ण, वैज्ञानिक, दर्शनयुक्त एवं आध्यात्मिकता से परिपूर्ण दिखाई नहीं देता। जितना अधिक तुमको इसका मान होगा, उतना ही अधिक तुम इससे प्रेम रखोगे।"** भारत और हिन्दुत्व के परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्धों के बारे में उन्होंने अपने एक भाषण में कहा था **"हिन्दुत्व ही भारत का प्राण है, हिन्दुत्व वह मिट्टी है जिसमें भारत का मूल गड़ा हुआ है। यदि यह मिट्टी हटाई गई तो भारत रूपी वृक्ष सूख जायेगा। हिन्दुत्व के बिना भारत का कोई भविष्य नहीं है। भारत में आश्रय पाने वाले अनेक धर्म हैं, अनेक जातियां हैं, किन्तु इनमें से किसी की भी शिरा भारत के अतीत तक नहीं पहुँची है। इनमें से किसी में भी यह शक्ति नहीं है कि भारत को एक राष्ट्र के रूप में जीवित रख सके। इनमें से प्रत्येक भारत से लोप हो जाय तब भी भारत, भारत ही रहेगा किन्तु यदि हिन्दुत्व लोप हो गया तो शेष कुछ**

भी नहीं बचेगा ।" उनकी मान्यता थी कि **"भारत और हिन्दुत्व की रक्षा भारतवासी और हिन्दू ही कर सकते हैं ।"**

श्रीमती एनीबीसेन्ट ने हिन्दू धर्म की महत्वपूर्ण सेवा की । राजा राममोहन राय तथा स्वामी दयानन्द आदि ने हिन्दू धर्म की मूर्ति पूजा, तीर्थ यात्रा, अवतार-वाद, व्रत तथा अनुष्ठान आदि की तीव्र आलोचना की थी । किन्तु एनीबीसेन्ट की दृष्टि आलोचनात्मक न होकर उदार थी । उन्होंने हिन्दुत्व की सभी मान्यताओं को निरपेक्ष रूप से स्वीकार कर लिया । उन्होंने अपने भाषणों में हिन्दू धर्म की मूर्ति-पूजा, बहुदेववाद, अवतारवाद, यज्ञ, पुनर्जन्म, तीर्थ यात्रा, व्रत तथा धार्मिक अनुष्ठानों आदि की मान्यताओं का तर्कपूर्ण और वैज्ञानिक ढंग से समर्थन किया । श्रीमती एनीबीसेन्ट के इन विचारों से हिन्दुओं में हीनता की भावना समाप्त होकर नवजीवन का संचार हुआ और अपने धर्म में आस्था जागृत हुई ।

एनीबीसेन्ट का योगदान

जिस समय एनीबीसेन्ट भारत आई उस समय हिन्दुओं की स्थिति दयनीय थी । शताब्दियों से विधर्मी शासकों के अत्याचारों ने हिन्दू धर्म को महान् आघात पहुँचाया था । अंग्रेज भी अपनी शिक्षा पद्धति और ईसाई मिशनरियों के द्वारा हिन्दू धर्म और संस्कृति को नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील थे । अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीय भी हिन्दू धर्म और संस्कृति से मुख मोड़ कर ईसाई धर्म और पाश्चात्य संस्कृति की ओर आकृष्ट हो रहे थे । इन बाह्य आघातों के साथ हिन्दू धर्म को अपने स्वयं के सुधारकों की आलोचनाओं को भी सहना पड़ रहा था । ऐसी परिस्थितियों में श्रीमती एनीबीसेन्ट ने हिन्दुओं की प्राचीन परम्पराओं, मान्यताओं और कर्मकांडों का तर्कपूर्ण ढंग से समर्थन किया जिसके फलस्वरूप हिन्दुओं में अपने धर्म के प्रति आस्था और आत्मसम्मान की भावना जागृत हुई । एक अंग्रेज महिला को हिन्दू धर्म का गुणगान करते और हिन्दू की भांति जीवन व्यतीत करते देखकर हिन्दुओं के मस्तिष्क में यह बात बैठ गई कि उनका धर्म हीन न होकर श्रेष्ठ है ।

शैक्षणिक तथा सामाजिक क्षेत्र में योगदान—श्रीमती एनीबीसेन्ट ने शैक्षणिक और सामाजिक क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये । शैक्षणिक क्षेत्र में उनकी मान्यता थी कि शिक्षा में शिष्टता, महानता, मित्रता, सेवा तथा त्याग आदि गुणों का समावेश अनिवार्य है । वे अंग्रेजी शिक्षा की समर्थक थी किन्तु वे शिक्षा में आध्यात्म तथा राष्ट्रीयता की भावना आवश्यक मानती थी । उनका विचार था कि भारतीय शिक्षा में उसके अतीत के गौरव का उल्लेख आवश्यक है । उनके शिक्षा-सम्बन्धी विचार कट्टर हिन्दू विचारकों के अनुरूप थे । अपने विचारों को व्यावहारिक रूप देने के लिए उन्होंने बनारस में केन्द्रीय हिन्दू महाविद्यालय स्थापित किया जो

कालान्तर में हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुआ। इसके अतिरिक्त एनीबीसेन्ट ने थियोसॉफिकल सोसायटी के मुख्यालय अडयार में भी एक स्कूल और कॉलेज की स्थापना की जो आज भी चल रहा है।

इसके अतिरिक्त एनीबीसेन्ट ने हिन्दू समाज में व्याप्त बाल-विवाह, कन्या-वध, बहुपत्नी प्रथा आदि बुराइयों का घोर विरोध किया और उन्हें दूर करने का प्रयास किया। उन्होंने स्त्री स्वतन्त्रता तथा विधवा विवाह का भी समर्थन किया।

राष्ट्रीय जागरण में योगदान—20 वर्षों तक धार्मिक, सामाजिक और शैक्षणिक क्षेत्रों में कार्य करने के पश्चात् एनीबीसेन्ट ने सन् 1914 ई. में राजनीति के क्षेत्र में पदार्पण किया। भारतीय राष्ट्रीय जागरण में उनका योगदान अत्यन्त प्रशंसनीय है। भारत को अपनी मातृभूमि मानने के बाद वे भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता दिलाने की समर्थक बन गई थी। श्रीमती एनीबीसेन्ट तथा तिलक के राजनीति में आने के पूर्व भारतीय राजनीतिक जागरण शिक्षित भारतीयों तक सीमित था। ये लोग अपनी माँगों तथा समस्याओं के बारे में विनम्र भाषा में प्रस्ताव पारित करते थे। दूसरे शब्दों में भारत का राष्ट्रीय जागरण जन आंदोलन नहीं था। किन्तु एनीबीसेन्ट कुशल राजनीतिज्ञ थी अतः उन्होंने भारतीय राजनीतिक जागरण को प्रचार और प्रसार के माध्यम से जनसाधारण तक पहुँचाने का बीड़ा उठाया। उन्होंने 'कॉमनवील' तथा 'न्यू इण्डिया' नामक समाचार-पत्रों के माध्यम से भारतीय स्वतन्त्रता के विचारों को प्रचारित किया। 1916 ई. में वह तिलक के होमरूल आंदोलन में शामिल हो गई। अतः मद्रास सरकार ने उन्हें बन्दी बना कर ऊटी भेज दिया किन्तु जन आंदोलन के कारण उन्हें शीघ्र रिहा कर दिया गया। 1917 में एनीबीसेन्ट निर्विरोध कांग्रेस की अध्यक्ष बनी। कांग्रेस ने इनकी अध्यक्षता में अनेक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किये। 1919 ई. में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की बागडोर महात्मा गांधी ने संभाल ली। अतः श्रीमती एनीबीसेंट इस क्षेत्र की पृष्ठभूमि में चली गई। 1928 से 1933 ई. का समय उनके लिए असफलताओं और निराशाओं से परिपूर्ण था। 20 नवम्बर, 1933 को अडयार में उनकी मृत्यु हो गई।

एनीबीसेन्ट का मूल्यांकन—श्रीमती एनीबीसेन्ट जन्म से अंग्रेज होते हुए भी हृदय से पूर्णतया भारतीय थी। उन्होंने हिन्दू धर्म के गौरव और मान्यताओं को पुनर्स्थापित करने के लिए अकथनीय प्रयास किये। सामाजिक, शैक्षणिक तथा राजनीतिक पुनर्जागरण में भी उन्होंने सक्रिय भूमिका निभाई। एनीबीसेन्ट महान् व्यक्तित्व की धनी थी। मस्तिष्क और आत्मा की दृढ़ता, अपने आदर्शों के प्रति पूर्ण जागरूकता, ओजस्वी वक्ता तथा अद्भुत राजनीतिक सूक्ष्म दृष्टि आदि उनके व्यक्तित्व के अद्वितीय गुण थे। उनके इन गुणों के सम्बन्ध में काउन्ट कोसरलिंग ने कहा था

कि "उनका व्यक्तित्व एक अद्वितीय केन्द्र से शासित होता है। आने वाला समय ही उनकी विश्व समस्याओं के प्रति पहुँच, भारतीय आत्मसम्मान के सन्देश, सहिष्णुता, आत्मिक पुनरुत्थान तथा मानव व्यक्तित्व की पवित्रता का सन्देश आदि को उजागर कर सकेगा।" उनके बहुक्षेत्रीय कार्यों के सम्बन्ध में श्री सी. आर. रेड्डी ने लिखा है कि "श्रीमती बीसेन्ट किस दिशा में महान् नहीं थीं और वे किस क्षेत्र में अग्रणी नहीं थीं? उन्होंने विश्व के समस्त देशों और जातियों के जीवन और संस्कृति के प्रत्येक भाग में नवजीवन प्रदान किया। समाज सुधार, उग्र आंदोलन, राष्ट्रीयता, स्वाभिमान एवं विश्व बन्धुत्व की भावना पैदा करने आदि में श्रीमती बीसेन्ट की तुलना में किसी अन्य व्यक्ति ने इतने गतिमान कार्य नहीं किये होंगे।" उनकी मृत्यु पर उनके गुणों का उल्लेख करते हुए श्री के. एस. वेंकटरमण ने कहा था कि "उनका जीवन सत्य तथा शांति की खोज में एक महान् प्रयास था। वे अपनी शताब्दी की सबसे बड़ी मानवतावादी महिला थी। वे मानव कल्याण के लिए सतत् प्रयत्नशील रहीं और 80 वर्षों तक रचनात्मक कार्यों में लगी रहीं। मुश्किल से किसी स्त्री या पुरुष को अपने जीवनकाल में इतना निःस्वार्थ और निष्ठापूर्ण सेवा काल मिल पायेगा।" श्रीमती एनीबीसेन्ट को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए महात्मा गाँधी ने कहा था कि "जब तक भारतवर्ष जीवित है, एनीबीसेंट की सेवायें भी जीवित रहेंगी। उन्होंने भारत को अपनी जन्मभूमि मान लिया था। उनके पास देने योग्य जो कुछ भी था, भारत के चरणों में अर्पित कर दिया था। इसलिए वे भारतवासियों की दृष्टि में इतनी प्यारी और श्रद्धेय हो गयीं।" पं. जवाहरलाल नेहरू ने उनके सम्बन्ध में कहा था कि "वे आज की पीढ़ी के लिए तो केवल एक नाम के रूप में ही है परन्तु अपनी पीढ़ी में वे एक महान् व्यक्तित्व थी और निःसन्देह उन्होंने भारत की आजादी की यात्रा में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी।"

17

तिलक और गांधी का सामाजिक तथा सांस्कृतिक महत्व

(Social and Culture Significance of Tilak and Gándhi)

आधुनिक भारत के पुनर्जागरण आन्दोलन में बालगंगाधर तिलक और महात्मा गांधी का महत्वपूर्ण योगदान है। यद्यपि इन दोनों विभूतियों का प्रधान कार्यक्षेत्र राजनीति था किन्तु इन्होंने भारतीयों में राजनीतिक चेतना जगाने के साथ-साथ हमारी सांस्कृतिक चेतना के पुनरुत्थान तथा सामाजिक बुराइयों को दूर करने के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय कार्य किया था। अतः भारतीय संस्कृति के इतिहास में इनका स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण है।

बाल गंगाधर तिलक

भारत के पुनर्जागरण के आन्दोलन में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का गौरवशाली स्थान है। उनकी गणना भारत के उन महान् नेताओं में की जाती है जिनका जनता से सीधा सम्पर्क था और जिन्होंने समय की विचारधारा को परिवर्तित किया। वे एक उच्च कोटि के देशभक्त ही नहीं अपितु देश-भक्तों के शिरोमणि थे। वे सच्चे हृदय से भारत तथा भारतवासियों की उन्नति चाहते थे तथा इसके लिए उन्होंने अपने 40 वर्ष के राजनैतिक जीवन में भारत के प्रति अन्याय तथा भारतवासियों की वेदना को निर्भयता से प्रकट किया। इसके लिए उन्हें कई प्रकार के कष्ट तथा जेल-यातनाएँ भी सहन करनी पड़ीं, परन्तु इन कष्टों में भी उन्होंने निःस्वार्थ देश-भक्ति, अदम्य साहस, अनुपम त्याग तथा दृढ़ निश्चय का परिचय दिया तथा भारत-वासियों में नये प्राण फूंक कर उन्हें निर्भीक तथा साहसी बना दिया। उन्होंने भारत के सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पुनरुत्थान में अमूल्य योगदान दिया। उनकी विलक्षण बुद्धि, दृढ़ इच्छाशक्ति और देशसेवा की वेदी पर किए गये उनके अभूतपूर्व बलिदानों ने उन्हें पहले महाराष्ट्र का तथा बाद में सम्पूर्ण भारत का छत्ररहित सम्राट बना दिया था।

तिलक का जीवन वृत्त–राष्ट्रवाद के महान् पुजारी, उत्कृष्ट देशभक्त, स्वराज के उद्घोषक और महान् लोकतन्त्रवादी लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का जन्म 23 जुलाई 1856 ई. को महाराष्ट्र के रत्नागिरी नामक स्थान पर एक चितपावन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता गंगाधर राव एक शिक्षक थे और उनकी माता पार्वती बाई उदार विचारों वाली धर्मपरायण महिला थी। तिलक के जन्म का नाम केशवराव तथा पारिवारिक नाम बलवन्तराव था किन्तु परिवार के सदस्य उन्हें स्नेह से 'बाल' के नाम से पुकारते थे। आगे चलकर उनका यही नाम सार्वजनिक जीवन में भी लोकप्रिय हुआ। महाराष्ट्र में प्रचलित परम्परा के अनुसार पिता का नाम सम्मिलित करते हुये उन्हें बालगंगाधर कहा जाने लगा। बाल्यावस्था में तिलक को उनके शिक्षक पिता ने संस्कृत, गणित और मराठी की समुचित शिक्षा प्रदान की। बाद में उन्होंने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा पूना के एक विद्यालय में प्राप्त की। दुर्भाग्य से 10 वर्ष की आयु में तिलक की माता का देहान्त हो गया। उनके पिता गंगाधर राव परम्परावादी विचारों के थे। अतः 15 वर्ष की आयु में उन्होंने तिलक का विवाह तापीबाई से कर दिया। उसी वर्ष 1871 ई. उनके पिता का देहान्त हो गया। अतः तिलक को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा परन्तु उन्होंने अपना अध्ययन जारी रखा। तिलक अत्यन्त मेधावी छात्र थे। 1876 ई. में उन्होंने बी. ए. की परीक्षा प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण की और 1879 ई. में एलएल. बी. की उपाधि प्राप्त की।

शिक्षा की समाप्ति के बाद तिलक ने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया तथा अपना सम्पूर्ण जीवन मां सरस्वती तथा भारत माता की उपासना में लगा दिया। तिलक के सार्वजनिक जीवन का प्रारम्भ एक शिक्षाविद् के रूप में हुआ। वे विद्यार्थी जीवन से ही ईसाई मिशनरी स्कूलों की पद्धति के आधार पर निजी विद्यालय स्थापित करने के इच्छुक थे। अतः उन्होंने अपने एक मित्र विष्णुशास्त्री के सहयोग से 1 जनवरी, 1880 को **'न्यू इंगलिश स्कूल'** नामक विद्यालय की स्थापना की जिसका उद्देश्य निर्धन विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करना था। तिलक उग्रवादी विचारधारा के समर्थक थे। अतः अपने विचारों के प्रसार के लिए वे शीघ्र ही पत्रकारिता के क्षेत्र में कूद पड़े। 1880 में उन्होंने अपने मित्रों आगारकर, चिपलूणकर तथा नामजोशी की सहायता से अंग्रेजी भाषा में **'मराठा'** और मराठी भाषा में **'केसरी'** नामक समाचार-पत्रों का प्रकाशन आरम्भ किया। तिलक और आगारकर इन पत्रों के सम्पादक थे। प्रारम्भ में **'मराठा'** और **'केसरी'** समाचार-पत्रों में साहित्य, विधि, धर्म, इतिहास और आर्थिक नीति आदि पर लेख प्रकाशित किये जाते थे किन्तु शीघ्र ही इनका मुख्य विषय राजनीति हो गया। डॉ. कीट के अनुसार **"इन पत्रों का लक्ष्य देश की तत्कालीन परिस्थितियों तथा ब्रिटेन की राजनीतिक नीतियों का निर्भीकतापूर्वक सही चित्रण करना था।"** तिलक ने इन पत्रों के माध्यम से सरकार की अन्यायपूर्ण नीति की कटु आलोचना आरम्भ कर दी जिससे जनता में राजनीतिक चेतना उत्पन्न हुई।

तिलक अपनी शिक्षा योजना को सम्पूर्ण महाराष्ट्र में क्रियान्वित करना चाहते थे। अतः उन्होंने 1884 ई. में पूना में एक सार्वजनिक सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन में उन्होंने महाराष्ट्र में शिक्षा के विकास के लिये **'डेकेन ऐजूकेशनल सोसायटी'** नामक संस्था की स्थापना की। जनता ने इस संस्था को पर्याप्त सहयोग और समर्थन प्रदान किया। इस संस्था ने 2 फरवरी, 1885 को एक आर्ट्स कॉलेज की स्थापना की जिसका नाम **'फर्ग्युसन कॉलेज'** रखा गया। तिलक के इन प्रयत्नों ने महाराष्ट्र में शिक्षा के विकास के क्षेत्र में क्रान्ति ला दी।

1889 ई. में तिलक ने 'डेकेन ऐजूकेशनल सोसायटी' को त्याग दिया और अपनी समस्त शक्ति महाराष्ट्र के राष्ट्रीय आन्दोलन को सुसंगठित करने में लगाने का निश्चय किया। 1889 ई. में तिलक ने एक प्रतिनिधि के रूप में पहली बार कांग्रेस अधिवेशन में भाग लिया। उस समय कांग्रेस में उदारवादियों का प्रभुत्व था। तिलक उग्रवादी विचारों के थे अतः उन्होंने कांग्रेस की नम्र और प्रार्थना की नीति की आलोचना करते हुए उसमें परिवर्तन की माँग की। इसी समय तिलक ने ब्रिटिश सरकार द्वारा पारित 'सम्मतिवयः विधेयक' का तीव्र विरोध किया क्योंकि वे भारतीयों के सामाजिक जीवन में ब्रिटिश सरकार के हस्तक्षेप के विरुद्ध थे। इसके बाद उन्होंने अपने साप्ताहिक पत्रों के माध्यम से राष्ट्रीयता की भावना के विकास का साहसिक कार्य किया। महाराष्ट्र के लोगों में नवीन चेतना, देशभक्ति तथा वीरता की भावना जागृत करने के लिये उन्होंने 1893 ई. में **'गणपति उत्सव'** और 1895 ई. में **'शिवाजी उत्सव'** मनाने की परम्परा डाली।

1896 ई में बम्बई प्रान्त में भीषण अकाल पड़ा। सरकार ने इस समय जनता की कोई सहायता नहीं की जिसके फलस्वरूप हजारों व्यक्ति काल का ग्रास बन गये। तिलक ने अपने समाचार-पत्रों के माध्यम से इस सम्बन्ध में सरकार की तीव्र आलोचना की और जनता को अपने अधिकारों के प्रति जागृत करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। इस अवसर पर तिलक ने सार्वजनिक सहयोग से अकाल पीड़ितों की सहायता में भी कोई कसर नहीं छोड़ी। अकाल की विभीषिका की समाप्ति से पूर्व ही 1897 ई. में सम्पूर्ण महाराष्ट्र में प्लेग की महामारी फैल गई। सरकार ने पूना में प्लेग की रोकथाम का कार्य सेना के सुपुर्द कर दिया जिससे जनता को अत्यधिक कष्ट हुआ क्योंकि ब्रिटिश सैनिक रोग की जांच के बहाने भारतीय महिलाओं से अभद्र व्यवहार करते थे। तिलक ने अपने समाचार-पत्रों के माध्यम से सैनिकों के इस दुर्व्यवहार की कटु आलोचना की। इससे जनता में सरकार विरोधी भावना भड़क उठी और दामोदर चापेकर नामक एक युवक ने पूना के प्लेग कमिश्नर रैण्ड तथा उसके सहायक एयर्स्ट की हत्या कर दी। सरकार ने तिलक पर उस युवक को भड़काने का आरोप लगा कर उन्हें 18 महीने के कठोर कारावास की सजा दे दी। तिलक को दी गई सजा की सर्वत्र तीव्र निन्दा की गई। तिलक पर चलाये गये मुकदमे और उन्हें दी गई सजा ने उन्हें सम्पूर्ण भारत में प्रसिद्धि दिला दी। इस सम्बन्ध में **प्रो. जे. पी. सूद** ने लिखा है कि "**तिलक को कारावास** का दण्ड मिलना

एक अखिल भारतीय महत्व की घटना थी····इसने राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में एक नवीन अध्याय का सूत्रपात कर दिया। इसने आत्म-बलिदान तथा आत्म-निर्भरता के एक नवीन युग का समारम्भ किया।"

1898 से 1905 ई. तक तिलक ने 'केसरी' और 'मराठा' समाचार-पत्रों के माध्यम से ब्रिटिश सरकार की नीतियों की कटु आलोचना की और उग्रवादी विचारों का प्रसार किया। 1905 ई. में ब्रिटिश सरकार द्वारा बंगाल का विभाजन किये जाने की उन्होंने तीव्र आलोचना की। तिलक कांग्रेस की नम्र और प्रार्थना की नीति को 'भिक्षावृत्ति' की संज्ञा देते थे। उनकी मान्यता थी कि अंग्रेज अपने आप भारतीयों को 'स्वराज्य' नहीं देंगे अपितु स्वराज्य की प्राप्ति के लिये सजीव और शक्तिशाली जनमत आवश्यक है जो उनसे इसे छीन सके। इसलिए उन्होंने 1907 ई. के कांग्रेस अधिवेशन में उसकी नम्र नीति की कटु आलोचना की और अपनी 'स्वराज्य' की मांग को प्रभावशाली तरीके से प्रस्तुत किया। उन्होंने शीघ्र स्वराज्य प्राप्त करने के लिये कांग्रेस के समक्ष चार सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया जिसके द्वारा ब्रिटिश सरकार को भारतीयों को स्वराज्य देने के लिये बाध्य किया जा सकता था। ये चार सूत्री कार्यक्रम इस प्रकार था—(1) स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग, (2) विदेशी माल तथा सरकारी नौकरियों और उपाधियों का बहिष्कार, (3) राष्ट्रीय शिक्षा तथा (4) सक्रिय प्रतिरोध। तिलक के इन विचारों के प्रभाव के फलस्वरूप कांग्रेस दो दलों में विभक्त हो गई—(1) गरम दल (2) नरम दल। गरम दल के नेता तिलक थे और नरम दल के नेता गोपाल कृष्ण गोखले थे। कांग्रेस की इस फूट का लाभ उठाकर ब्रिटिश सरकार ने 1908 में 'केसरी' में प्रकाशित कुछ सरकार विरोधी लेखों के आधार पर तिलक को 6 वर्ष के कारावास की सजा देकर माण्डले (वर्मा) जेल भेज दिया।

1914 ई. में जेल से मुक्त होने के बाद तिलक पुनः राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़े। 1916 ई. में उन्होंने स्वराज्य प्राप्ति के लिए होमरूल लीग की स्थापना की और एनीबीसेंट के साथ मिलकर होमरूल आन्दोलन चलाया तथा समस्त भारत में स्वराज्य प्राप्ति के लिए उत्साहवर्धक वातावरण तैयार किया। 1916 ई. में एनीबीसेंट के प्रयत्नों से कांग्रेस के दोनों दलों में एकता स्थापित हो गई और तिलक पुनः कांग्रेस में सम्मिलित हो गये और अन्त तक उसके कर्मठ सदस्य बने रहे। अगस्त, 1920 ई. में भारत के इस महान् देशभक्त स्वतन्त्रता सेनानी का बम्बई में देहान्त हो गया।

तिलक और भारतीय संस्कृति—लोकमान्य तिलक केवल एक वक्ता, विचारक तथा उत्तेजना प्रसारित करने वाले नेता ही नहीं थे वरन् एक गूढ़ राजनीतिज्ञ तथा भारतीय संस्कृति के महान् उन्नायक भी थे। भारतीय संस्कृति के उत्थान में उनका अवर्णनीय योगदान है। तिलक सनातनी हिन्दू थे और उन्हें अपने धर्म, सभ्यता और संस्कृति पर बड़ा गर्व था। वे भारतीय सभ्यता और संस्कृति को पाश्चात्य सभ्यता

और संस्कृति से श्रेष्ठ मानते थे । देश-प्रेम की भावना उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी । अतः वे भारत में राष्ट्रीयता के विकास का आधार हिन्दू धर्म और संस्कृति को बनाना चाहते थे । राजनीतिक अधिकारों और स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये वे सांस्कृतिक एकता को परम आवश्यक मानते थे । उनकी मान्यता थी कि भारतीयों में आत्म-गौरव और राष्ट्रीय भावना तब ही पनप सकती है जब उनमें अपने अतीत की गौरवमयी संस्कृति के प्रति प्रेम और विश्वास उत्पन्न किया जाय । अतः राष्ट्रीयता के प्रसार के लिए उन्होंने उन्हीं साधनों का प्रयोग किया जो भारतीय संस्कृति के अनुकूल थे ।

हिन्दुओं में राष्ट्रीयता की भावना भरने एवं उन्हें एकजुट करने के उद्देश्य से तिलक ने 'गणपति उत्सव' मनाना आरम्भ किया । वैसे यह उत्सव महाराष्ट्र में बहुत प्राचीन काल से प्रचलित था । परन्तु तिलक ने इसे सामूहिक ढंग से मनाने की प्रथा का प्रचलन किया और इसे राजनैतिक रंग देकर राष्ट्रीय उत्सव का रूप प्रदान किया । अपने पत्र 'केसरी' के माध्यम से तिलक ने इस महोत्सव को महाराष्ट्र की जनता में लोकप्रिय बना दिया । विभिन्न नगरों तथा ग्रामों में गणपति संस्थाएँ खोली गईं जहाँ पर लोग शारीरिक व्यायाम आदि करते थे । इसमें मुसलमानों ने भी भाग लिया । तिलक ने इस महोत्सव का आयोजन सम्पूर्ण महाराष्ट्र में करवाया इस अवसर पर भाषण, सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन होता था जिनका उद्देश्य जन-मानस में राष्ट्रीय एकता की भावनाएँ भरना, संस्कृति के प्रति प्रेम पैदा करना और जनता के आत्मबल एवं सम्मान में वृद्धि करना था । इस प्रकार शनैः शनैः इस महोत्सव के द्वारा महाराष्ट्र में राष्ट्रीयता की भावना के प्रसार में तिलक को आशातीत सफलता प्राप्त हुई और भारतीय जनता में परस्पर प्रेम व एकता की भावना घर करने लगी ।

गणपति उत्सव की तरह ही तिलक ने महाराष्ट्र में 'शिवाजी उत्सव' भी प्रारम्भ किया । शिवाजी एक महान् देश भक्त, हिन्दू धर्म के रक्षक तथा अनुपम वीर योद्धा थे जिन्होंने मुगल बादशाह औरंगजेब से लोहा लिया और अनेक कठिनाइयों के बावजूद 'हिन्दू पद पादशाही' की नींव डाली । तिलक ने आरम्भ में अपने पत्र 'केसरी' के माध्यम से शिवाजी के व्यक्तित्व को जनता के सामने प्रस्तुत किया । स्वयं तिलक भी शिवाजी की गौरवगाथा से अत्यधिक प्रभावित थे । धीरे-धीरे जनता के मन में शिवाजी के प्रति आकर्षण पैदा हुआ और यह उत्सव महाराष्ट्र में जोर दार ढंग से मनाया जाने लगा । सर्वप्रथम 1895 ई. में तिलक की अध्यक्षता में यह उत्सव रायगढ़ में मनाया गया । घोर सरकारी विरोध के बावजूद यह सफल रहा । इसके बाद 1897 में यह पूना में मनाया गया । इसमें शिवाजी को महान् राष्ट्र निर्माता तथा योद्धा के रूप में श्रद्धांजलि अर्पित की गई । महाराष्ट्र में शिवाजी एकता व देशप्रेम का प्रतीक माना जाता है और तिलक यही भावना देशवासियों में भर देना चाहते थे ।

भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना और शक्ति को संगठित करने की दिशा में 'गणपति उत्सव' एवं 'शिवाजी उत्सव' ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इन उत्सवों ने जनता में सोये हुए राष्ट्रवाद को ज्वालामुखी का रूप देने में सफलता प्राप्त की। इससे भारतीयों के हृदय में एक नवीन चेतना और उमंग पैदा हुई जिससे उनमें अपनी गौरवमयी सभ्यता और संस्कृति के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ। लोकमान्य तिलक की यह एक महान् सांस्कृतिक देन थी।

तिलक और राष्ट्रीय शिक्षा—तिलक एक महान् शिक्षाविद थे। उनके शिक्षा सम्बन्धी विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उनकी मान्यता थी कि किसी भी राष्ट्र के राजनीतिक, सामाजिक और बौद्धिक उत्थान की कुंजी बौद्धिक जागृति है जो श्रेष्ठ शिक्षा प्रणाली द्वारा उत्पन्न होती है। तिलक तत्कालीन शिक्षा प्रणाली के कटु आलोचक थे। उनका कहना था कि इस शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य विद्यार्थियों को देश की सही-सही स्थिति से अनभिज्ञ रखना और छोटे कर्मचारी तैयार करना है। तिलक की मान्यता थी कि **"पढ़ना लिखना सीख लेना ही शिक्षा नहीं है, शिक्षा वही है जो हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करें, जो हमें देश का सच्चा नागरिक बनाये, जो हमें हमारे पूर्वजों का ज्ञान और अनुभव दे तथा हमारी संस्कृति का ज्ञान कराये तथा जो हमें जीविकोपार्जन के योग्य बनाये।"**

इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए तिलक भारतीयों के लिये राष्ट्रीय शिक्षा आवश्यक मानते थे। उनकी मान्यता थी कि राष्ट्रीय शिक्षा के द्वारा ही राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण और राष्ट्रीय एकता सम्भव है। अपने इन विचारों को साकार रूप देने के लिये तिलक ने अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भ मे 'न्यू इंगलिश स्कूल,' 'डेकेन एजूकेशनल सोसाइटी' तथा 'फर्ग्यूसन कॉलेज' नामक शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की थीं। धर्म तिलक की राष्ट्रीय शिक्षा का महत्वपूर्ण अंग था। उनके अनुसार धार्मिक शिक्षा के विना राष्ट्रीय शिक्षा अपूर्ण है। 1908 ई. में उन्होंने अपने भाषण में कहा था **"केवल धर्म निरपेक्ष शिक्षा चरित्र निर्माण के लिए पर्याप्त नहीं है, इसके लिए धार्मिक शिक्षा आवश्यक है क्योंकि धर्म के उच्च सिद्धान्त और आदर्श हमें पाप कर्मों से दूर रखते हैं।"** एक अन्य स्थान पर तिलक ने कहा था कि **"किसी को अपने धर्म पर अभिमान कैसे हो सकता है, यदि वह अपने धर्म से अनभिज्ञ है। धार्मिक शिक्षा का अभाव ही इस बात का एकमात्र कारण है कि देशभर में मिशनरियों (ईसाई धर्म प्रचारकों) का प्रभाव बढ़ गया है।"** इसके अतिरिक्त तिलक ने राजनीतिक तथा औद्योगिक तकनीकी शिक्षा दिये जाने पर भी बल दिया। उनकी मान्यता थी कि राजनीतिक शिक्षा के विना लोगों को उनके अधिकार व कर्त्तव्यों का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः इसके अभाव में राजनीतिक जागृति असम्भव है। औद्योगिक और तकनीकी शिक्षा को वे आर्थिक विकास के लिए आवश्यक मानते थे।

आधुनिक भारत के अनेक सुधारवादी भारत में अंग्रेजी भाषा के प्रचार के समर्थक थे किन्तु तिलक पहले राजनीतिज्ञ थे जिन्होंने मातृभाषा में शिक्षा दिये जाने का समर्थन किया। उनकी मान्यता थी कि मातृभाषा में दी गई शिक्षा ही व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में सहायक होती है। उनका विचार था कि "यदि आप चाहते हैं कि विद्यार्थी पढ़ाये हुये को आत्मसात करले तो विदेशी भाषा के अध्ययन के भार को कम करना होगा।" उन्होंने कहा था कि "आज जो व्यक्ति अंग्रेजी लिख बोल लेता है, वही शिक्षित माना जाता है। किन्तु किसी भाषा का ज्ञान हो जाना सच्ची शिक्षा नहीं है। मातृभाषा में जो शिक्षा सात-आठ वर्ष में ही प्राप्त की जा सकती है उसमें अब 20–25 वर्ष लग जाते हैं। अंग्रेजी तो हमें सीखनी ही है परन्तु उसकी शिक्षा अनिवार्य करने का कोई कारण नहीं है।" तिलक सम्पूर्ण देश के लिये एक राष्ट्रभाषा और और लिपि को अनिवार्य मानते थे। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि एक राष्ट्रभाषा राष्ट्रीयता की पहली शर्त है। एक राष्ट्र भाषा के महत्व के बारे में दिसम्बर, 1905, में नागरी प्रचारणी सभा के सम्मेलन में उन्होंने कहा था कि "एक लिपि राष्ट्रीय आन्दोलन का अभिन्न अंग है। हमें संपूर्ण भारत मे एक ही भाषा अपनानी चाहिये। यदि राष्ट्र को संगठित करना है तो उसके लिए राष्ट्रभाषा से बड़ी शक्ति कोई अन्य नहीं हो सकती।" देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का सुझाव सर्वप्रथम तिलक ने ही दिया था।

भारत में शिक्षा प्रसार के लिए तिलक ने आजीवन प्रयास किये। वेदों मे श्रद्धा होने कारण वे प्राचीन शिक्षा के माध्यम से प्राचीन संस्कृति को पुनः प्रबल बनाने के पक्षधर थे। शिक्षा प्रसार के लिए सरकारी सहायता पर तिलक को आपत्ति नहीं थी परन्तु वे इस सहायता के बदले किसी भी प्रकार के सरकारी नियन्त्रण के विरोधी थे।

तिलक और समाज सुधार—तिलक एक महान् शिक्षाविद्, एक सच्चे जन-नेता और महान् विद्वान् ही नहीं अपितु महान् समाज सुधारक भी थे। वे हिन्दू समाज की बुराइयों से पूर्णतया परिचित थे और चाहते थे कि समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर किया जावे जिससे समाज जो अवनति के द्वार पर पहुँच गया है, उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो। परन्तु तिलक का समाज सुधार विलक्षण था। वे समाज सुधारों के स्वाभाविक विकास से समर्थक थे। तिलक सामाजिक सुधारों में एक साथ आमूलचूल और क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने के बजाय उसमें शनैः-शनैः विकास में विश्वास रखते थे। वे कानून द्वारा सामाजिक सुधारों के भी पक्षपाती नहीं थे। बल्कि उनका विश्वास था कि कानून से वह काम नहीं हो सकेगा जो काम जन-मानस में चेतना द्वारा किया जा सकता है। उनकी मान्यता थी कि यदि सुधार कार्य स्वाभाविक ढंग से आगे बढ़े तो सुधार के नाम पर समाज विभिन्न पन्थों, सम्प्रदायों और गुटों में विभक्त होने से बच जायेगा।

लोकमान्य तिलक की मान्यता थी कि सामाजिक सुधारों से पूर्व राष्ट्र को राजनीतिक उन्नति और राष्ट्रीय जागरण की ज्यादा जरूरत है। यदि देश राजनीतिक क्षेत्र में आगे बढ़ जाता है तो समाज सुधार के क्षेत्र में स्वतः ही आगे बढ़ जावेगा। उनकी मान्यता थी कि यदि हमने स्वराज्य के ध्येय को छोड़कर पहले समाज सुधार पर ध्यान दिया तो हम 'स्वराज्य' कभी भी प्राप्त नहीं कर सकेंगे क्योंकि अंग्रेजी शासक हमें स्वराज्य के ध्येय से भटकाने के लिए इस बात के लिए बार-बार उकसाते रहेंगे कि हम पहले समाज सुधार करके राजनीतिक उन्नति के लिए वातावरण तैयार करें। अतः तिलक का स्पष्ट मत था कि राजनीतिक अधिकारों के अभाव में देश अपनी सांस्कृतिक धारा को सुरक्षित नहीं रख पायेगा।

तिलक सरकार द्वारा अधिनियमों के माध्यम से समाज सुधारों के घोर विरोधी थे। उनकी मान्यता थी कि "एक भिन्न सभ्यता के मूल्यों को मानने वाले विदेशी शासकों को सामाजिक विषयों पर कानून बनाने और न्याय करने का अधिकार नहीं देना चाहिए क्योंकि ये विषय हिन्दू जनता की भावनाओं और संवेगों से ओतप्रोत है.......यदि हम अधिनियमों के द्वारा सामाजिक सुधारों को प्राथमिकता देंगे तो वह सुधार भारतीय परम्पराओं और महान संस्कृति के अनुकूल न होकर पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति की चकाचौंध से प्रभावित होंगे।" तिलक का स्पष्ट मत था कि सामाजिक सुधार के मामलों में ब्रिटिश नौकरशाही का हस्तक्षेप अनुचित है क्योंकि अगर सुधार नौकरशाही द्वारा किये गये तो उन्हें लागू करने के लिए पहले कार्यपालिका की और फिर उनकी समस्याओं के लिए न्यायपालिका की आवश्यकता होगी जिसके फलस्वरूप नौकरशाही का कार्यक्षेत्र विकसित होगा जो हमारे स्वराज्य की प्राप्ति में बाधक होंगे। उनकी मान्यता थी कि विदेशी लोग भारतीय सामाजिक समस्याओं पर निर्णय दे, यह लज्जाजनक और शर्मनाक होगा। अतःभारतीयों को चाहिए कि वह अपने सामाजिक क्षेत्र में विदेशी सरकार को हस्तक्षेप नहीं करने दें।

तिलक ने भारत के समाज सुधारकों को आह्वान किया कि वे स्वयं समाज सुधार को अपने जीवन में लागू करके जनता के सामने उदाहरण प्रस्तुत करें। उन्होंने अपने समाचार-पत्र 'केसरी' में लिखा था "हमें जनसाधारण में सुधार करना है और यदि हम अपने आपको उससे अलग कर लेंगे तो सुधार असम्भव हो जायेगा.......प्रत्येक व्यक्ति को सुधारों का आरम्भ स्वयं अपने से करना चाहिये। दूसरे के विचारों में परिवर्तन सिद्धान्तों की अपेक्षा व्यवहार द्वारा ही सम्भव है।" तिलक स्वयं भी जैसा कहते थे वैसा ही करते थे। उन्होंने अपने परिवार की सभी लड़कियों का विवाह 16 वर्ष की आयु के बाद किया था।

तिलक के उपर्युक्त विचारों के आधार पर वेलेन्टाइन शिरोल आदि पाश्चात्य विद्वानों ने तिलक को समाज सुधारों का विरोधी, रूढ़ीवादी और प्रतिक्रियावादी होने की संज्ञा दी है। किन्तु उनका यह मत भ्रान्तिपूर्ण है क्योंकि तिलक ने हिन्दू समाज

में सुधार के लिये अनेक प्रयत्न किये थे। 1890 ई. में उन्होंने ब्रिटिश सरकार के **'सहवास वय: अधिनियम'** का विरोध किया तथा कांग्रेस के अधिवेशनों में विधवा विवाह के समर्थन में और बाल-विवाह के विरुद्ध अपने प्रस्ताव प्रस्तुत किये। तिलक ने समाज सुधार के लिए कुछ रचनात्मक प्रस्ताव भी रखे थे। उनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—

(1) लड़कों के विवाह की न्यूनतम आयु 20 वर्ष और लड़कियों के विवाह की न्यूनतम आयु 16 वर्ष होनी चाहिये।

(2) वे विधवा विवाह के पक्ष में थे, उन्होंने सलाह दी कि 40 वर्ष के मनुष्य या तो विवाह ही न करें और अगर करें तो मात्र विधवाओं से ही करें।

(3) मद्य-पान का निषेध।

(4) तिलक दहेज प्रथा के घोर विरोधी थे और वे इसे समाप्त करना चाहते थे।

(5) विधवा स्त्रियों के बाल मुंडवाने की प्रथा समाप्त की जाये।

(6) जाति-पांति, अस्पृश्यता आदि को समाप्त किया जाये।

(7) प्रत्येक समाज सुधारक अपनी आय का दसवां भाग समाज सेवा में लगाये।

तिलक के उपर्युक्त प्रस्ताव उनके प्रगतिशील और सुधारवादी विचारों के द्योतक हैं। तिलक जी ने अस्पृश्यता का भी विरोध करते हुए कहा था कि समस्त भारतीय एक भारतमाता की सन्तान हैं। 1918 में उन्होंने दलित वर्ग के सम्मेलन में छुआछूत की समाप्ति पर बल दिया था। तिलक मद्यपान को भी राष्ट्र व समाज की प्रगति में बाधक समझते थे। इन्होंने अपने समाचार-पत्रों द्वारा शराब-बन्दी पर जोर दिया। जब सरकार ने शराब-बन्दी की दिशा में कोई कदम नहीं उठाया तो तिलक जी ने सरकार की कटु आलोचना करते हुए लोगों को सुझाव दिया कि वे शराब की दूकानों के आगे धरना देना प्रारम्भ करें। उन्होंने धर्म के आधार पर हिन्दू व मुसलमानों से मद्यपान का त्याग करने की अपील की। तिलक का नशाबन्दी अभियान सामाजिक क्षेत्र में उनकी महान् सेवा थी।

तिलक और हिन्दू धर्म—तिलक हिन्दू धर्म के कट्टर समर्थक थे परन्तु वे धार्मिक संकीर्णता से कोसों दूर थे। उनकी मान्यता थी कि हिन्दू धर्म में समस्त मानव-समाज को एकता के सूत्र में बांधने की क्षमता है। वे हिन्दू धर्म के सभी तत्वों को स्वीकार करते थे तथा मूर्तिपूजा, अवतारवाद, भक्ति, भेंट-पूजा आदि में भी आस्था रखते थे। उन्होंने हिन्दू शब्द की विशद व्याख्या की और घोषित किया कि सच्चा हिन्दू वही है जो वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास करता है तथा अपने चरित्र का निर्माण वेद, स्मृति व पुराणों में निर्धारित आदर्शों के अनुसार करता है। तिलक हिन्दू धर्म को संगठित और शक्तिशाली रूप में देखना चाहते थे। उन्होंने राजनीतिक विचारधारा में धर्म को महत्वपूर्ण स्थान दिया। उन्होंने हिन्दुओं को संगठित

करने के लिए गणपति उत्सव तथा शिवाजी उत्सव का आयोजन किया और उनमें नवचेतना, साहस तथा आत्म-विश्वास का संचार किया।

तिलक प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक थे। वे समस्त भारत के हिन्दुओं को संगठित करके एक सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण करना चाहते थे। यद्यपि तिलक ने कभी साम्प्रदायिकता का प्रचार नहीं किया परन्तु वे यह भी सहन नहीं कर सकते थे कि हिन्दू धर्म की उदारता और सहिष्णुता का अनुचित लाभ उठाकर हिन्दू धर्म पर कीचड़ उछाला जाए।

तिलक और राष्ट्रीय आन्दोलन—तिलक एक महान् राजनीतिज्ञ थे जिनका उद्देश्य भारत को एक सुदृढ़ राष्ट्र बनाना था। देशप्रेम की भावना उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में उनका योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। स्वतन्त्रता प्राप्ति को वे अपना अधिकार ही नहीं धर्म भी मानते थे। वे प्रथम राजनीतिज्ञ थे जिन्होंने देश की संस्कृति को राष्ट्रीयता का आधार बनाया। भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करने के लिये वे सांस्कृतिक जागरण परम आवश्यक मानते थे। अतः उन्होंने **'गणपति उत्सव** 'तथा **'शिवाजी उत्सव'** के माध्यम से भारतीयों में राष्ट्रीय भावना का प्रसार किया।

तिलक भारतीय राजनीति में उग्रवाद के जनक माने जाते हैं। उनका उग्रवाद विलक्षण और तेजस्वी था। तिलक के राजनीति में आने के पूर्व भारतीय राजनीति के धरातल पर उच्च शिक्षित उदारवादियों का प्रभुत्व था जिनकी कार्यशैली प्रार्थनाओं और नम्र निवेदन तक सीमित थी। किन्तु तिलक उदारवादियों की इस नीति से सन्तुष्ट नहीं थे। वे उदारवादियों की नीति को **'भिक्षावृत्ति'** की संज्ञा देते थे। उन्हें अंग्रेजों की न्यायप्रियता और ईमानदारी में तनिक भी विश्वास नहीं था। उनका उद्देश्य **'स्वराज'** प्राप्त करना था। स्वराज्य को वे अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे। उनकी मान्यता थी कि स्वराज्य भारतीयों का अधिकार है और हमें इसे उपकार से नहीं बल्कि अधिकार पूर्वक प्राप्त करना चाहिए। वे अपनी मांगों को मनवाने के लिए जन आंदोलन का अवलम्बन लेना चाहते थे। इस बारे में उन्होंने अपने पत्र **'केसरी'** में लिखा था **"ब्रिटिश सरकार पर प्रार्थनाओं और नम्र निवेदनों का कोई असर होने वाला नहीं है। अतः हमें अपनी मांगों को 'हक' के रूप में रखना चाहिए तथा दबावकारी उग्र साधनों (हिंसात्मक नहीं) का आश्रय लेकर विदेशी हुकूमत को यह सोचने पर मजबूर कर देना चाहिये कि भारतीयों की मांगों की उपेक्षा करना उचित नहीं है।"** इस प्रकार तिलक की उग्रवादी नीति साहस और निर्भयता पर आधारित थी। उनके साहसिक प्रयत्नों से देश में प्रबुद्ध और जागरूक राजनीतिक चेतना का उद्भव हुआ और राष्ट्रीय आंदोलन जनआंदोलन में परिणित हो गया।

तिलक अपने युग के प्रथम राजनीतिज्ञ थे जिन्होंने सर्वप्रथम घोषित किया कि "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा।" उनकी

मान्यता थी कि "बिना स्वराज्य के भारत उन्नति नहीं कर सकता। स्वराज्य हमारे अस्तित्व के लिए अनिवार्य है।" स्वराज्य प्राप्ति के सम्बन्ध में तिलक का कहना था कि "स्वराज्य मांगने से नहीं मिलता, इसके लिए त्याग, बलिदान और जन-शक्ति की जागरूकता आवश्यक होती है।" तिलक की स्वराज्य की धारणा के सम्बन्ध में श्री टी. वी. पार्वते ने लिखा है कि "तिलक लोकतन्त्रीय स्वराज्य के प्रवर्तक थे······· उनके स्वराज्य का अर्थ केवल कुछ उच्च पदों को प्राप्त कर लेना नहीं है बल्कि यह ऐसी व्यवस्था है जिसमें शासन के समस्त अधिकारी और कर्मचारी जनहित के लिए सचेत रहें और जनता के प्रति स्वयं को उत्तरदायी समझें।" स्वराज्य प्राप्ति के लिए तिलक ने चार बातों पर विशेष बल दिया—(1) स्वदेशी, (2) बहिष्कार, (3) राष्ट्रीय शिक्षा, (4) निष्क्रिय प्रतिरोध। माण्डले जेल से छूटने के बाद तिलक ने श्रीमती एनीबीसेन्ट के साथ मिलकर होमरूल आंदोलन चलाया और भारतीयों को स्वराज्य प्राप्ति के लिए प्रेरित किया।

तिलक स्वराज्य की प्राप्ति के लिए 'स्वदेशी आंदोलन' और 'बहिष्कार' को आवश्यक मानते थे। 'स्वदेशी' का अर्थ है—विदेशों में बनी वस्तुओं का प्रयोग बन्द करके अपने देश में बनी वस्तुओं का दैनिक जीवन में प्रयोग करना। स्वदेशी का आरम्भ उदारवादियों ने एक आर्थिक आंदोलन के रूप में किया था किन्तु तिलक ने इसे राजनीतिक शस्त्र बना दिया। तिलक के नेतृत्व में स्वदेशी आंदोलन, आर्थिक आत्मनिर्भरता से बढ़कर समस्त क्षेत्रों में आत्मनिर्भरता और स्वावलम्बन का प्रतीक बन गया। तिलक के स्वदेशी आंदोलन का आधार बहिष्कार था। बहिष्कार से तिलक का अभिप्राय केवल विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार नहीं था अपितु वे बहिष्कार को प्रभावी बनाने के लिए सार्वजनिक संस्थाओं, अदालतों एवं प्रशासनिक कार्यालयों आदि का भी बहिष्कार करना चाहते थे। कलकत्ता में बहिष्कार के कार्यक्रम पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा था कि "हमारे पास शस्त्र नहीं हैं और इनकी कोई आवश्यकता भी नहीं है। बहिष्कार के रूप में हमारे पास अधिक शस्त्र हैं।······· यदि हम भारत की सीमाओं से परे जन और धन से अंग्रेजों को युद्ध में सहायता न करें, न्याय प्रशासन के संचालन में सहायता न दें, दफ्तरों का बहिष्कार करें······· क्या तुम संगठित प्रयत्नों द्वारा ऐसा कर सकते हो? यदि हाँ, तो तुम कल ही स्वतन्त्र हो जाओगे।" इस प्रकार तिलक ने 'स्वदेशी' और 'बहिष्कार' के दो हथियारों द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन को लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। तिलक के राष्ट्रीय आंदोलन में योगदान के सम्बन्ध में श्री विट्ठलभाई पटेल ने कहा है कि "तिलक का व्यक्तित्व महान् था। राजनीति की आराम कुर्सी पर बैठने वाले राजनीतिज्ञों को कमरे से निकाल कर जनता तक ले जाने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है।" इस सम्बन्ध में डॉ. वी. पी. वर्मा ने लिखा है कि "बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में तिलक एक प्रमुख राजनीतिक विभूति थे। उन्होंने भारत वासियों को स्वराज्य के अधिकार का पहला पाठ पढ़ाया। उन्होंने देश की जनता

को प्रबुद्ध किया और उसमें राष्ट्र की सामान्य इच्छा को पहचानने की क्षमता और चेतना उत्पन्न की। वे स्वराज्य के सन्देशवाहक के रूप में प्रकट हुए। उन्होंने जनता को दासता से घृणा करना सिखाया।"

तिलक और साहित्य—तिलक एक महान् राजनीतिज्ञ और देशभक्त होने के साथ हिन्दू धर्म के उच्च कोटि के मनीषी और विद्वान भी थे। उन्होंने **'दी ओरियन'**, **'आर्कटिक होम इन द वेदाज'**, तथा **'गीता रहस्य'** नामक ग्रन्थों की रचना की जिसमें उनकी विद्वता, ऐतिहासिक शोधवृत्ति, विस्तृत ज्ञान और उत्कृष्ट विचारों का परिचय मिलता है। **'दी ओरियन'** में उन्होंने ऋग्वेद के ज्योतिष तथा नक्षत्रों के उद्धरणों के आधार पर आर्य सभ्यता का तिथिक्रम निर्धारित किया। डॉ. ब्लूमफील्ड ने 'दी ओरियन' के प्रकाशन को **'वर्ष की सबसे महत्वपूर्ण साहित्यिक घटना'** माना था। तिलक ने अपने दूसरे अन्वेषणात्मक ग्रन्थ **'आर्कटिक होम इन द वेदाज'** में ऋग्वेद और ईरानी ग्रन्थ जेन्द अवेस्ता के प्रमाणों के आधार पर उत्तरी ध्रुव को आर्यों का आदि देश प्रमाणित किया है। इस ग्रन्थ की प्रशंसा करते हुए **डॉ. एफ. डब्ल्यू. वारेन** ने लिखा है कि **"जितने प्रमाण और तर्क इस पुस्तक में मौजूद हैं, उतने किसी भी भारतीय या ईरानी विद्वान् ने आज तक अपने निष्कर्ष को पुष्टि में नहीं दिये।"** **'गीता रहस्य'** तिलक की सबसे महत्वपूर्ण कृति है जिसमें उन्होंने प्रचलित परम्पराओं से भिन्न गीता की प्रवृत्तिवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। इस ग्रन्थ में उन्होंने स्पष्ट किया कि गीता निवृत्ति (वैराग्य) का नहीं वरन् प्रवृत्ति (कर्म) के मार्ग का प्रतिपादन करती है। तिलक के इस ग्रन्थ की प्रशंसा करते हुए **श्री रामधारी सिंह दिनकर** ने लिखा है कि **"गीता एक बार तो भगवान श्री कृष्ण के मुख से कही गई किन्तु दूसरी बार उसका सच्चा आख्यान लोकमान्य ने किया···· हिन्दू जाति लोकमान्य की चिरऋणी रहेगी कि निवृत्ति का आलस्य छुड़ाकर उन्होंने उसे प्रवृत्ति के पथ पर अग्रसर कर दिया।"**

तिलक का मूल्यांकन—तिलक एक महान देशभक्त, राजनीतिज्ञ, समाज-सुधारक, शिक्षाशास्त्री तथा भारतीय संस्कृति के कट्टर समर्थक और प्रगतिशील विचारक थे। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। अपने 40 वर्षों के सार्वजनिक जीवन में उन्होंने भारत की महान् सेवा की। तिलक का मूल्यांकन करते हुए **डॉ. वी. पी. वर्मा** ने लिखा है कि **"लोकमान्य तिलक आधुनिक भारत की महान् राजनीतिक विभूति थे।········तिलक का नाम सुन कर मुझे मूसा, लूथर, प्रताप, शिवाजी, दयानन्द और विवेकानन्द का स्मरण हो आता है। भारतीय जनता के समक्ष वे चन्द्रगुप्त मौर्य, समुद्रगुप्त, शिवाजी आदि उन राष्ट्रीय शूरवीरों की शृङ्खला की कड़ी के रूप में अवतरित हुये जिन्होंने अन्याय और परतन्त्रता के विरुद्ध स्वतन्त्रता के के लिए संघर्ष किया था।"** स्वामी श्रद्धानन्द के अनुसार "राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं में तिलक का स्थान सबसे ऊँचा है। उन्होंने सर्वप्रथम राजनीतिक एकता का प्रचार किया। मातृभूमि की सेवा के लिए और किस वीर पुरुष ने इतने कष्ट सहे हैं जितने

इस महापुरुष ने।" श्री अरविन्द का कथन है कि "तिलक का नाम राष्ट्र निर्माता के रूप में सदा अमर रहेगा और लोग उन्हें तब तक कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करेंगे जब तक कि देश में अपने भूतकाल पर अभिमान और भविष्य के लिए आशा बनी रहेगी।" तिलक की महत्ता के सम्बन्ध में सन्त निहाल सिंह ने लिखा है कि "यदि तिलक न होते तो भारत अब भी पेट के बल सरक रहा होता, सिर धूल में दबा होता और हाथ में प्रार्थना-पत्र होता। तिलक ने भारत की पीठ को बलिष्ठ बनाया। मुझे विश्वास है कि देश अब सीधा खड़ा होकर चलने लगेगा और तब देश उस व्यक्ति को आशीर्वाद देगा जिसने उसे धूल से उठाकर खड़ा कर दिया।" तिलक के राजनीतिक कार्यों का मूल्यांकन करते हुए अमेरिकी विद्वान डॉ. एलशे ने लिखा है कि "जब भारत में वास्तविक राजनीतिक जागृति आरम्भ हुई तो सर्वप्रथम तिलक ने ही स्वराज की आवश्यकता और उसके लाभों की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया था। उन्होंने ही सर्वप्रथम स्वदेशी वस्तुओं के प्रति अनुराग, राष्ट्रीय ढंग की शिक्षा, जनप्रिय संयुक्त राजनीतिक मोर्चे आदि की खोज की, जिनके द्वारा स्वराज्य के लक्ष्य को प्राप्त करने में महत्वपूर्ण सफलता मिली।"

महात्मा गांधी

भारत भूमि रत्नगर्भा है। इसके कण-कण में महापुरुष उत्पन्न करने की शक्ति विद्यमान है। युगों से भारत की इस शस्य श्यामल वसुन्धरा ने अपनी कोख मे ऐसे जाज्वल्यमान नक्षत्रों को जन्म दिया है जिनकी गौरवमयी गाथा न केवल भारत में अपितु भू-मण्डल के कोने-कोने में प्रतिबिम्बित हो रही है। भारत के प्रांगण में राम, कृष्ण, शिव, प्रताप, विवेकानन्द, तिलक आदि अगणित देवदूत स्वर्ग मन्दाकिनी की अजस्र पीयूष वर्षिणि -धारा लेकर अवतरित हुये और चिरतृषित, पीड़ित व सम्वेदित मानवता को सुधा स्नान करवाया। ऐसी ही नर-विभूतियों की श्रेणी में भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानि गांधी का नाम अंकित है।

गांधी एक महामानव, शांति के देवदूत, हिन्दू-मुस्लिम एकता के पोषक तथा विश्व कल्याण के मसीहा थे। उनके निर्मल मस्तिष्क से एक ऐसी सद्धर्म नदी निकली जिसे पीकर तृष्णा से दग्ध संसार ने तृप्ति का अनुभव किया। बीसवीं शती के प्रारम्भ से आज तक जिन महापुरुषों के पद-चिह्नों की छाप समय के वक्ष पर दिखाई देती है, उनमें सबसे गहरी छाप इस महापुरुष की है जिसे भारतवासियों ने महात्मा गांधी, बापू तथा राष्ट्रपिता की संज्ञा दी। उन्होंने अपने अप्रतिम व्यक्तित्व एवं कृतित्व की अमिट छाप जीवन की सभी क्षेत्रों में छोड़ी, इसी कारण उनके युग को गांधी युग कहकर सम्बोधित किया जाता है।

गांधीजी का जीवन परिचय—(1869--1948 ई.) भारतीय स्वतन्त्रता आंदोलन के अग्रदूत महात्मा गांधी का पूरा नाम मोहनदास करमचन्द गांधी था। उनका जन्म एक वैश्य परिवार मे 2 अक्टूबर, 1869 ई. को काठियावाड़ (गुजरात) के पोरबन्दर नामक स्थान पर हुआ था। इनके पिता का नाम करमचन्द गांधी और

माता का नाम पुतलीबाई था। गाँधीजी के पिता करमचन्द राजकोट रियासत के दीवान थे और इनकी माता धार्मिक विचारों वाली सुघड़ गृहिणी थी। महात्मा गांधी के विचारों पर उनकी माँ के आध्यात्मिक आदर्शों का गहरा प्रभाव पड़ा था। 13 वर्ष की आयु में गाँधीजी का विवाह कस्तूरबा से हो गया। मैट्रिक की शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् 19 वर्ष की आयु में सन् 1888 ई. में वे कानून की शिक्षा प्राप्त करने इंग्लैंड गये। 1891 ई. में भारत लौटकर उन्होंने बम्बई में अपनी वकालत आरम्भ कर दी। 1893 ई. में किसी मुकदमे की पैरवी के सम्बन्ध में गाँधीजी दक्षिणी अफ्रीका गये। दक्षिणी अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों पर वहाँ की गोरी सरकार द्वारा जाति और रंग के आधारों पर किये जाने वाले अमानुषिक अत्याचारों को देखकर गाँधीजी का मन उद्वेलित हो उठा। अतः उन्होंने अगले बीस वर्षों (1893 ई. से 1914 ई.) तक इन अत्याचारों के विरुद्ध अहिंसा और सत्याग्रह के अस्त्र के आधार पर संघर्ष किया जिसके परिणामस्वरूप अफ्रीका की गोरी सरकार को अनेक दमनकारी कानून रद्द करने पड़े। गाँधीजी की इस सफलता से उनकी ख्याति बढ़ गई। उनके इन कार्यों की प्रशंसा करते हुए **गोपालकृष्ण गोखले** ने कहा था कि **"दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के अधिकारों की सुरक्षा निःसन्देह महात्मा गांधी ने आरम्भ की। बिना किसी स्वार्थ या इच्छा के उन्होंने भारत के लिए एक महान् संघर्ष किया जिनके लिए भारत उनका आभारी है।"**

भारत आगमन और राष्ट्रीय आन्दोलन में योगदान—1914 ई. में महात्मा गांधी भारत लौट आये। यहाँ उन्होंने साबरमती में एक आश्रम खोला। भारत आगमन के पश्चात् उन्होंने ब्रिटिश शासन की अन्यायपूर्ण नीतियों और कानूनों के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ कर दिया। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है **"मैं भारत में उस तरीके को अपनाना चाहता हूँ जिसका प्रयोग मैंने दक्षिण अफ्रीका में किया था और मैं यह जानना चाहता हूँ कि भारत में उसका प्रयोग कहाँ तक सम्भव है।"** भारत में उनका यह प्रयोग सफल रहा। 1815 ई. में वीरा ग्राम की चुंगी रक्षक सेना सत्याग्रह की धमकी के कारण हटा ली गई। 1817 ई. में गांधीजी ने बिहार के चम्पारन जिले में अंग्रेजों द्वारा किसानों पर किये जाने वाले अत्याचारों के विरुद्ध सत्याग्रह का सफल प्रयोग किया। 1919 ई. में उन्होंने अहमदाबाद के मिल मालिकों के विरुद्ध मजदूरों की सहानुभूति में सत्याग्रह किया। उनके इन कार्यों से कांग्रेस में उनका प्रभाव बढ़ गया।

1914 ई. में भारत आगमन के समय महात्मा गांधी की नीति संवैधानिक सुधार तथा ब्रिटिश सरकार से सहयोग की थी। इसीलिये उन्होंने भारतवासियों से प्रथम विश्व युद्ध में ब्रिटिश सरकार को पूर्ण सहयोग देने की अपील की थी। ब्रिटिश सरकार ने भी इस सहायता के बदले भारतीयों को स्वशासन देने का वायदा किया था। परन्तु भारतीयों द्वारा प्रथम विश्व युद्ध में पर्याप्त सहायता देने के उपरान्त भी युद्ध की

समाप्ति पर अंग्रेजों ने भारत को स्वशासन नहीं दिया, तब भी गांधीजी अंग्रेजों को निरन्तर सहयोग देते रहे। राष्ट्रवादियों के प्रबल विरोध के बाद भी उन्होंने 1919 ई. के अधिनियम का समर्थन किया। किन्तु 1919 ई. में घटित कुछ घटनाओं ने गांधीजी को अंग्रेजों के साथ सहयोग की नीति त्यागने को प्रेरित किया। प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद ब्रिटिश सरकार ने स्वशासन के स्थान पर भारतीयों को 'रोलेक्ट एक्ट' का उपहार दिया जिसके अन्तर्गत किसी भी व्यक्ति को बिना वारन्ट गिरफ्तार किया जा सकता था और बिना मुकदमा चलाये जेल में बन्दी रखा जा सकता था। सम्पूर्ण भारत, मुख्य रूप से पंजाब में इस अधिनियम का घोर विरोध हुआ। जिसके परिणामस्वरूप अंग्रेजों ने पंजाब में भीषण अत्याचार किये और जलियांवाला बाग का प्रसिद्ध हत्याकाण्ड हुआ। इन सब बातों से क्षुब्ध होकर महात्मा गांधी ने ब्रिटिश सरकार से सहयोग की नीति त्याग दी और उसकी नीतियों के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन चलाने का निर्णय लिया।

असहयोग आंन्दोलन—जुलाई, 1920 ई. में बालगंगाधर तिलक की मृत्यु के साथ भारतीय राष्ट्रवाद का उग्रवादी पुंज विलुप्त हो गया और कांग्रेस का नेतृत्व गांधीजी के हाथों में आ गया। 1919 ई. की विविध घटनाओं से क्षुब्ध होकर गांधीजी ने 1920 ई. में कांग्रेस के कलकत्ता के प्रथम तथा नागपुर के द्वितीय अधिवेशन में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन चलाने का प्रस्ताव रखा जो स्वीकार कर लिया गया और 20 अगस्त, 1920 ई. से यह आंन्दोलन प्रारम्भ हो गया। इस असहयोग आंदोलन के कार्यक्रम की रूपरेखा इस प्रकार थी—

(1) सरकारी सहायता प्राप्त स्कूलों एवं कॉलेजों का बहिष्कार तथा स्वदेशी विद्यालयों की स्थापना।

(2) स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार।

(3) सरकारी नौकरियों और अदालतों का बहिष्कार।

(4) सरकारी उपाधियों एवं पदों का त्याग और सरकारी स्वागत समारोह का बहिष्कार।

(5) कौंसिल के नये चुनावों का बहिष्कार।

कार्यक्रम के अनुसार आन्दोलन शीघ्र ही सम्पूर्ण भारत में फैल गया। विद्यार्थियों ने सरकारी शिक्षण संस्थाएँ छोड़ दीं और राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की गई यथा बिहार विद्यापीठ, बिहार; बनारस हिन्दू विद्यापीठ, बनारस; आदि। देश के मूर्धन्य वकीलों ने वकालत छोड़ दी यथा डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, मोतीलाल, नेहरू, गोविन्दवल्लभ पन्त आदि। सरकारी उपाधियों को त्याग दिया गया। प्रसिद्ध कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी अपने सर का खिताब त्यागते हुए असहयोग आन्दोलन में पदार्पण किया। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया, विदेशी वस्त्रों की होली जलायी गयी और स्वदेशी को व्यापक स्तर पर मान्यता मिली। सरकारी दमन चक्र चलता रहा और देशभक्त हँसते-हँसते जेल जाने लगे। जब आन्दोलन तीव्र गति पर था तभी दुर्भाग्यवश 5 फरवरी, 1922 ई. को उत्तर प्रदेश के

गोरखपुर जिले में स्थित चौरीचौरा नामक स्थान पर जनता की एक भीड़ ने क्रुद्ध होकर थाने में आग लगा दी जिसमें एक थानेदार और 21 सिपाही जल कर मर गये। इस हिंसात्मक घटना के कारण महात्मा गांधी ने आन्दोलन अनिश्चित काल के लिये स्थगित कर दिया। इस स्थगन प्रस्ताव की तीव्र आलोचना की गई। सुभाष बोस के अनुसार—**"ठीक उस समय, जब जनता का जोश चरम सीमा पर था, स्थगन आदेश दे देना राष्ट्रीय दुर्भाग्य से कम नहीं था।"** यह भी कहा जाता है कि स्थगन का आदेश देकर गांधीजी ने भारत की आजादी को और पीछे धकेल दिया था, इस सम्बन्ध में **डॉ. आर. सी. मजूमदार** ने लिखा है कि **"गांधीजी का असहयोग आन्दोलन को इस प्रकार स्थगित करना भारी भूल थी। इससे राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति को गहरी चोट लगी थी।"** किन्तु आलोचना-प्रत्यालोचना के विवाद में न पड़ें तो **मि. कूपलैण्ड** का यह कथन सत्य ही प्रतीत होता है कि **"महात्मा गांधी के इस आन्दोलन ने राष्ट्रीय आंदोलन को जन आंन्दोलन का रूप दे दिया। अब तक यह समाज के बुद्धिजीवी वर्ग तक ही सीमित था, किन्तु इस आंदोलन ने इसे वास्तवित जन आंदोलन बना दिया।"**

सविनय अवज्ञा आन्दोलन—गांधीजी के जेल जाने के कारण देश में नेतृत्व का अभाव अनुभव किया जाने लगा था। किन्तु असहयोग-आन्दोलन ने देश में राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न कर दी थी। 1919 ई. के अधिनियम की प्रगति की जाँच के लिये 1927 ई. में जब साइमन कमीशन भारत आया तो समस्त भारत में उसका तीव्र विरोध हुआ। भारतीय जनता ने स्थान-स्थान पर हड़तालों, जूलूसों और काले झण्डों तथा 'साइमन वापस जाओ' के नारों से इसका स्वागत कर असन्तोष व्यक्त किया। सरकार ने इस विरोध को दबाने के लिये दमन नीति से काम लिया। इससे देश में पुनः राजनीतिक जागृति उत्पन्न हो गई। 31 दिसम्बर, 1929 ई. को मध्य रात्रि में कांग्रेस ने अपने लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पारित किया। कांग्रेस के आह्वान पर 26 जनवरी, 1930 ई. को समस्त भारत में स्वतन्त्रता दिवस के रूप में मनाया गया।

साइमन कमीशन की असफलता और सरकार द्वारा नेहरू रिपोर्ट अस्वीकार करने पर राजनीतिक घटनाचक्र तेजी से बदला। गांधीजी ने वायसराय के समक्ष 11 सूत्री मांग पत्र प्रस्तुत किया, जिसे अस्वीकार कर दिया गया। अतः कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाने का निर्णय लिया। इस आन्दोलन का कार्यक्रम निम्नलिखित था—

(1) स्थान-स्थान पर नमक कानून तोड़कर स्वतन्त्र रूप से नमक बनाया जाय।

(2) सरकारी नौकरियों, स्कूलों, कॉलेजों, अदालतों और उपाधियों का बहिष्कार किया जाय।

(3) स्त्रियाँ शराब, अफीम और विदेशी कपड़ों की दुकानों पर धरना दें।

(4) विदेशी वस्तुओं को जलाया जाय।

(5) सरकार को कर न दें।

कार्यक्रम के अनुसार गांधीजी ने 12 मार्च, 1930 ई. को अपनी प्रसिद्ध दाण्डी यात्रा प्रारम्भ की और 6 अप्रेल को समुद्रतट पर नमक बनाकर नमक कानून तोड़कर आन्दोलन का सूत्रपात किया। इसके साथ ही यह आन्दोलन सारे देश में फैल गया। हजारों लोगों ने गांधीजी का अनुकरण करते हुए नमक कानून को तोड़कर नमक बनाया। विदेशी वस्त्रों की होलियाँ जलाई गई। स्त्रियों ने पर्दा त्याग कर सत्याग्रह में भाग लिया और शराब व अफीम की दुकानों पर धरने दिये। किसानों ने कर चुकाने से इन्कार कर दिया। इस आन्दोलन से सरकार को गहरा धक्का लगा। आन्दोलन को अत्यन्त क्रूरता से कुचला गया। स्थान-स्थान पर लाठी-चार्ज और गोलियाँ चली। गांधीजी सहित 90 हजार लोग गिरफ्तार कर जेल में डाल दिये गये।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के समय ब्रिटिश सरकार ने भारतीय नेताओं से विचार विमर्श के लिये लन्दन में 12 सितम्बर 1930 ई. को प्रथम गोलमेज सम्मेलन आयोजित किया। कांग्रेस ने इसका बहिष्कार किया। अतः यह सम्मेलन असफल रहा। ऐसी स्थिति में सरकार ने देश में अच्छा वातावरण बनाने के लिए 26 जनवरी, 1931 ई. को गांधीजी को जेल से रिहा कर दिया। तेज बहादुर सप्रू और श्रीजयकर' के प्रयत्नों से 5 मार्च, 1931 ई. को 'गांधी और वाइसराय लार्ड इरविन के बीच एक समझौता हुआ जिसमें गांधीजी ने आन्दोलन स्थगित करने और द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में शामिल होने की बात स्वीकार कर ली तथा सरकार ने भी सभी राजनीतिक बन्दियों की उनकी जब्त की हुई सम्पत्ति लौटा दी। समझौते के अनुसार गांधीजी ने नवम्बर, 1931 ई. को द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भाग लिया। किन्तु साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर कोई समझौता नहीं हो सका। गांधीजी वापस भारत आ गये।

1932 ई. में गांधीजी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन पुनः आरम्भ कर दिया। सरकार ने दमनचक्र तेज कर दिया। कांग्रेस को गैर कानूनी संस्था घोषित कर दिया गया। गांधी सहित 20 हजार लोग जेलों में बन्द कर दिये गये। देश की बदली हुई परिस्थितियों में गांधीजी ने 7 अप्रेल, 1934 ई. को सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित कर दिया। बिना कारण आन्दोलन स्थगित किये जाने से बल्लभ भाई पटेल तथा सुभाष चन्द्र बोस आदि नेताओं ने गांधीजी की कटु आलोचना की। सरदार पटेल ने कहा कि **"गांधीजी ने पिछले तेरह वर्ष को मेहनत और कुर्बानियों पर पानी फेर दिया। गांधीजी द्वारा आन्दोलन स्थगित करना अपनी असफलताओं को स्वीकार करना था।" डॉ. आर. सी. मजूमदार के शब्दों में**

"गांधीजी द्वारा इस प्रकार आन्दोलन स्थगित करना एक भारी भूल ही न थी अपितु एक दुखदपूर्ण घटना थी। उन्हें लोगों के जीवन तथा धन-सम्पत्ति से इस अनुचित ढंग से खिलवाड़ करने का कोई अधिकार न था।"

साम्प्रदायिक पंचाट का विरोध—भारत की साम्प्रदायिक समस्या के समाधान के लिये ब्रिटिश प्रधानमन्त्री मेकडानल्ड ने 7 अप्रेल, 1932 में साम्प्रदायिक पंचाट की घोषणा की। जिसके अनुसार हरिजनों को भी ईसाईयों व मुसलमानों की भाँति अल्पसंख्यक मानकर, उन्हें अलग प्रतिनिधित्व देने की व्यवस्था की गई थी। यह व्यवस्था अंग्रेजों द्वारा दलित और शूद्र वर्ग को हिन्दुओं से अलग करके राष्ट्रीय आन्दोलन को निर्बल करने का षड्यन्त्र था। अतः गांधीजी ने इस पंचाट के विरुद्ध 20 सितम्बर, 1932 ई. को जेल में आमरण अनशन आरम्भ कर दिया। अन्त में हरिजन नेता डॉ. अम्बेडकर तथा गांधीजी के मध्य पूना जेल में एक समझौता हो गया जिसके अनुसार हरिजनों ने पृथक् प्रतिनिधित्व की मांग त्याग दी तथा व्यवस्थापिका सभा में हरिजनों के स्थान हिन्दू प्रतिनिधित्व के अन्तर्गत ही आरक्षित रखे गये।

भारतीयों को सन्तुष्ट करने के लिये ब्रिटिश सरकार ने 1935 ई. में भारत अधिनियम पारित किया, जिसके अन्तर्गत प्रान्तीय शासन भारतीयों को सौंप दिया गया। गांधीजी के कहने पर कांग्रेस ने 1937 ई. के चुनावों में भाग लिया और 8 प्रान्तों में अपने सन्त्रिमण्डल बनाये। इन मन्त्रिमण्डलों ने कांग्रेस के अनेक रचनात्मक कार्यों को क्रियान्वित किया। 1939 ई. में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने पर ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की सहमति बिना ही भारत को भी महायुद्ध में सम्मिलित कर लिया। ब्रिटिश सरकार की इस नीति के विरोध स्वरूप कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिये।

भारत छोड़ो आन्दोलन—कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र के बाद गांधीजी ने 1940 ई. में अंग्रेजों को युद्ध में सहायता न देने के लिये व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ कर दिया। हजारों व्यक्ति पुनः जेल गये। किन्तु युद्ध की बदली हुई परिस्थितियों में ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस से समझौता करने का प्रयत्न किया। इस कार्य के लिये 1942 ई. में सर स्टेफर्ड क्रिप्स भारत आये। 30 मार्च, 1942 ई. को क्रिप्स ने अपने प्रस्तावों की घोषणा करदी जिन्हें कांग्रेस ने अस्वीकार कर दिया और आन्दोलन पुनः आरम्भ हो गया। क्रिप्स मिशन की असफलता के बाद भारतीयों के समक्ष पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं था। अतः 8 अगस्त, 1942 ई. को कांग्रेस महासमिति ने बम्बई में 'भारत छोड़ो' को ऐतिहासिक प्रस्ताव पारित किया। इस प्रस्ताव में अंग्रेजों से तुरन्त भारत छोड़ने की मांग की गई और मांग के न मानने पर, गांधीजी के नेतृत्व में व्यापक अहिंसात्मक आन्दोलन चलाने का निर्णय लिया गया।

सरकार ने इस आन्दोलन को कठोरता से कुचलने का निर्णय लिया। 9 अगस्त को गांधीजी सहित अनेक कांग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार कर अज्ञात स्थान पर भेज दिया गया तथा कांग्रेस को अवैध संगठन घोषित कर दिया गया। नेतृत्व के अभाव में भी आन्दोलन तीव्र गति से चल पड़ा। सरकार ने हजारों व्यक्तियों को जेल में ठूंस दिया। आन्दोलन को कुचलने के लिये कई स्थानों पर गोलियां चलाई गई और लाठी चार्ज हुआ। सरकार के अत्याचारों के विरोध में अनेक स्थानों पर हिंसात्मक घटनायें हुई। सरकारी आंकड़ों के अनुसार इस आन्दोलन में 7000 व्यक्तियों की मृत्यु हुई। हिंसा की घटनाओं के विरोध में गांधीजी ने जेल में उपवास किया। 1944 ई. तक सरकार ने आन्दोलन को पूर्णतया दबा दिया। मई 1944 ई. में गांधीजी भी अस्वस्थता के कारण जेल से रिहा कर दिये गये। गांधीजी का यह आन्दोलन भी असफल रहा। फिर भी इसके महत्व के सम्बन्ध में डॉ. अम्बा प्रसाद ने लिखा है कि **"यद्यपि यह आन्दोलन भारत को स्वतन्त्रता नहीं दिला सका, तथापि इसने जनता में सरकार से मुकाबला करने की भावना उत्पन्न कर दी। इसने भारतीय स्वतन्त्रता के लिए पृष्ठभूमि तैयार की।"**

भारत की स्वतन्त्रता तथा साम्प्रदायिक दंगे— 1945 ई. में द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात इंगलैण्ड में नये चुनाव हुये जिसमें एटली के नेतृत्व में लेबर पार्टी ने सरकार बनाई। इस सरकार की भारत के साथ सहानुभूति थी। अतः ब्रिटिश सरकार ने भारत की समस्या का समाधान करने के लिये तीन सदस्यीय मन्त्रिमण्डल मिशन भारत भेजा जो 'कैबीनेट मिशन' के नाम से प्रसिद्ध है। इस मिशन ने भारतीय नेताओं से विचार-विमर्श के बाद 16 मई, 1946 ई को अपनी योजना की घोषणा की जिसमें एक अन्तरिम सरकार के निर्माण का प्रस्ताव किया गया। किन्तु कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने इस योजना को अस्वीकार कर दिया। मुस्लिम लीग मुसलमानों के लिये पृथक् राष्ट्र की मांग कर रही थी। तत्पश्चात् ब्रिटिश सरकार ने वेवल योजना के द्वारा भारत की समस्या को सुलझाने का प्रयास किया किन्तु साम्प्रदायिक तत्व के कारण किसी भी योजना को गांधीजी द्वारा स्वीकार नहीं किया गया। वे निरन्तर हिन्दू-मुस्लिम दंगों को शान्त करने की चेष्टा में लगे रहे और अखण्ड राष्ट्र के निर्माण का स्वप्न देखते रहे। अन्त में 3 जून, 1947 ई. को लार्ड माउण्टबेटन ने एक योजना प्रस्तुत की जिसके अनुसार भारत विभाजन की कीमत पर भारत को स्वतन्त्रता प्रदान करने का संकल्प व्यक्त किया गया। विवश होकर गांधीजी ने इस योजना को स्वीकार कर लिया क्योंकि स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये अन्य कोई विकल्प ही न था। सारा देश साम्प्रदायिकता की अग्नि में जल रहा था। अतः विभाजन को स्वीकार करना ही श्रेष्ठ समझा गया और जुलाई, 1947 ई. में ब्रिटिश संसद में भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम स्वीकार हुआ जिसके अनुसार 15 अगस्त, 1947 को भारत से ब्रिटिश राज्य समाप्त हो गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद साम्प्रदायिक दंगों की ज्वाला और तीव्र हो गयी। भारत और पाकिस्तान में भयंकर मारकाट हुई। गांधीजी ने नोआखाली और बिहार में स्थान-स्थान पर घूमकर शान्ति स्थापित की। इसके बाद उन्होंने साम्प्रदायिकता के विरुद्ध कलकत्ता में 72 घण्टे का उपवास किया। अन्त में 30 जनवरी, 1948 ई. को दिल्ली के बिरला मन्दिर की प्रार्थना सभा में जाते हुये नाथूराम गोडसे द्वारा चलाई गई गोली से उनकी मृत्यु हो गयी।

गांधीजी का राजनीतिक दर्शन

गांधीजी एक महान् राजनेता होने के साथ-साथ एक महान् सन्त और आध्यात्मिक आदर्शों के ज्योतिर्मय पुंज थे। अतः उनके राजनीतिक विचार भी आध्यात्मिकता के धरातल पर विकसित हुये। भारतीय राजनीति में उन्होंने जितने समय राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया, उतने ही समय वे राजनीति और आध्यात्मिकता का एक साथ प्रयोग करते रहे। उनके राजनीतिक चिन्तन के प्रमुख तत्व अधोलिखित हैं।

राजनीति का आध्यात्मीकरण—गांधीजी के राजनीतिक विचारों की सर्वोपरि देन राजनीति का आध्यात्मीकरण है। उनके विचार में राजनीति मानव-समुदाय के लिये कोई षड्यन्त्र या अभिशाप न होकर आशीर्वाद है। उनके अनुसार राजनीति अधिकारों को प्राप्त करने का साधन न होकर मानव समुदाय में स्वतन्त्रता और भाईचारे की भावना के विकास का हेतु है।

गांधीजी भारतीय संस्कृति के अनन्य पुजारी थे। उनके जीवन में भारतीय संस्कृति के आदर्श एकाकार हो चुके थे। प्राचीनकाल में भारतीय राजनीति धर्म और नैतिकता मे परिपूर्ण थी। इस काल में राजनीति धर्म से संयुक्त होकर संचालित होती थी किन्तु विदेशी प्रभाव से भारतीय राजनीति धीरे-धीरे धर्मच्युत होकर नैतिकता विहीन होती जा रही थी। गांधीजी ने भारतीय संस्कृति की प्रेरणा से राजनीति में पुनः धर्म का समावेश किया। उनकी राजनीति में धर्म और राजनीति अन्योन्याश्रित थी जिसका आधार प्रेम, सत्य, अहिंसा, नैतिकता, मानवता और त्याग थे। उनका कहना था कि **"जो यह कहते हैं कि धर्म राजनीति का कोई सम्बन्ध नहीं है वे यह नहीं समझते है कि धर्म क्या है धर्म से पृथक कोई राजनीति नहीं हो सकती, धर्म से पृथक् राजनीति तो मृत्यु जाल है क्योंकि यह आत्मा का हनन करती है।"** गांधीजी ने धर्म और राजनीति को संयुक्त कर भारतीयों को नैतिकता का पाठ पढ़ाया। उनके धर्म का आधार नैतिकता थी। अतः उनकी राजनीति में नैतिकता का स्थान सर्वोपरि था। वे मैक्यावली की इस धारणा को सत्य नहीं मानते थे कि राजनीति में उचित-अनुचित सभी साधन अपनाये जा सकते हैं। गांधीजी की मान्यता थी कि साध्य के साथ साध्य प्राप्ति के साधन का भी पवित्र होना

आवश्यक है। गांधीजी के शब्दों में "साधन बीज हैं और साध्य वृक्ष। मैं शैतान की उपासना करके ईश्वरोपासना का फल प्राप्त नहीं कर सकता।" उनके अनुसार अनुचित साधनों द्वारा इच्छित साध्यों की प्राप्ति असत्य है और यदि फल प्राप्ति हो भी जाय तो वह क्षण-भंगुर होती है। इस प्रकार गांधीजी ने अनैतिक और दूषित राजनीति को आध्यात्म के ऊँचे आदर्श पर प्रतिष्ठित कर दिया जिसमें लक्ष्य की पवित्रता के साथ उसे प्राप्ति के साधनों की पवित्रता भी अनिवार्य थी। विश्व को गांधीजी की यह सर्वोपरि राजनीतिक देन है।

सत्याग्रह और अहिंसा—सत्य और अहिंसा गांधीजी के आध्यात्मिक आदर्शों की पृष्ठभूमि और उनके राजनीतिक विचारों के आधार स्तम्भ थे। गांधी के लिये सत्य, ईश्वर और अहिंसा उनके लिये सबसे बड़ा शस्त्र था। उनका सम्पूर्ण जीवन सत्य और अहिंसा के व्यापक प्रयोगों की प्रयोगशाला था। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में सत्य और अहिंसा के आदर्शों का व्यापक प्रयोग किया। राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये उन्होंने सत्य के सर्वोच्च आदर्श के रूप में 'सत्याग्रह' की अवधारणा प्रतिपादित की। सत्याग्रह 'सत्य' और 'आग्रह' शब्दों से मिलकर बना है जिसका शाब्दिक अर्थ हैं सत्य के लिए आग्रह। जी. एन. धवन के अनुसार "सत्याग्रह का अर्थ है सम्पूर्ण आध्यात्मिक या नैतिक शक्ति से असत्य अथवा गलत बात का विरोध करना।" इस प्रकार सत्याग्रह वह कर्म है जिसमें नैतिक शक्ति के द्वारा सत्य की रक्षा की जाती है। गांधीजी ने इसे प्रेम-बल अथवा आत्म-बल भी कहा है। सत्य की रक्षा के लिये नैतिक शक्ति और दृढ़ता आवश्यक है। गांधीजी के अनुसार सत्य मार्ग का अनुसरण विरोधी पर हिंसा प्रयोग की स्वीकृति नहीं देता। अतः सत्याग्रह अहिंसा पर आधारित है। सत्याग्रही अपने विरोधी को कष्ट नहीं पहुँचाता और सदा तर्क द्वारा या तो उसकी बुद्धि को प्रेरित करता है या आत्म बलिदान द्वारा उसके हृदय को। गांधीजी की मान्यता थी कि व्यक्ति को अत्याचार का विरोध और सत्य की रक्षा मृत्युपर्यन्त करनी चाहिये क्योंकि उनके अनुसार इस संग्राम में मृत्यु मोक्ष होती है और कारागार स्वतन्त्रता का द्वार। अहिंसा पर आधारित होने के कारण सत्याग्रह दोहरा वरदान है। यह उसके लिये भी वरदान है जो इसका आचरण करता है तथा उसके लिए भी जिसके विरुद्ध इसका प्रयोग किया जाय। इस प्रकार सत्याग्रह एक ऐसा आध्यात्मिक शस्त्र है जो अहिंसा और प्रेम पर आधारित है।

गांधीजी भारतीय संस्कृति के अनन्य भक्त थे। अतः सत्य के साथ-साथ अहिंसा भी उनके जीवन और विचारों का आधार थी। अहिंसा का अर्थ किसी जीव को मन, वचन और कर्म से किसी प्रकार की क्षति न पहुँचाना एवं ईर्ष्या, क्रोध, घृणा और क्रूरता से बचना है। गांधीजी की अहिंसा, अन्याय के सामने झुकना नहीं बल्कि अवरोधात्मक प्रतिरोध सिखाती है। उनकी अहिंसा कायरता की नहीं बल्कि वीरता की निशानी है। उनकी दृष्टि में अहिंसा सच्चा आत्मबल और वह शक्ति है जिसके आधार पर अपने विरोधी को बिना क्षति पहुँचाये जीता जा सकता है।

गाँधीजी की दृष्टि में सत्य और अहिंसा मानव जीवन के उच्चतम आदर्श हैं। अतः उन्होंने इन आदर्शों को मानव जीवन के सभी क्षेत्रों में लागू किया। उन्होंने कहा कि सत्य और अहिंसा सामाजिक शांति, राजनीतिक व्यवस्था, धार्मिक समन्वय और पारिवारिक निर्माण का साधन है। इन्हीं आदर्शों के आधार पर उन्होंने हमारे राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व कर शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य का सामना किया और उन्हें भारत को स्वतन्त्र करने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार गाँधीजी द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में सत्य और अहिंसा का अधिष्ठान और सफल प्रयोग उनकी महत्वपूर्ण राजनीतिक देन है। इस सम्बन्ध में डॉ. राजेन्द्रप्रसाद ने कहा है कि **"गांधीजी ने राजनीति को एक ऐसे ऊँचे आदर्श पर पहुँचा दिया जिसमें कितने भी ऊँचे उद्देश्य के लिए किसी भी स्थिति में दोषपूर्ण एवं अपवित्र साधनों का उपयोग नहीं किया जा सकता। उन्होंने राजनीति में सच्चाई को गौरव के उच्च मंच पर आसीन किया है।"**

राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद—गाँधीजी के राजनीतिक दर्शन की अन्य महत्वपूर्ण विशेषता उनका उदार राष्ट्रवाद था। वे सच्चे देश-भक्त थे, देश की स्वतन्त्रता के लिए उन्होंने प्राणप्रण से संघर्ष किया, किन्तु उनका दृष्टिकोण उदार था। वे विशुद्ध मानवतावादी थे। उनके राष्ट्रवाद में अन्तर्राष्ट्रवाद निहित था। संकुचित स्वार्थों से ऊपर उठकर विश्व कल्याण और मानवता की सेवा उनका एकमात्र उद्देश्य था। उनका कहना था कि राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रवाद के विकास में बाधक नहीं होना चाहिए। उनके अपने शब्दों में **"मेरा लक्ष्य विश्व मैत्री है। हम विश्व-बन्धुत्वके लिए जीना और मरना चाहते हैं।"** उन्होंने आगे कहा—**"मैं अपने देश की स्वतन्त्रता इस कारण चाहता हूं कि अन्य राष्ट्र कुछ सीखें। मेरी राष्ट्रीयता उप-अंतर्राष्ट्रीयता है।"** उनके अनुसार एक व्यक्ति का राष्ट्रवादी हुए बिना अन्तर्राष्ट्रवादी होना असम्भव है।

इस प्रकार गाँधीजी के राजनीतिक सिद्धांत भी उच्च भाव भूमि पर प्रतिष्ठित और मानव कल्याण की महती भावना से परिपूर्ण थे।

राज्यविहीन आदर्श समाज की अवधारणा—गाँधीजी के राजनीतिक विचारों में सबसे महत्वपूर्ण विचार उनकी राज्यविहीन आदर्श समाज की अवधारणा है। उनकी मान्यता थी सत्य और अहिंसा के आदर्शों की पूर्ण स्थापना के बाद राज्य की आवश्यकता समाप्त हो जायेगी। ऐसे समाज में सरकार, जेल और दण्ड-व्यवस्था नहीं होंगी क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के हितों को ध्यान में रखकर अपने कर्तव्यों का निर्वहन करेगा। ऐसी व्यवस्था में सामाजिक जीवन बाहरी नियन्त्रणों के स्थान पर आंतरिक नियन्त्रणों से संचालित होगा। ऐसे समाज में छोटे-बड़े तथा आज्ञा देने और आज्ञा पालन करने जैसा कोई सम्बन्ध नहीं होगा। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना शासक और शासित होगा।

गांधीजी ने इस आदर्श समाज को रामराज्य की संज्ञा दी है। धार्मिक दृष्टिकोण से इसे पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य कहा जा सकता है। राजनीतिक दृष्टि से यह पूर्ण प्रजातन्त्र है। गांधीजी के अनुसार रामराज्य "ऐसा पूर्ण जनतन्त्र होगा जिसमें वर्ण, जाति, रंग, धर्म, लिंग, धनवान और निर्धन आदि सभी असमानतायें लोप हो जायेंगी। इसके अन्तर्गत सभी प्रकार का धन और भूमि नागरिकों की होगी। न्याय शीघ्र, निःशुल्क और पूर्ण रूप से मिलेगा और उसमें पूजा, भाषण और समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता होगी और यह सब कुछ स्वयं के नैतिक नियन्त्रण में स्थापित किया जायेगा।" गांधीजी के अनुसार शक्ति का केन्द्रीयकरण जनतन्त्र विरोधी धारणा है। उनके अनुसार राष्ट्र की राजनीतिक, प्रशासनिक और आर्थिक शक्ति के समान वितरण से ही रामराज्य सम्भव है। अतः उनके अनुसार ऐसे समाज में गांव से लेकर राष्ट्र तक का शासन विभिन्न समुदायों और व्यक्तियों द्वारा पारस्परिक सहयोग से चलाया जायेगा। गांधीजी के अनुसार "सत्ता का आरम्भ नीचे से होना चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक गाँव एक गणराज्य होगा। इसके पास पूरी सत्ता और ताकत होगी.......गाँव का शासन पाँच व्यक्तियों की एक पंचायत द्वारा संचालित होगा।" गांधीजी के अनुसार ऐसे समाज में धनी और निर्धन तथा शोषक और शोषित नहीं होंगे। सभी व्यक्ति समान और स्वतन्त्र होंगे। गांधीजी भारत की आर्थिक प्रगति के लिए ग्रामीण उद्योगों को पुनर्स्थापित करना चाहते थे। अतः उनकी मान्यता थी कि रामराज्य का आर्थिक संगठन कृषि और कुटीर उद्योगों पर आधारित होगा। रामराज्य गांधीजी का आदर्श था। किन्तु इस राज्य की स्थापना होने तक वे ऐसे राज्य को आवश्यक मानते थे जो व्यक्ति के जीवन में कम से कम हस्तक्षेप करे और जिसमें सभी नागरिकों को पूर्ण स्वतन्त्रता तथा सामाजिक और आर्थिक समानता प्राप्त हो।

गांधीजी का आध्यात्मिक आदर्शवाद

महात्मा गांधी का सम्पूर्ण जीवन आध्यात्मिक आदर्शों से ओतप्रोत था। वे आध्यात्मिक उत्थान के प्रतीक थे। एक राजनेता होते हुए भी मूल रूप में वे आध्यात्मिक पुरुष थे। उनके आध्यात्मिक आदर्शों की झांकी निम्न रूप में द्रष्टव्य है—

ईश्वर में विश्वास—गांधीजी की ईश्वर के अस्तित्व में असीम आस्था थी। उच्च शिक्षा प्राप्त करते हुए भी गांधीजी भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत थे और वे यह सहन नहीं कर सकते थे कि आधुनिक पीढ़ी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास न करे। उन्होंने लोगों को इस बात की प्रेरणा दी कि ईश्वर में आस्था और विश्वास हमारे जीवन को निखार देता है और हृदय में प्रकाश का सागर उँडेल देता है। उनके अनुसार ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वचिन्तक, अजन्मा,

परब्रह्म, निराकार तथा सर्व गुणवान है। दैनिक प्रार्थना ईश्वर के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करना है। वे ईश्वर की सत्ता को ही सर्वोपरि मानते थे। उन्होंने यह भी कहा कि **"सत्य ही ईश्वर है।"** इसके अतिरिक्त दरिद्रनारायण की सेवा को ही उन्होंने ईश्वरीय सेवा कहकर पुकारा। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की "मैं उस ईश्वर के अलावा जो लाखों दीन, हीन तथा मूक जनों में निवास करता है, अन्य किसी ईश्वर को नहीं मानता।" गाँधीजी ने ईश्वर का मानवीकरण कर धरती पर ब्रह्म उतार दिया था।

सत्य— गाँधीजी का सम्पूर्ण दर्शन ही सत्य और ईश्वर की धारणा पर अवलम्बित है। उन्होंने असत्य के पालन को मानव जीवन के लिए अभिशाप बताया और मन, वाणी तथा कर्म से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सत्य आचरण का उपदेश दिया। झूँठ व बेईमानी का गाँधीजी के दर्शन में कोई स्थान न था। सत्य उनके लिए राजनीतिक शस्त्र था जिसके बल पर उन्होंने स्वतन्त्रता आन्दोलन का नेतृत्व किया था। सत्य की सत्ता साक्षात ईश्वर थी। उन्होंने मानव मात्र के सम्मुख यह संदेश प्रसारित किया कि सत्य ही परमेश्वर है और परमेश्वर का सच्चा नाम सत्य है। सत्य ही उनके जीवन और जगत का आधार रहा।

नैतिकता व साधन की श्रेष्ठता—गाँधीजी की राजनीति में नैतिकता का स्थान सर्वोपरि था। वे मैक्यावली की इस धारणा को सत्य नहीं मानते कि राजनीति में उचित-अनुचित सभी साधन अपनाये जा सकते हैं। उनका विश्वास तो पवित्र साध्य को पवित्र साधनों द्वारा प्राप्त करने की नीति में था। उनके आदर्शों की बुनियाद नैतिकता पर आधारित थी। नैतिकता से विहीन साधन उनकी दृष्टि में अपवित्र थे, जिन्हें किसी भी कीमत पर नहीं अपनाना चाहिए। उन्होंने कहा कि एक की पवित्रता दूसरे को भ्रष्ट कर देती है अतः उत्तम साध्य की प्राप्ति के लिए उत्तम साधन ही अपनाने चाहिए। गाँधी के शब्दों में—**"बीज साधन है और साध्य वृक्ष। मैं शैतान की उपासना करके ईश्वरोपासना का फल प्राप्त नहीं कर सकता।"** गोपीनाथ धवन ने भी कहा है **"गांधीजी के दर्शन में साधन और साध्य एक स्थान पर प्रयुक्त होने वाले शब्द हैं।"**

कर्म व पुनर्जन्म का सिद्धांत—भारतीय धर्म और संस्कृति के आदर्शों का प्रभाव गांधीजी के जीवन पर पूर्णतया छाया हुआ है। वे कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांत में भी आस्था रखते थे और भारतीय जनता को इसी का सन्देश देते थे। उनके अनुसार कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धांत मानव को अच्छे कार्यों की प्रेरणा देता है एवं बुरे कार्यों को करने से रोकता है। उन्होंने कहा कि—**मैं अगले जन्म में भी उतना ही विश्वास करता हूँ जितना इस जन्म में। इसलिए मैं जानता हूं कि थोड़ा-सा प्रयत्न भी बेकार नहीं जायेगा।"** उनका विश्वास था कि कर्मों के आधार पर ही मनुष्य का पुनर्जन्म होता है।

अहिंसा— महात्मा गांधी भारतीय संस्कृति के पुजारी थे। अतएव सत्य के साथ-साथ अहिंसा के आदर्श को भी उन्होंने अपने जीवन का आधार बनाया। उनकी दृष्टि में अहिंसा में वह शक्ति है जो तोप, तलवार और बन्दूक में भी नहीं होती। अहिंसा कायरता की नहीं अपितु वीरता की निशानी है। अहिंसा सच्चा आत्म बल है जिसके आधार पर अपने विरोधियों को बिना किसी प्रकार का नुकसान पहुँचाये जीता जा सकता है। उन्होंने अहिंसा को मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लागू किया। उन्होंने कहा कि अहिंसा सामाजिक शांति, राजनीतिक व्यवस्था, धार्मिक समन्वय और पारिवारिक निर्माण का साधन है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को सत्य और अहिंसा के अस्त्रों का सहारा लेना चाहिए। ये मानव के उच्चतम नैतिक आदर्श हैं।

धार्मिक सहिष्णुता—गांधीजी और धर्म एक दूसरे में समाहित थे। गांधीजी ने धर्म को सांप्रदायिकता एवं रूढ़िवादिता की दीवारों से मुक्त करके वैज्ञानिकता का स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने विभिन्न अन्धविश्वासों एवं बाह्य आडम्बरों को धर्म से निकाल फेंका और कहा कि धर्म तो त्याग, सेवा एवं तपस्या में निहित है। धर्म मानव जीवन एवं संस्कृति का मूल आधार है। धर्म गांधीजी की आत्मा था। उन्होंने मानव जाति को सन्देश प्रदान किया कि धर्म में आस्था रखना मानव की उन्नति के लिए अपरिहार्य है। किन्तु गांधीजी का धर्म संकीर्णता के घेरे में घिरा हुआ नहीं था। उनका धर्म सार्वभौम धर्म था। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, प्रेम, सेवा आदि मानव जीवन के सार्वभौमिक मूल्य गांधीजी के धर्म और दर्शन का सार स्वरूप थे और इन्हीं को अपनाने का उन्होंने मानव जाति को उपदेश दिया। गांधीजी धार्मिक सहिष्णुता के प्रतिपादक थे। उनकी प्रार्थना सभा में "रघुपति राघव राजा राम, पतित पावन सीता राम। ईश्वर अल्लाह तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान।" नामक धुन का गायन होता था। गीता के कर्मयोग सिद्धांत पर उन्हें अटूट आस्था थी। वे सब धर्मों की अच्छी बातों को ग्रहण करने के पक्ष में थे। हिन्दू धर्म की सहिष्णुता के प्रति उन्होंने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये थे—"हिन्दू धर्म संकुचित धर्म नहीं है। इसमें संसार के समस्त पैगम्बरों की पूजा के लिए गुन्जाइश है। हिन्दू धर्म तो एक प्रकार से यह कहता है कि तुम अपने विश्वास और धर्म के अनुसार ईश्वर का भजन-पूजन करो और इस प्रकार यह समस्त दूसरे धर्मों के साथ मेलजोल से रहता है।"

गांधीजी समाज सुधारक के रूप में

गांधीजी एक महान् राष्ट्रीय राजनेता होने के साथ एक महान समाज सुधारक भी थे। उनका उद्देश्य व्यक्ति के जीवन का सर्वांगीण विकास करना था।

अतः उन्होंने अपने चिन्तन से भारतीय समाज को एक नवीन दिशा प्रदान की। वे जीवन पर्यन्त भारतीय समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने के लिये प्रयत्नशील रहे।

जन्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था का विरोध—गांधीजी वर्ण व्यवस्था को हिन्दुओं के सामाजिक संगठन का आधार मानते थे। किन्तु वे इस व्यवस्था के वैदिक दृष्टिकोण पर विश्वास करते थे जिसमें वर्ण कर्म के अनुसार निर्धारित होता था। आधुनिक युग में जन्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था के वे कटु आलोचक थे। उनके अनुसार वर्ण का अर्थ व्यवसाय के चुनाव का आधार है न कि सामाजिक स्थिति का। गांधीजी की मान्यता थी कि वर्ण हमारे अधिकारों का नहीं बल्कि कर्त्तव्यों का प्रतीक है और वर्ण का जाति प्रथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। गांधीजी के अनुसार जन्म से निर्धारित वर्ण के अधिकारों के प्रयोग के लिये उससे सम्बन्धित कर्त्तव्यों का पालन आवश्यक है। उनके अनुसार कार्यों की श्रेष्ठता और निम्नता के आधार पर ऊँच-नीच के भेद की स्थापना अनुचित है।

अस्पृश्यता का निवारण और हरिजनोत्थान—महात्मा गांधी ने सामाजिक क्षेत्र में जो सर्वाधिक क्रान्तिकारी और महत्वपूर्ण सुधार किया वह था अस्पृश्यता का निवारण और हरिजनोत्थान। समाज के दलित और अछूत वर्ग को ऊपर उठाने में गांधीजी ने महान् योगदान दिया। हिन्दू समाज जो सदियों से छूआछूत और ऊँच-नीच के भेद-भावों से विषाक्त बना हुआ था। गांधीजी ने उसे पुनः उज्ज्वल रूप प्रदान किया। मानव-मानवको समाज में समानता का दर्जा दिलाने में गांधीजी का योगदान अकथनीय है। गांधीजी अस्पृश्यता के घोर विरोधी थे। वे अस्पृश्यता को ईश्वरकृत न मानकर मानवकृत मानते हैं। उनका कहना था कि "**अस्पृश्यता के मूल में धर्म नहीं, दुर्बल को अपमानित करने की हिंसावृत्ति है। यह न तो पूर्व जन्म के कर्मों का फल है, न यह ईश्वरकृत है बल्कि यह स्वयं हिन्दूकृत है।**" गांधीजी निम्न वर्ग के लोगों के लिये दलित या अछूत शब्द के प्रयोग के विरोधी थे। इसीलिये गांधीजी ने उनके लिये '**हरिजन**' शब्द का प्रयोग किया। वे जीवन पर्यन्त अछूतों के उद्धार के लिये प्रयत्नशील रहे। गांधीजी अस्पृश्यता को राष्ट्रीय एकता में बाधक मानते थे। उनका कहना था कि अस्पृश्यता की भावना का समूल नाश राष्ट्रीय समस्याओं के शाश्वत निदान के लिये परमावश्यक है। गांधी के प्रयत्नों से ही कांग्रेस ने अछूतोद्धार को अपने कार्यक्रम में सम्मिलित किया। अछूतों के सामाजिक, शैक्षणिक और आर्थिक स्तर को ऊँचा उठाने तथा अस्पृश्यता के विरुद्ध जनमत तैयार करने के लिये उन्होंने '**हरिजन सेवक संघ**' की स्थापना की और '**हरिजन**' नामक समाचार-पत्र निकाला। गांधीजी स्वयं हरिजन बस्ती में रहते थे और हरिजनों के साथ खान-पान तथा उठने-बैठने को प्रोत्साहित करते थे। एक बार उन्होंने कहा था "**मैं फिर जन्म लेना नहीं चाहता, किन्तु यदि मुझे जन्म लेना ही पड़े, तो मैं एक हरिजन** बनना पसन्द करूंगा ताकि उनके **कष्टों, क्लेशों आदि में हिस्सा ले सकूं तथा**

अपने को उबार सकूँ। गांधीजी के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप दलित और अछूत वर्ग की स्थिति में परिवर्तन आया। उन्हें मन्दिरों, स्कूलों और सार्वजनिक स्थलों पर निर्बाध गमन की स्वतन्त्रता प्रदान की गई। गांधीजी के प्रयत्नों का ही फल है कि भारतीय संविधान में अस्पृश्यता को गैर कानूनी घोषित कर दिया गया है तथा दलित और अछूत वर्ग को विशेष सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। गांधीजी सच्चे अर्थों में दलित वर्ग के उद्धारकर्त्ता थे।

हिन्दू समाज में व्याप्त ऊँच-नीच तथा जातिगत असमानता के साथ-साथ गांधीजी अन्य सम्प्रदायों के साथ भेदभाव के भी विरोधी थे। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के समर्थक थे। उनकी प्रार्थना के ये शब्द "ईश्वर अल्लाह तेरे नाम" उनकी इसी भावना के प्रतीक हैं।

स्त्री उत्थान—भारतीय स्त्रियों की स्थिति सुधारने के क्षेत्र में भी गांधीजी ने महत्वपूर्ण कार्य किये। उन्होंने स्त्री शिक्षा के विकास तथा उन्हें समाज में समानता का अधिकार दिलाने का निरन्तर प्रयत्न किया। गांधीजी के अनुसार स्त्रियाँ पुरुषों के समकक्ष तथा अहिंसा एवं प्रेम की प्रतिमूर्ति हैं। वे स्त्री और पुरुष को समाज रूपी रथ के दो पहिये मानते हैं। उनके अनुसार नारी और पुरुष एक-दूसरे के पूरक हैं अतः नारी को भी पुरुष के समान अधिकार और स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। स्त्री को अबला कहना उसका अपमान करना है। गांधीजी ने नारी को पुरुष की निर्मात्री और पथ प्रदर्शिका के रूप में माना है और कई अर्थों में उसे पुरुष से भी अधिक शक्तिशाली माना है। एक बार उन्होंने कहा था "नारी त्याग की मूर्ति है, जब वह कोई कार्य सही और शुद्ध भावना से करती है तो पहाड़ों को भी हिला देती है। मैंने नारी को सेवा और त्याग की भावना का अवतार मानकर उसकी पूजा की है।" गांधीजी स्त्री शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। उनकी मान्यता थी कि स्त्री शिक्षा के बिना समाज का विकास असम्भव है। उनके अनुसार भारत की मुक्ति उसकी स्त्रियों की जागृति पर ही अवलम्बित है। भारतीय स्त्रियों को प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक क्षेत्र में लाने का श्रेय भी गांधीजी को ही है। उन्हीं की प्रेरणा से भारतीय स्त्रियों ने पर्दा तथा घर की चार दीवारी लाँघ कर स्वतन्त्रता आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया। अनेक स्त्रियों ने सत्याग्रह में भाग लिया, लाठियाँ खाईं और जेल भी गईं। इस प्रकार गांधीजी ने स्त्रियों के विकास में अतुलनीय योगदान दिया।

अन्य सामाजिक बुराइयों का विरोध—गांधीजी विशुद्ध समाज निर्माण का स्वप्न देखते थे। अतएव उन्होंने अस्पृश्यता निराकरण एवं स्त्रियों की शिक्षा के विकास और समानाधिकारों के लिये ही प्रयास नहीं किये अपितु अन्य सामाजिक बुराइयों पर भी तीक्ष्ण प्रहार किये। महात्मा गांधी ने बाल विवाह, पर्दाप्रथा और दहेज प्रथा के विरुद्ध प्रबल आवाज उठाई और विधवा विवाह का समर्थन किया। गांधीजी के अनुसार लड़कियों का विवाह उनका पूर्ण विकास होने पर होना चाहिये।

पर्दा-प्रथा को भी वे स्वास्थ्य के लिये हानिकारक मानकर उसे त्याग देने की सलाह देते थे। इसी प्रकार गांधीजी दहेज प्रथा को भी समाप्त करना चाहते थे क्योंकि उनके अनुसार यह प्रथा व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में विष घोलती है। विधवा-विवाह के पक्ष में उनका कहना था कि **"स्वेच्छापूर्वक विधवा रहना हिन्दू धर्म की एक अमूल्य देन है किन्तु धर्म या प्रथा द्वारा लादा गया वैधव्य एक अभिशाप है जो धर्म को नीचा गिराता है। यदि हमें हिन्दू धर्म को बचाना है तो लादे हुये वैधव्य के जहर को निकाल डालना चाहिये।"**

गांधीजी नशीली वस्तुओं के प्रयोग, मुख्यतः मद्यपान के घोर विरोधी थे। भारत जैसे निर्धन देश के लोगों के लिये वे शराब का सेवन सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक दृष्टि से अहितकर मानते थे। अतः उन्होंने अपने लेखों और भाषणों के द्वारा इस व्यसन की कड़ी आलोचना की। उनका कहना था कि शराब जहर से भी अधिक खतरनाक है क्योंकि जहर से केवल शरीर मरता है जबकि शराब से शरीर और आत्मा दोनों मर जाती हैं। उन्होंने अपने-अपने राजनीतिक आन्दोलनों में भी नशाबन्दी पर विशेष जोर दिया। सविनय अवज्ञा आन्दोलन में स्त्रियों ने शराब और अफीम की दुकानों पर धरने दिये। गांधी के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप ही स्वतन्त्र भारत में विभिन्न सरकारों ने नशाबन्दी के लिये अनेक कदम उठाये हैं।

गांधीजी के आर्थिक विचार

मानव जीवन के सर्वांगीण विकास के अन्तर्गत गांधीजी ने आर्थिक क्षेत्र में भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। वे आर्थिक विषमता को समाज के लिये घातक मानते थे। अतः उन्होंने धन-संग्रह की प्रवृत्ति तथा पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का विरोध किया। किन्तु गांधीजी आर्थिक विषमता को दूर कर अमीरी-गरीबी की खाई पाटने के लिये शक्ति प्रयोग के समर्थक नहीं थे। इस सम्बन्ध में उनके विचार साम्यवादियों से भिन्न थे। वे पूँजीपतियों से जबरदस्ती धन छीनने के पक्ष में नहीं थे। गांधीजी ने आर्थिक विषमता दूर करने जैसे कार्य के लिये नैतिकता और प्रेम को अपना आधार बनाया। उनकी मान्यता थी कि यदि आर्थिक विचारों को नैतिक आधार प्रदान कर दिया जाय तो समाज के अधिकांश दोष स्वयंमेव समाप्त हो जायेंगे। नैतिक साधनों से पूँजीपतियों से धन निष्कासन के लिये उन्होंने ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उन्होंने कहा कि पूँजीपति स्वयं को धन का स्वामी न समझकर मात्र संरक्षक (ट्रस्टी) समझें और उसमें मे उतना ही धन खर्च करें जितना उनकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं हेतु जरूरी हो। शेष सम्पत्ति को वह समाज की धरोहर मानकर उसे समाज के कल्याण हेतु खर्च करें। गांधीजी धनार्जन के विरुद्ध नहीं थे। उन्होंने कहा था कि "हम अहिंसक उपाय (ट्रस्टीशिप) **द्वारा पूँजीवाद को नष्ट करना चाहते हैं। हम पूँजीपतियों को निमन्त्रण देते हैं कि वे अपने को उन लोगों का संरक्षक मान लें जिनके परिश्रम से वे अपना धन कायम रखने और बढ़ाने के लिये आश्रित हैं।"** इस प्रकार गांधीजी पूँजीपतियों के

हृदय परिवर्तन के द्वारा आर्थिक विषमता को समाप्त करना चाहते थे। गांधीजी का ट्रस्टीशिप का विचार आर्थिक क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त है।

गांधीजी आधुनिक भौतिकवादी युग में विकसित औद्योगीकरण के तीव्र विरोधी थे : उनकी मान्यता थी कि औद्योगीकरण तथा मशीनों के बढ़ते हुये प्रयोग ने मानव को न सिर्फ आलसी बनाया है अपितु उसने आर्थिक विषमता और अनेक सामाजिक बुराइयों को भी जन्म दिया है। उनका दृढ़ विश्वास था कि भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले देश के लिये औद्योगीकरण लाभप्रद नहीं हो सकता क्योंकि इससे जनसंख्या का अधिकांश भाग बेरोजगार हो जायेगा। वे भारत के लिये ऐसी उत्पादन प्रणाली को आवश्यक मानते थे जिसमें बहुसंख्यक लोगों को रोजगार प्राप्त हो सके। अतः उन्होंने विकेन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था का समर्थन किया। गांधीजी के मतानुसार आर्थिक शक्ति के समान वितरण के बिना स्वराज्य की स्थापना असम्भव है। आर्थिक विकेन्द्रीकरण लोकतन्त्र का आधार प्रस्तुत करता है। इससे मानव जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन और विनियमन भी स्वतः हो जाता है। उनके अनुसार आर्थिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ प्रत्येक गांव का स्वावलम्बी होना है। उनकी मान्यता थी कि भारत की आर्थिक प्रगति के लिये ग्रामीण उद्योगों का पुनर्गठन करना आवश्यक है। देश के आर्थिक संगठन का मुख्य आधार कुटीर उद्योग ही होना चाहिये जिसमें प्रत्येक श्रमिक अपना स्वामी होगा।

गांधीजी के उक्त विचारों का यह आशय कदापि न था कि वे मशीनों के पूर्णतया विरोधी थे। औद्योगीकरण के विरुद्ध होते हुए भी वे उस सीमा तक मशीनों के प्रयोग को आवश्यक मानते थे जहाँ तक वे समाज के हित में बाधक न बने। इस दृष्टि से वे कुटीर उद्योग-धन्धों के समर्थक थे जिनके द्वारा भारत की बेरोजगारी की समस्या को हल किया जा सके। वे भारी मात्रा में मशीनों के प्रयोग के विरुद्ध थे क्योंकि उनके द्वारा पूंजीवादी व्यवस्था का विकास होता है।

गांधीजी के शिक्षा सम्बन्धी विचार

गांधीजी आदर्शवादी विचारक होने के साथ व्यवहारिक महापुरुष भी थे। वे इस तथ्य से पूर्ण परिचित थे कि देश के सर्वांगीण विकास और उज्ज्वल भविष्य के लिए भावी सन्तति को समुचित शिक्षा देना आवश्यक है। गांधीजी अपने युग में प्रचलित पाश्चात्य शिक्षा के विरोधी थी। उनके अनुसार पाश्चात्य शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को आलसी बनाना तथा क्लर्कों की फौज खड़ी करना मात्र है। गांधीजी के अनुसार अक्षर ज्ञान वास्तविक शिक्षा नहीं है। उनके अनुसार शिक्षा का अभिप्रायः है—मानव में अन्तर्निहित श्रेष्ठ गुणों का विकास। गांधीजी के अनुसार शरीर, बुद्धि और आत्मा तीनों का विकास ही वास्तविक शिक्षा है। गांधीजी का कथन है—"साक्षरता स्वयं में कोई शिक्षा नहीं है इसलिये मैं तो बालक की शिक्षा उसे कोई उपयोगी दस्तकारी सिखाकर शुरू करना पसन्द करूंगा जिससे जिस क्षण वह अपनी तालीम शुरू करेगा उसी क्षण से उत्पादन करने लगेगा।" अतः देश की भावी पीढ़ी के सर्वांगीण विकास तथा उसे स्वावलम्बी बनाने के उद्देश्य से उन्होंने

प्राथमिक शिक्षा की एक क्रान्तिकारी योजना प्रस्तुत की जिसे **'बुनियादी शिक्षा योजना** अथवा **'वर्धा शिक्षा योजना'** कहा जाता है। इस शिक्षा योजना की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित थीं—

(1) प्राथमिक शिक्षा की अवधि सात वर्ष हो जिसमें अंग्रेजी को छोड़कर मैट्रिक स्तर तक सामान्य ज्ञान का पाठ्यक्रम हो।

(2) इसके साथ ही एक लाभप्रद उद्योग के शिक्षण की व्यवस्था भी हो ताकि छात्र और छात्राएँ शिक्षण समाप्त करने के उपरान्त अपनी आजीविका कमाने में समर्थ हो सके।

(3) उच्च शिक्षा निजी क्षेत्र के लिए छोड़ दी जाय।

(4) यह शिक्षा जहाँ तक सम्भव हो आत्मनिर्भर हो।

अक्टूबर, 1936 ई. में वर्धा में अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् का अधिवेशन गाँधीजी के सभापतित्व में हुआ जिसमें ये प्रस्ताव पारित हुए—

(1) सम्पूर्ण राज्य में 14 वर्ष तक के बालकों को अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा प्रदान की जाये।

(2) शिक्षा का माध्यम मातृ भाषा हो।

(3) शिक्षा में शारीरिक एवं तकनीकी ज्ञान की शिक्षण व्यवस्था हो अर्थात् किसी न किसी उद्योग के प्रशिक्षण का प्रावधान हो।

(4) बच्चों के प्रवेश की आयु 7 वर्ष हो और 7 वर्ष के शिक्षण की समाप्ति पर बच्चे का ज्ञान स्तर अंग्रेजी को छोड़कर अन्य विषयों में मैट्रिक के बराबर हो। बाद में डॉ. जाकिर हुसैन समिति ने इस शिक्षा योजना में कई संशोधन किये।

गाँधीजी का उपर्युक्त शिक्षा योजना लागू करने का उद्देश्य भारत में निरन्तर बढ़ती जा रही बेकारी की समस्या को हल करना तथा युवक-युवतियों को स्वावलम्बी बनाना था। गाँधीजी नहीं चाहते थे कि भारत की वर्तमान पीढ़ी शिक्षा समाप्ति पर भी डिग्रियों के पुलिन्दे लिए बेरोजगारी की समस्या को बढ़ाती रहे और दिशाविहीन बनी रहे। वे शिक्षा के साथ रोजगार का समावेश चाहते थे। उनकी वर्धा शिक्षा योजना भी इसी भावना का परिणाम थी।

पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली के साथ गांधीजी शिक्षा के अंग्रेजी माध्यम के भी विरोधी थे। उनकी मान्यता थी कि मातृभाषा में शिक्षा देने से ही व्यक्ति का समुचित विकास हो सकता है। मातृभाषा में शिक्षा देने के वे प्रबल समर्थक थे। एक बार उन्होंने कहा था **"मुझे यह बरदाश्त नहीं होगा कि हिन्दुस्तान का एक भी आदमी अपनी मातृभाषा को भूल जाय, उसकी हँसी उड़ाये, उससे शरमाये या उसे ऐसा लगे कि वह अपने अच्छे से अच्छे विचार अपनी भाषा में प्रकट नहीं कर सकता।"**

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन के पश्चात् हम कह सकते हैं कि गाँधीजी केवल राजनीतिज्ञ ही नहीं वरन् महान समाज सुधारक और भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के उद्धार-कर्त्ता थे। **डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार, "गाँधीजी की सबसे बड़ी देन वह अनोखा तरीका है जो उन्होंने बुराई से लड़ने के लिए बताया।"** अहिंसा और सत्य की नींव पर भारतीय स्वाधीनता का जो भव्य महल उन्होंने खड़ा किया, सत्याग्रह के पथ पर

चलते हुए बड़ी से बड़ी आपत्ति का सामना किया, यह सिर्फ उन्हीं के सामर्थ्य की वस्तु थी। यद्यपि उनके इन आदर्शों को कुछ राजनीतिज्ञ व्यवहारिकता से कोसों दूर बताते हैं। तथापि अब वह समय बीत चुका है और विरोधियों ने अपनी भ्रान्ति स्वीकार कर ली है। गाँधीवाद को हम सिर्फ सनकियों का विचार-दर्शन, कायरों की अहिंसा का पोषक, बालू पर बनाया गया दर्शन का महल और पूर्णतया अव्यावहारिक नहीं कह सकते। उन्होंने जो कुछ किया, मानवता की हित साधना के लिए किया।

गांधीजी ने उस राजनीति को जिसका मुख कौटिल्य एवं मैक्यावली जैसे लेखकों ने काला कर दिया था, पूर्ण चन्द्र की शुभ्र धवल ज्योत्सना से जगमगा दिया है तथा बर्फ के समान सफेद कर दिया है। उन्होंने मानव जीवन के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक सभी पहलुओं को स्पर्श किया और प्रत्येक में अपने व्यक्तित्व की छाप डाली। डॉ. के. एम. मुन्शी ने उनके कृतित्व के बारे में कहा है कि "उन्होंने अराजकता पाई और उसे व्यवस्था में परिवर्तित कर दिया। कायरता पायी और उसे साहस में बदल दिया और बिना किसी प्रकार की हिंसा या सैनिक शक्ति का प्रयोग किये साम्राज्यवादी शक्ति के बन्धनों का अन्त कर दिया तथा विश्व शक्ति को जन्म दिया। इससे अधिक न तो कोई व्यक्ति कुछ कर सका है और न कर सकता है।" उनके आदर्श सर्वहिताय की मंगलमयी भावना से परिपूर्ण थे। इसी कारण विश्व के विभिन्न विद्वानों ने उनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। इमरसन के अनुसार— "महान् व्यक्ति ज्ञानी और कर्मयोगी होते हैं। गाँधीजी भी इन तीनों की प्रतिमूर्ति थे।" रोमा रोला के शब्दों में—गाँधी जी ही केवल भारत के राष्ट्रीय इतिहास के ऐसे नायक हैं जिनकी किवदन्तियाँ युगों तक प्रसिद्ध रहेंगी। उन्होंने मानवता के सन्तों और महात्माओं में अपना स्थान प्राप्त किया है और उनके व्यक्तित्व का प्रकाश सम्पूर्ण विश्व में फैल हुआ है।" विश्वनाथ वर्मा के अनुसार—"गाँधीजी का भारतीय इतिहास में वही स्थान है, जो अमेरिका में वाशिंगटन व जेफरसन का है। वे लोत्स-सो, बुद्ध, जरथ्रुष्ट तथा सन्तपाल की तरह पैगम्बर भी थे।"

प्रसिद्ध विद्वान आइन्सटीन ने महात्मा गांधी के बारे में कहा है कि "आने वाली पीढ़ियाँ शायद मुश्किल से ही यह विश्वास कर सकेंगी कि गाँधी जैसा हाड़ मांस का पुतला कभी इस धरती पर हुआ होगा। गाँधी इन्सानों में एक चमत्कार के समान थे।" उनकी मृत्यु पर डॉ. स्टेनले जोन्स ने कहा था "हत्यारे की गोलियाँ महात्मा गांधी और उनके विचारों का अन्त करने के लिये चलाई थी, किन्तु फल यह हुआ कि ये विचार स्वच्छन्द बन गये और मानव जाति की धरोहर बन गये? मृत्यु से वह अपने जीवन की अपेक्षा अधिक अमर हो गये।" इसी समय अमेरिकी राजदूत चेस्टर जोन्स ने कहा था "संसार के इतिहास में किसी व्यक्ति की अर्थी के साथ आज तक इतने व्यक्ति शोकातुर होकर नहीं गये जितने महात्मा गाँधी के साथ। राजा न होते हुए भी उनका राजाओं से कई गुणा सम्मान किया गया। गाँधीजी न केवल भारत बल्कि संसार की महान विभूति थे।"

18

विज्ञान और जन-जीवन पर उसका प्रभाव

(Science and its impact on Life)

—आधुनिक युग विज्ञान का युग है। विज्ञान के नवीन आविष्कारों ने विश्व के मानव जीवन में अभूतपूर्व क्रान्ति ला दी है। विज्ञान के उत्कर्ष ने मानव जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया है। वर्तमान युग में विज्ञान मानव जीवन में इस प्रकार सम्मिलित हो गया है कि विज्ञान के अभाव में मानव जीवन की निरन्तरता असम्भव प्रतीत होती है। जहाँ तक दृष्टि जाती हैं सर्वत्र विज्ञान का साम्राज्य दिखाई देता है। विज्ञान की सहायता से मनुष्य ने भौतिक शक्तियों पर नियन्त्रण कर लिया है। विज्ञान ने प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को मानव के समक्ष प्रकट कर दिया है। प्राकृतिक शक्तियाँ विज्ञान के सहयोग से मानव की सहचर और अनुचर बन चुकी हैं। मानव की सम्पूर्ण दिनचर्या में विज्ञान ही विज्ञान दिखाई पड़ता है। आज से कई वर्षों पूर्व मानव विज्ञान के आविष्कारों से चमत्कृत होता था। परन्तु आज ये वस्तुयें मावन जीवन का आवश्यक अंग बन चुकी है। सुबह जगाने वाली अलार्म से लेकर सोने के समय हवा तथा उष्णता देने वाले पंखें, कूलर और हीटर विज्ञान की ही देन है। आज मनुष्य के पास दूरियाँ तय करने के लियें मोटर, रेल, जलयान, वायुयान जैसे द्रुतगमी साधन है। विशाल कारखानें मानव जीवन को सुखद बनाने के लिये विविध वस्तुओं का उत्पादन करने में संलग्न हैं। ट्यूव वैल, और नहरें सिंचाई कर रही है। रासायनिक खाद कृषि उत्पादन बढ़ा रहे हैं। विज्ञान के द्वारा खोजी हुई जीवनदायिनी औषधियों ने प्राणघातक रोगों पर विजय पा ली है। एक्सरे द्वारा रोगों का पता लगाया जाता है और शल्य क्रिया द्वारा उनका निदान किया जाता है। सिनेमा, रेडियों, टेलीविजन, टेपरिकार्ड, वीडियो और समाचार पत्र हमारे मनोरंजन तथा देश-विदेश में होने वाली घटनाओं की जानकारी के प्रमुख स्रोत है। विद्युत मानव की सहचरी बन कर वायु, प्रकाश, गर्मी, सर्दी और वर्षा आदि की प्राकृतिक आवश्यकताओं को पूरा कर रही है। इस प्रकार विज्ञान मानव जीवन पर इस प्रकार आच्छादित है कि उसके विना उसका

काम ही नहीं चल सकता। आधुनिक युग में विज्ञान से सम्बन्ध विच्छेद का अर्थ होगा, मानव जीवन को अपंग, असहाय और विवश बनाना।

परन्तु विज्ञान की यह उपलब्धियां पिछली दो शताब्दियों की देन है। यद्यपि मानव अपने आविर्भाव के समय से ही अपने जीवन को सुविधाजनक बनाने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहा है। परन्तु प्राचीन काल में उसके ज्ञान की परिधि अत्यन्त सीमित थी। इस युग में मनुष्य ने अपने साधारण उपयोग की वस्तुओं के आविष्कार तक ही अपने ज्ञान और शक्ति का प्रयोग किया था। अतः दीर्घकाल तक वह इस क्षेत्र में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं ला सका। अतः लोह युग से 18 वीं शताब्दी के पूर्वार्घ तक उसके जीवन में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्घ तक उसका जीवन सामान्यतः वैसा ही था जैसा अशोक और अकबर के काल में था। 18वीं शताब्दी में हल, बैल, खुरपी और दरांती किसान के मुख्य यन्त्र थे। सूत कातने तथा कपड़ा बुनने के लिये लकड़ी के चरखें और करघे प्रचलित थे। पशुओं द्वारा ढोयी जाने वाली गाड़ियां यातायात का प्रमुख साधन थी। घोड़ा उस समय की द्रुतगामी सवारी थी। नदियों और समुद्र को पार करने वाली नौकायें चप्पूओं तथा पाल की सहायता से चलाई जाती थी। परन्तु 18वीं शताब्दी के उत्तरार्घ में इंगलैण्ड में आरम्भ हुई औद्योगिक क्रान्ति ने मनुष्य के जन-जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया। इस समय इंगलैण्ड में अनेक वैज्ञानिक आविष्कार हुये जो शीघ्र ही समस्त विश्व में व्याप्त हो गये। इस युग में मानव ने प्रकृति के अनेक तत्वों का अध्ययन और विश्लेषण कर अपने जीवन को और अधिक सुविधा जनक बनाने के लिये अनेक यन्त्रों का आविष्कार कर लिया। वैज्ञानिक विकास का यह चक्र उस समय से आज तक निरन्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर है।

इस वैज्ञानिक प्रगति ने केवल मानव के जीवन को सुविधा सम्पन्न और आनन्ददायक ही नहीं बनाया वरन् इसने मानव जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और वैचारिक क्षेत्र को भी गहराई तक प्रभावित किया है। वैज्ञानिक आविष्कारों से जन्य नवीन परिस्थितियों ने मानव की सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप बदल दिया। आर्थिक क्षेत्र में नवीन आर्थिक व्यवस्थाओं का जन्म हुआ। राजनीतिक क्षेत्र में राजतन्त्र के स्थान पर लोकतन्त्रों की स्थापना हुई। नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों ने वैचारिक क्षेत्र में अनेक नवीन विचारधाराओं और वादों को जन्म दिया है। इस प्रकार मानव जीवन की समस्त क्रियाएं वैज्ञानिक आविष्कारों से प्रभावित हैं।

विज्ञान का क्षेत्र अति व्यापक है। जहां मानव प्रकृति के विभिन्न साधनों को परिष्कृत कर अपनी इच्छानुसार प्रयोग करता हैं और जहां प्रकृति के नियमों का अध्ययन कर उसका समुचित प्रयोग करता है, वहां सर्वत्र विज्ञान व्याप्त है। इस प्रकार विज्ञान सर्वतोमुखी है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इस वैज्ञानिक ज्ञान को अनेक शाखाओं—भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, प्राणी शास्त्र.

वनस्पतिशास्त्र, चिकित्सा शास्त्र आदि में विभाजित किया गया है। परन्तु समूचा विज्ञान एक समग्र इकाई है। विज्ञान की सभी शाखाए परस्पर अन्योन्याश्रित है। चिकित्सा शास्त्र में रसायन शास्त्र और भौतिक शास्त्र का महत्वपूर्ण योगदान है।

भौतिक शास्त्र का योगदान

मानव जीवन को सुविधा सम्पन्न बनाने में भौतिक शास्त्र का अत्यधिक योगदान है। आज मानव का जीवन भौतिक शास्त्र के प्रभावों से ओतप्रोत है। भौतिक शास्त्र की उपलब्धियों ने ही पाषाण युगीन असभ्य मानव को अन्तरिक्ष युग में पहुँचा दिया है। भौतिक शास्त्र ने मानव जीवन के अनेक क्षेत्रों को प्रभावित किया है किन्तु निम्नलिखित क्षेत्रों में उसका प्रभाव अधिक दृष्टिगत होता है :—

आवागमन के साधन—मनुष्य ने प्रागैतिहासिक युग में अपनी सभ्यता के अन्तर्गत यातायात के साधन के रूप में पहियों वाली गाड़ी का आविष्कार कर लिया था। यह गाड़ी बैलों या अन्य पालतू पशुओं द्वारा खींची जाती थी। 18वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक यही गाड़ियां उसके आवागमन और सामान ढोने का प्रमुख साधन थी। किन्तु 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भौतिक शास्त्र ने मानव को वाष्प शक्ति से यांत्रिक शक्ति प्राप्त करने के सिद्धांत से परिचित करवाया। इससे मनुष्य ने कोयले और पानी की सहायता से चलने वाले वाष्प इंजिन का आविष्कार किया। ये वाष्प इंजिन टनों सामान और सैकड़ों मनुष्यों की सवारी लेकर रेल लाइन पर तीव्र गति से चल सकते थे। इससे यातायात की समस्या काफी सीमा तक सरल हो गई। कालान्तर में रेल गाड़ियों में तीव्र गति से सुधार हुआ। अब कोयले और पानी के स्थान पर डीजल और विद्युत शक्ति से रेलें चलने लगी है जिससे हम सैकड़ों किलोमीटर की दूरी एक ही दिन में तय कर सकते हैं। बाद में जल यातायात के साधनों में भी वाष्प शक्ति का प्रयोग किया गया और जल में चलने वाले जलयान भी वाष्प चालित यन्त्रों से चलाये जाने लगे। इससे जहाजों को वायु की दिशा के विपरीत और इच्छित दिशा में चलाना संभव हो गया। यातायात के क्षेत्र में वैज्ञानिक प्रयोग आगे बढ़ते गये। 19वीं शताब्दी के अन्त में मनुष्य ने रासायनिक तत्वों से ऊर्जा प्राप्त करने और उससे यन्त्र चलाने का ज्ञान प्राप्त किया। इसके परिणाम स्वरूप मोटर कारें, बसें, ट्रकें, मोटर साइकिलें, स्कूटर और मोपेड आदि का आविष्कार हुआ। इससे सड़क यातायात के क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न हो गई। आज ये वाहन हमारे दैनिक जीवन का अभिन्न अंग बन चुके है।

20वीं शताब्दी के आरम्भ में मानव के वैज्ञानिक मस्तिष्क ने पक्षियों के उड़ने और उनकी गतिविधि का अध्ययन किया और उन सिद्धान्तों के आधार पर उसने आकाश में उड़ने के लिये हवाई जहाज का आविष्कार कर आकाश पर विजय प्राप्त करली। धीरे-धीरे इनमें सुधार और परिवर्तन कर उन्हें विकसित किया गया। इन हवाई जहाजों की सहायता से अब एक दिन में

हजारों मील की यात्रा सम्भव हो गई। वैज्ञानिक आज भी हवाई जहाज की गति बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील है। उन्होंने ध्वनि की गति से अधिक तेज चलने वाले वायुयानों का आविष्कार कर लिया हैं। हवाई यात्रा के इन साधनों ने मानव की संकीर्णता को दूर करने में बड़ी सहायता की है। इन साधनों ने देश-विदेश की दूरियों को समाप्त कर विभिन्न संस्कृतियों के आदान-प्रदान में महत्वपूर्ण योगदान दिया हैं।

यातायात के क्षेत्र में मानव के वैज्ञानिक विकास की प्रक्रिया सतत् प्रवाहमान रही। जल, थल और नभ पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त वह पृथ्वी से दूर अन्य ग्रहों और उपग्रहों पर विजय के लिये लालायित हो उठा। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद अमेरिका और रूस ने अन्तरिक्ष को पृथ्वी में उपयोग में लाने के लिये अन्तरिक्ष अनुसन्धान कार्यक्रम बनाये। सर्वप्रथम, रूस ने अक्टूबर, 1957 ई. में अन्तरिक्ष में स्पूतनिक भेजने में सफलता प्राप्त की। इसके बाद यह क्रम जारी रहा और 21 जुलाई 1969 ई. में अमेरिका के दो अन्तरिक्ष यात्रियों ने चन्द्रमा के धरातल पर कदम रखा।

आज विश्व के अनेक राष्ट्र मानव निर्मित कृत्रिम उपग्रह पृथ्वी की कक्षा में भेज रहे है। इन उपग्रहों का प्रयोग मौसम की जानकारीं, दूरसंचार तथा रेडियों और टेलीविजन के कार्यक्रमों के प्रसारण के लिये किया जाता है। सम्भव है अपने नवीन आविष्कारों के बल पर मानव शीघ्र ही अन्य ग्रहों पर पहुंचने में सफलता प्राप्त कर लेगा। मानव की इन वैज्ञानिक उपलब्धियों में निश्चय ही भौतिक शास्त्र की महत्वपूर्ण भूमिका रही हैं।

संचार साधन—आज से कुछ शताब्दियों पूर्व दूसरे स्थान पर सन्देश भेजना तथा दूसरे स्थान के समाचार प्राप्त करना कठिन और विलम्बकारी कार्य था क्योंकि उस समय तक मानव ही सन्देशों के आदान-प्रदान का मुख्य साधन था। परन्तु 19वीं शताब्दी में विद्युत के आविष्कार ने सन्देशों के आदान-प्रदान के क्षेत्र में अनेक आविष्कारों को प्रोत्साहित किया। 1876 ई. ग्राहम बेल ने तारों के माध्यम से सन्देश एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिये टेलिफोन का आविष्कार किया। टेलिफोन के द्वारा हजारों मील तक सन्देश अविलम्ब भेजना सम्भव हो गया। इसी प्रकार इटली के वैज्ञानिक मार्कोनी ने तार के बिना सन्देश भेजने की प्रणाली का आविष्कार किया। बेतार के आविष्कार ने संचार माध्यमों के क्षेत्र में महान क्रान्ति ला दी। इस प्रणाली के विकास और सुधार के परिणामस्वरुप रेडियों, ट्रान्जिस्टर और टेलिविजन आदि का आविष्कार हुआ। संचार साधनों के इन आविष्कार में भौतिक शास्त्र के सिद्धान्तों का महत्वपूर्ण योगदान है।

मनोरंजन के साधन—मनोरंजन मानव जीवन की महती आवश्यकता है। परन्तु 18वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक मानव के मनोरंजन के साधन संगीत,

नाटक और गीतों तक सीमित थे। किन्तु 19वीं शताब्दी के वैज्ञानिक आविष्कारों ने मानव को मनोरंजन के लिये विविध साधन प्रदान कर दिये है। आज रेडियो अथवा ट्रान्जिस्टर प्रत्येक परिवार में उपलब्ध है जो तनिक मा स्वीच घुमाने पर यह विविध प्रकार के गीत-संगीत से हमारा मनोरंजन करते है। साथ ही देश-विदेश में होनी वाली घटनाओं की जानकारी उपलब्ध कराने के भी ये सशक्त माध्यम है। रेडियों अथवा ट्रान्जिस्टर ने मानव के मनोरंजन तथा ज्ञानार्जन को व्यापक और सरल बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। ध्वनि विज्ञान में सुधार होते होते कालान्तर में टेप रिकॉर्डर अस्तित्व में आया जिसमें मनुष्य इच्छित गीत-संगीत और वार्तालाप टेप करके उन्हें कभी भी सुन सकता हैं।

मनोरंजन के साधनों के क्षेत्र में विज्ञान की सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन चलचित्र (सिनेमा) का आविष्कार है। सिनेमा जन सामान्य का सर्व सुलभ और सस्ता मनोरंजन का साधन है जहां वह 4—5 रुपये में तीन घण्टे तक अपना मनोरंजन कर सकता है। रेडियो और चलचित्रों की प्रणाली को सम्मिलित कर विज्ञान ने टेलीविजन का आविष्कार किया जो आज हमारे मनोरंजन का प्रमुख साधन बन चुका है। मनोरंजन के साथ टेलीविजन विश्व में होने वाली घटनाओं को सचित्र प्रसारित करने में सक्षम है। वीडियो के आविष्कार ने टेलिविजन के महत्व को और बढ़ा दिया। वीडियों कैमरे के माध्यम से किसी घटना और उत्सव की समस्त गतिविधियों को एक कैसेट में रिकार्ड किया जा सकता है तथा उस कैसेट को वीडियों रिकार्डर या प्लेयर में लगाकर उन समस्त गतिविधियों को टेलीविजन पर पुनः देखा जा सकता हैं। साथ ही सिनेमा की वीडियों कैसेट से घर पर ही सिनेमा का आनन्द लिया जा सकता हैं।

चिकित्सा के क्षेत्र में योगदान—भौतिक शास्त्र ने चिकित्सा विज्ञान के विकास में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया हैं। एक्स-रे किरणों की सहायता से शरीर के आन्तरिक अंगों का चित्र खींचना सम्भव हो गया है। इससे शरीर की आन्तरिक व्याधियों व हड्डियों की स्थिति का सही ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इससे शल्यक्रिया में आसानी हो जाती है। इसी तरह हृदय की गति नापने का कार्डियोग्राम तथा स्टेथेस्कोप आदि यन्त्र भौतिक शास्त्र की ही देन है। सूक्ष्मदर्शी यन्त्र की सहायता से वैज्ञानिकों ने रोगों के अनेक जीवाणुओं की खोज करली है। रेडियों आइसोटोप्स अनेक भयंकर रोगों की चिकित्सा के लिए लाभप्रद सिद्ध हो रहे है।

कृषि और उद्योगों में योगदान—भौतिक शास्त्र ने हमारे उद्योगों और कृषि के विकास में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। अब शिल्प तथा घरेलू और कुटीर उद्योगों में भी मशीनों का प्रयोग होने लगा है। खाती छेद करने के लिये विद्युत बरमें का प्रयोग करते हैं और चन्दन व हाथीदांत के शिल्पी भी विद्युत मोटर की सहायता से कलाकृतियां तैयार करते हैं। इसी तरह कढ़ाई-बुनाई, रंगाई

और धुलाई आदि में भी मशीनों का प्रयोग किया जाता है। कृषि में भी अब वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग किया जाता है। लकड़ी के हल और बैल का स्थान अब ट्रैक्टर ने ले लिया है जिससे विभिन्न यन्त्रों की सहायता से धान की जुताई, बुवाई, कटाई और सफाई होने लगी है। सिंचाई के साधनों में भी अब चरस और रहट के स्थान पर डीजल अथवा विद्युत पम्पों का प्रयोग किया जाता है। अणु शीत भण्डारों द्वारा उपज को दीर्घकाल तक सुरक्षित रखना सम्भव हो गया है।

दैनिक जीवन में योगदान—भौतिक शास्त्र की उपलब्धियों ने मानव के दैनिक जीवन सुखमय बनाने में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। भौतिक शास्त्र की खोज विद्युत ने मानव जीवन को अत्यन्त गतिमान बना दिया है। विद्युत के द्वारा मानव ने प्राकृतिक सर्दी और गर्मी पर विजय पा ली हैं। एयरकण्डीशन, कूलर, पंखे और हीटर आदि विद्युत से संचालित होते हैं। विद्युत द्वारा संचालित पिसाई की चक्की, मिक्सी, कपड़ों पर इस्तरी करने की प्रेस, ठंडे पानी का कूलर, वर्फ के लिये फ्रिज, कपड़े धोने की मशीन, सफाई के लिये वैक्यूम, क्लीनर आदि वस्तुयें हमारे दैनिक जीवन का अंग बन चुकी हैं। विद्युत के द्वारा मानव ने अन्धकार पर भी विजय पा ली है। इन आविष्कारों में जहाँ एक ओर हमारे श्रम और समय की बचत की है, वहाँ दूसरी ओर इन्होंने हमारी श्रम करने और आत्मनिर्भर होने की प्रवृत्ति का ह्रास कर हमें आलसी बना दिया है। फलतः श्रम के अभाव में मनुष्य अनेक रोगों के शिकार होते जा रहे हैं।

भौतिक शास्त्र की खोज कम्प्यूटर ने मानव के मानसिक श्रम को काफी कम करके उसकी कार्यक्षमता में अभूतपूर्व वृद्धि करदी है। बड़े से बड़े संख्यात्मक हल आवश्यक लेख तथा आंकड़ों का संग्रह आदि कार्य कम्प्यूटर बड़ी कुशलता से करता है। आज बड़े उद्योगों, अणु केन्द्रों, बैंकों, रक्षा केन्द्रों तथा अनेक कार्यों के लिये कम्प्यूटर का काफी प्रयोग किया जाता है।

इस प्रकार भौतिक शास्त्र की उपलब्धियों ने मानव के जन जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया है। इसके प्रभाव से हमारा खान-पान, रहन-सहन तथा विचारों में महत्वपूर्ण परिवर्तन आ गया है।

रसायन शास्त्र का योगदान—

रसायन शास्त्र विज्ञान की प्रमुख शाखा है। इस शास्त्र के अन्तर्गत विभिन्न पदार्थों की रचना, उनकी विशेषताओं तथा इनकी पारस्परिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। रसायन शास्त्र की विभिन्न खोजों ने हमारे जन-जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया है। 19वीं शताब्दी में मनुष्य जीवन उपयोगी वस्तुओं के लिये प्राकृतिक साधनों पर निर्भर था। किन्तु रसायन शास्त्र की खोजों के कारण अब उन वस्तुओं का कृत्रिम निर्माण सम्भव हो गया है।

प्रारम्भ में मनुष्य अपनी वस्त्रों की आवश्यकता की पूर्ति के लिये प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होने वाली कपास और कीड़ों से प्राप्त होने वाली रेशम पर आश्रित था। किन्तु बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण प्राकृतिक स्रोत अपर्याप्त सिद्ध होने लगे। फलतः वैज्ञानिकों ने विविध रसायनों के संयोग से संश्लेषित धागों का निर्माण किया। इससे वस्त्र के क्षेत्र में मनुष्य की प्रकृति पर निर्भरता समाप्त हो गई। वर्तमान युग में रासायनिक संयोग से टेरिलीन, नाईलोन, पोलियस्टर आदि विभिन्न प्रकार के धागों का निर्माण किया जाता हैं। इन धागों से बने वस्त्र अधिक टिकाऊ और सुन्दर होते है।

रसायन शास्त्र की खोजों ने औषधि विज्ञान के क्षेत्र में क्रान्ति ला दी है। इसके परिणामस्वरूप अनेक गम्भीर और असाध्य बीमारियों का उपचार सरल हो गया है। कुछ समय पूर्व मनुष्य मलेरिया रोधी कुनैन से अपरिचित था। परन्तु अब विविध रासायनिक मिश्रणों से ऐसी औषधियाँ तैयार की जाती हैं जो कुनैन से भी अधिक प्रभावकारी है। इसी प्रकार 1936 ईस्वी में डॉक्टर फोरन्यू द्वारा सल्फा औषधि की खोज से अनेक बीमारियों का इलाज सरल हो गया। 1939 ईस्वी में पेनलसीलिन नामक पदार्थ की खोज ने टाइफाइड, फोड़ें-फुन्सी, आदि बीमारियों का इलाज आसान कर दिया। आधुनिक युग में रसायन शास्त्रियों ने विविध रसायनों के द्वारा अनेक रोग नाशक औषधियों का निर्माण कर लिया है।

मानव शरीर को स्वस्थ रहने के लिए अनेक पोषक तत्वों की आवश्यकता होती है। इन तत्वों को विटामिन्स कहा जाता है। 1906 ई. में डा. होपकिन्स ने खोज की इन विटामिनों की कमी या अनुपलब्धतता से शरीर की रासायनिक क्रियायें क्षीण पड़ जाती हैं जिससे शरीर अस्वस्थ हो जाता है। आधुनिक युग में वैज्ञानिकों ने लगभग 40 ऐसे प्राकृतिक और कृत्रिम विटामिन्स की खोज कर ली है जो मानव के शरीर को आवश्यक पोषण प्रदान करने में सक्षम है। इस खोज ने औषधि विज्ञान तथा मानव जीवन की महान सेवा की है।

रसायन शास्त्र ने हमें विभिन्न रोगों से सम्बन्धित अन्धविश्वासों से मुक्त किया। कुछ समय पूर्व मनुष्य चेचक, लकवा, धनुष टंकार, मिर्गी, प्लेग, तथा हैजा आदि बीमारियों को दैवीय प्रकोप मानकर उनके इलाज के लिए विभिन्न प्रकार के पूजा-पाठ, ओझाओं और पाखण्डों का सहारा लेता था। किन्तु वैज्ञानिकों ने इन रोगों की औषधि खोजकर हमारे अन्ध विश्वासों को समाप्त कर दिया। आजकल टिटनेस, पोलियो, हैजा, डिप्थीरिया तथा चेचक आदि के टीके उपलब्ध हैं जिनका समय पर उपयोग करके इन बीमारियों से बचा जा सकता है। इसी प्रकार सांप तथा पागल जानवरों के काटने की रोधी औषधि निर्माण में भी रसायन शास्त्र का महत्वपूर्ण योगदान है।

रसायन शास्त्र ने मानव से सम्बन्धित रोगाणुओं के साथ कृषि के लिए नुकसानदेह कीटाणुओं और कीड़ों को नष्ट करने के लिए अनेक औषधियां तैयार की

है । साथ ही कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए विविध प्रकार के खाद और रसायन बनाये गये हैं ।

रसायन शास्त्र ने मनुष्य के दैनिक जीवन को सुविधाजनक बनाने में भी काफी योगदान दिया है । घरेलू रसोई गैस, वनस्पति घी, साबुन, डिटर्जेन्ट पाउडर, टूथपेस्ट, शेम्पू, पालिश, एनामिलपेन्ट, शीतलपेय आदि वस्तुयें रसायन शास्त्र की ही देन हैं । विभिन्न रसायनों के द्वारा हम फलों तथा सब्जियों को दीर्घकाल तक सुरक्षित रख सकते है । रासायनिक मिश्रणों से विविध सौन्दर्य प्रसाधन तैयार किये जाते है ।

चिकित्सा शास्त्र का योगदान

चिकित्सा शास्त्र के क्षेत्र में हुये विभिन्न आविष्कारों ने मानव जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया है । इससे मानव की औसत आयु में पर्याप्त वृद्धि हुई हैं । आज चिकित्सा शास्त्र में रक्तदान, नेत्र तथा गुर्दा आदि का प्रत्यारोपण, क्षतिग्रस्त हड्डियों तथा हृदय की मरम्मत सम्भव है । यही नहीं कृत्रिम हृदय आदि भी लगाये जा सकते हैं । शल्य क्रिया के द्वारा मानव का सम्पूर्ण कायाकल्प सम्भव हैं । प्लास्टिक सर्जरी के द्वारा मनुष्य अपने ईश्वर प्रदत्त रूप में परिवर्तन कर सकता है ।

विज्ञान का सामाजिक जीवन पर प्रभाव

विज्ञान ने मानव को अनेक प्रकार से प्रभावित किया है । आधुनिक समाज पर विज्ञान के प्रभाव व्यापक तथा दूरगामी है । एक समग्र रूप से जन-जीवन पर विज्ञान के प्रभाव का निम्न प्रकार विवेचन किया जा सकता है :—

नगरों का विकास—विकास की प्रारम्भिक अवस्था में सभी देश कृषि प्रधान थे । लगभग सारी जनता गांवों में निवास करती थी । ग्राम्य जीवन सरल तथा सादा था । गांवों में ग्रामीण अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को स्वयं पैदा कर लेते थे । परन्तु वैज्ञानिक विकास से मशीनों का निर्माण हुआ । मशीनों के निर्माण से बड़े-बड़े कारखाने बने । कारखाने ऐसी जगह स्थापित हुए जहाँ उनको चलाने के लिये कोयला व अन्य साधन उपलब्ध थे । मशीनों के द्वारा सामान सस्ता और अच्छा बनने लगा । फलतः कारीगरों तथा किसानों को अपना कार्य छोड़ देना पड़ा । वह कारखानों में काम करने लगे । धीरे-धीरे कारीगर मजदूरों की श्रेणी में आ गये । वह कारखानों के पास ही बस्तियां बसा कर रहने लगे । यह बस्तियां कालांतर में बड़ा रूप ग्रहण कर शहर में परिवर्तित हो गयी । इन बस्तियों में विभिन्न संस्कृति के लोग आकर रहने लगे और जिससे एक नवीन संस्कृति का जन्म हुआ । शहरी सभ्यता के विकास के कारण लोगों की कृषि में से रुचि कम होने लगी । वह शहर आकर कारखानों में कार्य करने लगे तथा शहरी जनसंख्या में वृद्धि होने लगी । यह सभी वैज्ञानिक प्रगति से मशीनों के निर्माण के कारण ही सम्भव हुआ ।

उत्पादन में वृद्धि—वैज्ञानिक विकास का सबसे बड़ा प्रभाव उत्पादन पर पड़ा । मशीनी यन्त्रों से कम समय में अधिक मात्रा में वस्तुओं का निर्माण होने

लगा। इससे उत्पादन में वृद्धि होने लगी। उत्पादन की वृद्धि के फलस्वरूप आर्थिक जीवन में आत्म निर्भरता समाप्त हो गयी। पहले उत्पादन स्थानीय आवश्यकता और माँग के अनुरूप किया जाता था। यह माल स्थानीय बाजारों में खप जाता था। वैज्ञानिक विकास से यातायात के साधनों का निर्माण हुआ। यातायात के साधनों से उत्पादित माल अब अन्य बाजारों को भी भेजा जाने लगा। निर्यात तथा आयात करने के लिए अब सुलभ यातायात साधन उपलब्ध होने लगे। इस प्रकार वैज्ञानिक विकास के फलस्वरूप व्यापार एवं वाणिज्य का विकास हुआ।

नये वर्गों का उदय—वैज्ञानिक प्रगति ने विशाल उद्योगों की आवश्यकता उत्पन्न कर दी। विशाल उद्योगों के चलाने हेतु विशाल मात्रा में पूँजी की आवश्यकता थी। अतः कारखाने व उद्योग स्थापित करने का कार्य अब सिर्फ धनिकों के द्वारा ही होने लगा। निर्धन कारीगर उन विशाल कारखानों के मात्र मजदूर बन कर रहने लगे। कारखानों के बने पैमाने पर लाभ के एक बहुत बड़े हिस्से का हकदार पूँजीपति ही होने लगा। मजदूरों को कम मजदूरी में ही सन्तोष करना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि "धनी अधिक धनी तथा गरीब और गरीब होने लगा।" छोटे कारखानों को मिलाकर फैक्ट्री प्रथा का आरम्भ हुआ जिस पर नियन्त्रण पूँजीपति का होता था। इससे समाज में अब दो वर्ग उत्पन्न हुए, एक पूँजीपति, दूसरा मजदूर।

श्रमिक संघों का उदय—पूँजीपतियों का मुख्य उद्देश्य कम खर्च में अधिक म[illegible] का उत्पादन करना तथा अधिक मूल्य में बेचकर अधिक से अधिक फायदा [illegible]ना था। मजदूरों को मालिकों द्वारा कम मजदूरी दी जाती थी तथा अधिक [illegible]ाम कराया जाता था। अतः मजदूर भी वेतन वृद्धि के लिए तथा अधिक सुविधायें प्राप्त करने को प्रयत्नशील हुए। जब कारखाने के सभी मजदूर एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आये तो उन्हें अपनी सामान्य समस्याओं का ज्ञान हुआ। वह इन समस्याओं के समाधान के लिए संघर्ष करने की दिशा में आगे बढ़े। फलतः श्रमिक संगठनों का निर्माण हुआ। मालिक मजदूर संघर्ष होने लगा जिसने हड़ताल, बॉयकाट आदि विध्वंसकारी घटनाओं को जन्म दिया।

नैतिक मूल्यों में परिवर्तन—सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के द्वारा ही समाज में पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण होता है। इन्हीं परिस्थितियों व पारस्परिक सम्बन्धों के अनुरूप नैतिक मूल्यों का जन्म होता है। वैज्ञानिक विकास ने औद्योगीकरण को जन्म दिया। औद्योगीकरण ने पूँजीवाद को जन्म दिया, जो बाद साम्राज्यवाद में परिणित हो गया। पूँजीवाद ने श्रम के शोषण को जन्म दिया। श्रमिकों के संगठनों तथा आन्दोलनों को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक संगठित किया गया। मानव ने मानव के बारे में सोचना आरम्भ कर दिया। अनेक धर्म परिवार नियोजन द्वारा जन्म नियन्त्रण को अनैतिक मानते थे। परन्तु वैज्ञानिक विकास से जन्म रहस्यों की जानकारी मिलने से अब इस दृष्टिकोण में परिवर्तन आया है। आने

वाली पीढ़ियों के सुधार हेतु आवश्यक उपाय बताये गये हैं। पहले बाल विवाह किये जाते थे परन्तु अब मनुष्य के विवाह सम्बन्धी दृष्टिकोण में परिवर्तन आया है। वैज्ञानिक प्रगति ने विश्व में पुराने नैतिक मूल्यों के स्थान पर नये नैतिक मूल्यों को जन्म दिया।

आर्थिक साम्राज्यवाद का उदय—विज्ञान के विकास ने औद्योगिक क्रांति को जन्म दिया, औद्योगिक क्रांति से बड़े-बड़े कारखाने का निर्माण हुआ और उनमें उत्पादन विशाल मात्रा में होने लगा। इससे अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों का सूत्रपात हुआ। जिन देशों में यान्त्रिक उन्नति हो गयी थी वह अपना माल उन देशों को बेचने के लिए व्यग्र हो उठे जो औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे। औद्योगिक देशों को कच्चे माल की तीव्र आवश्यकता हुई अतः औद्योगिक देशों में तीव्र प्रतिस्पर्धा आरम्भ हो गयी। एशिया और अफ्रीकी देशों में औद्योगिक विकास नहीं हुआ था। अतः इन देशों से यूरोपीय देशों ने प्रभुत्व स्थापित कर लिया और अपने उपनिवेश स्थापित कर लिये। इन बड़े देशों ने पिछड़े देशों का शोषण आरम्भ कर दिया। अब यूरोपीय राष्ट्रों के मध्य औपनिवेशिक प्रतिस्पर्धा आरम्भ हो गयी। इस औपनिवेशिक प्रतिस्पर्धा ने युद्धों को जन्म दिया इस प्रकार उपनिवेश स्थापित करने अथवा अविकसित देशों पर राजनीतिक नियन्त्रण प्राप्त करने की प्रवृत्ति ने साम्राज्यवादी भावना को जन्म दिया।

पारस्परिक निर्भरता में वृद्धि—वैज्ञानिक प्रगति ने विश्व के सभी देशों को एक दूसरे पर निर्भर बना दिया। यातायात के उन्नत साधनों के अभाव में पहले दूर-दूर के देशों तक सामान पहुँचाना सरल काम नहीं था। परन्तु यातायात साधनों के विकास से विश्व के सभी बाजार एक दूसरे जुड़ गये हैं यान्त्रिक देशों को अन्य देशों पर कच्चे माल के लिए निर्भर रहना पड़ता है तथा अविकसित देशों को मशीनें, तकनीकी ज्ञान और तैयार माल हेतु विकसित देशों पर निर्भर रहना पड़ता है।

वैज्ञानिक प्रगति से समाज के पुराने रीति-रिवाज, रहन-सहन का तरीका, वेशभूषा, धार्मिक विश्वास, कला, साहित्य आदि सब कुछ बदल गया तथा नई सभ्यता, समाज व संस्कृति का अभ्युदय हुआ है जिसका परिष्कृत रूप आज हमारे समक्ष है विज्ञान ने मानव समाज को सुख-सुविधाएं प्रदान करने का अद्भुत कार्य किया। आज विज्ञान के कारण ही मानव को रेडियो, टी. वी. कार तथा यातायात के श्रेष्ठ साधन उपलब्ध हुए हैं। कपड़े, फैशन तथा विलासी वस्तुओं का उपभोग मनुष्य विज्ञान के कारण ही कर सका है। मानव की सभी दैनिक क्रियाओं में विज्ञान सदैव मौजूद रहता है।